

—००५०—

हालोपनामकमहाकविश्रीसातवाहनसंकलिता

गाथासप्तशती ।

छायारूपा

जयपुरमहाराजाश्रित-राज्यान्तर्गतसकलसंस्कृतविद्यालयनिरीक्षक-
साहित्याचार्यभद्रश्रीमथुरानाथशास्त्रिसंग्रहिता

संस्कृतगाथासप्तशती

खनिर्मितया व्यङ्गसर्वङ्गपाख्यव्याख्यया संवलिता ।

तृतीयावृत्तिः ।

मुम्बव्यां

पाण्डि झ जावजीश्रेष्ठिभिः

स्त्रीये निर्णयसागराख्यमुद्दण्डालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता ।

सनाब्दः १९३३

मूल्यं ३ रुप्यकाः ।

FOREWORD.

The following pages embody the text of "Sanskrit Gatha Saptashati" with a new commentary, entitled "Vyangya Sarvan-kasha" in Sanskrit by Bhatta Mathura Nath Shastri of Jaipur. The text of the work is a free Sanskrit rendering, in metrical form, of the original Prakrit verses attributed to the great royal poet Hala or Satvahana of the Andhra dynasty. The present edition comprises the Prakrit Gathas of Hala, a literal Sanskrit translation, a free metrical version in Sanskrit and a Sanskrit commentary.

The Gatha Saptashati is an anthology in Maharashtra Prakrit of above 700 erotic verses in the Arya metre and occupies a unique place, as a lyrical poem, in the History of Sanskrit Poetry. The compilation was made by King Hala and contains a number of verses of his own, but the greater portion of the work represents the labour of other lyrical poets of the age, the names of some having been mentioned (with doubtful accuracy in several cases) in subsequent commentaries. Almost all the verses however are equally sweet, graceful, fresh, and vivid.

The popularity of the work may be inferred from the fact of its having been widely commented upon. So far as our present knowledge goes there were no less than eighteen commentaries on the work, some of which were really good and useful. The present commentary by Pandit Mathura Nath is an addition to this number, but a welcome addition. Coming from the pen of a scholar, who is himself a poet of great eminence, it is naturally free as much from the rigidity as from the looseness and slip-shod character which we have come to associate with the ordinary commentaries on poetical works in Sanskrit. Written in an elegant and flowing style it has tried to keep in view, when interpreting the text, the requirements of artistic and aesthetical sense. And it may be hoped that this will be found to be greatly helpful in the appreciation of the poetical flavour of the original verses.

Government Sanskrit
College, BENARES.

Sd. GOPINATH KAVIRAJ, M. A.
Principal.

गाथानुक्रमणिका ।

| | | |
|--|------|-------------------------------------|
| अह उज्जुए ण | ७।७७ | अज्ञाइ पीलकुञ्ज (मीणसामिणो) ४।९५ |
| अहकोवणा वि सासू | ५।९३ | अज्ञाएँ णवण (केसवराअस्स) २।५० |
| अह दिअर किण | ६।७० | अणुजलं विअ वोन्तुं ६।२३ |
| अहीहराह बहुए | ७।७४ | अणुणअपसा (विणस्स) ३।७७ |
| अइलीणो दोसुह | ८।५३ | अणुदिअह (परकम्मस्स) ३।६६ |
| अक अणुअ घणवण्णं | ६।१९ | अणुमरणपत्थिआए ७।३३ |
| अकअणुअ तुज्ज | ५।४५ | अणुवत्तं (हालस्स) ३।६५ |
| अक्खडह पिआ (रहराअस्स) १।४४ | | अणुहुतो करफंसो ७।५७ |
| अगणिअजणाववाअं | ५।४४ | अणुगगामपउत्था ७।८७ |
| अगणिअसेस (गेतलङ्गिअस्स) १।५७ | | अणुणणं कुसुम (अणुराअस्स) २।३९ |
| अस्चाइ छिवह | ७।२९ | अणुमहिला (अणिरुद्धस्स) १।४८ |
| अझाणं तणुआरथ (सिहरस्स) ४।४८ | | अण्ण पि कि पि ६।९ |
| अच्चासण्णविवाहे | ७।५५ | अण्णह प तीरह (अणगवत्थस्स) ४।४९ |
| अच्छउ ता जणवाओ (वाहवस्स?) ३।१ | | अण्णाँ वि हेन्टि ५।७० |
| अच्छउ दाव मणहर | २।६८ | अण्णावराहकुविओ ५।८८ |
| अच्छीहिं दा थइस्व (नरसीहस्स) ४।१४ | | अण्णासआह (मधरन्दअस्स) १।२३ |
| अच्छेरं व ठिंहि (रामस्स) २।२५ | | अणेसु पहिअ ७।२९ |
| अच्छोडिअवत्थ | २।६० | अणो को वि ५।३० |
| अज्जअ णाह (मिअझस्स) २।८४ | | अणोण्णकडक्ख ७।९९ |
| अज्ज कइमो वि (हालस्स) २।१९ | | अत्ता तह रमणिजं (कुमारिलस्स) १।८ |
| अज्जं गओत्ति अज्जं (पवरसेणस्स) ३।८ | | अत्थक्खसंग ७।७५ |
| अज्ज मए गन्तव्य (सुचरिअस्स) ३।४९ | | अदंसणेण पुत्तअ (वहुरस्स) ३।३६ |
| अज्ज मए तेण (कल्लाणस्स) १।२९ | | अदंसणेण पेम्म (सामिअस्स) १।८१ |
| अज्जं पि ताव एकं | ६।२ | अदंसणेण महिला (सामेअस्स) १।८२ |
| अज्जं मोहणयुहिअं (जणन्दसारस्स) ४।६० | | अद्दच्छिपेच्छिअं (मधरन्दस्स) ३।२५ |
| अज्ज हिं हासिआ (हालस्स) ३।६४ | | अन्तो हुतं डज्जइ (णाहद्विथस्स) ४।७३ |
| अज्ज वि बालो (विधिविगहस्स) २।१२ | | अन्धबरबोरपतं (अणुराअस्स) ३।४० |
| अज्ज व्वेअ पउत्थो अज्ज (अमीअस्स) २।९० | | अपहुपन्तं (उभिहस्स) ५।११ |
| अज्ज व्वेअ पउत्थो उज्जा(असरिसस्स) १।५८ | | अपच्छुन्दपहाविर (पवरसेणस्स) ३।२ |
| अज्ज सहि केण (केसवस्स) ४।८१ | | |

१. 'गेतलङ्गस्स' वेवरसुद्वितपुत्तकस्पाठः २. 'कल्याणस्स' वे.

काव्यमाला ।

२

| | | | | |
|-----------------------------------|---------------|--------------------------------|-----------------------------------|---------------|
| अपत्तपत्तं | (मउहस्स?) | ३।४१ | अहरमहुपाण | ७।६१ |
| अप्पत्तमणुदुक्खो | (.....) | ३।५७ | अहव गुणविव्र (चन्दहतिथस्स) ३।३ | |
| अप्पाहेइ मरन्तो | ३।३२ | अह संभविअमग्नो (भोजअस्स) ३।१२२ | | |
| अबमन्तरसरसाओ | ३।२३ | अह सरसदन्त (अहअस्स) ३।१०० | | |
| अमअमथ | (हालस्स) | १।१६ | अह सा तहि तहि | ४।१८ |
| अमिअं पाडअकवं | | १।२ | अह सो विलक्षहि | (हालस्स) ५।२० |
| अम्बवणे भमरउलं | | ६।४३ | अहिआअमापिणो (चुलोगस्स) १।३८ | |
| अम्हे उज्जुअसीला | | ७।६४ | अहिगवपाउससि | ६।१९ |
| अलिअपसुत्त (चन्दसामिणो) | | १।२० | अहिलेन्त सुर (वसन्तस्स) ४।६६ | |
| अलिअपसुत्तव | | ७।४६ | आअण्णाअहु | ६।१४ |
| अलिहिज्जइ पङ्कअले | | ७।९० | आअण्णोइ अउअण्णा (मझस्स) ४।६५ | |
| अवमापिणो वि (अवनिवम्मस्स) | | ४।२० | आअम्बन्तकवोलं | २।४२ |
| अवरज्जम्बु | (माउराअस्स) | ४।७६ | आअम्बलोअणां | ५।७३ |
| अवरङ्गगथ जामा | | ७।८३ | आअरपणामिओहु (वज्जविआरस्स) १।२२ | |
| अवराहेहि वि (जबराअस्स) | | ४।५३ | आअस्स किं णु | २।८७ |
| अवलम्बह मा | (दुद्रस्स) | ४।८६ | आउच्छणविच्छाअं | ५।१०० |
| अवलम्बिअमाण | (रेवाए) | १।८७ | आउच्छन्ति सिरेहि | ७।८० |
| अवहिथिजग | (देवस्स) | २।५८ | आव्वेवआहि | ३।४२ |
| अविअहुपेक्षणिज्जेण | (वज्जस्स) | १।९३ | आणतं तेण तुमं | ७।८५ |
| अविइहुपेच्छणिज्जं (तिरिसत्तिअस्स) | | १।९९ | आम असइ द्य (पालितस्स) ५।१३७ | |
| अविरलपडन्तणव | | ५।३६ | आमजरो मे मन्दो (कालस्स) १।५१ | |
| अविहत्तसंधिवन्धं | | ७।१३ | आन बहुल बणाली | ६।७८ |
| अविहवलक्खणवलअं | | ६।३९ | आरम्भन्तरस्स धुअं (वलहस्स) १।४२ | |
| अब्बो अणुणअ | (सीहस्स) | ४।६ | आरहइ जुणां | ६।४४ |
| अब्बो दुकर | (सरलस्स) | ३।७३ | आलोअन्त दिसाओ | ६।४६ |
| असमत्तगुरुअक्षे | | ६।३७ | आलोअन्ति पुलिन्दा (हेलिअस्स) २।३९ | |
| असमत्तमष्टणा | (कालिराअस्स) | १।२१ | आवणाहुँ कुलाहुँ | ५।६७ |
| असरिसचिते | (मण्डहिवस्स?) | १।५९ | आसण्णविआहदिणे | ५।७३ |
| अह अद्व आअदो | (अहअस्स) | ४।१ | आसासेइ परिक्षणं (अलंकारस्स) ३।८८ | |
| अहअं लज्जा | | २।२७ | इअरो जणो ण (वाहवराअस्स) ३।७७ | |
| अहअं विजोअतणुई | | ५।८६ | इअ सिरिहाल | ५।१०१ |

१. 'मकारन्दस्स' वे. २. 'कलिराजस्स' वे. ३. 'मुखदीपस्स' वे. ४. 'तालिकाइनस्स' वे.
५. 'हालिकस्स' वे.

| | | | |
|-------------------|---------------------|---------------------------------|----------------------|
| इंसं जगेन्ति | (माहवसेणस्त) ४१२७ | एक चिंथ रुअगुणं | ६१९२ |
| ईसामच्छरहिएहैं | ६१६ | एकं पहरविवर्णं | (पैहर्इए) ११८६ |
| ईसालुओ पहै | (अरिकेसरिस्त) २१५९ | एकल्लमओ दिल्लीआ | ७११८ |
| उअं लहिउण | ५१९० | एकेकभवइवेठण | (अरिकेसरिणो) ३१२० |
| उअ ओलिज्जइ | ७१४० | एकेण वि वडवी | ७१७० |
| उअगअचउत्थि | ७१४४ | एको पहुअध थणो | (हालस्स) ५१४७ |
| उअ गिच्चल | (बोदिसेणस्त) ११४ | एको वि कालसारो | (कालसारस्स) ११२५ |
| उअ पोम्मराअ | ११७५ | एर्हिं वारेह जणो | (सिरिसुन्दरस्स) ७१९६ |
| उअरि हरदिट्ट | (पवरसेणस्त) ११६४ | एत्ताइच्चिअ मोहं | (भोजअस्स) ५११० |
| उअ संभमविक्षित्तं | ५१६१ | एत्थ चउत्थं विरमह | ४११०१ |
| उअ सिन्धवपव्वथ | ७१७९ | एथ णिमज्जइ | ७१६७ |
| उअह तरुकोडराओ | ६१६२ | एथं मए रमिअवं (गुणमनिधस्स) ४१५८ | |
| उअह पडलन्तरो | (पालितस्त) ११६३ | एहमेत्तम्भ जए | (सिरिराअस्स) ४१३ |
| उकिखप्पइ | (हालस्स) २१२० | एहमेत्ते गामे | ६१५३ |
| उज्जागरअकसाइअ | ५१८२ | एसो मामि जुवाणो | (मन्दसुअणस्स) ३१९४ |
| उज्जुअरए ण तूसइ | ५१७६ | एह इमीथ णिअच्छह | ६१७९ |
| उज्ज्ञासि पिअह | (ईसाणस्त) ३१७५ | एहइ सो वि पउत्थो | (सिरिघम्मअस्स) १११७ |
| उट्टन्तमहरम्भे | (मत्तगइन्दस्स) ४१८३ | एहि त्ति बाहरन्तम्भि | ६१३ |
| उष्णाइँ णीसनन्तो | (अणज्जस्त) ११३३ | एहिति तुमं ति | (अल्लस्स) ४१८५ |
| उद्धच्छो पिअह | (भाङ्गअस्स) २१६१ | ओसरइ धुणइ साहं | ६१३१ |
| उप्पण्णथे कज्जे | (माणगइन्दस्स) ३११४ | ओसहिअजणो | (मन्दस्स) ४१४६ |
| उप्पहपहाविहजणो | ६१३५ | ओ हिअ ओहि | ५१३७ |
| उप्पाइअदव्वाणं | (पालितस्त) ३१४८ | ओ हिभअ मडह | (महाएवस्स) २१५ |
| उप्पेक्षागअ | (विस[म]सेणस्त) ४१३९ | ओहिदिअहागमा | (पुण्मोजअस्स) ३१६ |
| उफ्कुलिआइ | (वच्छस्स) २१९६ | कण्डन्तेण अकण्डं | ६१६३ |
| उम्मूलेन्ति व | (विजयगइ[णो]) २१४६ | कण्डुज्जुआ | (कअलीहरस्स) ४१५२ |
| उल्लावन्तेण ण होइ | ६१३६ | कथं गअं रइविन्वं | ५१३५ |
| उल्लावो मा दिजउ | ६११४ | कं तुज्जथणु | (पालितस्त) ३१५६ |
| उव्वहइ णवतण | ६१७७ | कमलं मुअन्त | ७१४१ |
| एएण चिअ | (कड्डिलस्स) ५१४ | कमलाथरा ण | (मिथङ्गस्स) २११० |
| एककमपणिरक्खण | ७११ | करमरि कीस ण | ६१२७ |
| एककमसंदेसा | (.....) ४१४२ | करिमरि अआल | (मअरन्दस्स) ११५५ |

१ ‘बोदितस्त’ वे २. ‘पालितस्त’ वे. ३. ‘प्रहताया’ वे.

| | | |
|-----------------------------------|---------------------|------------------------------|
| कुरुणाहो विअ | पा०३ | खन्धगिणा |
| कलहन्तरे वि | (हालस्स) ४१२१ | खरपवणरअगल |
| कलं किर खर | (निष्टेष्टस्स) ११४६ | खरसिपिर (पसाणस्स) |
| कस्स करो वहु | ६।७५ | खाणेण अ पाणेण |
| कस्स भरिति ति (सुरहिवच्छस्स) ४।८९ | | खिण्णस्स उरे (अवन्तिवम्मस्स) |
| कहै णाम तीअ (सवरसत्तिस्स)? ३।६८ | | खिप्पइ हारो |
| कहै भे परिणइआले | ६।६८ | खेमं कन्तो खेमं |
| कहै सा णिव्व (पव्वअकुमारस्स) ३।७१ | | गडकलहुकुम्भ (कइराअस्स) ३ |
| कहै सा सोहमगुणं | ४।५२ | गअगण्डत्थल (गन्धराअस्स) २ |
| कहै सो ण | (सङ्करस्स) ५।१३ | गअबहुवेहव्वअरो |
| कहै तंपि तुइ ण | (सेहणाअस्स) ३।९७ | गज महं चिअ |
| कारिममाणन्दवडं | ५।५७ | गन्धं अग्धाअन्तअ |
| किं किं दे | (गअसिहस्स) १।१५ | गन्धेण अप्पणो (विजहस्स) |
| किं ण भणिओ सि | (वहुराहस्स) ४।७० | गम्महिति तस्स |
| किं दाव कआ | (रेवाए) १।९० | गसअद्धुहाउलि |
| किं भणह मं सहीओ | ३।१७ | गहवइ गओ (दि इन्द्रस्स) |
| किं रुअसि | (महिन्दस्स) १।९ | गहवइणा (३ विनायित्वो) |
| किं रुसि किं अ | ६।१६ | गहवइसुओ |
| कीरन्ती विअ | (सरलस्स) ३।७२ | गामङ्गणिअडि |
| कीरमुहुकुच्छ | (सूरणस्स) ४८ | गामगिघरन्दिम अता |
| कुसुममआ वि | (हान्स) ४।२३ | गामणिणो सव्वासु |
| के उव्वरिआ के | ५।७४ | गामतरणिओ रुस्स |
| केण मणे भग्ना | (मिअहस्स) २।१३ | गामवडस्स |
| केतिअमेतं होहिइ | ६।८१ | गिजन्ते महुल |
| केलीअ वि रुसे | (पावच्छीलस्स) २।१ | गिर्यं दविग (वेदाव) |
| केसररथ | ४।८७ | गिर्यं नो नि |
| कैब्बरहिअं | (रामस्स) ३।२४ | गेल्ल |
| कोत्य जअग्नि | (विलासस्स) ४।६४ | गेहं व विल्ल (हरि) |
| कोसम्बकिसल | (गजस्स) १।१९ | गोतकखलण |
| खणभडुरेण पेम्मेण | ५।८३ | गोलाथडछिअ |
| खणमेतं पि ण | (हालस्स) २।८३ | वेदाक्षरस्स |

१. 'लम्पस' वे. २. 'विनयायित्व' वे. ३. 'अनुरागस्स' वे. ४. 'अल्लक्ष्म' वे.

गाथानुक्रमणिका ।

५

| | | | | |
|--------------------------|----------------|----------------|--------------------------------|-------|
| गोलाणइए | (गोलाविसमो | (गोलाविसमो | जं जं पुलएमि दिसं | ६।३० |
| घरिणिघणत्थण | (दुविवड्हअस्स) | (दुविवड्हअस्स) | जं जं सो पिज्ज्ञा (वैसन्तअस्स) | १।७३ |
| घरिणीए | (हालस्स) | (हालस्स) | जं तणुआओइ सा | १।११ |
| धेतूण चुण | (कान्तफरस्स)? | (कान्तफरस्स)? | जन्तिअ गुलं | ६।५४ |
| चङ्गुपुडाहअवि | ७।६६ | ७।६६ | जं तुज्ज्ञ सई (अणुलच्छीए) | ३।२८ |
| चत्तरघरिणी | (भैहिलस्स) | (भैहिलस्स) | जम्मन्तरे वि चलं | ५।४९ |
| चन्दमुहि | (गमगराअस्स) | (गमगराअस्स) | जस्स जहं विथ (अद्धराथअस्स) | ३।३४ |
| चन्दसरिसं | (वाहवराअस्स) | (वाहवराअस्स) | जह चिन्तोइ परि | ७।२८ |
| चलणोथासणि | (भमरस्स) | (भमरस्स) | जह जह उव्वहह (.....) | ३।९२ |
| चावो सहावसरलं | ५।२४ | ५।२४ | जह जह जरा (पोहिसस्स) | ३।१३३ |
| चिकिखल्लखुत्त | (चुल्लोहस्स) | (चुल्लोहस्स) | जह जह वाएइ (ससिप्पहाए) | ४।४ |
| चित्ताणिअद्ह | (वैण्डहिवस्स?) | (वैण्डहिवस्स?) | जाएज बण्डेशे (असमसाहस्स) | ३।३० |
| चिरडिं पि अ | (पावच्छीलस्स) | (पावच्छीलस्स) | जाओ सो वि (चन्दस्स) | ४।५१ |
| चोराँग कामुआँ | ७।९८ | ७।९८ | जाणह जाणावेउं (गौमउज्जस्स) | १।८८ |
| चोरा सभअसत्थं | ६।७६ | ६।७६ | जाणि वअणाणि | ७।४९ |
| चोरिअरअसद्धाछुह | (बम्हअन्तस्स) | (बम्हअन्तस्स) | जारमसाणसम्बव (हालस्स) | ५।८ |
| छज्जह पहुस्स | (सुन्दरस्स) | (सुन्दरस्स) | जाव ण कोसवि | ५।४४ |
| छिज्जन्तेहि | (माणिकराअस्स) | (माणिकराअस्स) | जिविअं असासअं (हालस्स) | ३।४७ |
| जह झोत्तिओ | ७।७२ | ७।७२ | जिविअसेसाइ (अवज्ञाङ्गस्स) | २।४८ |
| जह चिकखल्ल | (चुदुराअस्स?) | (चुदुराअस्स?) | जीहाइ कुणन्ति | ६।४१ |
| जह ज्जरह ज्जरउ | ७।८ | ७।८ | जुज्ज्ञचवेडामोडि | ७।८४ |
| जह ण छिवसि | ५।८१ | ५।८१ | जे जे गुणिणो | ७।७१ |
| जह मसि भमसु | ५।४७ | ५।४७ | जेण विणा (रोहाए) | २।६३ |
| जह लोकणिन्दिअं | ५।८० | ५।८० | जे पीलभमर | ५।२२ |
| जह सो ण वल्लहो | (सुसीलस्स) | (सुसीलस्स) | जेत्तिअमेत्तं (मुद्दसीलस्स) | १।७१ |
| जह होसि ण | (मुहराअस्स) | (मुहराअस्स) | जेत्तिअमेत्ता (पालितस्स) | ४।९३ |
| जं आलिहइ | ७।५६ | ७।५६ | जे संमुहागअ (वाहवराअस्स) | ३।१० |
| जं जं जं जं (कल्णसीहस्स) | ४।७८ | ४।७८ | जो कह वि (वैलाइच्चस्स) | २।४४ |
| जं जं जं सुहाअह | ७।१५ | ७।१५ | जो जस्स विहव (वाहवराअस्स) | ३।१३ |
| जं जं जं भेहुलं | (कुलउत्तस्स) | (कुलउत्तस्स) | जो तीए अहर (दामोअरस्स) | २।६ |
| | | | जो वि ण आणह | ५।३८ |

मछोकस्स' वे. २. 'मुखयदीपस्स' वे. ३. 'धीरस्स' वे. ४. 'वसलकस्स' वे. ५. 'याम-

स्स' वे. ६. 'वलईपितस्स' वे.

| | | | |
|--------------------------------------|------|-------------------------------------|------|
| जो सीसम्मि | ४१७२ | णिअवक्खारोवि | ५१४३ |
| झञ्ज्ञावाउत्तिष्ठथवर (जअसेणस्स) २।७० | | णिक्कण्ड दुरारोहं | ५१६८ |
| झञ्ज्ञावाउत्तणिए (राघवादित्यो) ४।१५ | | णिक्कमाहं (पुण्डरीअस्स) २।६९ | |
| ठाणचमट्टा परि | ७।५२ | णिक्किव जाआ (हरिआलस्स) १।३० | |
| डुज्जसि डुज्जसु (हालस्स) ५।१ | | णिहं लहन्ति कहिअं (देवएवस्स) ५।१८ | |
| ग अ दिंहि गेइ | ७।४५ | णिद्वाभज्जो (हालस्स) ४।७४ | |
| णअणवभन्तर (हालस्स) ४।७१ | | णिद्वालस (हालस्स) २।४८ | |
| णइउरस (पंचणराअस्स) १।४५ | | णिप्पच्छिमाहं (सिरिवलस्स) २।४ | |
| ग कुणन्तो घिवअ (अद्वराअस्स) १।२६ | | णिप्पण्णसस्तरि | ७।८९ |
| णक्खक्खुडिअं (महाराअस्स) ४।३१ | | णिव्युत्तरआ (सद्वुणकलसस्स) २।५३ | |
| ग गुणेण (समरिणस्स) ४।३० | | णिहुअणसिष्यं | ६।८९ |
| णज्ञणसलाहणणि (गुवरस्स?) २।१४ | | णीआइं अज (धणंजअस्स) ४।२८ | |
| ग छिवइ हत्थेण | ६।३२ | णीलपडपाउअज्जो | ६।२० |
| णन्दन्तु सुरअचुह (हालस्स) २।५६ | | णीसासुक्कम्पिअ (रोलएवस्स) ४।६१ | |
| ण मुधन्ति (हालस्स) २।४७ | | णूणं हिअथ (महाएवस्स) ४।३७ | |
| णलणीसु भमसि | ७।१९ | णूमेन्ति जे पहुत्तं (माँधवीए) १।९।१ | |
| णवक्कम्मिएण | ७।९२ | णेउरक्कोडि (अणज्ञस्स) २।८८ | |
| णवपङ्गवं विसण्णा | ६।८५ | णोहलिअमप्पणो (मअरन्दसेनस्स) १।६ | |
| णवलअपहरं (पंणामस्स) १।२८ | | तहआ कथग्घ (माओङ्गस्स) १।९२ | |
| णववहुपेम्म (कणउत्तस्स) २।२२ | | तह बोलन्ते (हालस्स) २।२३ | |
| ण विणा सब्बावेण (मोजअस्स) ३।८६ | | तह शुहअ (मणोरहस्स) ४।३८ | |
| ण वि तह अइ गरुएण | ५।८३ | तडविणिहिअग्ग (हालस्स) ४।९।१ | |
| ण वि तह अणालवन्ती | ६।६४ | तडसंठिअ (माणस्स) २।२ | |
| ण वि तह छेअ (अणुलच्छीए) ३।७४ | | तणुएण वि (भाउलस्स) ४।६२ | |
| ण वि तह पदम (भाणुसत्तिणो) ३।९ | | तं षमह जस्स (णिक्कलहस्स) २।५१ | |
| ण वि तह विएस | १।७६ | तत्तो चिअ होन्ति | ७।४८ |
| णासं व सा कवोले (सामिअस्स) १।९६ | | तं मितं काअब्बं (पालितस्स) ३।१७ | |
| आहं दूईं ण (असुलद्वीए)? २।७८ | | तम्मिरपसरअहु | ६।८८ |
| णिथयणुमाण (केलासस्स) ४।४५ | | तस्स अ सोहरग (भक्तरद्वारस्स) ३।३।१ | |
| णिथयणिअ | ६।८२ | तस्स कहाकण्टहए | ७।५९ |

१. 'प्रवरुजास्स' वे. २. 'बुरस्स(?)' वे. ३. 'प्राणामस्स' वे. ४. 'भीमविकमस्स' वे.
५. 'सिरसाहसस्स' वे. ६. 'शालिकस्स' वे. ७. 'गज्रेवस्स' वे. ८. 'कलहस्स' वे.

| | | | | |
|------------------|---------------|------|----------------------------------|-------|
| तह तस्स माण | (हालस्स) | ५।३१ | दइअकरगगहलिओ | ६।४४ |
| तह तेणवि सा | | ७।२५ | दकिखणेण वि (आइवराहस्स) | १।८५ |
| तह परिमलिओ | | ७।३७ | दट्टूण उण्णमन्ते | ६।३८ |
| तह माणो | (सालिअस्स) | २।२९ | दट्टूण तरुणसुरउं | ६।४७ |
| तह सोण्हाइ | (सुन्दअस्स) | ३।५४ | दट्टूण रुन्दतुण्ड (विवगहस्स) | ५।२ |
| ता किं करेउ | (बम्हआरिणो) | ३।२१ | दट्टूण हरिअदीहं | ७।९३ |
| ता मजिहमो चिवाइ | (हालस्स) | ३।२४ | दठरोस (अवन्तिवम्मस्स) | ४।१९ |
| ता रुण्ण जा | (वेरसत्तिस्स) | २।४१ | दरफुडिअ (बम्हराअस्स) | १।६२ |
| ताल्दरभमा | (अवटङ्गस्स) | १।३७ | दरवेविरोस्जुबलासु | ७।१४ |
| तावच्चिअ रइ | (कुछोहस्स) | १।५ | दिअरस्स (हालस्स) | १।३५ |
| तावमवणोइ | (हरिउद्दस्स) | ३।८८ | दिअहं खुडकिआ (विच्छमस्स) | ३।२६ |
| ताविज्जन्ति | (पवाराअस्स) | १।७ | दिअहे दिअहे | ७।९१ |
| ता सुहथ चिलम्ब | | ७।२ | दिद्वा चूआ (कोन्तक्खुरस्स) | १।९७ |
| तीथ मुहाहि | (हालस्स) | २।७३ | दिठमणु (मोताहलस्स) | १।७४ |
| तुझाणं विसेस | | ५।२७ | दिठमूलबन्ध (अणुलच्छीए) | ३।७६ |
| तुझो चिअ | (माउराअस्स) | ३।८४ | दीसइण चूआ | ६।४२ |
| तुज्ज्ञज्ञराअ | | २।८९ | दीसन्तो णअणुहो(राथरस्तिअस्स) | ५।२१ |
| तुज्ज्ञ वसइ | (सुद्दस्स) | १।४० | दीसन्तो दिड्डिसुहो | ७।५१ |
| तुप्पाणणा | (अलक्कस्स) | ३।८९ | दीससि पिआणि | ५।८९ |
| तुह दंसणेण जणिओ | | ७।१० | दीहुलपउर | २।८५ |
| तुह दंसणे सञ्चल | | ६।५ | दुक्खं देन्तो (सिरिसत्तिअस्स) | १।१०० |
| तुह मुहसारिच्छं | (राहहथिणो) | ३।७ | दुक्खेहि लम्भइ | ४।५ |
| तुह विरहुज्ञागरओ | | ५।८७ | दुग्गायकुटुम्ब (सिरिधम्मअस्स) | १।१८ |
| तुह विरहे | (अणज्जस्स) | १।३४ | दुग्गायधरम्मि | ५।७२ |
| ते अ जुआणा ता | | ६।१७ | दुणिक्कलेवअ (साहिलस्स) | २।५४ |
| तेण ण मरामि | | ४।७५ | दुम्मोन्ति देन्ति (वसन्तवम्मस्स) | ४।२५ |
| ते विरला संपु | (इन्द्दस्स) | २।१३ | दुर्सिक्किसअरअ | ७।२७ |
| ते वोलिआ | (निरुवमस्स) | ३।१२ | दूह तुमं चिअ (आहवसत्तिणो) | २।८१ |
| थणजहणणिअ | (सञ्चसेणस्स) | ३।३३ | दूरन्तरिए वि पिए | ७।५८ |
| थोअं पि ण | (सुरभिवंसस्स) | १।४९ | देव्वम्मि पराहुते (अन्धस्स) | ३।४५ |
| थोरंसुएहि रुण्ण | | ६।२८ | देव्वाअत्तम्मि (जीवएवस्स) | ३।७९ |

१. 'विलोक्य' वे. २. 'सुद्दस्स' वे. ३. 'सुरभिवंसलस्य' वे. ४. 'स्थिरसाहसस्स' वे.
५. 'पउलिन्यस्य' वे.

काव्यमाला ।

| | | | |
|------------------------------------|-------|---------------------------------|-------|
| दे सुअणु पसिअ | ५।६६ | परिमलणसुहा | ५।२८ |
| दोअङ्गुलअकवाल | ७।२० | परिरद्धकणअ | ४।९८ |
| धण्णा ता महि (मलअसेहरस्स) | ४।२७ | परिहूएण (विक्रमराअस्स) | २।३४ |
| धण्णा वहिरा | ७।९५ | पसिअ पिए (कुविन्दस्स) | ४।८४ |
| धण्णा वसन्ति | ७।३५ | पसुवहणो (हालस्स) | १।१ |
| धरिओ धरिओ (माणस्स) | २।१ | पहरवणमग (अज्ञराअस्स) | १।३।१ |
| धवलो जिअइ | ७।३८ | पहिअबहू विवरन्तर | ६।४० |
| धवलो सि जह | ७।६५ | पहिउडूरण (अहराअस्स) | २।६६ |
| धाराधुवन्तमुहा | ६।३।३ | पाअडिओं सोहगं | ५।६० |
| धावइ पुरओ पासेसु | ५।५६ | पाअडिअणेह (मणिराअस्स) | २।१९ |
| धावइ विअलिअ (माऊराअस्स) | ३।९। | पाअपडणाँ सुद्दे | ५।६५ |
| धीरावलम्बिरीअ (वाहवस्स) | ४।६७ | पाअपडिअं (हालस्स) | ४।३० |
| धुअइ व्व (विसमराअस्स) | ३।८० | पाअपडिअस्स (डुमगासामिणो) | १।१९ |
| धूलिमइलो वि | ६।२६ | पाअपडिओ ण | ५।३२ |
| पहपुरओ व्विअ (मळसेणस्स) | ३।३७ | पाणउडीअ वि (हालस्स) | ३।२७ |
| पउरजुवणो (हालस्स) | २।९७ | पाणिरगहणे (अणुराअस्स) | १।६९ |
| पङ्कमइलेण छीरेक्क | ६।६७ | पासासझी (भोजराअस्स) | ३।५ |
| पच्चगापुक्कुल | ६।९० | पिअदंसण (वसन्तसेणस्स) | ४।२३ |
| पच्चूसमज्जावलि | ७।४ | पिअसंभरण (वम्हआरिणो) | ३।५३ |
| पच्चूसामाया रञ्जित | ७।५३ | पिअविरहो (वैसुआरिणो) | १।२४ |
| पञ्जरसारि अत्ता ण | ६।५२ | पिजइ कण्णज्ज | ७।३६ |
| पडिवक्ख (उद्धवस्स) | ३।६० | पिसुणेन्ति कामिणीयं | ६।१८ |
| पढम वामणविहिणा | ५।२५ | पुच्छुजन्नी ण | ७।४७ |
| पढम णिलीणमहुर | ५।९५ | पुट्टे पुससु (पणिणो) | ४।६३ |
| पणअकुविआयं (कुमारस्स) | १।२७ | पुपुरहत्तकरप्पालण | ६।४८ |
| पृत्तां दृश ण पतिअन्ती (पवरसेणस्स) | ३।१६ | पुसह खणं धुवइ | ५।३३ |
| पप्पुलघणो ण (कालइवस्स) | १।६८ | पुसउ मुहं ता | ७।८९ |
| परिओसत्तिकलम्बा | ७।३६ | पुसिआ अणणा (कलसगन्धस्स) | ४।२ |
| परिओसहुवे (जीआएवस्स) | ४।४१ | पेच्छइ अलद्द (विअङ्गुइन्दस्स) | ३।९६ |
| —न्दराइ | ७।६८ | पेच्छन्ति अणिमिस (सुरहिवच्छस्स) | ४।८८ |

१. 'काठ'

'धिपस्य' वे. २. 'सिरिराअस्य' वे. ३. 'ब्रह्मचारिणः' वे. ४. 'मन्मथस्य' वे.

| | | | |
|-------------------|---------------------|-----------------------------------|-------|
| पोष्टपिंडिएहं | (कैअहस्तीलस्स) ११८३ | मरगं चिअ | ७।६९ |
| पोइं भरन्ति | (अलक्ष्यस्स) ३।८५ | मज्जहपत्तिथस्स (मङ्गलकलसस्स) ४।९९ | |
| फगुच्छण | (सूरस्स) ४।६९ | मज्जेपथुण्ड | ७।८२ |
| फलसंपत्तीअ | (कुवलअस्स) ३।८२ | मज्जोपिओ | ६।९७ |
| फलहीवाहण | (कहिलस्स) २।६५ | मणे आअण्णन्ता | ७।४३ |
| फालेइ अच्छभद्दं | (कालसीहस्स) २।९ | मणे आसाओ चिअ | ६।९३ |
| फुट्टन्तेण वि | (राअवगगस्स) ३।४ | मन्दं पिण आणह | ६।१०० |
| फुरिए वामच्छि | (सत्तिहथिस्स) २।३७ | मरगअसूरै (पालितस्स) ४।९४ | |
| बलिलो बाआबन्धे | (भोजअस्स) ५।६ | मसिण चङ्गमन्ती | ५।६३ |
| बहलतमा | (अहअस्स) ४।३५ | महमहइ मलअवाओ | ५।९७ |
| बहुआइ णह | (अद्वाराअस्स) ३।१८ | महिलांचिअ | ६।८६ |
| बहुपुफभरोणा | (माणस्स) २।३ | महिलासहस्स (हालस्स) २।८२ | |
| बहुवलहस्स | (अल[अ]स्स) १।७२ | महिसक्खन्धवि | ६।६० |
| बहुविहविलासरसिए | ५।७७ | महुमच्छआइ | ७।३४ |
| बहुसो वि | (सुरहिवयस्स) २।९८ | महुमासमारआ (सालिअस्स) २।२८ | |
| बालअ तुमाइ दिणं | (तुङ्गअस्स) ५।९९ | मा कुण पडिवक्ख (माअङ्गस्स) २।५२ | |
| बालअ तुमाहि | (हालस्स) ३।१५ | मा जूर पिआ (अलस्स) ४।५४ | |
| बालअ दे वच्च लहुं | ६।८७ | माणदुमधरस | ४।४४ |
| भगगपिअसंगमं | ५।९९ | माणुमत्ताइ मए | ६।२२ |
| भजन्तस्स वि | (हालस्स) २।६७ | माणोसहं व (वाहवस्स) ३।७० | |
| भण को ण | (महोहिअस्स) ४।९०० | मामि सरसक्खराँ | ५।५० |
| भण्डन्तीअ | (अथरस्स?) ४।७९ | मामि हिअं (वोलएवस्स?) ३।४६ | |
| भमह पलितइ जूरह | ५।५४ | मारेसि कं ण मुद्दे | ६।४ |
| भम धम्मिअ | (.....) २।७५ | मालइकुसुमाइ | ५।२६ |
| भरणमिअणील | ७।६० | मालारीए वेलहल | ६।९८ |
| भरिउच्चरन्त | (विसेसरसीहस्स) ४।७७ | मालारी ललित | ६।९६ |
| भरिमो से गहिबाहर | १।७८ | मा वच्च पुःफ (णन्दणस्स) ४।५५ | |
| भरिमो से सअण | (उच्छेउस्स) ४।६८ | मा वच्चह वीसम्भं | ७।८६ |
| भिच्छाथरो | (ससिराअस्स) २।६२ | मासपसुअं (कहिराअस्स) ३।५९ | |
| भुजुं जं साहीणं | (तिलोअणस्स) ४।१६ | मुद्दे अपत्तिथन्ती | ७।७८ |
| मोइणिदण्णपहेण | ७।३ | मुहुपुण्डरीबछाआह | ७।२४ |
| मध्यणरिगणो व्व | ६।७२ | मुहयेच्छओ पई | ५।९८ |

| | | | |
|--------------------|-----------------------|------------------------------------|---------------------|
| सुहमारण | (पोदिस्स) ११८९ | वजपडणा | (कण्णस्स) ११५४ |
| सुहविज्ञवि | (वज्रएवस्स) ४१३३ | वणदवमति | (हालस्स) २११७ |
| मेहमहिसस | ६१८४ | वणअधअलिप्पमुहिं | ६१९९ |
| रहकेलिहिअगि | ५१५५ | वणकमरहिअस्स | ७११२ |
| रहविरमलज्जिथाओ | ५१५९ | वणन्तीहिं तुह (चङ्करसत्तिस्स) ४१५० | |
| रकखेइ पुत्रां | ७१२१ | वणवसिए विअथति | ५१७८ |
| रणाड तणं | (अवणाथरस्स) ३१८७ | वन्दीअ शिहाः | (हालस्स) २११८ |
| रथापइण्ण | (हालस्स) २१४० | वसइ जहिं | (कितिराअस्स) २१३५ |
| रन्धणकम्मणि | (भीमसामिणो) १११४ | वसणमिमि | (प्रणालस्स) ४१८० |
| रमिझग पञं | (मकरन्दस्स) ११९८ | वाआइ किं भणिजउ | ६१७३ |
| रसिअजण | (हालस्स) १११०१ | वाउद्धअसिच्चअ | ६१७ |
| रसिअजण | (हालस्स) २११०१ | वाउलिआपरि | ७१२६ |
| रसिअजण | (हालस्स) ३११०१ | वाउबेलिअसाउलि | ७१५ |
| रसिअजण | ५११०१ | वाएरिण | (पालितस्स) २१७६ |
| रसिअजण | ६११०१ | वावारविसंवाँ | ७११६ |
| रसिअजण | (बह्यआरिणो) ५१५ | वासारते उण्णअ | ५१३४ |
| राअविरुद्धं | (वहुलस्स) ४१९६ | वाहरउ मं (कुम्भमराअस्स) २१३१ | |
| रुद्वारविन्दमन्दिर | ६१७४ | वाहिता पडिवअण | (रोलएवस्स) ५११६ |
| रुअं अच्छीसु | (बह्यगतिणो) २१३२ | वाहिव वेज | (वामएवस्स) ४१६३ |
| रुअं सिट्टु चिथ | ६१७३ | वाहोइभरिअ | ६११८ |
| रेहइ गलन्तकेस | ५१४६ | विकिणाइ माह | (हालस्स) ३१३८ |
| रेहन्ति कुमुअदल | ६१६१ | विजाविज्जह | (अणुराअस्स) ५१७ |
| रोवन्ति व्व अरणे | ५११४ | विज्ञासुहालावं | ७१३१ |
| लङ्कालयाँ | (अणुराअस्स) ४१११ | विणाणगुण | (सवरसत्तिस्स?) ३१६७ |
| लज्जा चत्ता चीलं | ६१२४ | विरहकरवत्त | (साहिलस्स) २१५ |
| लहुअन्ति | (गोविन्दसामिस्स) ३१५५ | विरहाणलो | (अमिअस्स) ११४४ |
| लुम्बीजो अझण | (वत्सस्स) ४१२२ | विरहेण मन्दरेण | ५१ |
| लोओ जूरइ ज्जूरउ | ६१२९ | विरहे विसं व | (हालस्स) ३। |
| वधणे वधणमिमि | (असोअस्स) ४१५६ | विवरीअसुरअलेहल | ७ |
| वहविवर | (उद्दवस्स) ३१५७ | विसमट्टिअपिके | ६१९६ |
| वक्कं को पुलह | (मेहणाअस्स) २१६४ | वीसत्यहसिअपरि | ७ |
| वङ्क्षिष्ठपेन्छ | (वप्पसामिणो २१७४ | वेविरसिण | (अन्धस्स) ३ |

१. 'पोटस' वे. २. 'सोमराजस' वे.

| | | | |
|--------------------------------|-------|-------------------|---------------------|
| वेसोसि जीअ | ६।१० | सहि ईरिति- | (अलअस्स) १।१० |
| बोडसुनओ विअणो | ६।४९ | सहि दुम्मेन्ति | (असुलद्दीए?) २।७७ |
| बोलीणालक्षिखअ (पवराअस्स) | ४।४० | सहि साहसु सब्जा | ५।५३ |
| संचाहणभुहरस | ५।६४ | सा आम सुहअ | ६।११ |
| संअणे चिन्ता | २।३३ | सा तुइ सहस्त्य | २।९४ |
| सकअगहरह | ६।५० | सा तुज्ज्ञ वल्लहा | (उजअस्स) २।२६ |
| संक्षेलिखो व्व (हालस्स) | ३।९४ | सा तुह कएण | (दुविअहूस्स) ३।६२ |
| सच्चं कलहै कलहै | ६।२१ | सामाइ गहअ | ५।३९ |
| सच्चं जाणइ (दुग्गासामिणो) | १।१२ | सामाइ सामलि | (.....) २।८० |
| सच्चं भणामि वालअ (देवराअस्स) | ३।३९ | सालोए विवअ | (हालस्स) २।३० |
| सच्चं भणामि मरणे (विअहूस्स) | ३।३९ | साहीणपिअझमो | ६।१५ |
| सच्चं साहसु | ३।८८ | साहीण वि पिअ | (रंविराअस्स) १।३९ |
| संजीवणोसह (विहलस्स) | ४।३६ | सिकरिअमणिअ | (नन्दिउद्दस्स) ४।९२ |
| संझागहिअजलज्जलि | ७।१०० | सिहिपिच्छलुलिअ | (वैरसरस्स) १।५२ |
| संझाराओत्थिझो | ६।६९ | सिहिपेहुणावअंसा | (पेटिसरस्स) २।७३ |
| संझासमए जल्पू | ५।४८ | सुअण्ण उरम्मि | (देवराअस्स) २।३८ |
| सणिअं सणिअं | ५।५८ | सुअणु वअण | (णीलस्स) ३।६९ |
| सत्त सताइ (हालस्स) | १।३ | सुअणो जं देस | (हँरकुन्तस्स) १।९४ |
| सन्तमसन्तं दुक्खं | ६।१२ | सुअणो ण कुप्पइ | (अञ्जुणस्स) ३।५० |
| सच्मावणोह (हालस्स) | १।४१ | सुक्खन्तवहलकहम | ५।१४ |
| नव्वात्रे पुच्छन्ती (सअस्स) | ४।५७ | सुन्दरजुआणजण | ५।९२ |
| मविसमणिव्व | ७।७३ | सुप्पउ तहिओ वि | (सिरिसत्तिस्स) ५।१२ |
| मसोक्खदुक्ख (वहूरङ्गस्स?) | २।४२ | सुप्पं डहूं चणआ | ६।५७ |
| ए महद्वाण (विगहराअस्स) | २।८६ | सुहउच्छथं जणं | (समगवम्मस्स) १।५० |
| ए सरम्मि | ७।२२ | सुहुच्छिआइ | (तिलोअणस्स) ४।१७ |
| सा वि सूसह | ६।३३ | सूहज्जइ हेम | (अण्हअस्स) ४।२९ |
| तथदिसा (कमलस्स) | २।१५ | सूईवेहे मुसलं | ६।१ |
| स्सम्मि विद्दे (मेच्छलस्स) | ३।२९ | सूरच्छलेण | (विगहराअस्स) ४।३२ |
| अरेण मग्गह | ७।५० | सेअच्छलेण | (हालस्स) ३।७८ |
| सहइ ति (कुम्माउहस्स) | १।५६ | सेडलिअसब्जी | ५।४० |
| वाहि (वलाइच्चस्स) | २।४५ | सो अत्थो जो | (हालस्स) ३।५१ |

‘ब्रह्मगते’ वे. २. ‘नाथाया’ वे. ३. ‘अनीकस्य’ वे. ४. ‘उजयस्य’ वे. ५. ‘कवि-
’ वे. ६. ‘वैशारस्य’ वे. ७. ‘हारकुण्ठस्य’ वे.

| | | | |
|-----------------------------|------|------------------------------|----------------------|
| सो को वि गुणाइ | ६।९३ | हासाविओ जणो | (अणुराअस्स) २।६३ |
| सो णाम संभरिजइ (वापइराअस्स) | १।९५ | हिअं हिअं | ५।०५ |
| सो तुज्ज कह (ईसाणस्स) | १।८४ | हिअ चेअ | (विकिरस्स) ३।९० |
| हंसेहि व तुह | ५।७१ | हिअटिउअस्स | (सच्चसेणस्स) ३।९८ |
| हत्थपक्षेण जरगवि | ५।६२ | हिअअण्णएहि | (मण्डहिवस्स) १।६१ |
| हत्थाहस्ति अहमह | ६।८० | हिअअमि वसति | ६।८ |
| हथेचु अ (पालितस्स) | ४।७ | हिअआहिन्तो पसरन्ति | ४।५।१ |
| हरिहिइ पिअ | २।४३ | हेनन्तिआसु (कन्तेसरस्स) १।६६ | |
| हल्कलहाण (कंठिलस्स) | १।७२ | हेलाकरग्गअट्टिअ | (पोषितस्स) ५।३ |
| हसिअं अदिङ्ददन्तं | ६।२५ | होन्तपहिअस्स | (सिहस्स) १।४७ |
| हसिअं सहस्य (अणुलच्छीए) | ३।६३ | होन्ती वि णिप्कल | (कॅन्दपुत्रस्स) २।३६ |
| हसिएहि उवालम्भा | ६।१३ | हाणहलिदा | (मअरन्दस्स) १।८० |



भूमिका ।

सकलभूमण्डलभाषामौलिमुकुटायमाना सेयं संस्कृतसरस्वती सर्वदेशीयैरपि तत्त्वज्ञ-पणिडतैः सर्वतः पुरातनीति सबहुमानमभिनन्दिता, सर्वतः प्रथमं ज्ञानालोकजननीति विनीतिपुरस्सरमभिविन्दिता, गौवरस्य सौष्ठवस्य माधुर्यस्य सौभाग्यस्य औदार्यस्य गाम्भीर्यस्य नैर्मल्यस्य मार्दवस्य चाधिष्ठानावनीति सप्रमोदमुपच्छन्दिता, हृदयपरिष्करणाय चाग्रतिद्वन्द्वं प्रभुरिति सत्यतमभिनन्दिता चेति नात्र विस्तारयितुमावश्यकम् । परमस्या एव सुरसरखल्याः सकाशाङ्गुद्वभिविगतवती प्राकृतभाषापि मध्ययुगे सुबहुतरं जनसं-मानमज्यामासेत्यभ्युपगन्तव्यमेव भवेत् ।

नवीनशिक्षादीक्षिताः साम्प्रतिकाः केचन हिन्दीकर्णधारास्तु प्राकृतभाषायाः पक्षं पुण्णन्तस्तदिदमपि साधयन्तः श्रूयन्ते यच्चाप्ना भाषा संस्कृतभाषातः समुत्पन्ना । इयं तु प्रकृतिनियमानुसारं सर्वतः प्रथमं स्वयमुपेदे । नामैवासास्तमिमं विषयं सूचयति । प्रत्युत संस्कृतभाषैवासाः सकाशाङ्गुतसंस्कारत्वाज्ञन्माधिगतवतीति संस्कृतनामाऽभ्य-जानीमेति । अस्तु नास्तिन्विषये साम्प्रतमिहाभ्यधिकं प्रपञ्चयितुं कामये । स्थानान्तरे तदिदं स्पष्टं निर्णीतं निर्णेष्यते च । परं प्राकृतभाषायाः प्रकाण्डपणिडतस्य प्रसिद्धकोष-कारस्य च श्रीमतो हेमचन्द्राचार्यस्य केवलं तदिदं सूत्रसुपन्न्यसामि यत्र सुस्पष्टमयमूरी-करोति यत्संस्कृतभाषात एव प्राकृतभाषायाः समुत्पत्तिरिति । आह सः—‘प्रकृतिः संस्कृतम्, तत आगतं प्राकृतम्’ । एवं सति प्रकृतिशब्दमात्रेण या भित्तिनवीनैरुत्था-पिता सा किल सुभृशमेव निर्वलावतिष्ठते । नवीनशिक्षिताः ग्रायः प्राचीनपणिडतानविद्यिपन्ति यदिमे विनैव युक्तिप्रमाणं स्वमतमग्रसरीकर्तुमभिनिविशन्त इति । परमस्मिन्विषये सुस्पष्टतरमार्थ्यमनुभवामि यच्चवीनसभ्यमहाभागैः ‘संस्कृतभाषातः ग्राक्तनी सेयं प्राकृतभाषै’लास्तिन्विषये किं वा सुहृदं प्रमाणमुपलब्धम्? अपि वेदेभ्यः प्राचीनं क्रिद्विप्राकृतपुस्तकमधिगतं श्रीमद्भिः? आहोस्त्वद्भगवन्तो वेदा एव न गीर्वाणभाषया साकं सम्बन्धमधिगच्छन्ति? साम्प्रतिकीं संस्कृतभाषां वेदकालिकीं प्राचीनामभरभा-रतीं च व्याकरणादिनियमैः कैश्चिद्भिन्नामिवापाततो ज्ञात्वा भाषामेदध्रमे तु न पतितव्यम् । एतद्विद्व अनुमानसीमतोऽन्यविकेन कालेन संघटितं केवलं व्याकरणनियमानां क्रमिकं परि-वर्तनमात्रम् । एतावन्मात्रेण द्वयोरनयोर्भाषयोः परस्परं मेदो न सिद्ध्येत् । ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्’ इत्यादीनि दिव्यान्यक्षराणि संस्कृतभाषातो विभिन्नैरन्यैरेव कैश्चिद्भावुभिः संघटितानीति को वा पुरुषपुङ्गवः साधयितुं प्रभवेत्?

किञ्च—साधारणवृद्धिरपि पुरुषः स्थूलतमविमनेनापि तदिदं परिज्ञातुं प्रभवेद्यत्
प्राकृतभाषायां मूलभूता संस्कृतभित्तिः स्फुटं प्रतीयते न वा । ‘आअण्णाअहृअणिसि-
अभल्लमम्माहआए’ इत्येतेषामक्षराणामन्तस्त्वेष्ठाण्णाम्भल्लमम्माहित्या’ इत्या-
दिसंस्कृताक्षराणां मूलरूपैष प्रतिफलिता प्रतिच्छाया न प्रतिभाति । प्राकृतस्य गद्यं पद्यं वा
यत्संस्कृतेऽवतार्थते तत् किल ‘छाया’नामा, आदिकालादारभ्याद्यपर्यन्तं प्रसिद्धम् ।
अनेन कि नानुमातुं शब्देत यत्संस्कृतस्य प्राकृतस्य च मध्ये छायामात्रकृतमन्तरमिति ।
प्राकृतस्य छायामात्रिय संस्कृतसुरपन्नमित्यर्थं भ्रमस्तु पूर्वं निरस्त एव । ततश्च सुस्पष्टं
सिध्यति यत्संस्कृतस्यैव छायामात्रेण प्राकृतस्योत्पत्तिरिति ।

प्राचीनमतावलस्त्रिवर्णं प्रतिद्वन्द्वितायां किञ्चित्कर्वीनमेव वक्तव्यमित्याप्रहित्या इव केचन
महामहोदयास्तदिदिमपि मनस्यमिमन्दन्ते यत्संस्कृतापेक्षया प्राकृतभाषा साम्रातमपि
मधुरतरेति । प्रलक्षमेव मयानुभूतामेकां घटनामवतारयामि । अनया हि पाठकमहाभागः
स्पष्टमिमं विषयं तत्त्वतः परिजानीयुः । मया हेकस्मै महाभागाय मदनूदिताया गाणस-
पश्यास्तदिदमेकं पद्यं केनचित्प्रसङ्गेन आवितमभृत—

शंसन्ति कामिनीनामम्मुनिलीनप्रियाङ्कसङ्कसुखम् ।

युलकितकपोलसंफुलनिश्चलाक्षणि वदनानि ॥ ६।५८ ॥

महाशयेनानेन सम्यतानुरोधिनं साधु साधित्यादिप्राप्तिकप्रशंसाकाण्डं परिसमाप्य
पर्यन्ते पृष्ठं यत्—‘अस्य मूलभूता प्राकृतगाथा तूपन्यस्यां या खेतदपेक्षया कियत्को-
टिकं कर्णमधुरा भवेत्’ । मया सविनयमावेदितम् ‘यदा ह्यस्य मूलभित्तिः प्राकृतगाथा
तदा कुतो वा सेयमभिनन्दनीया न भवेत् । परं सा कर्णमधुरापि भवेदत्र भतमेदो
भवितुमर्हति, विशेषतः प्राकृतप्रचारात्रकामं विप्रकृतेस्मिन्काले । तैः सोत्तेजनमुत्तरितं
‘जैवम् नैवम्’ । मया सा गाथा पुस्तकान्निस्तार्य तेषामप्रतः स्थापिता—

पिसुणेन्ति कामिणीणं जललुक्षियावउहणसुहेलिम् ।

कण्ठइअक्वोलुप्फुलगिच्छलच्छीँ वअणाइ ॥ ६।५९ ॥

मन्मतानुसारं तु तामिमां गाथामेते स्पष्टं पठितुमपि न प्राभवन् । आत्ममतं दुर्बलं
भवतीति सुमधुरपठनाय निश्चिततमाभ्यन्तरप्रयत्नं कृतवन्तोप्युतरार्थं छन्दोलये निबन्धुं
नापारयन् । एष हि समयोऽपत्रंशमार्गस्य कृते स्पष्टं प्रतिकूल एव । यतो हि साम्र-
तिकाः किल रात्रीयसाहित्यप्रचारका देशभाषाया अपि अपत्रंशपथसिद्धं व्रजभाषादिरूप-
मान्द्य तादृशं नवीनमेव रूपं सूजन्ति यत्र हि किञ्चिदप्यपरिवर्तितानि संस्कृतपदान्येव
आमूलचूडं क्रीडन्ति । वर्तमानसमये देशीयसाहित्यमहारथिनः—

‘थप्पन उथप्पन सपच्छ अरिदप्पनके

छप्पन करोर जादों कप्पन कलेसज्जू ।

चप्पन प्रतापत्तेज तप्पन के जासु जस

जप्पन औ अप्पन समप्पन द्वमेस ज्जू ।

होत बकसीस विसें बीस बीस तीस सुर-
ईसके सीस पै द्विजदीननिके पेसजू
जयसिंह दानी तुम्हें होहु सुखदानी
द्वारकाके राजधानी राजे राजा द्वारकेसजू ॥'

[द्वितीयजयसिंहाश्रिताः कविकलानिधिश्रीकृष्णमद्यः]

इत्यादिभिः संस्कृतापञ्चशजनितैः पदैर्ग्रथितां प्राचीनहिन्दी नाभिरोचयन्ति । एते हि—

‘नानाभावविभावहावकुशला आमोद आपुरिता
लीलालोलकटाक्षपातनिपुणा भूभङ्गिमापणिडता ।

वादित्रादिसमोदद्वादनपरा आभूषणाभूषिता
राधा थीं सुमुखी विशालनयना आनन्दआन्दोलिता ॥’

[अयोध्यासिंह उपाध्यायः]

एवंविधामपरिवर्तितसंस्कृतपदबन्धवाहिनीं भाषामद्यत्वे संसाधुवादमभिनन्दन्ति ।
कामं कुत्रचिद्द्वेदनावश्यकसंस्कृतपदनिवन्धः, स्वैरं संभवतु नाम दुर्बोधैः पदैर्भाषायाः
काठिन्यम्, भारतवर्षे कोणकोणावधि सुवोधतया अधिगतराष्ट्रीयभाषासिंहसनाया
अपि हिन्दीभाषाया अपर्यायतां नाम सर्ववोध्यत्वम्, परमिमे संस्कृतपदसौष्ठवापहतमा-
नसतया अपञ्चशपदानि पदाधातैरपसारयन्तः संस्कृतसरखतीमेव साहित्यसिंहासने
समभिषेचयितुमिवाग्रसरीभवन्ति । इदानीं दृश्यतामेतादशे समये प्राकृतभाषायाः कर्ण-
रसायनत्वसाधनं कियत्सत्यामिति ।

परमासीत्सोपि समयो यत्र प्राकृतभाषायाः संमुखे संस्कृतभाषा विच्छायेवाभवत् ।
मधुरमधुरेषु विषयेषु प्राकृतभाषां परिहाय संस्कृतभाषायाः परिग्रहणं लोकानां कृते
सुभृशमरुचिकरमभवत् । नवसु रसेषु मधुरतरः किल शङ्खार इति को वा न जानाति ।
परमयमपि रसः प्राकृतभाषायामेव माधुर्यमधिकं पुष्पातीति तत्समये कोविदानाम-
भूविश्वयः । शङ्खाराधिद्वयत्य समोभवस्य केलिभूमिरिव सेयं भाषा परिगण्यते
स्म । साभिमानहुंकारमुद्घोष्यते स्म तस्मिन्समये—

‘अस्मिअं पाउअकद्यं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।

कामस्स तत्ततरन्ति कुणन्ति ते कहूँ ण लज्जन्ति ॥’

प्राकृतभाषापक्षपातिन एव गेहेनर्दितया तदिदमुद्घोषयामासुरित्यपि न । ये किल
संस्कृतभाषायाः कोविदेषु मूर्धन्याः संमन्यन्ते स्म तेपि प्राकृतप्रशंसागीतमुक्तण्ठया
गायन्ति स्म । यायावरमूर्धन्यं राजशेखरकविं को वा संस्कृतशो न जानीयात् । यस्य
हि बालरामायण-विद्यशालभज्जिकादिरूपककाव्यानि संस्कृतस्य रूपं सुमृशमुद्घासयन्ति ।
यत्कृता काव्यमीमांसा परिज्ञाननैपुण्येन मार्मिकाणां मनांसि चित्रयन्ती साहित्यशास्त्र-

१ अस्तं प्राकृतकाव्यं पठितु श्रोतुं च ये न जानन्ति ।

कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते ॥

स्यासाधारणं महत्वमास्यापयति पण्डितसमाजे । संस्कृतसरस्वत्याः सौभाग्यसीमानः एतादशा महाकवयोपि प्राकृतस्यामे संस्कृतं गौणीकुर्वन्ति । आह सः—

परसा सक्तबन्धा पाउअवन्धो वि होइ सुउमारो ।

पुरुषमहिलाणां जेत्तिअसिहन्तरं तेत्तियसिमाणम् ॥^३

[कर्पूरमञ्जरी]

ललिष महुरक्खरण झुवईजणवलहे सासिंगारे ।

सन्ते पाइअकवे को सक्तइ सक्तअं पडिउम् ॥^४

[वजालग]

प्राकृतभाषा

देशजलवाच्चादीनां प्रभावाद्विलक्षणेन कण्ठतालवाच्चमिथातेन, करणापाटवेन, अन्येन वा कैतचन निदानेन कामं भवेत्प्राकृतादिभाषाणामुत्पत्तिः, परं विभिन्नवगाद्यैर्जनेः परस्परस्पर्धावशात्त्वेयं प्राकृतभाषा प्रकामं प्रसारमनीयतेति प्रतीतं भवति । वैदिक-मतानुयायिनामार्याणां जैन-बौद्धादिभिः सह यदा हि धार्मिकः संघर्षः समुद्दिश्य-तोऽभूतदा खार्याणां धार्मिकी भाषा संस्कृतमभवत् । अत एव तत्प्रातिद्वन्द्वयेन जैनर्धमागाधी, बौद्धेष्व पालीतिपरिभाषिता प्राकृतभिदा प्राधान्येन धर्मप्रचारभाषा न्यय-म्यत । इत्थं अन्यनवाहुल्येन शनैःशनैरुपचयमुपगता सेयं प्राकृतभाषा यस्मिन्समये प्रकामं प्रौढिमधिजगाम तद्वि प्राकृतभाषायाः कृते मध्ययुगसिति व्यपदिशामः । अनादिकालादारव्धा गीर्वणगवी तु खाभाविकेन निजसौष्ठवेन शनैः शनैः संस्कार-जनितेन केनचिदनिर्विचर्तीयेन सौन्दर्यमहिना च सुभृशमासीदेव विवेकिनाभमिन-न्दनभूमिः, परं संस्कृतपदाङ्कानुशीलेन तत्साहित्यमार्गानुवर्तेनेन तदसालङ्कारगुणाद्य-युगमनेन च प्राकृतभाषापि शनैः शनैः प्रकामं प्रौढिं सुबहुतरं माधुर्यं चाविजगा-मेति माननीयमेव भवेत् । अयमेव प्राकृतभाषार्थं पूर्णोपचयकालः । शनैः शनैः रुपचयमधिगच्छन्ती प्राकृतभाषा यदा श्वेतविधं चरममुक्तर्षमवाप तदैव सेयमपि साहित्यमाषेव भूत्वा व्यवहारात्क्रमशो दूरभावमवासवती । भाषा हि यदा सुभृशं संस्कारं परा प्रौढिं सुदृढां च व्याकरणनियममर्यादामनुवर्तते तदा हि व्यवहारमार्ग-त्र्कमशो दूरतां गच्छतीति भाषातत्त्वविदां मतम् । यतो हि साधारणजनतावाः प्रति-दिनव्यवहारे तादशनियमनिगदिताया भाषाया निर्वाहो न भवतीति क्रमशस्ताव्ये सन्धिस्थले अन्यस्याः कस्याश्रन्व व्यवहारोपयोगिन्या भाषाया जन्मनः सूत्रपातो

^३ परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोपि भवति सुकुमारः ।

पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावदेतेषाम् ॥

^४ ललिते मधुराङ्करे युवतिजनवल्लभे सशङ्करे ।

सति प्राकृतकान्ये कः शक्तोति संस्कृतं पठितुम् ॥

भवतीति तेषां वक्तव्यम् । पूर्वं हि व्याकरणनियम—लिङ्गादिभु भूयस्तरा॑ स्वतच्चाया गीर्वाणगिरो व्यवहारः समभवत् । सौष्ठवबुद्धा शनैः शनैर्व्याकरणनियमद्वीकरणेन साहित्यमार्गस्य भूयस्तरां प्रसारेण च क्रमशोडसां देववाण्यां नानाविधानां संस्कारणामाविर्भावोऽभवत् । अत एव सुतरां संस्कृता सेयं देवगवी साहित्यभाषागौरवपदमवाप्य क्रमशो व्यवहारपथात्टास्थ्यमवाललम्बे । व्यवहारार्थं च प्राकृतभाषाया जन्म समभवत् । कृततक्षणानीव असाधारणसमुज्ज्वलानि दृढसंस्कारणि चाक्षराणि शीवालादिसाधारणसमुच्चारणे न सुकराण्यभवन्निति संस्कृतरूपेषु विकृतिमुत्पाद्य संस्कृतधारेण प्राकृतभाषाया आविर्भावोऽभवत् । यदा च पूर्वोक्तप्रकाराणे प्राकृतभाषापि नानालंकारसंक्षिप्तरूपा समुज्ज्वलनेपथ्या समभवत्तदा साधारणवेष—भूषाभिर्योषाभिः संपाद्यानि गृहव्यवहारकार्याणि यथा अनांशिकमस्तुताभ्यः समुज्ज्वलनेपथ्याभ्यो महिलाभ्यो विप्रकृष्टानि भवन्ति तथा शनैः शनैरियमपि भाषा व्यवहारपथात्टस्थाभवत् । कार्यव्यवहारस्त्रै च अपञ्चशभाषाया जन्म समभवत् । यदा च अपञ्चशभाषापि शनैः शनैः सौष्ठवबुद्ध्या संस्कृतरूद्धासिता साहित्यपुस्तकस्यभाषाभवत्तदा व्यवहारार्थं प्रादेशिकभाषाणां मूलोत्पत्तिभूदिति जानन्त्येव तत्त्वविदो विद्वांसः । यदा हि प्राकृतव्यवहारादूरे भूत्वा पुस्तकस्था भाषा संपाद्याभवत् अपञ्चशश्च व्यवहारादूरे गच्छज्ञासीत्सिन्नेव समये [११५० तमे खित्संवत्सरे] हेमचन्द्राचार्येण प्राकृतव्याकरणं कोषश्च निरमीयत । अस्य परिशेषोऽपञ्चशस्यापि नियमाः संस्काराश्च संगृहीता इति तत्परिशीलकाः परिचिन्तयुः ।

उपरितनेन भाषाणां विपरिवर्तनेतिहसेन तदिदमेव मे वक्तव्यं यत् पूर्णसंस्कारैः प्राकृतां पूर्णां प्रौढिं चाधिगता सेयं प्राकृतभाषा यस्मिन्स्तराय साहित्यसिंहासनमध्याहरोह, यथा प्राकृतभाषायाः परमोत्कर्षस्य पूर्णो मध्याहकालः समभवत्सिन्नेव समये प्राकृतसाहित्यस्य चरमोत्कर्षसूचिकायाः श्रीमत्या गाथासप्तशत्या जन्म समभवत् । यावत्किल प्राकृतभाषा प्राकृतजनानां केवलं व्यवहारमात्रोपयोगिनी समभवत्, न च यावत्सेयं समयैः कविभिरात्मनः सरखतीनिःस्यन्दाय निर्वाचिताभवत्, तावज्ञानया सह चंस्कृतभाषायाः संघर्षः समभूत् । यतो हि चरमोत्कर्षित्विभिन्न्या श्रीमत्या संस्कृत-सरखत्या सह केवलं व्यवहारसाधिकायाः प्राकृतभाषायाः का नाम तुलना ? परं यदा शनैः शनैरुपचितसर्वाङ्गसौन्दर्या, समुचितैः साहित्यसंस्कारैः समुज्ज्वलितलावण्या, सेयं साहित्यसौधमधिकतुं पूर्णाधिकारिणी समभवत्, राजशेखरसदृशैर्भूयोभिर्महाकविभिर्निःजप्रतिभाप्रसाराय च यदा सेयं सगौरवमधिगृहीताभूत्तदा साहित्यसौधस्य संमुखवेदिकायामेव द्वयोरेव भाषयोः परस्परं संघर्षः समुपस्थितोभूत् । साहित्यरङ्गस्थले संस्कृतभाषया सह स्पर्धासंकथैव प्राकृतभाषायाश्चरमोत्कर्षं पिश्चुनयितुमलम् । पूर्वोपन्यस्तैर्वचनैश्च द्वयोरन्योः स्पर्धा स्फुटमनुसिता भवति । ततथ यः किल प्राकृतभाषायाः पूर्णः समुत्कर्षकालः स एव सप्तशत्या संग्रहकाल इति विवेकिभिरविगन्तव्यं भवेत् ।

सातवाहनः

हालापरनामा कोये सातवाहन इति निर्णयाय बहूनां संस्कृताभिज्ञानां पाश्चात्यपण्डितानां वहोः कालादभूवेव गवेषणाः । तैर्यस्तिविविधितं तद्दि प्रबगवेषणाव्यसनिभिरभिज्ञातमेव भवेत्, परं संस्कृतविदुषां कृते तस्य दिग्दर्शनं खर्गायमहामहोपाध्यायपण्डितदुग्रप्रसादमहाभागैः पूर्वं सुद्विषतस्य पुस्तकस्य भूमिकातो भूयस्तरं भवेन्नाम । अत एवैतां भूमिकामविकल्पमुद्धृतवानस्मि । अनया हि गाथासप्तशतां केयां केयांचन कवीनां कृतयः संगृहीतात्स्तविषये, तत्संप्रहीतुः शालिवाहनस्य तटीकाकाराणां च विषये प्रायो भूयानेव परिज्ञातव्यविषयोऽधिगतो भवेत् ।

अयं किल सातवाहनः शकसंवत्सरप्रवर्तीकः श्रीमान् शालिवाहन एवेति पूर्वं भूमिकायामुद्धृतैः हैमकोषादिप्रमाणैः सुव्यक्तमेव । ततश्चास्य कालविषये निर्वर्तम निश्चितं भवति यदयं खिस्तीयसंवत्सरप्रथमशतके संबभूत । दक्षिणापथान्तरगतं प्रतिष्ठानपुरमेतस्य राजधानी समभूत । यद्दि सांप्रतं 'पैठण' नामा प्रसिद्धम् । एतद्वाज्याश्रिता गुणाद्यशर्ववर्मप्रभृतयोः भूयांसो विद्वांसः समभवत् । परमविदुषा महाकविना चानेनैव गुणाद्येन निर्मिता वृहत्कथा, या हि भुवनविश्रुता । एतस्य कवेचिषये गदितं गोवर्धनाचार्येण—

‘अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त ।
कैर्नेच्येत् गुणाद्यः स एव जन्मान्तरापन्नः ॥’

कथासरित्सागरे यो ह्यस्य नरेन्द्रस्य वृत्तान्तः समुपलभ्यते तेनेदं परिज्ञायते यदयं महीपतिः पूर्वं नारीत्संस्कृतभाषाविद्वान् । एतस्याः प्रिया पट्टराजी मलयवती तु संस्कृतभाषाविदुषी समभवत् । तथा राज्या सह कदाचिजलकेलिमनुभवज्ञये ‘मोदकेस्ताड्य’ [मा उदकेस्ताड्य] इति तयाऽभिहितोऽभूत । अयं तु सन्ध्यनभिज्ञत्वात् राज्यात्साडनाय मोदकान्यनस्याज्ञां प्रदद्दत्या राज्या परिहस्यते स्म । अनेन परिहासेन सर्वम्यभिहतः सोयं सभामागल्य आवस्त्वरितं व्याकरणाध्ययनाय निजाश्रितान्पण्डितानुजुहाव । तत्र गुणाद्यप्रातिद्वन्द्वे स्थितः शर्ववर्मा षडभिर्मसैर्याकरणाध्यापनं प्रतिज्ञे । पण्डितराजो गुणाद्यस्तु एतावति समये व्याकरणपाणिडत्यमसंभवं मन्वानः ‘यदि त्वं तथा कुर्यास्तर्हि प्रचलितभाषामात्रमहं त्यजेयम्’ इति सोत्तेजनं पणवन्धं चकार । भगवन्तं कार्तिकेयं परितोष्य लब्धकलापव्याकरणः शर्ववर्मा तु दिव्यप्रभावात्प्रतिज्ञातकाले सातवाहनं व्याकरणपणिडितमकरोत् । प्रतिज्ञानुसारं त्यक्तप्रचलितभाषात्रयो गुणाद्यः प्रतिष्ठानपुरं परिलक्ष्य वनवासमाश्रितो भूतभाषया वृहत्कथामुपनिबन्धं । प्रसन्नः सातवाहनोपि शर्ववर्मणे गुरुरिति गौरवं प्रदाय महार्हरत्ननिचयोपहारपुरस्वरं भस्करच्छं ग्रदेशस्याधिपत्यं तस्मै विततार । अनेनैतत्परिज्ञायते यद् भूक्तच्छप्रदेशोऽप्यस्य शासने समभूत्, यो हि साम्ब्रंतं ‘भरोच’ नामा लोकानां परिचितः ।

उपरिप्रत्ता कथासरित्सागरकथा यदि प्रमाणकोटाव्युपन्यस्तुं शब्देत् [डॉक्टरपीटर्सन-द्वारा बुन्दीने रेशपुस्तकालयादानीते सप्तशतीपुस्तके 'इति श्रीमत्कुन्तलजनपदेश्वर-प्रतिष्ठापत्तनाधीश—मलयवतीप्रायण्प्रिय—कालाप्रवर्तकशर्वैवर्मधीसखमलयवन्युपदेशप-ण्डितीभूत—कविवत्सलहालाह्युपनामक—श्रीसातवाहननरेन्द्रनिर्मिता—' इत्यादिपुष्टि-कार्यं प्रमाणतया तदिदमुल्लिखितमेवेति पूर्वभूमिका दृष्ट्या] तर्हि अनेन सुगमतया तदिदं सिद्धेद् यदेष नरपतिः संस्कृतवैदुष्याभावेषि निजाश्रितानां कविपण्डितानां सततसंसर्गात्कवितापरिचयविद्धिरो रसिककथं समभूत । अत एव तत्कालप्रचलिताः आकृतकविताः सुभृशमभिनन्दन् तत्त्वकीर्त्तोत्साहयन्नयं प्राकृतकवीनां कृते कल्पतरुरिव समोदमभिनन्दनभूमिरभूत । रात्रिनिदिवं कविगोषीपटिष्ठस्तन्मीमांसाभिनिविष्टतया तत्प-रिनिष्टमतिः सोयं स्वयमपि कवयति स्म, सुमधुरं च कवयति स्म । अनन्तरं हु निजदयितया प्रवर्तितोयं संस्कृतभाषामध्यविजगे ।

एषा किल सप्तशती तेन सहीभूता निर्मितेति यत्कैविदुलिखितं सोयं स्पष्टो भ्रमः । प्रत्येकशतकस्यान्ते स्वयं सप्तशत्यामेव 'रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखमुकविनिर्मिते' इत्युपनिवद्धम् । अनेन बहुनां कवीनामत्र गाथाः संश्लीला इति स्पष्टं सिद्ध्यति । पूर्वं मया प्रदर्शितमेव, यत्कविजनानां कृते कल्पद्रुमायमानसास्य सविधे चहवः कवयः सुवहुतरं संमानमवाप्य आश्रयमेव जग्युः, वहवश्च संमानलिप्स्यया दूरदूरादस्य सभामागत्य निजगुणान्प्रकटयांचकुः । कविताकलापकोविदः सोयं तत्त्वकीनां चमत्कारणीस्तास्ताः कविताः सर्वा एव निजाश्रितैर्जनैः पदारहडाः कारयामास । अनन्तरं च तत्तेषां कवीनां कीर्तिस्थिरीकरणार्थं तासां कवितानां भध्ये याः किल परम-मेव सधुराः, केनापि च चमत्कारेणालङ्कृतास्तादशीः सप्तशतं कवितास्ततः संग्रहा-दुर्चीयन्ते स्म । अयमर्थः सप्तशत्याः प्रथमशतकस्य तृतीयायां गाथायां स्फुटमस्मिव्यक्तः—'सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये । हालेन विरचितानि सालंकारणां गाथानाम्' इति । टीकाकारैः स्पष्टं व्याख्यातम्—'कविगाथासंप्रहेण तत्कीर्तिस्थिरी-करणात्कविवत्सलेन हालेन शालिवाहनेन सालंकारणां गाथानां कोटेर्मध्ये सप्तशतानि विरचितानि । संगृहीतानीत्यर्थः' ।

राजेचित्सुखाविलासभूता ह्येतेन महीक्षिता पूर्वसंगृहीतानां गाथानां संकलनमात्र-स्वयमपि परिभ्रमः स्वहस्तेन नाशुभूत इति स्पष्टमहमभिर्मिते ।

'अविनाशिनसप्राम्यमकरोत्सातवाहनः । विशुद्धजातिभिः कोषं रक्षैरिव सुभाषितैः' इत्यादयो बाणादीनामुक्तयस्तु केवलमौपचारिकयः । एतस्य महीपतेरभिप्रायमवगत्य राजपरितोषलालसेन केनचिदेददाश्रितेन कविना तदुचेरनुसारं गाथानां सप्तशती एत-आन्नाङ्गित्यत्वा संश्लीला अस्मै समर्पिता च । नास्य संप्रहस्य सातवाहनभूपतिः स्वयं संकलयिता । 'निजगुणश्चाधया संतुष्टः सातवाहनरेन्द्रो मद्यमतिदायितां द्रव्यादिस-पर्यामर्पयेत्' इति संश्रीहीतुर्ललसा स्पष्टमस्मिन्नव्येऽभिनिविष्टा—

‘तव रणजलदसमयभयचलविह्नलपक्षकैनुस्थियते ।
परिशेषितपद्मागैहंसैरिव मानसं रिपुभिः ॥ ५।७१’

‘कः स्थगयितुं समर्थोऽत्र जगति विस्तीर्णनिर्मलोनुज्ञम् ।
हृदयं च तव नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥ ५।७४’
‘विषमस्थितपक्वैकाप्रदर्शने ते तु शत्रुगेहिन्या ।
पथिकानां कः को वा न वाऽर्थितो रुदति डिम्बे हि ॥ ५।७५’

राजानं संबोध्य समुदीरिता एतदादयो गाथाः स्पष्टं सूचयन्ति यदिमाः कविद्वाजान-
मुदित्य तत्परितोषाय तदभिमुखं सभायां पठिताः । स राजा च प्राकृतकवीनां कल्प-
पादपं शालिवाहनमन्तरा कोऽन्यो भवितुर्महति । एवंस्थितौ प्राकृतकाव्यकौषसास्य
निर्माता स्वयं शालिवाहन एव कथं भवितुर्महति ? न किल कीडशोपि कीर्तिलोकुपः
पृथिवीपालः स्वहस्तेन स्वप्रशंसामुपदौक्येत् । न केवलं राजनाम्रेव अपि तु प्रातिस्थिकरू-
पेण शालिवाहनस्य नाम गृहीत्वापि स्पष्टं कीर्तिसंकक्षा ग्रथिता सप्तशत्याम्—

‘आपन्नानि कुलानि द्वावेव हि विद्यतुरुच्चार्ति नेतुम् ।
गौर्याश्च हृदयदर्थितोऽथ शालिवाहनरेन्द्रश्च ॥ ५।७६

परममार्थिकेण निखिलजनसंमाननीयेन मनस्तिना शालिवाहनरपालेन स्वप्रशंसा
स्वयं स्वहस्तेन लिखितेति कि कवित्सावधानमतिर्मानयेत् ?

श्रीमद्भिनन्दप्रधीतस्य रामचरितमहाकाव्यस्य द्वाविंशत्तमसर्गसमाप्तौ—‘हालेनोत्तम-
पूजया कविवृष्टः श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारा-
तिना । श्रीहर्षो वितार गद्यकवये बाणाय बाणीफलं सद्यः सत्कियवाभिनन्दमपि च
श्रीहारवदेऽग्रहीत् ॥’ इति पद्यमुपलभ्यते । ततश्च श्रीपालितकविनैव स्वप्रभोर्हांस्यस्य
नामा सेर्यं सप्तशती द्रव्यावासिकामुकेन संगृहीता स्यादिति पूर्वकारणैः सुस्पष्टमनुभी-
गते । पूर्वसंस्करणभूमिकायां स्वर्गायैर्महामहोपाध्यायैरपि तदेतदनुमानमनुमतिर्मान-
मीमांसानीय मार्थिकैरेव ।

हालस्य यौवनकाले निर्माणम्

सैषा सप्तशती सातवाहनस्य सुततविलासिभ्रमवत्यां यौवनावस्थायां समगृह्यतेत्यपि
स्फुटीभवति । यदि सेर्यं सातवाहनस्य प्रसादार्थमुत्तमपूजालालसेन श्रीपालितेन संकलिता
सात्ततश्वास्यां राज्ञो रुचिमनुरुद्धयैव सर्वा गाथाः संगृहीता भवेयुः । अस्यां चामूलचूडं
श्वाररस एव परिखेलति । सोपि साधारणो न, किन्तु अगाढकामिनामुत्कटसङ्गलिसा-
सूचकश्वरमसीमानमुपगतः । अत्र हि पुष्पवत्यपि सङ्गार्थं संगृह्यते । उत्कुलिहया
कीडन्यो बालिकायामपि विपरीतरतमुत्प्रेक्ष्यते । निमृतनिधुवनसमये उपधानार्थं किञ्चि-
हृष्टुपुलब्धे भगवतो गणपतेर्मूर्तिरेव शिरस उपधानीकियते । सारमिदम्—यत्कुञ्ज-
वित्तु सोयं श्वारस्था निरावरणो निर्मर्यादश्च भवति यथा औचित्यस्यातिकमसी-

मानमपि तुम्बति । यद्यपि तस्मिन्समये समाजस्यैव तादृशी रुचिरासीत्, नात्र केवलं राज्ञ एव निर्देशदोष इति वकुं शक्येत, परमेकस्य माननीयस्य विशालराज्याधिपत्य विदुषो राज्ञः परितोषाय तदाज्ञया निर्मिते संग्रहे समाजस्य रुचिः प्रधानीभवेदेतद्येक्षया तस्य राज्ञ एव तस्मिन्समये वयोविशेषवशात्तादृशी रुचिरासीदित्येव साधनं युक्तिसंगतम् । ततश्च रतिरसतरङ्गसङ्घसंवाहितः सोर्यं नरपालस्तादृशान्येव काव्यानि तस्मिन्समयेऽभिरोचयामासेति तिथ्यति । एवंविधकाव्याभिरुचिश्च यौवन एव भवतीति सोर्यं संग्रहः सातवाहनस्य नवतारुण्यविलाससंसूचक एवेति स्पष्टमेव । अर्थं विषयः परस्तादपि समालोच्यतेल्लं विस्तरेण ।

इयं रचना भारतीयसाहित्यस्य पूर्णतादशायां निरमीयतेत्यस्या गुम्फगुणगौरवेण विणेयं भवेत् । प्राकृतभाषायेवंविधरचनाप्रकाशनेन पूर्णतममुन्मेषं गतवतीति पूर्वमुक्तमेव विस्तरतः । अत एव शालिवाहनस्य शासनं प्राकृतप्रसाराय सुप्रसिद्धं साहित्यगोष्ठ्याम् । यथा हि सरस्वतीकण्ठाभरणे—

के नासन्नाङ्गराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः ।
काले श्रीसाहस्राङ्गस्य के न संस्कृतभाषिणः ॥*॥

आङ्गराजः शालिवाहनः । साहस्राङ्गो विक्रमादित्य इति दीक्षाकारो रनेव्वरमिश्रः ।

प्राकृतभाषापरिग्रहणेषि तस्मिन्समये हेतपरिचितसमाजे बौद्धर्थमेयं प्रभावः सुत-रामपगतोभवत् । असां हि मूलादारभ्यान्तर्पर्यन्तं शिवपर्वत्योर्लक्ष्मीनारायणगोक्षमङ्गलस्तुतिरूपः शङ्खरो वर्ष्यते । स्थाने स्थाने गणपतिः स्तूयते । स्थले स्थले सरस्वत्याः स्तुतिसंकथा प्रस्तूयते । तदेतदादिभिः सनातनार्थर्थमस्याग्रहः सुस्पष्टतरो भवति । अवश्यं बौद्धर्थमेयापि भारते तस्मिन्समये चर्चा नासीदित्यपि न वकुं पार्येत । अतिं हि बौद्धभिक्षणामपि वर्णनमस्यां सतशत्याम्—

शुक्मुखसच्छायैः किल पलाशकुसुमैर्विराजते वसुधा ।
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसंघातैः ॥४१॥

पीतश्यामवर्णशब्दानि किञ्चुकपुष्टाणि परितस्तथा पतितानि सन्ति यथा मध्ये आसीनस्य बुद्धस्य चरणवन्दनार्थं दण्डवत्पतिता असंख्या भिक्षवो भवेयुः । इयामवर्णानां किञ्चुकवृन्तानां विरःसाम्यम्, तत्पञ्चाणां च पीततया पीतवस्त्रसादश्यमिल्येवरूपेण तस्मिन्समये बहुतरमावर्तमानस्य बौद्धोपदेशसमाजस्य चित्रणं तच्चर्चा खसहचरीं सूचयति । सहैव च बौद्धान्प्रतीर्थ्यापि समभवदिल्प्यनुमातुं शक्यते । मूलकारस्य विवारपरम्परां प्रकाशयति दीक्षाकार इति प्रसिद्धं वित्सु । दीक्षाकारश्च गङ्गाधरभट्टः स्फुटमत्राह—‘बुद्धस्येत्युत्तरार्धमपश्चकुनसूचनार्थमेवोपात्तमिति’ ।

कि चात्र तस्मिन्समय एव भारते प्रस्तुतप्रभावस्य श्रीमतो विक्रमादित्यभूपालस्थ शेषमार्गेणाभिमुखीकृता प्रसङ्गसंगता युद्धकालिकी काचित्प्रसिद्धा घटना संगृहीतात्त्वे—

ददता संवाहनसुखरससंतुष्टेन तथ करे लाक्षाम् ।
विक्रमनरेन्द्रचरितं चरणेन हि शिक्षितं तस्याः ॥ ५६४

सप्तलीचरणलाभालाजित्तकरं दयितं खण्डिता सेष्योपालमभासाह—त्वत्कृतसंवाहनानुष्टेन अतएव प्रसादहृपेण त्वत्करे लाक्षां ददता (संक्रामयता) तस्याः (सप्तस्याः) करेण विक्रमनरेन्द्रचरितमनुशिक्षितम् । प्राकृते ‘संवाहणं’ ‘संवाहनं संवाधनं’ च ‘लक्खं’ ‘लाक्षां लक्षं’ चेति । ततश्च विक्रमादित्यो वृत्तकर्त्तकेन शत्रुसंवाधनेन तुष्टः सत् यथा शृख्य स करे लक्षं ददाति तथा त्वत्करे तथा लाक्षा देति भावः ।

इयं घटना तस्मिन्काले सर्वतः प्रस्ताभूदिति कवित्युत्करशशब्दावामपि सा स्थानं लेमे । ततश्च विक्रमादित्योप्यैतत्कोषायकस्य शालिवाहनस्य समकालिकप्राय एवैति सुर्टीभवति । प्रबन्धकोषेषि ‘विक्रमादित्यसमकालीन एवायं सातवाहनः’ इति प्रोक्तमस्ति । इयतां पूर्वसंस्करणभूमिकार्यां सातवाहनशीर्षकस्य द्वितीयं पृष्ठम् ।

प्राचीनता

उपलभ्यमानेषु काव्यग्रन्थेषु गाथासप्तशती प्रायो बहुभ्य एव पुरातनी । अस्या निर्माणकालः संवत्सराणां सहस्रद्वयीमासीदति । यतः शकसंवत्सरप्रवर्तकस्य शालिवाहनस्य समये सेवमुद्भवमग्रहीदिति पूर्वं निर्दिष्टमेव । यस्मिन्समये बहूनां सभ्यजातीनां समाजे सभ्यतादेव्याथरणन्यासोपि नाभवत्सिन्नपि समये भारते एवंविधमपूर्व ध्वनिकाव्यं निरमीयत, यत्प्रातिद्वन्द्वयमसिन् सभ्यतायाः पूर्णिकासमयेषि समये सहसा न संभवेत् । इदं हि काव्यं साहित्यशास्त्रस्य परिभाषितैर्लक्षणैः पूर्णतया लक्षितम् । स्थाने स्थानेऽस्मिन्बलंकारास्तथा वैदेश्येनासङ्गिता यथा सेवं सप्तशतीसुन्दरी सहृदयानां प्रसाद्य मनोहरणायालम् । तेऽप्यलंकारास्तावन्त एव विलसन्ति आवद्धिनिर्सर्गसुन्दरमस्या वरुनं भारसीमानमनुचुम्बति । प्रधानतस्त्वत्र रसस्थैव साम्राज्यं यो हि काव्यस्यात्महृपेण सर्वे: संमान्यते । चेतश्चमस्त्कारकं किञ्चिद्वद्वज्ञमनुपादाय कतमंचिदपि पदं नाम्रावतरतीति सप्तणवन्धमुद्घोषयितुं शक्येत । अत्र हि शतावरसोऽम् । स हि प्रायः सर्वत्र निष्ठातिबन्धमुत्खेलतीति स्पष्टमेव तदिमर्शकमहाभागानाम् । रसानुसारिणः प्रसादमाधुर्यादयो गुणास्त्वेतस्याः खरे खरे भवेयुरत्र वक्तव्यमेव किम् ? यतः सरसाषु काव्यव्यक्तिषु तेषां साभिनिवेशः प्रवेशो नान्तरीयक एव । रसमुद्गासयन्तोपि रसिकान् लालसयन्तोलंकारा अपि प्रायः प्रतिपथमेवोद्भासन्त इति पूर्वमावेदितमेव । एवं किल साहित्यशास्त्रस्य लक्षणीयानामङ्गानामुदाहरणभूतः सोयं ग्रन्थं इति स्पष्टमस्य गौरवं बुद्धेरतः संतिष्ठते । इदानीमस्माकं तस्य साहित्यस्य लक्षणशास्त्रमितः सुतर्मा प्राचीनं भवेत्, यद्दि असां सप्तशतामासूलचूडमनुगम्यत इति प्रतिभावद्विरुमातव्यं भवेत् । यदाऽस्माकं साहित्यस्य लक्षणशास्त्राण्येवातिशाचीनतमानि सिध्यन्ति ततस्तु लक्ष्यमूलमसाकं काव्यवाच्चार्यं तु कियत्पुरातनं सिध्येदिति खत एव बुद्धिमतां मतिमाकर्षेत् । यतो हि पूर्वं लक्षणाणि काव्यान्युद्धवन्ति ततो बहुलीभूतेषु तेषु तान्युदाहर-

श्रीकृत्य तेषां गुणदोषादीन्विन्विच्य परतोभाविनां साहित्यसेविनां शिक्षानिमित्तं तच्छास्त्रं निर्मायते । यथा हि पूर्वं जनसमाजे भाषा प्रादुर्भवति तदनन्तरं तस्याः संस्काराय विश्व-ह्ललतानिवृत्तये च व्याकरणं निर्मायते । एष किल नवीनशिक्षापद्धतिमधिजग्मुणां विदुषमेव युक्तिविन्यासः । एतदनुसारमस्याकं समाजे काव्यनिर्माणयुगं किंवत्पुरातनं सिद्धेत्, तदपेक्षिता शनैः शनैरूपचित्ता सम्यता च ततोऽपि किंवत्पुरातनी भवेदिति स्मत एव सम्यमहाभागैरसुभवनीयमापतति ।

काव्यगुणसौष्ठुदम्

इयं सप्तशती बहुतरं पुरातनीत्येतदपेक्षयापि सैषा काव्यगुणैर्निर्भरमभिभूषितेत्ये-तावदेवास्याः समुक्तर्थस्य निदानम् । शनैः शनैरूपचयमुपगता प्राकृतभाषा परमधनाव्यया चरमोक्तुष्टया च संस्कृतभाषया सह संघर्षमनुभूत्य कैश्चित्कविभिः संस्कृततुलनायां सेयं मधुरापि यत् पर्यगण्यत तस्य किल निदानं सप्तशतीसदशानां ग्रन्थानामुत्पत्तिरेव । यस्मिन्स्यामये प्राकृतभाषा संस्कृततो मधुरा पर्यगण्यत तस्मिन्प्राकृतोत्कर्षमये समये त्वियं सचेतसां हृदयदेशमधिकुर्यादेव, परं प्राकृतभाषायाः सौष्ठुवप्रभावो यस्मिन्स्यामये जनानां हृदयच्छन्नैः शनैरपगच्छति स्म, तस्मिन्प्रापि समये सहृदयहृदये वज्रकीलोऽक्षितेवास्याः समशत्याः सौभाग्यसंकथाः न कथंचिदप्युन्मृष्टाभवदिति वयं जानीमः । अत एव श्रीमतीं संस्कृतसरस्तीमेव भूमण्डलस्य सरससाहित्यसाम्राज्यसिंहासने सुस्थिरामापादयितुं प्रथमानैरलंकारशास्त्रकरैः प्राकृतभाषानिवद्धापि सेयं सामिमानसुदाहियत । आसीत्वा किल तादृशः समयो यतेषामधिकारे यदि संस्कृतकाव्योदाहरणान्यभविष्यत्स्तर्हि न ते कथंचिदपि प्राकृतभाषामयीमिमामस्प्रक्ष्यन् । यरं ध्वनेभेदानामुदाहरणाति यानि भवेयुसादाहशानि कानिचिददन्यादिभिः काव्यान्येव तैर्नेपालभ्यन्तु । दृश्यताम्, रुद्र-मम्मट-वाग्मट-विश्वनाथादिभिः प्रायः सर्वैरेव खस्वसाहित्यनिबन्धेषुदाहरणतया सेयं सप्तशती पर्यगृह्णत । गुणमधतया सर्वत्रैवमामेवानुवर्तमानेन भोजेन तु सरस्तीकण्ठाभरणे प्रायः सर्वैरेव सप्तशती केन केनचिदप्रसङ्गेनोदाहृता । अपि नेदमस्याः परमोत्कर्षं सूचयितुमलम्? अस्या अनुकरणेन संस्कृतेपि गाथासब्रह्माचारिणीमिरार्याभिः सप्तशतीमुपनिवद्धता गोवर्धनाचार्येणाप्यारम्भे 'वाणी प्राकृतसमुचितरसा' इत्यादिना अस्याः स्तुतिरणापि । नासीत्तस्मिन्स्यामये प्राकृतस्य तावन्धसारः, परं गाथासप्तशत्यादिभिः कतिसिद्धिद्रन्यैः शृङ्गारस्योपरि तादृशी निजमुद्राऽङ्किता यथा प्रभावितः श्रीगोवर्धनाचार्योपि अनिच्छायामपि शृङ्गारोपनिवन्धनचिषये प्राकृतं स्तुतुं प्रसव्य परवशोऽभवन् । दृश्यताम्, कैरकरैरेप स्तौति—'प्राकृतभाषार्था समुचितो रसो यस्या इदृशी वाणी अर्थात् शृङ्गारप्रमेयमयी, निमोचितनीरा कलिन्दकन्या गगनतलमिव बलात्कारेण्येव मया संस्कृतं नीता ।' एतादृशी वर्णना प्राकृतभाषायामेव सरसा संपद्यते न संस्कृते, ततोपि मया बलादेव संस्कृतं प्रापितेति' तदाशयः । ईकाकारम-हाशयोप्याह—'एवं च प्राकृतकाव्ये मुरसतासंपादनं भुग्मतरम्, संस्कृतकाव्ये

तत्कठिनतरमिति द्योत्यते । संस्कृते सरसतायाः संपादनं कठिनमेव न किन्तु कठिनतरम् ! अहो प्रभावः प्राकृतस्य ।

प्राकृतभाषायाः ओजोऽनुद्ग्लाक्षरता

या किल भाषा शृङ्गारादिमधुररसवर्णनासमुचितानामक्षराणामपि कृते दरिद्रा सापि सुरसतासंपादनाय परमोक्तुष्टेति गौरवगिरिशिखरमारोप्यते ! यः किल टवर्गः सर्वे-रपि साहित्यविवाधकारैः पदे पदे प्रधानतया प्रतिष्ठिदत्तस्यात्राखणिडतं राज्यम् ! अन्येषां प्रतिषेध्यानामक्षराणां पश्चाच्छिदेशः परं टवर्गस्तु सर्वेरपि सर्वे प्रथममेवोपादीयते—‘मूर्खी वर्गान्त्यगः स्पर्शा अटवर्गः’ इत्यादि काव्यप्रकाशः । ‘टवर्गवजितानां वर्गाणां प्रथमतृतीयैः शमिरन्तःस्थैर्य घटिता’ इत्यादि रसगङ्गाधरः । ‘उपर्युक्तो हृयोर्वा सरेषौ ठठडहैः सह’ इत्यादिर्दर्पणः । एवं शृङ्गारादिषु कोशान् दूरे परिहरणीयष्टवर्गः साधारणतया अस्या भाषायाः शरीरप्रविष्टः । अत्र हि ‘वर्तते’ ‘वर्धते’ इति वक्तव्ये ‘वद्विदि’ ‘वद्विदि’ संपूर्यते । ‘स्थितः’ ‘कर्यन्ती’ ‘निपतन्’ इत्यादियः शब्दाः ‘ठिओ’ ‘कङ्कन्ती’ ‘णिवडन्त’ इत्यादिरूपाः संपूर्यन्ते । संयुक्ताक्षरबाहुल्यमपि मधुररसवर्णनायां नोपादीयते । किन्तु प्राकृते असंयुक्तमपि प्रसद्य संयुक्तं क्रियते—‘व्रजति’ ‘नीयते’ ‘एकः’ ‘लगति’ ‘जायेव’ इत्यादियः शब्दाः ‘वजदि’ ‘णिजइ’ ‘एको’ ‘लगति’ ‘जाअव्व’ इत्याकारकाः संपूर्यन्ते । वर्गद्वितीय-चतुर्थाक्षरबहुला संघटना तु माधुर्यगुणस्य सुनरां विप्रतीपा परिगण्यते, किन्तु प्राकृतभाषायां वर्गायप्रथमवर्णोपि द्वितीयः संपूर्यते । अत्र हि ‘विस्तरः’ ‘अक्षरः’ इत्यादिकाः शब्दाः ‘वित्थरो’ ‘अक्षवरो’ इत्यादिरूपे परिणमन्ते । शृङ्गारविषयेषि—‘पन्थिअ ण एर्य सत्थरमतिथ मणं पत्थरत्थले गामे’ इत्यादिरूपं गुम्फं प्राकृते साधारणतया प्रचलितं को वा साहित्यको न परिचिनोति । प्राकृतवादिनां सुख-मुद्रेव तादृशी यत्र ‘दाहः’ ‘प्रथमः’ ‘एतावन्मात्रः’ इत्यादिकाः ‘डाहो’ ‘पढमो’ ‘एद्व-मत्तो’ इत्यादिरूपाः परिणमन्ते । मधुरत्ववर्गान्तिमो नकारोपि प्राकृतभाषाप्राकारे प्रविश्य ‘ण’ कारः संपूर्यते । ‘घन-स्तन-धनुः’ इत्यादिषु ‘घण-थण-धणु’ इत्यादीनि स्पृणि भवन्ति । ‘नयने नृथतस्त्रहणीनाम्’ इति वक्तव्ये प्राकृतपुरे ‘णअणाइ णच्छन्ति तस्त्रणम्’ इति वक्तव्यं भवेत् ।

‘ती तमालतस्त्रान्तिलहिनी’मिलादिर्यत्र मधुरो गुम्फः शोभासुपदध्यात्, तत्र किल शृङ्गारेषि—‘तइआ मह गंडत्थलणिमिङ द्विष्टि ण जेसि अण्णतो । एङ्गि सबेअ अहं ते अ अबोला ण सा दिष्टो ॥’ इत्यादि बलात्प्रयोक्तव्यं भवति । केषु रसेषु कैरक्षरैरसननिवन्ध-व्यमिति विषये रसगङ्गाधरे तु तावद्तीव मार्मिकता प्रदर्शिता । स हि ‘हरिणेप्रक्षणा यत्र शृहणी न विलोक्यते । सेवितं सर्वे संपद्धिरपि तद्वनं वनम्’ इत्यादिकमप्य-अन्यं परिगणयति । श्राचीननिवन्धेषु शृङ्गारसोदाहरणतया सुमधुरं परिगणितम्—

‘शृङ्गं वासण्हुं चिलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नैः’ इत्यादिपद्यमपि शृङ्गारवर्णनां विरुद्धमाह । परं यत्र काव्यप्रकाशे वर्णसंघटनाविषये तादृशाः सूक्ष्मातिसूक्ष्मो विमशो

नाज्ञीकृतः, यथा 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादीनि काव्यान्यपि मधुराण्याह, सोपि टवर्गबा-
हुल्यं विशेषतश्च द्वितीयचतुर्थसंयोगाधिक्यं शृङ्गारादिरसेषु सुतरां विशद्माह । इदानीं
विचारणीयं विवेचकैर्यत्—यस्यां प्राकृतभाषायामुक्तप्रकारेण माधुर्यविशद्संयुक्ताक्षरटवर्गादि-
बाहुल्यं यदा प्रतिपदमुपलभ्यते तदा सा कथं वा मधुरतासंपादनाय सर्वभाषामौलिगता
परिगण्यते ? प्राकृतभाषायां माधुर्यगुणविशद्वा ओजोनुकूल संघटना बाहुर्येनोपलभ्यते
इति हि मत्सदृशैरेव साम्प्रतमेवालोचितम्, तदपि नास्ति—

'नित्ते विहृदि, ण दुष्टदि सा गुणेषु सेज्जासु लोहृदि विसृद्धिदि दिमुहेषु ।
वालेमिम वहृदि पवहृदि कववन्धे झाणेण दुष्टदि चिरं तरुणी तरड्डी ॥'

इति पदे योगमनुप्राप्त उपनिवदः स हि टवर्गस्य शृङ्गारप्रतिकूलत्वात्केवलं वाचकं
शब्दमेवालंकरोति न पुनः पद्यस्य व्यञ्जयभूतं विप्रलम्भमशृङ्गारमिति प्रसङ्गे काव्यप्रदी-
पकारेण उद्योतकारेण नागेशभट्टेनापि च—'अनुप्राप्तो मास्तु तावद्रसोपकारकः परमत्र
सर्वे वर्णां एव रसोचित्तसंघटनाप्रतिकूलाः, ततश्च तावद्यैवेण रसाभिव्यक्तिरेव न
भवेत् । एवं च 'सन्तमपि रसं नोपकुर्वन्ति' इत्यस्योदाहरणत्वमस्य पद्यस्यासंगतं स्यात्,
रसस्यैवाभावात् ।' इमामरसचिन्तनानि निधाय तैहृक्तम्—'अत्र च प्रतिकूलवर्णां न
दोषः, प्राकृतस्यौजोगुणप्रधानत्वात्, अस्य च तदभिव्यञ्जकत्वात्' इति । एवं स्पष्टे-
रक्षरैरुपवर्णितं भवति यत्प्राकृतं भवेत्तावदोजोनुकूलसंघटनोचितं परं मधुररसोचिता
संघटना तु नात्र यथोचितं निर्वाच्यते इति । ननु प्राकृतभाषायां ओजोनुकूलसंघटना-
संघटनात्तत्र शृङ्गाररस एव नाभिव्यञ्जयते इति तु न भ्रमितव्यम् । प्रतिकूलवर्णत्वेऽपि
रसप्रतीतिस्तु भवत्येव, परम् अपकर्षोऽवश्यं भवतीति सिद्धान्तात् । उक्तं हि तत्रैव—
'वस्तुतस्तु सत्यपि प्रतिकूलवर्णत्वे रसस्य नानुत्पत्तिरेव अनुभवविरोधात्, किन्तु
अपकर्षमात्रम्' इति ।

प्राकृतं कथं वा मधुरम्?

इदानीं विचारणीयम्—यस्यां भाषायां रसस्यापक्षो भवति सैव भाषा संस्कृताद्यपे-
क्षयापि शृङ्गाररसवर्णानायां परमोऽकृष्टा कथमिव परिगण्यते ? मा भूवक्षस्यां वर्णस्ताद्य-
सानुकूलाः, परमस्याः ख्रोवालादिसकलमुखोधत्वादस्यां तादगदर्शनादिगम्भीरा विषया
नोपवर्णन्ते किन्तु सर्वानुरक्तनाय शृङ्गारादिसद्वशा रसा बाहुल्येन परिनिव्यन्ते ।
ततश्च बहुमिः कविभिरस्यां शृङ्गारस्यैव वर्णानात् सेवं शृङ्गाररससमुचितेति प्रसिद्धि-
र्जाता । अत एव 'अमृतं प्राकृतकाव्यम्'मिति गाथायाश्चीकायां गङ्गाधरेण—'शृङ्गाररसनिर्भ-
रत्वादमृतमिवामृतं प्राकृतकाव्यम्' इयुक्तम् । अत्र हि प्राकृतकाव्ये शृङ्गारः पूर्णतया
परिपुष्टो भवतीत्येतावदभिव्यक्तं भवति ।

संस्कृतभाषा हि गम्भीरान्विषयानेवादितः समादिव्यमाणा क्रमशस्तथा गौरववाहिनी
संजाता यदस्यां शृङ्गारो यदि वर्ण्यते तदापि सर्वादानुकूल एव । व्यञ्जयतया वर्णनीया

सं. गाथा. 2

अंशा न कथंचिदपि स्फुटतया वर्णेणितुं शक्येरन् । अत एव संस्कृतभाषायां शृङ्गारसवर्णना सार्गला भवति । प्राकृते हु स्वातन्त्र्येण शृङ्गारः समुदीर्यते । अत एव तत्र संस्कृतापेक्ष्याऽधिकशृङ्गारवर्णनोपलभ्मात् शृङ्गारसनिर्भरत्वसुगाल्यायते लोके । गण-गौरी-श्रावणतृतीया-दीपावल्यादिषु प्रायः सर्वेष्वेव आर्याणामुत्सवेषु शृङ्गारसंश्योगः समुपलभ्यते । परं सर्वापेक्ष्यापि होलामहोत्सवः शृङ्गारनिर्भरः कामस्य जीवभूत-तया मद्दोत्सव इति परमगौरवभाजनं विशेषेण शृङ्गारसंज्ञी संगीर्यते । स्वष्ट-मेतस्य कारणं यदत्र निर्गलः शृङ्गारोऽनुभूयतेऽनुभाव्यते च जनैः, अत एव स ताद्वा: शृङ्गारसाधारणः ख्यायते । एवमेव संस्कृतापेक्ष्यापि प्राकृते एवाधिकं प्रीतिः । सभ्यसामाजसं-कोचेन प्रहित्ताद्वशी प्रबलरुचिनिंजानुमतिर्बाकामं जनैर्न प्रकटीकियते परं ताद्वशी वर्णनाऽवश्यमन्तःकरणस्य संर्तपिणी भवतीति प्रायोनुभवसिद्धम् । प्राकृतगाथासु बहुत्र प्रायस्ताद्वशमेव जनमनोहारि शृङ्गारवर्णनसुपनिवद्मित्यग्रतः प्रसङ्गेन स्पष्टीकरिष्यामि । अत एव आर्यासप्तशतीकारस्य समये प्राकृतस्य नासीत्तादगौरवम्, न चाप्यसौ ख्य-भमपि प्राकृतपक्षपाती आसीत्, ततोपि लोकानां प्रसिद्धनुसारं शृङ्गारार्थं प्राकृतसुप-रितस्तुष्टाव तदपकर्त्त्व्यज्ञविधया च सूचितवान् ।

इदं किल प्राकृतसंस्कृतयोर्महत्त्वतारतम्यं गोवर्धनाचार्येण ‘वाणी प्राकृतस्मुचितरसे’ त्वाद्वार्यायां निगृह्यमिव्यक्तम् । प्राकृतपदेन—प्राकृतभाषा तथा प्राकृतः साधारणो जन इत्युभयमपि प्रतीयते । ततश्च प्राकृतलोकानां समुचितः सुखावहो रसो यस्या इद्वशी वाणी भया बलेन प्राकृतसप्तशताद्यवधीरेण संस्कृतं नीता । या किल वाणी (अर्थः) प्राकृतभाषासंदृढत्वात्साधारणकोटिकानां जनानां प्रीतिपात्रं बभूव सैवाधुना संस्कृतिं प्रापिता उच्चतलोकानामासादनीया कृतेति तदाशयः । इमं व्यज्ञार्थं ईकाकारपदनिर्वाहे स्थूलहस्तोपि आर्यासप्तशतीटीकाकारोनन्तपण्डितोपि व्यज्ञयांचकार—‘एवं च प्राकृतसंस्कृतयोर्भूतलगगनतलतुल्यताप्रतिपादनेन प्राकृतात्संस्कृतेत्यन्ताधिक्य-मावेद्यते’ इति ।

किञ्च-प्राकृतभाषायां चमक्त्वाक्वाक्यसंदर्भाणामतुकूलाः शैल्यः (‘मुहाविरे’) अप्यनायासैनैव निर्वोद्धुं शक्यन्ते । ततश्च ताद्वशौलीनिवदा सेयं लोकानामधिका-धिकं प्रीतिपात्रं बभूव । विशेषतश्च शृङ्गारादिसद्वेषु मधुरेषु रसेषु शौलीवन्धवन्धुरा पदशश्या भाषां सजीवामिवोपस्थापयतीति काव्यसूक्तिस्थापयतीति भूरिमनोहारिणी संपदयते । यथा हि—

आम् कुलटा वयमपसर पतिव्रते ते न मलिनितं शीलम् ।

न च कामयामहे किल जनस्य जायेव चन्द्रिलं तु षुनः ॥ ५१७ ॥

अत्र हि काकादिमिर्यः किञ्चार्थविषये वक्तुरमिमानसूचकः कथिदतिशयो योत्पते तं

हि 'आम् वर्यं कुलटाः । त्वं तु पतित्रतासि !' इत्यादाः प्रतिदिनव्यवहारे प्रयुज्यमानाः
शैल्यो भाषाचमकारसुखेन भूयस्तरां प्रगुणयन्तीति विसर्शनीयं मार्मिकैः । अत्र लक्ष-
मत्कारो ग्रन्थान्तरेवावलोक्येत ।

लोकोक्त्येषि भाषां मधुरतरीकुर्वन्ति । तादृशी च भाषा शृङ्गारसर्वर्णनायां
साधारणजननामाहादिनी संपद्यते । ता अपि सप्तशब्दां बहुत्र—

'सूचीवेदे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन ।

प्रिय एकग्रामेषि हि पूरितनयनं न दृष्टोपि ॥ ३।८६'

'अन्धकरबदरभाजनमिव मम लुण्ठन्ति मातरो दयितम् ।

ईर्ष्यन्ति महामेव च लाङ्गूलेभ्यः फणो जातः ॥ ३।८७'

'शूर्यं दग्धं चणका न हि भृष्टाः स च युवातिगतः ।

श्वश्रूर्गृहेषि कुपिता भूतानामिव हि वादितो वंशः ॥ ३।८८'

चारणकविभिरादता डिङ्गलभाषा ओजोनुकूलाक्षरवाहुल्यायथा वीरादियु रसेषु भूय-
स्तरां प्रभावशालिनी संपद्यते तथा न शृङ्गारादियु, यथा हि पिङ्गल-(व्रज-) भाषा ।
एवमेव अक्षरमाद्युर्याभावेषि निरर्गेत्यावर्णनस्तात्तद्यात्-शैल्यादिनिर्वाहतो भाषा-
माधुर्येण-समयमहिना तस्यैव प्रचारवाहुल्याच्च मध्ययुगे संस्कृतापेक्षया प्राकृतमेव मधुरं
पर्यगण्यते ति सारम् ।

मुक्तककाव्यम्

गाथासप्तशती संग्रहकोष इति तु पूर्वमुक्तमेव । एष हि मुक्तककाव्यानां संग्रह इत्यु-
दीर्घते । 'मुक्तकम् अन्येन नालिजितम् । स्वतञ्चतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रव-
न्धमध्यवर्ति मुक्तकमित्युच्यते' इति रूपेण लोचनकारेण लक्षितम् । एतस्य निर्माणं न
साधारणस्य कवेः कार्यम् । यतो हि मुक्तकमामूलचूडं रसप्रवाहनिर्भरं भवति । तत्र हि
'संघटना' प्रतिपदं रसानुकूलैव कर्तव्या भवति । उक्तं हि आलोके—

'तत्र मुक्तकेषु रसवन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाथयम् (रसवन्धाथयम्) औचि-
त्यम् । मुक्तकेषु प्रवन्धेष्विव रसवन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा त्यमहकस्य
कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यान्दिनः प्रवन्धायामानाः प्रसिद्धाः एव' ।

मुक्तके हैकस्मिन्नेव अपरपद्यनैरपेक्ष्येण विभावानुभावादिभिः परिपुष्टस्तावान् रसोऽ-
भिव्यज्यते यदाखादेन संतर्पितचेतसः सहृदयाः सशिरःकम्पमनुभोदन्ते । मुक्तकनि-
र्माणमन्यकाव्यनिवन्धनापेक्षयापि सुतरां कठिनं भवतीति तद्विशमनुभवः । यतः
किल महाकाव्य-खण्डकाव्य-आख्यायिकादियु कथानकस्य नैपुष्येन निर्वाहे पठितुमानसं
कथारसनिलीनतया गुणदोषादिविचारे मन्थरमेव भवति । तत्र हि कथैत्र चेतस्ताव-

१ 'अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रवन्धशुतायते' ।

त्किल वशीकारिणी भवति यावता उत्तरोत्तरघटनास्थाद्योऽकण्ठितं चेतः संसुखापतिरेषु शुणदोषादिषु गजनिर्मीलिकया त्वरितकरितया वा अनिच्छया यथाकर्थचित्प्रवृत्त्यापि शीघ्रमेव कथापरिज्ञानार्थमग्रेसरं भवति । एवंविषेषु काव्येषु मध्यवर्तिनः कियन्तोऽपि श्लोकाश्वेत्सर्वात्मनोपश्लोकनीयाः संपद्यन्ते तावैव स प्रवन्धो लोकानामभिनन्दनीयो भवति । मुक्तकानि तु प्रत्येकपदान्येव खतञ्चापि भवन्तीति तत्रैव रसान्वैषगलोऽत्रं पठितुमानसं व्यासउयते, न कथा तत्रोपदिभिन्नी भवति । अत एवोक्तं लोचनकरिण—‘पूर्वपरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्चणा कियते तदेव मुक्तकम्’ ।

पूर्वोपरनिरपेक्षे एकस्त्रेव पदे पठितुथेतथमन्तराय वाच्यार्थपेक्षया व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यमास्थापनीयं भवति । अत एव एवंविषव्यवनिपूर्णस्य काव्यस्य निर्माता ‘महाकविः’ इति व्यपदेशं लभते । उक्तं हि लोचनकरिण—‘प्रतीयमानानुप्राप्तिः-काव्यनिर्माण-निरुणप्रतिभाभाजनत्वैनैव महाकविव्यपदेशो भवती’ति । इदानीमालोचनीयं विवेचकैर्यदूगाथास्थापाणीमानि मुक्तककाव्यानि ‘महाकविः’लेखनीप्रसूतानि सन्ति न वेति । ‘मुक्तकं संस्कृतं-प्राकृतापत्रंशनिवद्यमिति’ तत्प्रमेदाच्चिदिशता ध्वनिकारेण प्राकृतनिवदं मुक्तकं गाथासप्तशतीरूपं तु स्पष्टसेव निर्दिष्टमेव, किन्त्वभ्यहितदुद्या यतस्तस्तुमुक्तकं पूर्वं निर्दिष्टं तद्वृद्धान्तविधया च अमरुककर्वेसुककाः शङ्कररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा इति परिगणितात्मेषि गाथासप्तशतीतो न पूर्वतन्माः । अत एव क्वचित्कविज्ञानार्थसुपजीवन्तो दृश्यन्ते—

गाथासप्तशती अमरुकश्च

अमरुकशतकं हि अमरुकनामो शृतस्य कस्त्रिद्राजः शरीरे परकायप्रवेशविद्यया ग्रन्थिय भगवता शङ्कराचार्येण निर्मितमिति पण्डितसमाजे पुरातनी प्रसिद्धिः । उक्तं चापि अमरुकशतकटीकां कुर्वता देवशङ्करेण—‘कृ मे मन्दा तुष्टिः कृ च रसमयं शङ्करवच-स्तथापि व्याख्यातुं तरलमनसः शङ्करकृतिम्’ इत्यादि । भगवतः शङ्कराचार्यस्योद्भवसमयः—४५५ तस्मो विक्रमसंवत्सर इति यज्ञेश्वरपण्डितेन आर्यविद्यासुधाकरे साधितम् । केचित्तु खैस्त्यां सप्तमशताब्द्यां शङ्कराचार्यस्योत्पत्तिमाचक्षते । यत्किविदस्तु, परं विक्रमादित्यसमकालिकात् शकप्रवर्तकात् शालिवाहनाज्ञ स प्राचीन इति तु सर्वेषि जानीयुः । एवं च साहित्यनिबन्धकारेषु सुतरां प्राचीनैर्ध्वनिस्थापकैरानन्दवर्द्धनाचार्यैः प्रशंसाबुद्या ये किलामरुकस्य मुक्तकाः श्रद्धातिशयात्पूर्वं निर्दिष्टात्मेषि गाथातो न प्राचीनाः सिध्यन्ति । प्रत्युत तदर्थसुपजीवन्तो बहुत्रावलोक्यन्ते । एवं च अस्मिन्मुक्तककाव्यजगति एतदवधि-प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु गाथासप्तशत्येव सर्वेषां मुक्तककाव्यानामादिम उपजीव्यथेति सिध्यति । उक्तं हि कविमेदान्परिगणयता महाकविना क्षेमेन्द्रेण कविकण्ठाभरणे—

‘छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी ।
भवेद्य प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥’

तत्र भुवनोपजीव्यो भगवान्व्यासो निरदिश्यत क्षेमेन्द्रेण । ततश्च मुक्तकानां विषये
ग्रासेषु ग्रन्थेष्वग्रसेव व्याप्त इति भुवनोपजीव्य इत्यभ्युपगन्तव्यमेव भवेत् । सा भूद्विस्तर
इति अमरुकहृत-गाथोपजीवनस्य किञ्चिदुदाहरणमधस्तान्निर्दिशामि—

कृतकस्यापनिमीलितनयनं सुभग देहि महामवकाशम् ।
गण्डपरिचुम्बनोद्भूतपुलकं पुनर्नैव चिरयिष्ये ॥ १२०

[गाथा]

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नै-
र्निंद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निवेष्यं पत्युमुखम् ।
विश्रव्यं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता वाला चिरं चुम्बिता ॥ ७७ ॥

[अमरुकः]

प्रणयकुपितयोरुभयोरपि मानवतोरलीकनिद्रितयोः ।
निभृतनिरुद्धृत्वासाऽवहितथ्रवसोर्नुं को मद्भः ॥ १२७
अन्योन्यकटाक्षान्तरसंप्रेषितमिलितद्वक्प्रसरौ ।
कृतकलहौ किल मन्ये द्वावयि सहसा समं हसितौ ॥ ७९ ॥

अनयोर्द्वयोर्गाथयोद्धाया यथा—

‘एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेष्यनुनये संरक्षतोर्गांरवम् ।
दस्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनाम्निश्रीभवच्छ्रुषो-
र्भंश्चो मानकलिः सहासरभसव्यासक्कण्ठग्रहः ॥ १९ ॥’

[अमरुकः]

‘स्थगयिष्यामि कराभ्यां नयने तस्मिन्विलोकिते द्वाभ्याम् ।
अपिधास्यामि कथं मम पुलकितमङ्गं कदम्बकुसुमाभिव ॥ ११४ ॥

[गाथा]

‘भूमङ्गे रचितेषि दृष्टिरघिकं सोत्कण्ठमुद्रीक्षते
कार्कश्यं गमितेषि चेतसि तनु रोमाङ्गमालम्बते ।
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ॥ २४ ॥

[अमरुकः]

दृष्टिते प्रसीद, कुपिता का, सुतनु त्वम्, परेत्ति कः कोपः ।
कोस्ति परो, नाथ त्वम्, किमिति हि, मम दुरितशक्तिरियम् ॥ ११८ ॥

[गाथा]

‘बाले, नाथ, विमुच्च मानिनि रुधं, रोषान्मया किं कृतं
खेदोसासु, न मेपराध्यति भवान् सर्वेष्पराधा मयि ।
तटिकं रोदिषि गद्देन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवासि, दयिता, नासमीत्यतो रुद्यते ॥५३॥

[अमरकः]

“यत्पृच्छसि विहस्त्नमां तनूयते वा कृते तु किं ते सा ।

‘प्रकृतिरसौ मे श्रीमे’ हन्त भणित्वैवमवरुदिता ॥ ७।१६॥

[गाथा]

अङ्गानामतितानवं कथमिदं कम्पश्च कस्यात्कुतो
मुखे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति ।
तन्या सर्वमिदं स्वभावजमिति व्याहृत्य पक्षमान्तर-
व्यापी वाष्पभरस्त्वया चलितया निश्वस्य मुक्तोऽन्यतः ॥५५॥

[अमरकः]

गाथासप्तशती च आर्यासप्तशती च

अमरशतकादनन्तरे गाथासप्तशतीशैलीमुपजीव्य निर्मितो मुक्तकसंप्रहः ‘आर्यासप्त-
शती’नामकः प्रसिद्धति । एष ह्यविकलं गाथासप्तशतीस्पर्धयेव संस्कृते समुग्निवद्धः
शृङ्गारप्रमेयमयो मुक्तकसंप्रहः । शृङ्गारस्य गोप्यं वा प्रकाश्यं वा यं यं विषयमधिकृत्य
गाथा निरमीयन्त तस्मिस्त्रिमेव विषयेऽत्राप्यार्था न्यगुम्फयन्त । तत्र सफलता प्राप्ता
न वेति तु मामिकाः सहृदया एव जानीयुः । अहमप्यद्य द्वयोऽस्तुलगां यथावकाशमव-
तारयिष्यामि । सोयं मुक्तकप्रन्थो गाथासप्तशतीमवलोक्यैव निर्मित इत्यत्र न मनागपि
संशयोऽविष्टुते । गोपर्धनाचार्येण यदा हीयं सप्तशती निरमीयत तत पूर्वं शृङ्गारविषये
प्राकृतभाषाया एव माधुर्यं लोकैर्निरचीयते ति पूर्वमुक्तमेव विस्तरतः । तस्मिं प्रवादं
गङ्गरिकप्रावाहं प्रमापयितुमिव संस्कृतभाषापामवलम्ब्य शृङ्गारप्रमेयेषु पर्यचालयत लेखनी
गोपर्धनाचार्येण । यद्यपि प्राकृतिनियमानुसारं प्रारम्भे शिष्टाचारानुमोदितो विनयः
‘वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता’ इत्यादिना वाचा प्रदर्शितः परं
व्यञ्जनयात्राप्यात्मनो बहुमानः सूचित एवेति पूर्वं साधितवानस्मि । किं बहुना,
प्राकृतभाषाया एव शृङ्गारविषयवर्णनार्थां या सफलता लोकैर्निरधार्यत तामसहमान इव
संस्कृतसरस्वत्यामप्यार्थासिसशतीं निर्मितवानसौ मुखतोपि स्वप्रशंसां निबन्धैऽवृत्तिः । उक्तं
अन्धारम्भे—

मसृणपद्रीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।

मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोपर्धनस्यार्थाः ॥ ५६ ॥

अन्थान्ते तु खस्य सफलतायां हर्षगवेदिक्तमना इव खयमेव खमुखतः प्राह—

एका ध्वनिद्वितीया त्रिभुवनसारा स्फुटोक्तिचातुर्या ।

पञ्चेषुषदपदहिता भूषा अवणस्य सप्तशती ॥ ६९९ ॥

सप्तशतीप्रशंसयाप्यपरितुष्टः ‘इयं मया कृता’ इति खस्य महिमानं भुवनकोषे घोषयितुं सर्दप्तमाह—

कविसमरसिंहनादः खरानुवादः सुधैकसंवादः ।

विद्वद्विनोदकन्दः संदभौयं मया सृष्टः ॥ ७०० ॥

आसीत्सोपि संस्कृतमहाकवीनां समयो यत्र भूमण्डलैकमण्डनायिता अपि रसा-
नुसारिसरखतीनिःस्यन्दा अपि वशीकृतवाचोपि कविकुलैकशेखराः कालिदाससद्शा-
महाकवयोर्याहुः—

‘क सूर्यप्रभवो वंशः क चात्पविषया मतिः’ इत्यादि । एका चेत्रं सरणिः प्रसुता, यां
किल पण्डितराजो जगज्ञाथधरमसीमानं नीतवानिव व्यङ्ग्यविधया—‘दिग्नन्ते श्रूयन्ते
मद्मलिनगण्डाः करटिनः’ इत्यादि संस्कृताप्यपरितुष्टः स्पष्टं मुखतो व्रवीति—‘वाचामा-
चार्यतायाः पदमनुभवितुं कोक्ति धन्यो मदन्यः’ । परमहुस्तेष्ठे—यदार्थाकारस्य सेयम-
भिमानोक्तिः कदाचित्संस्कृतकविरङ्गस्थले नाधिकमुत्कटा परिगण्येत । यत्र किल पूर्वं
प्राकृतकविभिरन्यभाषाणां न्यक्तारः प्राकृतस्य चापरिसीमः स्वक्तारः सर्वत्रोद्घोषितोभूत-
त्रैव कविरङ्गस्थले यदा लार्याकारेण संस्कृतसरखल्या अध्यविधिकारः प्रमाणितो बहुव्य-
शेषु सफलता च सूचिता तदा सेयमुक्तिमैन्ये नाऽरुन्तुदा सिध्येत् । संस्कृतसरखल्याः
सर्वतोमुखी शक्तिरिति साधितमेव गोवर्धनाचार्येण । अत एव आर्यासप्तशतीनिगुप्तनोत्तरं
संस्कृतपश्चिमातिनः सूर्यस्तस्यामेवैकान्तप्रणयिनो बभूवुः । अन्यथा कथमिव—किंनुवि-
त्वजो जयदेवकविगीतगोविन्दादौ—‘शुज्ञारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धनस्पर्धी कोऽपि
न विश्रुतः’ इत्युच्चस्त्रदूघोपयेत् । अस्तु एवं सगर्वभात्मानं प्रशंसतापि गोवर्धनाचार्येण
बहुत्र गाथार्थं उपजीवित इत्यधो निर्दर्शयते—

गाथायां विरहोत्कणिता चिरादागतं कान्तं ज्वरश्लाघाच्छ्लेनोपालभमानाह—

*‘सुखपृच्छकं सुदुर्लभजनमप्यसाकमानयन्दूरात् ।

उपकारक जीवितमपि नयन् न हि ज्वर कृतापराधोसि ॥ १५०

यः सुखदिवसेषु कदाचिदपि नागच्छ्लिति ईदृशं जने दूरादप्यत्र आनयन्ते भवन्तमभि-
नन्दामि । प्राणा अपि यदि गच्छेयुस्तर्हि न तेऽपराधः । गोवर्धनाचार्योऽप्याह—

‘ज्वर वीतौपधवाधस्तिष्ठ सुखं दत्तमङ्गमस्तिलं ते ।

असुलभम्लोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम् ॥ २४० ॥

* अस्मिन्प्रसङ्गे गाथासप्तशतीतो निर्दर्शनीयाः संस्कृतगाथा एव बोधसौकर्यार्थमुद्दियन्ते ।

गाथा—

तं नमत यस्य वक्षसि रमामुखं कौस्तुमेभिसंक्रान्तम् ।

मृगहीनं शशिविम्बं विलोक्यते सूर्यविम्ब इव ॥ २१५८

आर्याकारो ज्ञुम्फ—

प्रतिविम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुमिदो वक्षः ।

पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीर्दीक्ष्य मुकुरमिव ॥ १२ ॥

गलितयैवनायाः स्तनाववलोक्य कञ्चित्सपरिहासमाह गाथायाम्—

निविडनिरन्तरयोरुद्धतयोर्वृणलब्धशोभयोः सरसम् ।

कृतकार्ययोः पतनमपि रम्यं भट्टयोरिव स्तनयोः ॥ ५२७

अत्र हि सुभट्टावुपमानीकृत्य श्लेषेण स्तनयोः पतनं कृतकार्यतासूचनेन परिहासश्च वर्णितः । आर्याकारः सज्जनावुपमेयीकृत्य स्तनयोर्निरन्तरसंगतं श्लेषेणाह—

महतोः सुवृत्तयोः सखि हृदयग्रहयोगययोः समुच्छ्रुतयोः ।

सज्जनयोः स्तनयोरिव निरन्तरं संगतं भवति ॥ ४३८ ॥

बीजकोषाचिर्गतं रक्षवर्णमाम्राङ्कुरं ब्रह्मसर्पस्य पुच्छसद्वशमाह गाथाकारः—

दरभिन्नशुक्लिसंपुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।

पक्वाऽम्रास्थिविनिर्गतकोमलमाम्राङ्कुरं पश्य ॥ १६२

आर्याकारस्तु नवजातस्य कूर्मस्य पृष्ठास्थितो निर्गतस्य मस्तकस्य सद्वशमाह । वर्णो द्वयोरप्येक एव—

आम्राङ्कुरोयमरुणदद्यामलरुचिरस्थिनिर्गतः सुतनु ।

नवकमठकर्परपुटान्मूर्द्धेवोर्ध्वं गतः स्फुरति ॥ ९४ ॥

‘त्वमनेकामु वामास्वासक्तः, अत एव महिलासहस्रभरिते तव हृदये अमान्ती स्वभावतः कृशाङ्कपि सा विरहतः पुनः स्वशरीरं कृशीकरोतीति’ गाथाकार आह—

महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा किलाऽमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा हाङ्गं तन्वपि तनूकुरुते ॥ २१८२

एतद्विपरीतमार्याकारः—पुष्टशरीरया तथा एकयापि अन्तर्निखातकीलभावेन तव हृदये गुसं तथा स्थीयते यथाऽन्यासां नावकाश इत्याह—

प्रददाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गजघनोरुः ।

या लुप्तकीलभावं याता हृदि वहिरदद्यापि ॥ ३७४ ॥

जालसूत्रालम्बमानं मर्कटकीटम् (मकडी) बकुलपुष्पसद्वशमाह गाथा—

पश्यत पट्टलविलम्बितनिजतनुतलोर्ध्वपादपरिलग्नम् ।

दुर्लक्ष्यसुत्रसंगतबुलकुसुममेकमिव हि मर्कटकम् ॥ १६३

आर्या तु लग्नविदिशतया सूत्रसंबद्धं कर्कटमिव तं वर्णयामास—

निजसूक्ष्मसूत्रलङ्घी विलोचनं तरुणं ते क्षणं हरतु ।

अयमुद्गृहीतवडिशः कर्कट इव मर्कटः पुरतः ॥ ३२२ ॥

अतिसूक्ष्मे जालसूत्रेऽवलभितस्य संकोचित्वहुचरणस्य मर्कटस्य दुर्लक्ष्यसूत्रग्रोतेन सूक्ष्मवहुपत्रिकेण बकुलकुमुमेन साम्यं खाभाविकमाहोस्थित-इश्यसूत्रेण स्थूलाकारेण कर्कटेनेति सहृदया एव तारतम्यं परीक्षन्ताम् । कदाचन कूपानुप्रासी भूप इव शब्द-साम्यादेव ‘कर्कट इव मर्कट’ इत्यवपातितो भवेत् ।

प्रोषितमर्तुकया प्रथमे दिनार्धं एव ‘अद्य गतः अद्य गतः’ इति बहुदिवसानुभव-नीयदुःखमनुभवन्त्या दिनगणनारेखाभिर्भित्तिश्चित्रितेत्याह गाथा—

अद्य गतोऽद्य गतो बत सोऽद्य गतश्चेति गणयन्त्या ।

प्रथमे दिनार्धं एव हि रेखाभिश्चित्रितं कुञ्जम् ॥ ३१८

आर्या तु रेखाभिश्चित्रितां चित्तिं गण्डस्थलीसिवाह—

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्गिता सुभग ।

गण्डस्थलीय तस्याः पाण्डुरिता भवनभित्तिरपि ॥ ६२० ॥

सुन्दरैर्बहुभिर्युक्तैः संकुलेपि नगरे त्वां विमार्गन्ती तस्या दृष्टिर्वेन इव भ्रमति । त्वामेव सा सर्वत्र पश्यति । त्वत्तोऽन्यत्र दृष्टिरेव न पतति । अत एव तद्विरहितं पुरं तस्याः कृते वनस्पितेत्याह गाथा—

आर्याप्याह—

यूनः कण्टकविटपानिवाञ्छलग्राहिणस्त्यजन्ती सा ।

वन इव पुरेषि विचरति पुरुषं त्वामेव जानन्ती ॥ ४६० ॥

‘सा वन इव पुरे भ्रमति’—‘तस्या दृष्टिर्वेन इव पुरे भ्रमती’ति च द्रयोस्तारतम्यं मार्मिकैरेव वेद्यम् । कुलजनायिकाया निश्चि मदनकेलौ प्रागलभ्यम्, दिने विनयभावं चाह गाथा—

आशाशतानि ददती तथा रते हर्षविकसितकपोला ।

प्रातस्त्ववनतवदना न श्रद्धधः प्रियां सेति ॥ १२३ ॥

आर्याप्याह—

विनयविनता दिनेसौ निशि मदनकलाविलासलसदङ्गी ।

निर्वाणज्वलितौषधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञेया ॥ ५१३ ॥

आयुधवणकर्कशे ग्रामनायकस्य वक्षति तजाया कृच्छ्रं स्वपिति, तद्रक्षिता ग्रामसंपत्तिस्तु निर्भयं शेते इत्याह गाथा—

प्रहृतिव्रणकिणविपमे कृच्छ्राज्ञायाऽस्य निद्रितं लभते ।

स्वपिति पुनः पह्ली सा सुखमुरसि ग्रामणीसूनोः ॥ १३१

आर्या द्वयोरपि सुखशयनमाह—

विविधायुधवरार्वुद्विपमे वक्षःश्ले प्रियतमस्य ।

श्रीरपि वीरवधूरपि गवोत्पुलका सुखं स्वपिति ॥ ५६६ ॥

‘थाह त्वद्युद्गुला तस्यां त्वमनुकूलः, या च सपन्नी त्वयि विरक्ता तस्यां त्वं
रज्यसी’ति नायकमुपालभते गाथाद्वये नायिका—

‘सा ते प्रिया त्वमसि मे, तस्या द्वेष्यस्त्वमस्य हं ते च ।

बाल ! स्फुटं भणामः प्रेमेदं वहुविकारमिति ॥ २२६ ॥

‘द्वेष्योसि हन्त यस्याः पांसुल सा वह्नभा तवाभ्यधिकम् ।

इति विज्ञायापि मया दग्धप्रेमणे न चेष्टितं जातु ॥ ६१०

इममुपालम्भमप्युपजिजीवार्या—

या दक्षिणा, त्वमस्यामदक्षिणो दक्षिणस्त्वसितरस्याम् ।

जलधिरिव मध्यसंस्खो न वेलयोः सद्वशमाचरसि ॥ ४८० ॥

पुरुषायितवन्ये श्रान्तां कान्तां नायकः सहासमाह—

शिखिपिच्छलुलितकेशे निर्मीलितार्धाक्षि वेपमानोह ।

दरपुरुषायितविश्रमशीले पुंसामवेहि यद्वःखम् ॥ १५२

आर्यायामप्युच्यते—

वक्षःप्रणयिनि सान्नद्वश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनघर्मे ।

सुतनु ललाटनिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ॥ ५२९ ॥

वामासिस्फुरणेनानुसितकान्तागमनहर्षा प्रोषितपतिका आगते प्रिये वामनश्वन्नाम्
पारितोषिकं प्रतिजानीते गाथायाम्—

स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोद्य तत्सुचिरम् ।

संमील्य दक्षिणं तत्प्रेक्षिष्येहं त्वयैवैतम् ॥ २३७ ॥

आर्या तु वामवाहुस्फुरणादनुसितकान्तागमना शुभाख्यायिने वाहवे पूर्वेषक
पारितोषिकं दत्ते—

प्रणमति पद्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।

प्रियसङ्गाय स्फुरितां वियोगिनी वामवाहुलताम् ॥ ३४७ ॥

दृष्टवृषभस्यापि शङ्गे निजनयनपुटं कण्डूयन्त्या गोः सौभाग्यमन्दोक्तिविधया प्रोक्तं
गाथायाम्—

प्रकटितसिह सौभाग्यं पद्य गवा गोष्ठमध्ये हि ।

दृष्टवृषभस्य शङ्गे कण्डूयन्त्या नयनपटम् ॥ ५६०

मत्तयोर्गंजयोर्मध्यस्थित्या करिष्याः सौभाग्यमन्यापदेशेनोक्तमार्यायाम्—

सौभाग्यगर्वमेका करोतु यूथस्य भूषणं करिणी ।

अत्यायामवतोर्या मदान्धयोर्मध्यमधिवसति ॥ ५९० ॥

द्वयोरेकस्याः प्रगणवर्णेनौचित्यं खत एव परीक्ष्यम् । किञ्च—मत्तवृष्टशुद्धकोद्या नय-
नसदशस्य मर्मस्थलस्य कण्डूयनमधिकमार्मिकम् उत मत्तयोर्मध्ये गमनमात्रमिल्यपि च
सूक्ष्ममीक्षणीयम् । रागभृते हृदये वसन्तपि न रक्तोसीति अनुरक्त्या नायिक्या अनन्त-
रक्तो नायक उपालभ्यते गाथायाम्—

धवलोसि यदपि सुन्दर तदपि तु मम रक्षितं हृदयम् ।

रागभृतेषि च हृदये सुभग विनिहितो न रक्तोसि ॥ ७।६५

अनुरक्त्या तस्य हृदये वसन्तपि न रक्तोसीति अनुरक्ता नायिकोपालभ्यत
आर्यायाम्—

सखि लग्नैव वसन्ती सदाशये महति रसमये तस्य ।

बाढवशिखेव सिन्ध्योर्न मनागप्याद्रीतां भजसि ॥ ६५५ ॥

अनया शैल्या नायकोप्युपालब्धः—

सा नीरसे तव हृदि प्रविशति निर्याति न लभते स्थैर्यम् ।

सुन्दर सखी दिवसकरविस्वे तुहिनांशुरेखेव ॥ ६३९ ॥

गच्छन्तं नायकं वृतिविवरदत्तनयनतया पद्यनन्ती नायिका वर्णिता गाथायाम्—

एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरललोचनया ।

व्युत्कामति वाल त्वयि पञ्चरशकुनायितं हि तया ॥ ३।२०

आशेकारोपि तां वर्णयति—

वृतिविवरेण विशन्ती सुभग त्वामीक्षितुं सखीदृष्टिः ।

हरति युवहृदयपञ्चरमध्यस्या मन्मथेषुरिव ॥ ५४४ ॥

त्वयि सर्पति पथि दृष्टिः सुन्दर वृतिविवरनिर्गता तस्याः ।

दरतरलभिन्नशैवलजाला शफरीव विस्फुरति ॥ २६७ ॥

व्याघ्रेन बाणलक्ष्योक्ताया हरेण्या भरणसमयेषि विश्वं प्रत्येव दृष्टिगमनं वर्णितं
गाथायाम्—

आकर्णाङ्कुष्ठनिशितभल्लकमर्माहतहरिण्या ।

भविता ह्यदर्शनः प्रिय इति तु वलित्वा चिरं दृष्टः ॥ ६।२४

आर्याकारोपि तमिममर्थमवतारयति—

दृष्ट्यैव विरहकातरतारकया प्रियमुखे समर्पितया ।

यान्ति सृगवल्लभायाः पुलिन्दबाणादिताः प्राणाः ॥ २८३ ॥

परं सृगमिद्धुनस्य मिथोनुरागवर्णनस्य परा काँडेव गाथायाम्—

अन्योन्यरक्षणाय प्रहारसंमुखकुरङ्गमिथुने हि ।

द्याधेन मन्युविगलद्वाष्पविधौतं धनुर्मुक्तम् ॥ ७।१६

एतस्य व्याख्या, अनिचमत्कारश्च ग्रन्थान्तरवलोकनीयः । कस्यांचिदनुरक्तस्य निज-
दयितस्य विरहवेदनातिशयं दद्वा सप्तव्यपि तत्पक्षपातिनी भवतीत्याह गाथा—

सुन्दरि तथा कृते तव हालिकपुत्रः सुमहिलः क्षीणः ।

दौत्यं यथास्य पव्या प्रतिपञ्चं मत्सरिण्यापि ॥ १।८४

आर्यायां तु दयितप्रियाया नायिकाया विरहवेदनादर्शनात्सप्तव्यस्तत्पक्षगा भव-
न्तीत्युच्यते—

प्रियविरहनिःसहायाः सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः ।

रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्याः प्राणा गृहभङ्गभीताभिः ॥ ३।८० ॥

मानिनी नायिका विकलं स्वहृदयमाभव्यते गाथायाम्—

दद्यस्व दद्यसे चेत्स्फुटसि स्फुट पच्यसेऽथ पच्यस्व ।

हृदय गलितसद्ग्रावः परिशेषित एव स खलु मया ॥ ५।१

आर्यायामपि दद्यताम्—

प्रियदुर्नयेन हृदय स्फुटसि यदि स्फुटनमपि तव स्याद्यम् ।

तत्केलिसमरतल्पीकृतस्य वसनाञ्चलस्येव ॥ ३।७७ ॥

अन्यदयितासमागमेषि पूर्वपत्न्याः स्वरणं भवत्येवेति प्रोक्तं गाथायाम्—

हृदये प्रिया॑२७स्वलति किल रममाणस्यान्यमहिलायाम् ।

दद्ये गुणे तु सदृशे हावश्यमाने गुणेऽसदृशे ॥ १।४३

आर्यायामप्युक्तम्—

निहितायामस्यामपि सैवैका मनसि मे स्फुरति ।

रेखान्तरोपधानात्पत्राक्षरराजिरिव दयिता ॥ ३।२७ ॥

अगृहीतादुनयाया मानिन्याः पृष्ठाभिमुखं उमो नायकः श्वासेत्तां खेदयतीत्युक्तं
गाथायाम्—

उष्णानि निःश्वसन्निकल शयनार्थं किमिति मम पराङ्मुख्याः ।

मानसमप्यनुशयतः प्रदीप्य पृष्ठं प्रदीपयसि ॥ १।३३

आर्यव्येनमर्थमुपजीवति—

कृतकस्वाप मदीयश्वासध्वनिदक्तकर्णे किं तीव्रैः ।

विद्युति मां निःश्वासैः स्वरः शरैः शब्दवेधीव ॥ १।५२ ॥

प्रोषितपतिकाया अपि ते दिननिद्रा रात्रेः परपुरुषसुरं सूचयतीत्युक्तं गाथायाम्—
अतिदीर्घास्वविनिद्रा त्वमसि भृशं हैमनीषु रजनीषु ।
सुचिरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यद्विवा स्वपिषि ॥ १६६

आर्यायामप्ययमर्थः—

इयमुद्गर्ति हरन्ती नेत्रनिकोचं च विद्धती पुरतः ।

न विजातीमः किं तव वदति सपल्लीव दिननिद्रा ॥ १०७ ॥

संकेतस्थलगमनचिह्नभूतं जम्बूदलं नायकसविवेद्धा संकेते न प्राप्ता नायिका विधीदति—

इयामाया मुखशोभा इयामति नयनार्द्धसमवलोकित्याः ।

जम्बूदलकृतकर्णवतंसे हलिकात्मजे भ्रमति ॥ २८०

आर्यायामपि नायककरे आम्राङ्कुरं द्धा नायिका मूर्च्छति—

कोपवति पाणिलीलाचञ्चलचूताङ्कुरे त्वयि भ्रमति ।

करकम्पितकरवाले सर इव सा मूर्च्छिता सुतनुः ॥ १९० ॥

एतदबुहारि 'ग्रामतरुणं तरुण्या नववज्ञलमज्ञरी' खादि पथं तु प्रसिद्धेव । दम्पत्योः समसुखदुःखता यथा गाथायां प्रोक्ता—

समसुखदुःखसमितयो रुद्धप्रेम्णोस्ततस्तु कालेन ।

दम्पत्योर्ध्रियते यो जीवति सोऽन्यो मृतो भवति ॥ २४२

तथा प्रोच्यते आर्यायामपि—

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।

सामान्यमरणजीवनसुखदुःखं जयति दाम्पत्यम् ॥ ३३४ ॥

पूर्वं मुक्ताः सुन्दर्याः केशाः, पश्चाद्भिम्ले भाविनो वन्धनस्य भयेनेव विन्दुच्छलेन रुदन्तीति ज्ञानसमये वर्णितं गाथायाम्—

प्रात्नितम्बवस्पर्शाः इयामाङ्ग्याः स्वानलग्नायाः ।

वन्धस्येव भयेन हि रुदन्ति जलविन्दुभिश्चिकुराः ॥ ६५५

आर्यायां तु—वन्धनोत्तरं केशकलापस्य हृदयं विदीर्णमित्युच्यते—

वन्धनभाजोमुष्याश्चिकुरकलापस्य मुक्तमानस्य ।

सिन्दूरितसीमन्तच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ॥ ४०४ ॥

नायिका हृसीवेत्युपमा यथा गाथायाम्—

निपिवति कर्णाखलिभिर्जनरत्वसिलितमपि हि तव संलापम् ।

दुर्गं जलसंसिलितं सा वाला राजहंसीव ॥ ७७६

तथा—

त्वद्विरहापदि पाण्डुस्तन्वङ्गी छायवैव केवलया ।

हृसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग प्रत्यभिष्वेया ॥ २५१ ॥

नायकदत्तायां मालिकायां नायिकाया वहुमानमाह गाथाकारः—

भवता स्वहस्तदत्तां निर्गन्धामपि हि सुभग साद्यापि ।

अवमालिकां विसर्जितनगरी गृहदेवतेव वत वहति ॥ २५४

आर्याकारोपि तदेतचिन्जुगुम्फ—

अपनीतनिखिलतापां सुभग स्वकरेण विनिहितां भवता ।

पतिशयनवारपालिज्वरौपर्धं वहति सा मालाम् ॥ ४६ ॥

प्राकृतभाषायां शुद्धारविषये वहुत्र प्रायो निर्मर्यादतापि संजातेति पूर्वमुक्तवानस्मि, अप्रेपि च निर्दर्शयिष्यामि । परम् आचिल्यसारां संस्कृतसरस्वतीमाददानोपि गोव-र्द्धनाचार्यस्तां निर्मर्यादतामप्यक्षिणी निमीलिय केवलमनुचक्रारैव न किन्तु ततोप्यग्रसरो वभूवेति स्थाने स्थाने तच्छिह्मवाप्यते । गाथासु अतिरसाकुलितानां कामुकानां पुष्पवल्या सह रतिप्रार्थनं स्पर्शलौल्यं च वर्ण्यते, किं त्वतिविदग्धतया । न तत्र प्रत्यक्षमासङ्गः संदर्शयते । यथा—

यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम् ।

पुष्पवतीदर्शनमिह ददाति हृदयस्य निर्वृतिं तदपि ॥ ५१८०

अत्र हि अतिप्रणयिना, पुष्पवल्या अपि ब्रेयसा अवलोकनं सुखावहमेतन्मात्रमुच्यते ।

स्पृशसि न यदि पुष्पवतीं तिष्ठसि तत्किमिति वारितः पुरतः ।

स्पृष्टोसि नः कराभ्यां धावित्वा चुलचुलायमानाभ्याम् ॥ ५१८१

अत्र, यदि पार्षदेशं न ल्यजसि तर्हि एषा त्वां स्पृशामीति केलिपरिहासः ग्रोच्यते ।

लोकस्ताम्यति ताम्यतु, वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।

एहि विनिमज्ज पार्श्वे निद्रा मे नैति पुष्पवति ॥ ५१८२

इत्यादिषु रतिप्रार्थनं सूच्यते । किन्तु गोवर्द्धनः स्पष्टमाह—

मा स्पृश मासिति सकुपितमिव भणितं व्यञ्जिता न च ब्रीडा ।

आलिङ्गितया ससितमुक्तमनाचार किं कुरुवे ॥ ५१८३

पत्युः समक्षं कपटचेष्टया उपपतिशृगमनं वर्णते गाथायाम्—

पतिपुरत एव नीता वृश्चिकदेष्टेति जारवैद्यगृहम् ।

निपुणसखीकरविशृता भुजयुगलान्दोलिनी वाला ॥ ३।३७

आर्यायां तु—

गृहपतिपुरतो जारं कपटकथाकथितमन्मथावस्थम् ।

प्रीणयति पीडयति च वाला निःश्वस्य निःश्वस्य ॥ १९७ ॥

इति पत्युथक्षुपोरप्रत एव नायिकाया निःश्वासानुभावोपि दर्शितः । गाथायाम्—

अयमागतोद्य नः किल कुलगेहादिति हि जारमसती स्वम् ।

सहस्राऽगतस्य पत्युस्त्वरितं कण्ठे नियोजयति ॥ ४१ ॥

इति सहस्रागतस्य पत्युरप्रतो जारस्य निहवमात्रं वर्ण्यते । किन्तु आर्याकारेण
चौर्यरतस्य परा काष्ठा दर्शिता । एष हि नायिकाया मुखादेव श्रावयति—

श्रोणी भूमाघङ्गे प्रियो भयं मनसि पतिभुजे मौलिः ।

गृद्धश्वासो वदने सुरतमिदं चेत्तृणं विदिवम् ॥ ५६८ ॥

अन्धकाराच्छ्वेष्व भवने शयाना पतिमहाशयस्य भुजमुपधानीकृत्य निभृतनिलीनमुप-
पतिमङ्गे वहन्ती सुरतोत्सवमनुभवति, खर्गमपि च तृणीकरोति !! सत्यमेव तादशीनां
खण्डो दूरतस्तिरस्कार्यं एव । धन्यो गोवर्द्धनमहाभागस्य शृङ्गारः ! ‘शृङ्गारोत्तरसत्यमेय-
रचनैराचार्यगोवर्द्धनस्पद्धां कोपि न विश्रुतः ! !’

आमनायकस्य तनयथा सह हालिकनन्दनस्यासक्तिवर्ण्यते गाथायाम्—

मन्दमपि हालिकनन्दन इह दग्धग्रामके न जानाति ।

निर्वैद्यों कं ब्रूमो गृहपतितनया विषयते चाद्य ॥ ६१००

आमणीवनितापि हालिकसुते कस्मिन्विदुरज्यति या हि परितुष्य प्रणयिने पाटन-
लापुष्पाणि प्रयच्छति । तद्वातृजाया च ग्रामे दुर्लभैः पाटलापुष्पैर्देवरस्य आमनायकगृ-
हासक्तिमनुसिनोति ।

बहुपाटलं च शीर्षं न सुन्दरं देवरस्यैतत् ॥ ५६९

आर्याकारमहाभागस्तु आमनायकस्य वध्वा सह शून्यदेवालयवासिनो भिक्षुकस्यासक्ति-
वर्ण्यामास—

भैक्षभुजा पल्लीपतिरिति स्तुतस्तद्धूसुद्धेन ।

रक्षक जयसि यदेकः शून्ये सुरसदसि सुखमसि ॥ ४१५ ॥

देवालये मर्यैककिना स्थीरते तत्र त्वयागन्तव्यमिति आमणीवधूं प्रति ध्वन्यते इति-
तटीकाकारमहाभागः । अहो धन्यं शृङ्गारे औचित्यपरिपालनम्!

गाथायां नायिकाया विवसनदर्शनं सङ्कृद वर्णितम्, तदप्यतिवैद्यन्येन—

आश्र्यमिव च निधिरित्व दिवि राज्यमिवामृतस्य पानमिव ।

आसीन्मुहूर्तमिह नस्तद्विवसनदर्शनं तस्याः ॥ २२५

आर्याकारस्त्वतिस्फुटं नमशृङ्गारणं वारं वारमावर्तयति—

अम्बरमध्यनिविष्टं तवेदमतिचपलमलघु जघनतटम् ।

चातक इव नवमध्रं निरीक्षमाणो न तृप्यामि ॥ ६४ ॥

अतृप्तः पुनर्वर्णयति—

निर्भरमपि संभुक्तं दृष्ट्या प्रातः पिवन्न तृप्यामि ।

जघनमनंशुकमस्याः कोक इवाश्चिशिरकरविम्बम् ॥ ३१९ ॥

पुनरपि न तृप्यामीति जल्पन् वर्ण्यामास—

क्षिष्यन्निव चुम्बन्निव पश्यन्निव चोल्लिखन्निवातृप्तः ।

दधिव दृद्यस्यान्तः सरामि तस्या मुहुर्जघनम् ॥ ५६९ ॥

पुनरप्यतृप्तस्तद्वर्णनेनैव निर्वाचि—

ईर्ष्यारोपज्वलितो निजपतिसङ्गं विचिन्तयंस्तस्याः ।

च्युतवसनजघनभावनसान्द्रानन्देन निर्वाचि ॥ १४४ ॥

गाथायां स्पष्टं रतिवर्णनं प्राकृतभावामयत्वेषि न कुत्रिचिद्वलोक्येत । परम् आचार्य-
महाभागस्य तथा नागरिकता यथा स्पष्टं ग्राम्यता ग्रतीयते—

वीजयतोरन्योन्यं यूनोर्विद्युतानि सकलगात्राणि ।

सन्मैत्रीव श्रोणी परं निदाघेषि न विघटिता ॥ ५२० ॥

मानशहिलाया नायिकायाश्वरणप्रणामेनानुनयो यथा रसिकसमाजे समादतो विलो-
क्यते तथैव अधीरया नायिकया कृतं ताडनमपि कविसमयसिद्धमिव इच्छया अनि-
च्छया वा अनादिकालादारभ्यैतदवधि सर्वैरप्यूरीकृतम् । अन्यान्येषु शङ्खारविषयेष्वति-
श्वयं दर्शयन्नपि गाथाकारोस्मिन्वये अतिसमजसतया व्यवहृति । स हि नायिका-
कर्तृकं ताडनं सकृत् निबन्धाति, परम् असमजसतादोषो नैनं मनागपि स्पृशति—

एकं प्रहारखिन्नं सुखमरुता वीजयन् हस्तम् ।

सोपि हसन्त्या कण्ठे मया गृहीतो द्वितीयेन ॥ १४६ ॥

नायिकया येन हस्तेन स ताडितस्तं प्रणयातिशयाद्वा, अपराधक्षमापनाय वा,
नायिकामीदशकर्मतो हेपयितुं वा नायकः—‘अतिनिष्ठुरस्य मे ताडनात्तव करै पीडा जाता
मवेद’ इति कृत्वा तं सुखमारुतेन फूलकरोति । इदानीं प्रणयाद्वा, कोपशान्तिशयाद्वा,
कौतुकस्योत्तरे कौतुकाद्वा, नायिकापि द्वितीयेन करेण तं कण्ठे आलिलङ्घ । सर्वाप्यसम-
जसता आलिङ्गनपाशे निबद्धा सती मूकमुखा बभूव । किञ्च प्रहारपीडितस्य हस्तस्य
मुखमारुतेन फूलकरणं स्पष्टमेव नायिकाया बाल्यचापल्यं साधयति । बालानां हि चक्षु-
रादिषु आघातजनितायां पीडायां जातायां फूलकारप्रतारणेन तदाश्वासनं सुप्रतिष्ठं लोके ।
एवं च तदिदं ताडनं कौतुकमात्रीभवत् न कस्याप्यरुद्धुं भासेत, प्रत्युत कण्ठग्रहणाध्य-
वसायेन ‘मधुरेण समाप्तिं’ सूचयति ।

गाथातोऽनन्तरभाविनि मुक्तककाव्ये अमरकेण तदिदं ताडनं किञ्चिदतिरजितम्—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्धा दृढं

नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।

भूयोप्येवमिति सखलन्मृदुगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं

धन्यो हन्यत एव निहुतिपरः प्रेयान् रुदल्या हसन् ॥ ८ ॥

शनैः शनैः करस्य स्थाने पदेन ताडनमप्यनेन महाराजेनोपनिवद्धम्—

सालक्कं शतदलाधिककान्तिरस्यं रत्नौघधामनिकरारुणनूपुरं च ।

श्वितं भूशं कुपितया तरलोत्पलाक्ष्या सौभाग्यचिह्नमिव मूर्धिं पदं विरेजे

शनैः शनैरेवंविधताडने रसिकतया बहुमानबुद्धिप्युपनिवद्धा—

सालक्ककेन नवपद्मवकोमलेन पादेन नूपुरवता मदनालसेन ।

यस्ताड्यते दृथितया प्रणयापराधात्सोऽङ्गीकृतो भगवता मकरध्वजेन ॥

एतदनन्तरम्, उत्तरोत्तरमतिशयप्रदर्शनं सूचयता गोवर्द्धनाचार्येण तु चरणप्रहारस्यापि चरमसीमा समाक्रान्ता । एष हि नायकमुखाङ्गाषयति—‘त्वं कियतोपि चरणप्रहार-न्कुरु, न मे प्रहारेभ्यो भयम् । अहं ताड्यन्त्यास्ते न किञ्चिदपि दूरमपसरिष्यामि’—

कुपितां चरणप्रहारणभयेन मुञ्चामि न खलु चण्ड त्वाम् ।

अलिरनिलचपलकिसलयताडनसहनो लतां भजते ॥ १८४ ॥

अमरुकेण ‘प्रणयापराधादि’पदैः स प्रहारः प्रणयरसेन किञ्चिदाङ्गीकृतोपि । परम् आर्याकारेण तु—‘शुक्कः पादप्रहारः’ सोपि शिरसि, स चापि वारंवारेणोपनिवद्धः—

शिरसि चरणप्रहारं प्रदाय निःसार्थतां स ते तदपि ।

चक्राङ्गितो भुजङ्गः कालिय इव सुमुखि कालिन्द्याः ॥ १७० ॥

गोहन्या चिकुरग्रहसमयससीत्कारमीलितदशापि ।

बालाकपोलपुलकं विलोक्य निहतोसि शिरसि पदा ॥ २१६ ॥

यन्निहितां शेखरयसि मालां सा यातु शठ भवन्तमिति ।

प्रहरन्ती शिरसि पदा स्तरामि तां गर्वगुरुकोपाम् ॥ ४७० ॥

अयं प्रसादो न यस्य कथयन्द्वाये भवतीत्याह सवहुमानम्—

कान्तः पदेन हत इति सरलामपराध्य किं प्रसाद्यथ ।

सोऽप्येवमेव सुलभः पदप्रहारः प्रसादः किम् ॥ १८० ॥

गोवर्द्धनवित्रितस्य नायकस्य ताडने ताडशी प्रवला रुचिर्यत्कौतुकात् स कान्तायै धार्मिकशिक्षामपि न ददाति यत् ‘पतिः श्रीणां पूज्यो भवति’ इति । अन्यथा शिरसि लत्ताप्रहारप्रसादः कथमुपलभ्येत । आह सः—

आक्षेपचरणलङ्घनकेशाग्रहकेलिकुतुकतरलेन ।

श्रीणां पतिरपि गुरुरिति धर्मे न श्राविता सुतनुः ॥ ८७ ॥

भाग्यवशाचार्यैव स्वभावेन शीतला, अन्यथा शीतलायास्तस्या वाहनीभूतो नाय-कदेवसु ताडनसहने जन्मतः सिद्धः । दश्यताम्—

आक्षाकरश्च ताडनपरिभवसहनश्च सत्यमहमस्याः ।

न तु शीलशीतलेयं प्रियेतरद्रक्षुमपि वेद ॥ १०३ ॥

गोवर्द्धनाचार्यचित्रितस्य नायकस्य ताडनेन तृप्तिरेव न भवतीति प्रतीयते—

करचरणेन प्रहरति यथा यथाङ्गेषु कोपतरलाक्षी ।

रोषयति परुपवचनैस्तथा तथा प्रेयसीं रसिकः ॥ १८८ ॥

पूर्वं कराभ्यां, तत्स्तयोः श्रान्तयोः चरणाभ्यां प्रहार आरब्धो भवति । सोपि च नैकत्र किन्तु ‘अङ्गेषु’ । मन्ये सेयं नायकदेवस्य सर्वाङ्गपूजा ।

गोवर्द्धनाचार्यचित्रितमन्यदप्यौचित्यमाचम्यतां किञ्चित् । उपरितः करयोः चरणयोः—काङ्ग्याः हारस्य चाविरतं प्रहारा वर्षेन्ति । परं नायकपुज्ज्वो नायिकाया उपर्यापतित एव—

करचरणकाञ्चिहारप्रहारमविच्चिन्त्य वलगृहीतकचः ।

प्रणयी चुम्बति दयितावदनं स्फुरदधरमरुणाक्षम् ॥ १७० ॥

एवं प्रहारमुशलवर्षायामपि बलात्केशेषु गृहतो भर्तुमहाभागस्य ‘प्रणयी’पदेन व्यपदेशः केवलं पतिपर्यायतयैव । अन्यथा ‘वलगृहीतकचः’ इत्यनेन बलात्स्य किल प्रणयीभावोऽप्सरार्थत एव । सत्यं त्वेतत्—यदार्द्युसंसरात्यां दम्पत्योमेष्ये निःस्वार्थप्रेमघटनाः परिगणनीया एव विलोक्येत् । अधिकांशेष्वासङ्गलिप्स्वेवान्तस्तले प्रवल्या प्राप्येत । एतद्विपरीतं गाथासप्तशत्यामासङ्गलोलुपता अतिन्यूनत्सैवालोक्येत । गाथायां प्रवत्स्यत्पतिका प्रातर्गमिष्यन्तं दयितमाकृप्य भविष्यन्त्या विरहवेदनया साम्प्रतमेव दुःखम्—नुभवन्तीव सर्वं केलिविलासादिकं नामिरोचयति । ‘असा रत्रेवसानमेव न भवेत्’ एतदेवैकान्तचित्ता सा निशि भावयति—

कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रुतं जनतः ।

भगवति वर्द्धस्व निशो तथा, यथा कल्यमेव नोदेति ॥ १४६

प्रवत्स्यत्पतिकायास्तमेनं प्रणयातिशयं कामवासनायाः सुदूरीकृत्य अलौकिकमिव वित्रयितुमिच्छति कविः । प्रवासं गमिष्यन्ददितो यदा ‘यासि’ इति मां प्रक्षयति, तस्मिन्काले दुःखभाराकुलं मे जीवितं कथं स्थायतीत्येव सा हृदये चिन्तयति—

भाविष्यकस्य जाया ह्यापृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।

पृच्छन्ती प्रतिरोहं भ्रमति प्रियविप्रयोगसहशीलाः ॥ १४७

गाथाचित्रितानां नायिकानां प्रियप्रवासस्य प्रथमरात्रौ नैतादृशी प्रचण्डतमा इन्द्रियोत्तेजना भवति यत्सम्पूर्णेषु प्रवासकाले भाविनीं सुरतानन्दकृतां त्रुटिमद्यैव पूर्येमेति विचारोप्युद्घवेत् । परम् आर्याचित्रिता नायिका प्रवासस्य प्रथमरात्रौ प्रवासावधिदिनानां समग्रमपि सुरतविषयकमायव्ययजातम् (हिसाव) समीकृत्यैव विश्राम्यति—

मयि यास्यति, कृत्वावधिदिनसंख्यं चुम्बनं तथाऽऽश्लेषम् ।

प्रिययानुशोचिता सा तावत्सुरताक्षमा रजनी ॥ ४३२ ॥

हन्त ! रजनी तावद्दीर्घा नाऽभूदन्यथा कतिपयमासानामेतदणशोधनं कृत्वैव प्रवासिमहोदयस्य गमनमभविष्यत् । दृश्यताम्—गाथावत् अत्रापि रजनीलाघवमनुशोच्यते । परम्—उभयत्र भावनाया मेदः । एकत्र विरहकातरता कारणम् । अपरत्र ‘एतावतो वारान् सुरतानि नाऽभवन्’ इत्येतदनुशोचनम् । आसङ्गलिप्साप्रचण्डाया आर्याकारलेखन्यास्तावान्प्रभावो यष्टीकाकारवराकेण स्थाने स्थाने ‘स्त्रीणां रतेऽस्तन्तं प्रीतिरिति भावः’ इति विवशतया लेखितव्यमभवत् । आर्याकारलेखनीचित्रितौ नायकौ तथा कामविवशौ यथा मानभर्यादामपि विसंरतः । यस्य किल नाम मानः [प्रणयरोषः], तत्र सर्वैरपि

साहित्यकारैः कविभिश्च रतिस्तु दूरे, द्वयोर्विस्पष्टेच्छापूर्वकमङ्गपरामश्चोपि विरलस्थले-
ध्वेवावर्ष्यत । परम्—आर्याकारस्य मते हठे मानेपि, स्पष्टमनुनयतिरस्कारेपि इन्द्रियोत्ते-
जनां तु परिसमाप्तैव नायिकानायकौ विश्राम्यतः! आर्या—गाथयोरनैवादर्शः
स्थिरीकर्तु शक्येत ।

नायिकानायकौ द्वावपि परस्परविच्छेदस्यासहनतया मनसि मन्दीभूतमानौ स्तस्त-
धापि ‘पूर्वमयमेव मामनुनयेत्’ इति परस्परप्रतीक्षया शयनीये मिथ्यैव निद्राभिनयं
दर्शयन्तौ तिष्ठतः, किन्तु द्वावपि स्वखनिःस्वासशब्दमवस्थाव्य
अन्यं प्रति दत्तकणौ प्रती-
क्षेते यत् ‘इदानीमनुनयार्थेमुद्योगो भवेत्’। हृदयान्तः, एवंविधं मानसैथिल्यं यत् अनु-
नयार्थं वागरम्भणस्य का कथा, यदि हृतस्याङ्गुल्यग्रेणापि मनाकृ स्पर्शः कियेत तदापि
‘प्रथमं त्वकृतेनानुनयेनैव मे मानसोक्षः’ इति मिष्ठमादाय मानसमाप्तिः संसुखोपस्थि-
तासीत्! परम्—‘अपरपक्षत एव अनुनयः प्रथमं भवेत्’ इति, सूत्रमादायैव द्वावप्य-
न्योन्यस्य शक्तिपरीक्षां कुर्वन्तौ तिष्ठतः । कीदृशीयमनुभवैकवेद्या सहदैयैकचित्रीणीया
दम्पत्योर्मानघटनास्ति, पश्यत गाथा कथमेतां चित्रयति—

प्रणयकुपितयोरुभयोरपि मानवतोरलीकनिद्रितयोः ।

निभृतनिरुद्धश्वासाऽवहितश्रवसोर्नुं को मल्लः ॥ १२७

इदानीमार्या प्रति दृष्टिर्दीयताम् । प्रहिलमानयोर्द्वयोरपि मानस्ताहगवस्थ एव । मानो
वा तस्य मर्यादा वा दूरे कन्दति किन्तु द्वयोर्ग्राम्यधर्मस्तु संजात एव ।

निशि विषमकुसुमविश्वप्रेरितयोर्मैनलव्यरतिरसयोः ।

मानस्तथैव विलसति दम्पत्योरशिथिलग्रन्थिः ॥ ३२७ ॥

मानः अशिथिलग्रन्थिः, किन्तु अमानः [अपरिमाणः] सकरकेतनस्तु कृतकर्तव्य
एव । अहो धन्यो मानः ।

गाथासप्तशती हि ग्रामे भवाः प्राकृतघटना एवाधिकं वर्णयतीति पूर्वमुक्तं वक्ष्यते च ।
एतस्याथित्राणि नातिरजितानि सर्वाण्येव प्रायः स्वाभाविकानि । यथा लोके विलोक्यते
तथैव सेयमङ्गयति । अयमेवार्थः खतः संभवीति साहित्यनिबन्धकारैर्व्यपदिश्यते ।
अत एव ग्रामवासिनामाचारानपि सेयं यथोपलब्धानेव चित्रयति । देवरप्रात्जाययोश्च-
रित्रविषये ‘नूपुरौ त्वभिजानामि निल्यं पादाभिवन्दनात्’ इति रामायणीय आदर्शो ग्राम-
वासिषु नावलोक्यते । ग्रामवासिनीनां प्रणयगीतानि ‘देवरिया’ सुद्राङ्गितान्येव बहुशः
श्रूयन्ते । अत एव गाथासु देवरप्रजावत्योः परस्परं प्रणयपरिहासोपि प्रकृतलनुकरितयाऽ-
वलोक्यते । यद्यपीदं ग्राम्यचित्रम्, तथापि तदिदं नितुणनागरेष्वपि बहुत्र दुर्लभं
भवेत् । अत्र हि गाथाकारेण परमविद्गवतायाः परिचयः प्रादापि । ब्रजभाषाकविना
श्रीमता विहारिणा गाथानुकारेण देवरप्रणयो वर्णितः परं हरिप्रकाशादितटीकासु स्थाने
औचित्यानैचित्यविचारो विवशतया निबन्धनीयोऽभवत् । गाथा त्वनौचित्यं ग्राम्योण

परिहरन्ती सुविद्रध्यतया तदेतच्चरित्रं चित्रयति । आनृजाया देवरेण सह परिहासं करोति—‘अथि देवर आकाशे अर्द्धचन्द्रश्चानार्थि किमिति व्यग्रोसि । निजपद्याः स्तन-तटे अर्द्धचन्द्राणां परम्परामेवावलोकय ।’—

किमिति न देवर पश्यसि किं वाकाशं मुधा प्रलोकयसि ।

जायाया भुजमूले परिपाठीमर्द्धचन्द्राणाम् ॥ ७० ॥

दृश्यतां कीदृशी वैदग्ध्यपूर्णा नमोक्तिः ! ‘गोपनीयोपि ते प्रियतमासमागमः स्फुटम-सामिर्लक्ष्यते, अहो ते वैदग्ध्यम् !’ इति कीदृशो गृहः परिहासः । अप्यत्र अनौचित्यस्य विलोक्यते छायापि ? निपुणनागराणामपि यहे देवरनानृजाययोः प्रसिद्धः किल परस्परं परिहासः । होलिकामहोत्सवस्य तु इमायेव अधिदेवताहृषेण विराजेते सर्वत्र ।

गाथायु वहयो आनृजायास्त्वैर्विधाः सन्ति या अनुचितपरिहासलभ्यं देवरमयि सुमार्गे आनेतुं यतन्ते—

कुञ्जलिखितानि दूषितमनसो ननु देवरस्य कुलयोषित् ।

दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥ १३५

नववयसो या नैतत्कर्तुं प्रगल्भन्ते ता वराक्यः कस्याप्यग्रे स्तुःखमप्रकाशयन्त्यो मनःक्षेत्रात्कृशा भवन्ति—

प्रेयसि सुविषमशीले शुद्धमना देवरेऽसद्वशचित्ते ।

न वदति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्तुषा किन्तु ॥ १५९

अविकलं लोकचरित्रानुसरणार्थं कुत्रचित्प्रणयोपि वर्ण्यते, परं व्यज्ञनया । न ह्यत्र ग्राम्यधर्मस्य स्पष्टं प्रतीतिर्भवेत्कस्यचित्—

सत्यं हि कथय देवर तथा तथा चाढुकारकेण शुना ।

निर्वैर्तितकार्यपराङ्मुखत्वमिह शिक्षितं कस्तात् ॥ १८८

नवलतिकाऽहतिमिच्छति यतो यतोङ्गेषु देवरो दातुम् ।

रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्सततो दृश्यते वध्वाः ॥ १२८

अत्र हि रोमाङ्गोदगमेन देवरप्रणयोऽनुमीयते, न किंत्र ग्राम्यधर्मसंकथा । मोज-मतेन सेयं ‘चूतलतिका’नामी कीडा । अत्र हि ‘कस्ते प्रियतमः’ इति वृच्छद्विर्लता-द्वारा प्रियो जनो हन्यते । एवं सति सा घटनैव परिवर्तते ।

अस्तु. एवं किल देवरविषयिकाः पञ्च गाथाः । यद्यपि—‘पृष्ठं प्रोञ्च कृशोदरि ।’ ४।१३ इति गाथा देवरोक्ते द्योजयते, परं तदिदं दीक्षाकाराणां हस्तलाघवम् । मूले हि—‘हे कृशोदरि ! गृहपृष्ठे अङ्गोटतस्तलजातारतिसूचकं पृष्ठं प्रोञ्च । अन्यथा विदग्धा देवरविषयो ज्ञास्यन्ति । अन्ये गृहपृष्ठा न जानीयुः, परं तत्समवयस्का देवरविषयः चीखभावात्तवेममभिसारं परिजानीयुः ।’ अत्र हि देवरेणव सह रतिरभवदिति क्रम सूल-कृता प्रोक्तम् ? अत एव साधारणदेवकृतरक्षावलीटीकार्यां [यत्र हि ब्रज्याक्रमेण गाथा

व्याख्याताः] पञ्चैव देवत्रयज्यायां गाथाः सन्ति, नेयम् । आर्यायां तु देवरेण सह पलालपुजोपरि सुरतमेव सूचितम्—

दलिते पलालपुजे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते ।

निभृतनिभालितवदनो हलिकवधूदेवरौ हसतः ॥ ३०२ ॥

स्पष्टमुदीरणायां तु निवदेनीयं भवेत् यदार्यासप्तशतीचित्रितः शङ्कारो विलक्षण एव । प्राकृते निर्भरः शङ्कारो भवत्सत एव तत्र सुरसतासंपादनं सुकरम् । संस्कृते तत्कठिनम् । वाणी प्राकृतस्मुचित ० ५२ (आर्या०) इति । एवं स्पद्धापारवश्येन गोवर्द्धनाचार्यमहाभागास्तथा व्यग्राः समभवन् यच्चरित्रादर्शविषये तेषां दृष्टिरेव नापतत । एतचित्रिता नायकनायिका निर्भर्यादं खेलन्ति । यत्र स्पष्टमेव मुखतः प्रोच्यते—‘स्त्रीणां पतिरपि गुरुरिति धर्मं न श्राविता सुतनुः’ ८७, तत्र शङ्कारान्धता स्पष्टमेव साधारणे नापि परिज्ञेया । विश्वनाथस्तु परकीयायां नायिकायामाभासमेव मन्यते शङ्कारस्य, परमार्थां तावाकुच आदर्शाः । अस्तु परकीयापि नायिका, परं तत्र ‘रस’ता न व्याहन्येत, औचित्यं नातिकान्येत्, स्पष्टमादशो नाधः पतेत्, अश्राव्यत्वं न भासेत्, एतत्ववश्यमनुसंधातव्यं भवेत् । सिद्धान्तः किल साहित्यमार्मिकाणाम्—‘औचित्योपनिवन्धस्तु रससोपनिषदपरा ।’ निजभर्तुतो विरक्ता अन्यसिन्ददियितेऽस्तुरक्ताः छियो गाथास्तपि वर्णिता एव । परं यन्मरणम्, अमङ्गलाशीलसिति कृत्वा कस्यचिदपि स्पष्टं न वक्षव्यं भवति, तत्र पब्या एव मुखात्स्पष्टं पत्युर्मरणकामना किमुचिता प्रतीयते ?—

तिमिरेपि दूरहश्या कठिनाश्लेषे च रहसि मुखरा च ।

शङ्कमयवलयराजी गृहपतिशिरसा सह स्फुटतु ॥ २७४ ॥

‘गृहपतिशिरसा सह स्फुटतु’ इति किमश्राव्यं न प्रतीयते ? इयमपि ‘नायिका’ नाम ? अद्यमपि च शङ्कारः ! ! ‘शङ्कारोत्तरसत्यमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धनसदां कोपि न विश्रुतः’ इति पद्यखण्डं पुनर्मनस्यावर्तते ।

रसाकुलिताः स्थयमाचार्यचरणास्तेषां नायको वा वक्ति—

असती कुलज्ञा धीरा प्रौढा प्रतिवेशिनी यदासक्तिम् ।

कुरुते सरसा च तदा ब्रह्मानन्दं तृणं मन्ये ॥ ७० ॥

गाथास्ताचारोद्भवनं नास्ति नेदमहं वच्चिम । मन्मतेन, यत्किल वैगुण्यं तदग्रतः स्पृष्टीकरिष्यामि । परमेवंविधा उक्तदा उक्तयः सर्वस्याभपि सप्तशत्यां नोपलभ्येन् । यत्र किल चरित्रवैगुण्यं तन्मताद्भासते तत्र हि गाथाकारः स्फुटम् ‘असती’प्रभृति पदं निर्दिशति । यथा—

अयि गृहपते गतो नः शरणं रक्षैनसिति भणन्त्यसती ।

सहसागतस्य तृणं स्वभर्तुरेव स्तजारमर्पयति ॥ ३१७

अयमागतोद्य नः किल कुलगोहादिति हि जारमसती स्वम् ।

सहसागतस्य पत्युस्त्वरितं कण्ठे नियोजयति ॥ ४११ इत्यादि—

अनेन स्पष्टं प्रतीयते यदियमसतीति लोकानामनादरमाजनम् । नेयं सत्त्वं परिगच्छत् इति नास्याश्वरित्रं लोकानामनुगम्यम् । उचितं चैतत् । यद्विकार्यं ‘रामादिवद्वितितव्यं न रावणादिवत्’ इति लोकशिक्षायै उपनिवद्धं तत्र स्पष्टमनाचारोद्घोषः किं श्रेयसे ? यद्यपि हीनमिदं चरित्रं ‘लक्ष्मीम्’ इति लोकशिक्षायै एवोपनिवद्वमिति तत्रापि समाधातुं शब्दयेत् । परं यावत्किल कविः केनापि पदेन स्वस्यानभिमति तत्र न सूचयति तावत्स्पष्टमरुचिर्ने प्रयेतुं शब्दयेत् । गाथासु सर्वैव तथा चिह्नं निर्दिष्टं कदाचिच्च भवेत्परं वहुत्र ताद्वक्संकेतो व्यञ्जनया कृत इति मयाऽन्वभावि । दृश्यताम्—

निधविमानि० २।४।, वहलतिमिरस्य० २।६६, कार्पासवप्रकर्णेण० २।६५, पानेन भोजनेन च ७।६२, इत्यादिषु विगुणचरित्रेषु असतीत्यादिरहचिमुद्रा स्पष्टमङ्कितास्ति ।

आर्याकारनिवद्वाऽन्यापि शृङ्गारसूक्तिराकर्ण्यताम्—

प्रेतैः प्रशस्तसत्वा साश्रु वृक्तर्बीक्षिता स्खलद्ग्रासैः ।

चुम्बति मृतस्य वदनं भूतमुखोल्केक्षितं बाला ॥ ३९५ ॥

यावत्किल अनितमं ‘बाला’ पदं न कर्णयोः पतति तावद् अक्षरद्वयरहिता सर्वाप्यार्या भूतमुखाचिर्गच्छन्त्या उल्कायाः प्रकाशे शब्दस्य वदनमास्यादयन्त्याः कस्याश्वनं शाकिन्या भूतभासिन्या वा इमशानविहरणवर्णनं प्रतीयते । ‘बाला’ पदश्रवणेषि, मृतस्येतिपदेन सह यावत्प्रियस्येत्यादि विशेषणं नाक्षिप्येत तावन्मृतस्येति पदं (‘मुर्दा’) शब्दार्थमेव वोधयेत् । एवंभयानकरसेन शृङ्गाररसस्यावतारः कथमिवाङ्गीकृत इति न जानीमः । भयानकस्य बीभत्सस्य करुणस्यैव वा यत्रैतावती सामग्री तत्र केवलं ‘बाला’ कथमिव शृङ्गारं साधयतु । कियद्वा वराकी टीका समादधातु । चित्रं चित्रमियमपि बाला ! अहो बालपदस्य स्वारस्यम् !

स्थूलं विषयमवलम्ब्य, एवसियं द्वयोः सप्तशत्योस्तुलनादिक्रकटिता । इदानीं मर्मणि निविश्य मीमांसनीयमेकमंशम् ‘वर्णिका’ [‘बानगी’] रूपेण निवेद्य तमिममालोचनाड़-म्बरसुपसंहरामि ।

गाथाया नायिका मानसुपगतापि विदग्धजनोचितया भर्यादया अतिगृहसुपालभते । सा हि नायकव्यलीकैः खेदितापि महिलाजनोचितं मार्दवं न विमुद्धति । नागरनितम्ब-नीभिरुचर्तीयं नैपुण्यं न विसरति । तथा हि-दयितस्यान्यासक्ततया मनःखेदेन दुर्बलाया नायिकाया दयितं प्रति ‘किमिति कृशासि’ इति प्रश्नस्योत्तरपाठमाह सखी—

यत्पृच्छसि विहसन्मां तनूयते या कृते नु किं ते सा ?

‘प्रकृतिरसौ मे ग्रीष्मे’ हन्त भणित्वैवमवरुद्दिता ॥ ७।११ ॥

समवेदनाभावेन सानुतापं प्रष्टव्यमपि यः किल हसित्वा पृच्छति, नायिका तस्मै प्रतीकाराशया अवश्यवक्तव्यमपि कार्यकारणं न प्रकाशयितुमिच्छति । अनुरागशून्यस्यामे खलाववप्रकाशनेन किम् ? आह सा-‘ग्रीष्मे’ एवम्लानता भम खभाव एव ।

अत एवाहं कृशा । ‘मैव कृते दुर्बलेयसिति’ त्वमत्मनः सौभाग्यं किं वहु मन्यसे? अत्र व्यज्ञयं तु—‘भवद्विरहे दौर्बल्यं वहन्त्योऽत एव भवता स्वसिद्धतिशयिताचारागिन् योऽनुमितात्मा एव ते विश्वासभाजनभूतास्त्वद्गतप्राणाः । अहं हु त्वयि न लिङ्गासि । अत एव कथं मे त्वदुपेक्षया तानवं भवेत् ।’ इति विपरीतलक्षणया कोपातिशयं व्यज्ञ-यन्या सुविदधसुपालब्द्यो दयितः । उपालम्भग्रहानोत्तरं रोदनेन स्वस्य प्रणयि हृदयं स्पर्शं सूचितं यदहम्—‘त्वदुपेक्षयैव दौर्बल्यातिशयात्कण्ठागतप्राणा । अत एव एवंविध्य-शादिभिरपि मे मर्मवेद्यो भवति’ ।

सप्तलीसविधतः समागताय दयिताय खण्डता अतिविदर्थं सूक्ष्मं चोपालभते—

प्रत्यूपागत रञ्जितदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।

सच्चखमण्डनक नमो दिवसपतेऽन्यत्र नीतरजनीक ॥ ७।५३

प्रियाङ्गरागसंकमणाद्वितो देहो यस्य तादृक् । यास्तव एषु दिनेषु प्रियास्तासां लोचनानन्द ! [अनेन—अहं तव साम्प्रतं न प्रियेति वक्रोक्तिः] सप्तलीनखक्षतानि सब-हुमानं भूषणतया वहन् ! । नैकद्वौ यामौ एव, अपि तु सर्वा रजानिरेव यापिता येन तादृश ! अत एव दिनपते ! दिनमात्रस्यैव कृते मम पतिभूत ! (पातीति रक्षण-पाल-नमात्रकर्तः ! न तु प्रमोदयितः !) इदानीं तुभ्यं नमः । तवाऽप्रियाया मे संप्रति त्वत्तो दूरस्थितिरेवोचिता ।

इदानीं तव दर्शनमपि पुण्यमहिना कदाचिदेव भवति । त्वमन्यत्रैव बहुतरा रजनी-र्गमयसि । द्वौ तिष्ठतु मम कार्यं प्रति सहानुभूतिः, परं त्वमेव सततसप्तलीगणसमा-गमाहुर्बलो जातः । तदिदं मे दुःखाय । परं किमहं कुर्याम् ? न मां किञ्चिद् गण-यसीत्याह सा—

अनुभूतः पूर्णदिने सकलकलापूर्णं तव करस्पर्शीः ।

वन्दामहे द्वितीयासङ्गकृशाङ्गाधुना चरणौ ॥ ७।५७

हे सकलकलापूर्णे [अन्यासां सङ्गाय त्वं नानाविद्याश्वातुरीरवलम्बसे इति सूचि-तम्] प्राकृते ‘पुण्यादिअहम्मि’ इवस्य ‘पूर्णादिवसे’ तथा ‘पुण्यदिवसे’ इत्युभयोर्थः । ततश्च यस्मिन्दनेस्माकं तव करस्पर्शानुग्रहो जातः सोपि कश्चित्पुण्यदिवस एवासीद् इदानीं तु स्पर्शय का कथा दर्शनमपि कदाचिदेव भवति । हे चन्द्र ! पूर्णिमादिवस एव तव कराणां स्पर्शोनुभूतः । इदानीं त्वं द्वितीयातिथेः संयोगाकृशाङ्गोसि । साम्प्रतं तव चरणवन्दनस्यैव योग्यता । व्यज्ञनया तूपालभते-द्वितीयस्याः सङ्गतस्वं कृशशरी-रोसीति क्लेहवशान्मनसि खिद्यमानापि त्वयोपेक्षिताहं संप्रति त्वच्चरणप्रणामसेव करोमि, दूरतस्वं चरणवन्दनपूर्वैकं विसर्जनमेव मे समुचितमित्याशयः । द्वितीयातिथेश्वन्दः अतिलालसया यथा वीक्षयते तथा कदाचिदेव दर्शने प्रयच्छस्त्वमप्यसाकं कृते द्वितीया-चन्द्रोसि संवृत्तः । अहो ते मर्यजुग्रहः ।

आर्यासप्तशत्या नायिका तु वल्लभस्य शरीरकृशतां वीक्ष्य वहिरिव जाज्वलयमाना नायंकं वैरक्षरैहुपालभते तानि तां सद्गृह्णये परिणमयन्ति । आह सा—

परपतिनिर्दयकुलटाशोषित शठ नेष्ठया न कोपेन ।

दृधममतोपतसा रोदिमि तव तानवं वीक्ष्य ॥ ३९३ ॥

परपतिषु शरीरसारशोषणानिर्दया याः कुलटाः [याः किल न त्वयेव परमनेकेषु पुरुषेषु रताः] ताभिः हृतशरीरसारतया शोषित ! किञ्च कपटवचनैर्वामोहकतया हंहो शठ ! ईर्ष्यया कोपेन वा नाहं रोदिमि, किंतु त्वयि येवं मे भगता तत्संतसाहं त्वकृशतां वीक्ष्य रोदिमि । त्वां प्रत्यहं क्षीयमाणमालोक्य पुटपाकं दद्यमानाहं परवद्या रोदिम्येव । प्रत्यहं छृष्ट्यमानसारं त्वामनुरोदिम्येव । किमन्वकुर्वाम् ?

इदानीमार्यासप्तशतीचित्रिताया नायिकाया उपालम्भोपि अवणीयः—प्रत्यूषागते-स्यादिगाथायां यथा सूर्यविषयकं वाच्यार्थं सूचयन्ती व्यञ्जनया नायकमुपालभते, अत्राप्यविकलं सेव गाथाऽनुकृता । आह सा—

करस्त्रहशिखानिखात भ्रान्त्वा विश्रान्त रजनिदुरवाप ।

रविरिव यच्चोल्लिखितः कुशोऽपि लोकस्य हरसि दशम् ॥ १६५ ॥

तत्र नखभूपण अत्र ‘करस्त्रहशिखानिखात’ । तत्र अन्यत्रक्षपितशर्वरीक, अत्र ‘रजनिदुरवाप’ । तत्र प्रत्यूषागत, अत्र ‘भ्रान्त्वा विश्रान्त’ [रात्रौ अन्यत्र भ्रान्त्वा प्रातर्गते आगत !] । आर्यायां नवीनोर्थैः ‘तेजोबाहुल्येन वीक्षितुमशक्यः सूर्यस्त्वष्टा यच्चेणोल्लिखितः सञ्चल्पतेजस्कतया यथा लोकद्विष्वयोऽभवत्तथा त्वमपि सततसमागमेन कृशोपि सपन्नीलोकानां दृष्टिं लोभयसि ।’ एतस्य मूलं गाथायां दृश्यतां ‘शियालोक-लोचनानन्द’ इति । ‘भवत्वेयसीनामेव लोचनानि साम्प्रतमानन्दयसि । मम न भास्य यद्दर्शनं ते भवेत् । रात्रौ सूर्यस्यादर्शनं यथा खाभाविकं तथा रात्रौ ते दर्शनाभावः खाभाविक एवेति गृदोभिग्रायः । आर्यायां किलोपालभ्यम्—‘त्वं रात्रौ सपन्नीषु आम्यसि । तत्सञ्चाहुर्बलो जातः । त्वं दुर्बलोऽन्याभ्य एव रोचसे न मद्यम् ।’ इदानीं गाथायामुपालभ्येन तुलनीयमेतत् । प्रत्येकमपि विशेषणमुपालम्भं प्रगुणीकरोति । आर्यायां यानि विशेषणानि तानि तु सन्तयेव । ततोविकं ‘रक्तदेह’ इति । इतोऽप्यधिकं सर्वस्याप्युपालम्भस्य मौलिभूतं ‘दिनपत’ इत्यामच्छणम् । ‘त्वं मया सह पतिपनीसंवन्धं दिनमात्रस्यैव रक्षसि । रात्रौ अन्यत्रैव स सम्बन्धो भवतीति प्रत्यक्षमस्कुटोपि किय-न्मर्मस्युपालम्भः । किञ्च—‘यच्चोल्लिखित’ इत्यस्य प्रतिविम्बकोटौ ‘करस्त्रहशिखानि-खात’ इत्यपि न तथाऽर्थसमर्पकः । ‘करस्त्रहणां शिखाभिनिखात’ इत्यत्र क्षतार्थं निख-नमेव तावदप्रतीतम् । निखननं हि भूमौ श्रोथनार्थं (निधानार्थं) प्रयुज्यते । अस्तु यदि क्षतार्थेऽपि खीक्रियेत तर्ह्यपि ‘सूर्यो यथा त्वष्टा यच्चेणोल्लिखितः, तथा ‘करस्त्र-शिखाभिनिखात !’ इत्यर्थसिद्धौ नायिकानखानां कियदीर्घता तीक्ष्णाग्रता छिद्रता च कल्प्या सात् । एवं सति सा विलासिनीषु परिगण्येत उत किञ्चिन्नधावासिनीषु ? गच्छतु

वा पदपरामर्शस्य कथा । परसुपालभ्येऽर्थे य उत्कर्षः स मार्मिकैर्गूडमास्त्रादनीय एव । एवं गाथानुकारेणार्थमुपनिवन्धनपि कथमिव पश्चातपदो भवत्यार्थकार इति विमृश्यताम् । दृश्यतां चाधुना औचित्यस्य कथा । यत्र हि गाथायाम्—‘द्वितीयस्याः सज्जेन त्वं कृशो-सीति ज्ञेहवशान्मनसि खिद्यमानापि त्वदुपेक्षिताहं संप्रति दूरतश्चरणप्रणाममेव करोमि’ इति विदग्धसुपालभ्यते, तत्र आर्थायां कृशतामेव कारणीकृत्य नायिका रौद्रलर्पं धारयति—परपतिनिर्दय० (३६३) ।

एवं प्रतीयते, यदत्किंचेव आर्थावर्णिता नायिका स्वस्य पलीत्वमेव किं निसर्गमार्द-वानुरोधिं छीत्वमपि विस्मरति । अन्यथा ‘कुलटाशोषित ! शठ !’ इत्यादिपदानि कथं सुखादुद्वच्छेयुः । किञ्च रोदिमि तत्र तानवं वीक्ष्ये लभिकोशस्तु स्पष्टं जदगुर्जरीणां भर्तु-कलहकेलिं चित्रयति ।

द्वितीयासङ्गकृताज्ञेत्यपूर्वैषेषानुप्राणितः सोयं गाथावर्णितव्यन्द्रोपमार्थोप्यार्थकारेणोप-जीवितः—‘सर्वं मधुरो०’ (६८२) । अत्र हि—माधुर्यादिगुणविशिष्टोपि दयितो द्वितीयां लिंगं तथा न जानति यथा तादशगुणः प्रतिपञ्चन्द्रो द्वितीयातिथिसिति प्रियस्य परच्छी-विमुखत्वेन निजवश्यता सूचिता । गाथार्थां त्वन्यासक्तं दयितं प्रत्युपालम्भ इत्यर्थपरि-वर्तनम् । किञ्च श्लेषमार्गेण प्रियस्य चन्द्रसादृशं साधयन्त्येकाऽन्यापि गाथा दृश्यते—‘दृश्यमानो नयनसुखो० ५।२।१ ।’

एवमनयोः सप्तशत्योः किञ्चिद्वृत्तमावेदितम्—

सूक्ष्मिक्षोदनमेतद्वितीयविनोदनम् ।
गोवर्जनोन्यथा कस्य भवेन्नानन्दवर्जनः ॥

गाथासप्तशती ‘विहारीसप्तसई’ च

त्रजभाषायाः साहित्यं संस्कृतसाहित्यसुपर्जीव्यैव सम्पन्नमिति सर्वेषि स्त्रीकुर्वन्ति । अत एव त्रजभाषायां दोहाछन्दस्तु सुक्तकक्षाव्यनिर्माता विहारिमहाभागोपि यदि गाथा-सप्तशती-अमरुशतक-आर्यासप्तशतीप्रभृतीन्युपजिजीव तर्हि किं वाधिकम् । अतिप्राचीना या हि गाथासप्तशती अमरुकप्रसृतिभिः सुप्रथितैः संस्कृतविवन्धकाररप्याश्रिता तर्हि त्रज-भाषायाः कवियितुः पक्षे नेदमवधीराणायै । विहारिमहाभागस्य कृतिर्गाथासप्तशतीप्रसृ-तिभ्यः संस्कृतकाव्येभ्यः सुबहुतरमर्वाचीना । प्राक्तना भाषाकवयः संस्कृतसाहित्याध्ययनेन प्रोज्जृम्भितप्रतिभा एव स्वावलम्बितभाषायाः सूक्ष्मिगुम्फने साफल्यमवाप्नुः । अत एवैषां रचनासु संस्कृतनिवन्धाश्रय एव प्रधानमवलम्बनमभूत् ।

विहारिणा येषां संस्कृतमहाकवीनामर्थं उपजीवितस्तानप्रति निजरचनायां वचसा नयः कामं न प्रकटितो भवेत्परं मनस्यवश्यमेषासुपकारकात्मेण स्यादिति को वा न न्वीत । किन्तु साम्यतिकाः केचन समालोचकचूडामणयो विहारिकृतेर्गाथादिसिस्तुलार्ना सं. गाथा. ४

कुर्वन्तः स्थाने स्थाने 'वर्णविषयः स्वायत्तीकृतः' ['मजमून छीनलिया'] 'कोशान् पश्चात्यक्षाः' [कोसों पीछे छोड़ दिया] इत्यादिकमुक्तर्थं नाटयन्ति । अस्तु सम्यगेवेदम् । स्ववर्णस्य प्रशंसागीतिः स्थान एव । किन्तु साहित्यरक्षस्यले द्वयोरुत्तमीमांसायां कस्यात्रोकर्षं इति निष्पक्षपातमालोचनीयमेव भवेत् । वहुतरं संभवो यद् गाथाकारादिभिर्या किल नवीननवीना कल्पना स्वयं स्वप्रतिभयोद्घाविता, पूर्वसिद्धां तामविकलमुपजीव्य तदर्थाहरणोत्तरं तत्सम्बन्धे विहारिणा काचन समझसत्तापि संपादिता स्यात् । परं येन महाकविना नवीना सा कल्पना स्वयमाविकृता तस्योत्कर्षः, आहोस्थियेन तां कल्पनां भित्तीकृत्य यत्किञ्चित्तीनमुदितं तस्य ? एकथित्रकारः शून्यायां जितौ शास्त्रोक्तं तत्परिशोधनं विधाय, तदुपरि सूत्रेण मानरेखाः समुक्तीर्थं, इदंप्रथमतया नानारहः सुननोहर्व चित्रमुद्घावयति, नानाभावांश्च तत्र प्रकटयितुमात्मकलापाटवं प्रदर्शयति । अन्यस्तु कथित्रिकरः पूर्वचित्रकारेण लिखिते सिद्धे तस्मिथित्रे यत्किञ्चित्पुष्पपत्रादिकं वा रेखाविन्दादिकं वा स्खलेखन्योत्कर्षं तच्चित्रं लोकानां हृषीं मनोहरीकुरुते । इदानीं द्वयोः कृतिता निष्पक्षपातया दृशा समीक्षणीया भवेत् । येन हि तच्चित्रमिदंप्रथमतया स्वप्रतिभया उद्घावितं तस्य महत्वमुत येनैकद्वे पुष्पपत्रे तत्रालिखिते तस्य गौरवम् ?

किञ्च समालोचकमहाभागेन विहारिकृतौ—'कीदृशं मनोहरं पदम्' 'अहो कीदृशी सूक्तिः !' ['मरगजे' चीरने दोहेको चमका दिया है 'सौं च मरगजे मुँह किये वहै मरगजे चीर ३३३' 'सुजान' पद कविताकी जान है । 'चितवन' तुम्हारी चितवनकी ताव भला कौन ला सकता है 'वह चितवन औरै कहूं जिहिं बस होत सुजान ६७१'] इति प्रायः चाद्वगतं माधुर्यमेव साधितं सर्वात्मना । परं वहुत्र ध्वनिकृतं यद् गाथाया महत्वं तप्रति दृष्टिरेव न कृता, प्रत्युत आलोचनायामुद्दिष्टभाषाचमत्कारमन्त्रेण वाचकानां मन आच्छिद्य ध्वनिविचारं प्रत्यवधानमेव तिरोधातुं चेष्टितम् । गाथायाः किल ध्वनिकृतमेव महत्वमिति न विस्तरित्यं भवेत् । एनं गुणमुद्दिश्यैव संस्कृतभाषापक्षपातिभिरपि साहित्यनिवन्धकारैः सेयं सप्तशती स्वनिवन्धेवृद्धाहरणहपेण परिगृहीतेति पूर्वमुक्तवानस्मि । भाषा हि विचाराणां वार्यं परिधानमात्रम् । समयपरिवर्तनेन भाषां प्रति लोकानां मनोरुचिः परिवर्तमाना दृश्यते । एकः स समय आसीद्यत्र वैदिकभाषायां कृतसंस्कारतया सुभृशं परिगृष्टहस्तया श्रीमत्या संस्कृतभाषया संस्कृतेत्यमरगिरेति च गौरवमासादितम् । तदनन्तरं सोऽपि समय आजगान यत्र संस्कृतभाषा अमधुरा, प्राकृतभाषा च सुमधुरा पर्यगप्यत ! इदानीं वयमिममपि समयमवलोकयामहे यत्र प्राकृतमप्यवहेत्य—'गाथ मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर' [महित्वस्त्रेण गाथाया मुखमर्दनं कृतम्] इति जनसामाजादाकर्णयामः । परं नात्र व्याप्तुयते तत्परिशीलकैः । भाषा किल हन्तिमनुसृत्य समयानुरोधेन परिवर्तते, किन्तु कवितायां यः किल व्यङ्गार्थकृती जीवभूतथमत्कारः स किल युगपरिच्छेदशून्यः सर्वदैव जनेभ्यः सत्कारमवास्त्रान्, अवाप्नुते, अवाप्स्यते च । 'उक्तिविसेसो कब्बो भाषा जा होइ सा होइ' इति केन वा न विदितम् ।

अस्तु. आलोचनायां कया वा दृष्ट्या सभीक्षणीयमिति खावलमितां दिशं प्रदर्श्य—
विहारिकृतं गाथायोंपौजीवनमुलिखाम्यधस्तात् । स्थाने स्थाने आलोचनाया उपरि मत्कृता
टिप्पण्यप्युलिखिता । अयं विषयो मत्कृतसाहित्यवैभवस्य ‘विहारिविलासे’ [यत्र विहार-
दोहानां संस्कृते समपद्यानुवादः] जयपुरवैभवस्य भूमिकायां चाप्यालोचितः ।

गाथापैक्षया विहारिकृतेऽस्त्वर्षं साधयतः समालोचकचूडामणेः प्रथमं पद्यम्—

नहि पराग नहिं मधुरमधु नहि विकास इहिं काल ।

अली कलीही तैं वँध्यो आगे कौन हवाल ॥

अत्र हि ‘जाव ण क्षोसविकासम्०’ इत्यादिपञ्चमशतकस्थवतुश्वारिशत्तमगाथात्
उत्कर्षः साधितः । अस्य ब्रह्मालोचना (५।४४) गाथायां मया हि मत्कृतीकायां
विस्तृत्य छतेति तत एव मार्मिकैस्तत्त्वमधिगन्तव्यम्, किं वात्र पुनरुत्त्या ।

आलोचनायां द्वितीयं पद्यम्—

‘तीज परव सौतिन सजे, भूषन वसन सरीर ।

सैव मरगजे मुँह करीं, वहै मरगजे चीर ३३३ ॥’

[श्रावणतृतीयोत्सवे सप्तनीमिरज्जकेषु भूषण-वसनान्यासज्जितानि । परं नायिकाया
रतिमिदितेन तेन वेणुण सर्वा अपि ताः (शूद्रारिताः सपद्यः) ‘मरगजे मुँह’ (विच्छा-
यवदनाः) कृताः । रात्रौ प्रियसंभोगेन विलितवसनाया अस्याः प्रियतमसाधीनीकरण-
रूपं सौभाग्यं विलोक्य-एतदविविष्यसौभाग्यवश्चितानि विफलप्रायाणि भूषणवसनानि
साम्प्रतं प्रियप्रसादनेच्छया कुर्वलो विवर्णवदना अभूविलियाशयः] मुखमालिन्येन नायिका
प्रतीष्ठा व्यज्यते । तया च प्रियतमालम्बना रतिः पुष्टीति विहारितात्पर्यम् ।

यस्या गाथाया अत्र छाया घृहीता सा किल—

उत्साहरभसमज्जनविमणिडतानां क्षणे सप्तनीनाम् ।

कथितमिव मज्जनाऽनादरेण सौभाग्यमार्यया नूजम् ॥ १।७९

मज्जनप्रसाधितानामसाकं प्रियो वश्यः स्यादित्युत्साहजनितेन रभसेन यन्मज्जनं तेन
प्रसाधितानां सप्तनीनां मध्ये, क्षणे उत्सवविवसे आर्यया गुणौदायेण श्रेष्ठया (तया नायि-
कया) मज्जनस्यानादरेण सौभाग्यं कथितमिव । भवत्यो मज्जनादिना शरीरं प्रसाध्य
साम्प्रतं प्रियतमं वशयितुमिच्छथ, परं गुणगणवशीकृतो दयितः पूर्वत एव मे वचनानु-
गत इति स्थानं प्रति बहुमानाऽप्रदर्शनेन नायिकाया गवो व्यज्यते । सोऽयं विव्वोकाख्यो
नायिकानामलङ्कार उक्तः—‘विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुर्णीषेष्यनादरः’ ।

उपरितः शरीरं प्रसाध्य नायिकमनुकूलयितुमिच्छन्तीनां सप्तनीनां प्रातिद्रव्ये आर्यायाः
(गुणगणादार्यादिभिः श्रेष्ठायाः) गुणगणद्वारा दृढं प्रियतमवशीकरणं सूचयन्त्या नायि-

३ भूमिकायामालोचनाप्रसङ्गेण यत्र यत्र गाथा उद्भृतास्त्रं संस्कृतगाथा एवोलिखिताः, वो-
सौकर्यात् । मूलजिज्ञासुभिर्ग्रथान्तस्ता अवलोकनीयाः ।

कायाः परमं नैपुण्यमुक्तर्कथात्र ध्वन्यते । आन्तरिकेरुण्यया प्रथमत एव प्रियतमो वशी-
कृतस्तस्या मे सविधे मज्जनादिना शरीरं परिशोभ्य प्रियतमप्रसादमिच्छन्त्यो यूयं
कं वा महिमानं प्रकाशयितुमिच्छथेति तदाशयः । अत्र हि लानं न प्रतिपिध्यते परं
तत्प्रति सपलीनां यथा आदरस्तथा नेति 'मज्जनानादर'पदेन सपष्टमेवाक्षरमुखानाम् ।

अत्र महाबुद्ध्यः केचिदालोचकचूडामण्डः संजीवनभाष्यभूमिकायां गाथासप्तशत्यम-
रुक्षाभिभ्यो विहारिसतशत्याः परमोत्कर्पं साध्यनन्तः कथयन्ति—“चाहै कुछभी हो, यह
लान न करनेकी बात कुछ अच्छी नहीं हुई । ऐसाभी क्या सौभाग्यगवे जो इस दशा-
विशेषमें अवश्य कर्तव्यकर्म (लान) कामी अनादर करा दे यह स्पष्टही अनौचित्य है ।”

इदं त्ववश्यमौचित्यं स्यात्-यद् गाथायां मज्जनं प्रत्यनादरो वर्णितः श्रीमता तु लान-
स्याकरणमेवोद्घोषितम् । सपब्दः ‘हृष्टफलेण’ उत्साहाच्छ्वलतया मज्जनं कुर्वेत्यस्तेन
चात्मानं प्रसाधयन्त्यः लानं प्रति सुमहान्तं बहुमानं प्रदर्शयन्ति । आर्या तु मज्जनं प्रत्य-
नादरं प्रदर्शयन्तीं सौभाग्यमवचनं कथयति । अनयोद्धयोः प्रतिविम्बभावः समालोचक-
चूडामणेन हृष्टिगोचरोऽभवत् । उत्साहरभसेन लानं कुर्वेत्यः सपब्दः लानं प्रति यावन्त-
मादरं दर्शयन्ति, आन्तरेण गुणगणेन मणिष्ठाता आर्या वहिःशरीरप्रसाधकं लानं प्रति
तावन्तमेवानादरं दर्शयतीति तदाशयः । यद्यपि मज्जनं प्रत्यनादरो मुखतो वर्णितः, परं
सपब्नीः प्रत्यनादरः फलितो व्यञ्जनया प्रतीयते । आर्या मुखेन निजसौभाग्यं नोद्घोषयति
परं लानं प्रति बहुमानाभावो वचनचर्चा विनापि प्रसद्य स्वयमेव तत्सौभाग्यं जल्पतीति
'कथितमिवे'त्युत्रेक्षणस्य सौष्ठवम् ।

न प्रतीमो यदुपरिवर्णिते संदर्भशरीरे क्व तावदनौचित्यपिशाच आविष्टः ! शरीरोन्म-
ईनपूर्वकं फेनकादिद्वारा सोत्साहमज्जनिमप्नानां सपलीनां पुरतो गुणगणमण्डनेन
खादीनीकृतभर्तुकाऽर्या, अवश्यकर्तव्यतया साधारणभूते लाने कविदध्युत्साहमादरं च
न प्रकटयति, प्रत्युत प्रियप्रतारणफलकं वाह्यमेतादशं कृत्रिमायोजनं प्रति मनस्तितया
अवज्ञां प्रदर्शयति । वचनं विनाप्यमनः सौभाग्यनिर्वचनं ह्येतद् गाथाया अप्यनक्षरं
सौभाग्यकथनं प्रथयन्तीति को वा मार्मिकोऽस्यते । एताहासापि गुम्फस्य अनौचित्य-
मुद्याऽहनं किमालोचकस्यौचि-यानभ्यं सूचयेत् ? क्युं या कृतं दत्तम् यथा अकृतं मन्यन्ते
धार्मिकास्तथैव अवज्ञया कृतं लानं यद्यकृतमेव चेन्वयेत, तर्हि तु सम्बन्धेत् ।

समालोचकचूडामणेऽर्थिः कदाचिं त्रिपतिता वेत्यरम् 'तीज परव' इत्यादिदोहा-
निगुम्फनापूर्वं विहारिमहाकवेरवश्यं वशमात् या अपि गाथाया उपरि पतितास्ति,
यसाश्छायासिन्पद्ये प्रलोक्यते । सा किल गथा—

शिखिपिच्छकावतंसा व्याधवधूर्गर्विता भ्रमति ।

गजमौक्किकपरिरचितप्रसाधनानां पुरः सपलीनाम् ॥ (२७३)

अस्यां गाथायां के वा ध्वनयः कथं चमत्कारस्तदिह न प्रपञ्च द्वितीयशतकस्य त्रिस-
मातितमा गाथी पठितुं ग्रार्थये । एतद्विलोकनेन सचेतसां स्पष्टं भवेत् यद्यं किल प्रसङ्गमा-

द्वय सेयं गाथा निगुणिता तत्र कविना सफलता प्राप्ता, न वेति । सप्तवीनां विभवाति-
द्वयमालोक्यापमानेन म्लायन्तीं सुभगां नववधूं वैभवापेक्षयापि प्रियतमप्रणय एव गरी-
यान् इति प्रबोधयन्ती तत्सखी सान्त्वयति । गाथागृहीतपदैः किं किं किल चमत्कारक-
मस्मिद्यज्यते तत्तु तद्वास्यालोकनेन विशदं भवेत् परं दोहाच्छन्दसो नायिका यथा
रतिमदितेन वक्षेणापि सप्तवीनां मानमर्दनं करोति तथा शिखिपिच्छमात्राभरणा गाथाया
नायिका भवामूल्यगजमौक्तिकमण्डितानामपि सप्तवीनां पुरो अमन्ती तासां गर्वगङ्गनं
करोतीति कस्य न साम्यमवगतं भवेत् ? इदानीं द्वयोस्तारतम्यं सहृदयाधीनं कृत्वा
प्रष्टवमनुसरामि—

‘अज्यों न आये सहजरङ्ग विरह दूवरे गात ।

अबही कहा चलाइयत ललन चलनकी बात ॥ (१३०)’

एतसाधारणाथा—

‘हं हो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य ।

नाद्यापि हन्त सरला भवन्ति वेष्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥ ३१३’

अस्या गाथाया व्याख्या तदुपरिकृतायाः समालोचनायाश्वालोचना चापि ग्रन्थाभ्यन्तर-
एव विलोकनीया । नेह पुनराभ्येष्वते । ‘अज्यों न आये सहजरङ्ग’ तथा ‘अबही कहा
चलाइयत’ इति चरणाभ्यां प्रवासे शीत्रानिवारणमभिप्रेतमिति साधारणोपि पुमान्परि-
ज्ञास्यति । ततश्च प्रतिदिनं प्रसाधनेन सरलीक्रियमाणानां केशानां पूर्वावस्थापेक्षया
रसरत्ताद्युपचयजन्या शीरशोभा अवश्यं परतोभाविनी । एवं च प्रवाससाक्षिणः केशा
अपि सरला न जाता भवांस्तु पुनः प्रवासं चिन्तयतीति गमनशीत्रताकृतं नायकस्य
कठिनहृदयत्वं गाथैवाधिकं सूचितवतीत्यालोचनायामुक्तमेव ।

‘अनियारे दीरघ दृग्नि, किती न तरुनि समान ।

वह चितवनि औरै कदू, जिहि बस होत सुजान ॥ ६७१’

‘सन्ति सुखेन्यासामपि पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।

नयनानि सुन्दरीणां तदपि द्रष्टुं न जानन्ति ॥ ५१७०’

अत्र ‘द्रष्टुं न जानन्ति’ इति असंलक्ष्यकमव्यङ्ग्यध्वनिरिति समालोचकचक्कूडामणिना
न जाने कतमस्य जगतः साहित्येऽधीतम् ! ‘रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरकमः’ इति
साधारणसाहित्यवेद्यपि जानीयात् । किंव यः असंलक्ष्यकमव्यङ्ग्यध्वनिः (रसादिः) स
किल चमत्कारमाविष्करोति, उत तमाच्छादयति ? रसोपि यदि चमत्कारविद्यातकस्त्वार्हि
नमः कवितायै ! ! अस्तु भारतीयसाहित्यस्य मौलिभूतानां गाथानामालोचने एवंप्रका-

१ ‘यहाँ ‘द्रष्टुं न जानन्ति’ की असंलक्ष्यकमव्यङ्ग्यध्वनिने गाथाके चमत्कारपर कुछ भारी
सा पर्दा डाल दिया है’ । विहारीकी सत्तसई (पहला भाग) । ‘वेताव प्रिंटिंग वर्क्स’ अत्र प्रका-
शित द्वितीय संस्करणम् ।

रेण समुचितमधिकारं वहन्नालोचकमहाभागो गाथाकारेण सह परिहासौचित्यमप्यग्रे
प्रकाशयति, आह सः—“आखे देखना नहीं जानती क्यों? कोई विचित्र वीमारी तो नहीं
है? कहां चित्रलिखित आंखे तो नहीं हैं?” अत्र द्रष्टुं न जानन्तीत्यस्य प्रख्यातमध्यर्था-
न्तरसंक्षिप्तं वाच्यं यः किल महाभागो द्रष्टुमपि न जानाति सोऽपि गाथाकारेण सह
एवं परिहासधार्यं प्रकाशयतीत्यहो वलवती निवतिः !!

‘यों दलमलियत निरदई, दई कुलुमसे गात ।

कर धर देखो धरधरा, अज्ञा न उरको जात ॥ २२८’

‘सहते सहत इतीयं रमितैवं सुरतदुर्विदर्घेन ।

म्लानशिरीपाणीव हि जातान्यस्या यथाङ्गानि ॥ ११५’

विहारिपद्ये-सुरतान्ते नायिकासद्या उपालम्भः। ‘अयि निर्दय! एवमपि किमाभ-
व्यते? हे दैव! अस्याः किल कुलुमसदशान्यङ्गानि। उरसि करं विन्यस्य पदय, अस्या
हृदयकम्पो नाश्वनापि विरमति।’

गाथायां सामान्यनायिकाया माता भुजङ्गान्तरप्ररोचनाय दुहितुः सौकुमार्यातिशयं
सुरतसुखावहत्वं च सूचयति। विहारिकाव्ये सामान्यकुलुममात्रस्य सादृश्यमङ्गे दीयते,
गाथायां दु शिरीषकुलुमस्य, यद्वि जगतः सर्वेभ्योपि कुलुमेभ्यः कोमलम्। आह कालि-
दासः—‘पदं सहेत ब्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतञ्जिणः’। ततश्च-अतिशयित-
कोमलाङ्गपि सेव्यं तथा रमिता, यथास्या अङ्गानि प्रम्लानशिरीपाणीव जातानि। ततश्च
सर्वाङ्गव्यापी एतस्या अवसादः। अत एवैतस्याः प्रेयान् दुर्विदर्घः। सुरतोपचारचारुर्या-
नभिज्ञोपि आत्मानं तथा मन्यते इति तत्तात्पर्यम्। गाथायां सर्वाङ्गव्यापिनमवसादं स्फुटं
प्रख्याय नायिकायाः सौकुमार्यातिशयस्तत्संभोजुदुर्विदर्घत्वं च सावते। विहारिपद्ये तु
गात्राणमवसादः स्फुटं न प्रख्यायते, किं तु उरःकम्पमात्रं निर्दिश्यते, यद्वि भयमात्रा-
दपि संभवति।

अत्र यस्मिन्प्रसङ्गे दुर्विदर्घपदं गाथया प्रयुक्तं तत्स्याने भूमण्डलस्य कापि भाषा शब्दा-
न्तरं स्थापयितुं न प्रभवेत्। तथा विदर्घः अभवन्नपि तादृशामात्मानं मन्यमानश्च किञ्चिद्
धृष्टश्च यो भवति तं किलैतत्पदं सूचयति। नास्य प्रतिशब्दः कुत्रचिलम्भ्येत्। समालोच-
कमहाभागो व्येतदर्थसूचकं हिन्दीशब्दं तु कद्दन निर्दशतु! मन्येहमेवंविधमर्थसमर्पकं
पदं नान्यभाषायां विलोक्येत्। एतस्यातिशयो निष्पक्षपातया मत्वा मार्मिकैः स्फुटमव-
गम्येत्। इदानीं दृश्यताम्—त्रजभाषायां ‘वितवन’ ‘सुजनादि’पदान्यालोक्य यथा किल
समालोचकमहाभागः सशिरःकम्पमन्वमोदत तथा किं संस्कृतज्ञा एवंविधपदानि नाभि-
नन्देयुः? सल्यं त्वेतत्-तत्तद्वाषामुकूलानि भवन्ति कानिचिन पदानि यानि तस्यां भाषा-
यमेव सुभृशमभिशृचिं पुष्पन्ति। परं यः किल व्यङ्गयोर्थः स तु पदवन्धनिरपेक्षः कञ्चि-
दन्य एव यो छुत्तमकाव्ये प्राधान्येन परामृश्यते। अस्तु. एवं सत्यपि दुर्विदर्घपदोपेक्षया
‘निरदई’ पदे औचित्यमित्यालोचकमहाभाग आह। परं द्वयोः प्रकरणोपरि पुनर्दृष्टिदेया

भवेत् । विहारिणो नायिका सुगंधा गृह्णा च । अत एव तत्सर्वी तत्परिखेदकं नायकं निर्दद्य-
मेव निर्दिशेत् । परं गाथाया नायिका सामान्या । वक्त्री च भुजङ्गसंश्राहिका कुट्टनी । अत्र
ह्यप्रभोक्ता सुरोपचारचातुर्यमेव द्रष्टुं कामयते । स्वयं च निजवैदग्ध्यं प्रकाशयति । तत्र
दद्यनीयतादर्शनमवैदग्ध्यमेव प्रकटयेत् । अत्र त्वयमेवोपलम्भः स्थाने यस्त्वयद्यात्मा-
नमेवंविधकमणिं विद्यवं भावयति परं सहजसुकुमारीमणि नायिकां न तथानुर्वत्मानः
केवलं हुविदग्धं एव । अनेन दुहितुः कामकलाकौशलं कोमलता चेत्युभयमणि व्यनितं
भवति । इदानीं द्वयोरौचित्यं सहृदयैर्विमर्शनीयम् ।

‘स्फुरिते वामाक्षि ! त्वयि यद्येष्यति स प्रियोद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं तत्प्रेक्षिष्येहं त्वयैवैतम् ॥ २३७’

‘वाम वाहु फरकत मिलें, जो हरि जीवनमूरि ।
तौ तोहीं सो भेटिहों, राखि दाहिनी दूरि ॥ १४२’

वामवाहो ! त्वयि स्फुरति जीवानुर्विर्येयागच्छेत् तर्हि दक्षिणं बाहुं दूरीकृत्य त्वयै-
वैनमाप्तिक्ष्यानि । भावो द्वयोरेक एव । गाथायां स्फुरणद्वारा शुभशंसकाय वामनयनाय
फलसिद्धौ समुचितपारितोषिकप्रदानं प्रतिज्ञातम् । दोहापये वामवाहवे तदुचितं पारितो-
षिकमभिकल्पितम् । एवं सत्यपि गाथायां ‘सुन्निरम्’ इति सुतरां संतोषकमधिकमुपातम् ।
दोहापये वामवाहुना आलिङ्गनमात्रं प्रतिश्रुतम् । समयस्त्वनियतः । कदाचन कतिपय-
क्षणेभ्य एव एकवारमात्रं वामवाहवे अवसरं प्रदाय ततो दक्षिण एव वाहुवर्याप्रियेत तदपि
संभवेत् । किंव भेटना’ (मेलनम्) यस्य नाम तद्विद्वाभ्यामेव वाहुभ्यां सुकरतया
संभवेत् नैकेन । दर्शनं त्वेकेनापि नेत्रेण भवति । सुनिरें च संभवति । येभ्यः किलैक-
मेव नेत्रमीश्वरेण वितीर्णं तेपि सर्वं नयनकार्यं साधयन्त्येव । परं येषामेको बाहुः स्कन्ध-
पर्यन्तं छिनो भवेदपरश्च समग्रो भवेत्ते एकेन बाहुना यथावत्परिरंभणं कर्तुं शक्तुर्युने वैति
ख्यमेव सहृदयैर्विमर्शनीयम् ।

‘वहति वधूनवद्यौवनमनोहराणि हि यथा यथाङ्गानि ।
कृद्यति तु तथा तथास्या मध्यो दयितः सपत्नश्च ॥ ३१२’

‘देह दुलहियाकी वहै ज्याँ ज्याँ जोवन जोति ।
ल्याँ ल्याँ लाखि सौतें सैव बदन मलिन डुति होति ॥’

यथा यथा नववधा बपुषि यौवनविभा वर्द्धते तथा तथा सपल्लीनां मुखकान्तिर्मलिना
भवति । द्वयोरविकलं स एव भावः । स एव च वचनकमः । द्वे अपि सूक्ती अलङ्कारो-
द्घासिते । वध्वा नववौवनज्योतिसदयरूपेण गुणेन सपल्लीनां मुखमालिन्यरूपदोषोदया-
दुल्लासालंकारो विहारिसूक्तौ । ब्रजभाषायाः पीयूषमधुराण्यक्षराणि । विहारिसदयश्च प्रवक्ता ।
किमत्र वक्तव्यम् । परं गाथायामर्थसमुच्चयस्य परा काष्ठा । दोहापये इर्ष्यावशात् केवलं
सपल्लीनमेव कान्तिक्षतिरूपा । गाथायां तु सहैव श्रोण्यात्तनुता, अल्यासत्त्वा दयित-

स्यापि कृशता समीरिता । यथा यथा नवर्योवनोदयादङ्गानि समधिकमनोहराणि भवन्ति तथा तथा तत्राल्यन्तभासक्तिः प्रियतनस्य प्रसञ्चतीति तत्कलमप्युदीर्घते । दयिते सपले च कृशतारूपतुल्यव्यापारवर्णनात्कठाभरणोक्ता तुल्योगिता । योवनहृपकारणस्य मध्यादिकृशतारूपकार्यस्य च समानकालिकतावर्णनादकमातिशयोक्तिश्च । आभ्यामलदङ्गाराभ्यामलदृष्टाता सेयं वाच्यार्थीनीवी वयःसन्धिदृष्टं नायिकादाः परमसौन्दर्यमाह । दोहासद्यो दृष्टिं भूयसोर्थेष्य संप्रहे ग्रसिदो विहारी । परमत्र कोटिवसंप्रदातस्य गार्थवादिकं धनिनी । किमेतनुल्ययोगिता मर्मतः सर्वाक्षयेतालोचकैः ६ अन्यत्रापि सेयं समुच्चयशैली एहीता गाथाकारेण ।

यथा—

‘मध्यः प्रियः कुदृम्बं पह्लीयुवकाः सपह्यश्च ।

क्षीयन्ते पञ्च तथा व्याधगृहिण्याः स्तनौ यथैघेते ॥ ३१७’

अस्तु. पुनः प्रकृतमनुसरामः ।

वालक भवतोप्यधिकं मम जीवितमेव वल्लभं निजकम् ।

तत्त्वां विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि त्वाम् ॥ ३१५

‘अपनी गरजनि वोलियत कहा निहोरो तोहि ।

तू प्यारो मो जीयको मो जिय प्यारो मोहि ॥ ३५१’

प्रणयकुपितं नायकमनुनयन्ती नायिका चातुर्येण निजगाढानुरागमपि सूचयति । आह सा—ममैव जीवितस्थितेरपेक्षा । अत एव त्वां कुपितं प्रसादयामि । अन्यथा तव कठोरहृदयतां पुनः पुनर्व्यर्थीकशतानि चानुभवन्ती का वा स्तोत्रेनेत्रुमनुमन्येत । विहारिणो नायिकाह—‘अहं निजस्यावश्यकतानुरोधेनैव त्वया सह संलपामि । न तदोपरि कथिदुपकारभारः । यतः किल स्वर्जीवितं मम प्रियम् । मम ‘जीवस्य’ (प्राणानां कृते) च त्वं प्रियः ।’ गाथार्थमविकलमुज्जहार विहारी । न कथिद्वयोस्तात्पर्ये मेदः । परं किञ्चिन्मार्मिकतया विमर्शे तु उपजीव्योपजीवकयोर्दातृप्रतिग्रहीत्रोश्च मेदः स्पष्टं प्रतीतो भवेत् । विहारी कथयति ‘तू प्यारो मो जीयको’ त्वं मम जीवस्य कृते प्रियः । गाथा आह—‘तत्’ (जीवितं) त्वां विना न भवति’ । त्वं मम प्राणानां कृते केवलं प्रिय एव न, तेषां स्थितिरेव त्वदधीना । त्वां विना मम जीवितसत्तैव नास्तीति द्वयोरुत्तयोस्तारतम्यं स्थूलैरपि वेद्यम् । विहारिणोनुसारं प्रियतमो जीवस्य प्रिय उक्तः । परं प्रियतमस्याभावे तस्याप्यभावः स्यादेतत्र प्रतीयते । प्रियवस्तुनोपहरणेषि संतोषः कर्तव्य एव भवति । परं गाथा प्रियतामात्रं नाह । सा कथयति—तन्मे जीवितं त्वां विना भवत्येव न ।

किञ्च—एकमात्रेण पदेन सर्वमप्यर्थजातं गाथाकारेण शतगुणितीकृतम् । विहारिवराको न तत्सीमानमपि पस्पर्शे । तत्किल पदम् ‘एव’ इति । गाथा आह—‘मम जीवितमेव वल्लभं निजकम्’ । ‘हे प्रिय त्वमपि मे वल्लभः । मम जीवोपि मे वल्लभः । परमेवं प्राणसंशयस्थाने तु मम जीवितमेव मे वल्लभम्’ । मन्ये प्रियोपि नात्र विसंबद्धेत । दद्य-

मानसदनादिभ्यः पूर्वमत्सेव केन वा लोकेन न रक्षयते । किन्तु इयमप्युक्तिरभिप्रायविशेषं सूचयति । स चायम्— ‘अहं जीवितादपि ब्रह्मं भवन्तमेव भावयामि । परमन्यासको न त्वं ममैतावत्कोटिकमनुरागं परिज्ञास्यसि । त्वं हि मां स्वार्थिनीमेव जानासि । परं त्वद्वावनानुसारं मम जीवितमेव मे ब्रह्मभमस्तु, न भवान् । परं तन्मे जीवितमेव तु त्वां विना न भवति ! अत एव जीवितानुरोधेन त्वामनुनेहुं परवशास्मि ! दृश्यताम्, कीदृशो ध्वनेश्वमत्कारः ! ! ! त्वं मम कोपि नासि । मम तु जीवितमेव प्रियम् ।’ इति तु मुख्या-दुच्यते । परं प्रलेकसहदयस्य हृदये स्पष्टमङ्कितं त्विदं भवति—यत्वं जीवितस्यापि जीवितमिति । अयमेति ध्वनिकृतश्वमत्कारो नाम । अनेतैव च महाकवित्वव्यपदेशः । पदमा-ध्वर्यनिवन्धनस्यापि महत्वस्य काव्यकलायामस्ति स्यानम् । परं ध्वनेरग्रे न तस्य मूल्यम् । एतद्वि साम्प्रतिका हिन्दीमहारथिनोपि मन्यन्ते । हिन्दी‘साहित्यालोचनेन’ रूपार्थं ग्रापितो वी. ए. विश्वो वाबृद्ध्यामुद्भुद्दरासमहोदयो ‘ललितकलानां’ मध्ये काव्यकलां सर्वमुर्द्धन्यां मन्यते । कलानां श्रेष्ठतायाः परिभाषा च तेन स्थापिता—‘यसां कलायां मूर्त आधारो यावद्यूनो भवति तावदेव सा श्रेष्ठा परिगण्यते । अर्थीरमणीये काव्ये शब्द-स्यापि साहाय्यमतिन्यूनं भवति । अतएव अर्थीरमणीयं काव्यं सर्वेकलापेक्षयापि श्रेष्ठम्’ इति । इदानीमनेन मानदण्डेन काव्यस्योक्तर्षो न केन वा स्थूलमतिना परिज्ञायेत ? यत्र हि ‘चित्तवनि’ ‘मुजान’ ‘भरगजे’ इत्यादिपदैरेव मूर्द्धानमान्दलयन्त्यालोचकपुङ्कवास्तव्रं हि पूर्वोक्तपु पदेष्वेवान्वयव्यतिरेकानुविधायि मारुर्थमवतिष्ठते । ततश्च तावशस्य शब्द-रूपस्यावारस्य साहाय्यात् ध्वनिप्रधानकाव्यापेक्षया तद्वि सुतरां दुर्बलं भवतीति स्यां तद्विदाम् ।

अस्तु. अस्यां गाथायां यावानन्धनिचमत्कारस्तं किल ‘बालक’ इत्यामच्चर्णं पुनर्मण्ड-यति । ‘मम त्वेतावान्प्रणयो यत्त्वां विना मम जीवनमेवासंभवम् । अत एव स्वजीवित-स्थितये त्वदत्तुनयाय परवशा भवामि । परं पुनः पुनर्व्यलीककारितया दृढीभूतदृदयेन भवता त्विदं ज्ञायते यन्ममापराधः पूर्वमनया गृहीतः, इदानीं च मिथ्येति निश्चित्य स्वयं सोऽपमार्जित इति । परं प्रणयपरिपाकानभिज्ञत्वादेव त्वेदशो विचारः । अत एव भवा-नस्मिन्वये मुग्र एवेत्युलालभं ‘बालक’शब्देनामच्चर्णं ध्वनयतीति सचेतसो विमु-शन्तु । विशेषतश्च तेषां दृष्टिराकर्षव्या भवेत् ये पदे पदे ‘वर्णविषय आच्छिन्नः’ ‘कीदृशः संस्कारः कृतः’ इत्यादि वाक्याण्डवं मण्डयन्ति ।

‘वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा तु शिखिनीघोषम् ।
स्वसद्वशवन्दीनामपि वन्द्या द्राकृ प्रोऽङ्गिते नयने ॥ १५४’

‘नाह गरज नाहरगरज, वचन सुनायो देरि ।

फँसी फौज विच वन्दिमें, हँसी सवानि मुख हेरि ॥ १५५’

बन्दीकृत्य लीणं बलादाहरणं पुरा वीरतासूचकमासीत् । उपलभ्यत एव तदिदं संस्कृ-तसाहित्ये । तदत्तुसारमेव कामिद्वन्दीकृता वीरवधूवैज्ञिर्घोषादप्यविकं भर्तुः प्रदत्ताद्यो-

षमाकर्ण स्वयमेव संतुष्टा नाभूत् प्रत्युत दस्युसिर्वन्दीकृतानामन्यासामपि वन्दीनामध्या-
सनं तया दत्तम् । इति गाथार्थो विहारिणा प्रकारान्तरेण परिवर्तितः । तस्य समयो
मोगलसाम्राज्यभुक्त आसीत् । नाभूतस्मिन्समये धनुर्युद्धम् । अत एव तेन प्रत्यवारवस्थ
स्थाने सिंहवनिसदशी नाथस्य गर्जना गुणिकता । पूर्वार्द्धे तदिदं परावर्त्य, उत्तरार्द्धे यदिदं
गर्वहास्यमुपनिवद्दं तद्वि वन्दीत्रज्याया द्वितीयस्या नाथात उपजीवितम् । विहारी कथ-
मति—‘हँसी सबन मुख हेरि’ अर्थात् इदानीं शुष्माकं वीरतां द्रव्यामि । मत्पतिः क्षण
एव सर्वानुवृष्टामन्वराजिल्य मां मोचयिष्यतीति गर्वस्मितमभूदित्यर्थः । किन्तु गाथार्थां
यदुकं तदन्याद्यमेव मर्मस्पृक—

‘नो वन्दि गम्यते किं को गवों येन मसृणगमनासि ।

जलिपतमदृष्टदशनं विहसन्त्या ‘ज्ञास्यसे चोर’ ॥ ६२७’

अत्र पदैः कस्तो ध्वनिरिति तु मर्दीकायामालोकनीयम्, नेह विस्तार्यते ।

आदाय चूर्णमुष्टि हर्षीत्सुक्येन वेपमानायाः ।

प्रियमवकिरामि पुर इति हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥ ६१२’

अस्या गाथाया भावार्थो विप्रतीपतया उपजीवितो विहारिणा । अत्र हि मदनोत्सवे
गन्धद्रव्यधूलि (पिष्ठातक ‘गुलाल’) गृहीत्वा प्रियतमोपरि विच्छुरणेच्छया नायिका
स्थिता । परं यावत्कालं विच्छुरणेच्छा हृदयेऽवरुद्धा तावदुक्तण्ठायाः प्रावल्यात्कान्त-
दर्शनजनितस्वेदात्मकसात्त्विकभावाच सा मुष्टिर्न्योदकमभूदित्युच्यते । एतद्विरुद्धं
द्रवरूपमध्यङ्गविलेपनम् (‘अरगजा’) नायिकाया मुष्टिनिविष्टं सत् शुष्कतया ‘अशीर’—
(पिष्ठातक—)हृपमभूदिति विहारी निवद्वावान्—

‘मैं लै दयो लयो सुकर, छुवत छनक गौ नीर ।

बाल तिहारो अरगजा उर है लग्यौ अवीर ॥’

पूर्वानुरागे नायिकाया विहवेदनां सखी वक्ति—‘मया भवत्प्रहितः स विलेपनसुग-
न्धद्रवस्तस्या हस्ते दत्तः । तया गृहीतः । परं विहतसायास्तायाः करसर्वे एव छनिति
जलांशः शुष्कोऽभवत् । हे कुमार ! तत्त्व सुगन्धलेपनं गन्धचूर्णतामापद्य निश्चासोदीनं
तस्या उरसि समसञ्जयत ।’

गाथार्थां संभोगशङ्कारः, विहारिकृतौ तद्विरुद्धो विप्रलम्भः । गाथार्थो गन्धचूर्णस्य
गन्धोदकमभूत् । विहारिणा गन्धोदकमपि विहतापात्रिक्याद् गन्धचूर्णकृतम् । अस्तु
न कापि हानिः । होलामहोत्सवे गन्धधूलिर्गन्धोदकं चेत्युभयमपि रक्षकीडोपयोगि ।

आगच्छतः प्रियस्य स्वाऽऽलम्बितमानतः पराञ्चुरुस्याः ।

मानिनि हृदयं कथयति पृष्ठे पुलकोद्दमस्तवाभिमुखम् ॥ ६१८

स्वयम् बालभ्वितेन (त्वया बलात्परिषृतेन नतु वास्तवेन) मानेन पराञ्चुरुवा अपि
त्रव हृदयम्, प्रियदृष्टिनिपातेन संजातः पुलकोद्दमस्तव पथादागच्छतः प्रियस्य संसुखं

कथयति । अर्थात् त्वं पराङ्मुखी स्थितासि परं प्रियदृष्टिनिपातेन जातस्तव पृष्ठे रोमात्मस्त्वां गतमानां कथयतीति भावः । विहारी अनेनोपकरणेन लक्षितां चित्रयति—

रही केरि मुख हेरि इत हितसमुहे चित नारि ।

दीठि परत उठि पीठिके पुलकें कहत पुकारि ॥

‘पृष्ठं परावर्त्य इतः अस्तु संमुखं सुखं करोषि, परं प्रियदृष्ट्यां पतन्त्यामेव पृष्ठस्य पुल-क्रन्तव चित्तं प्रियस्य संमुखं उच्चरूपोद्य कथयति ।’ केचित् ‘रहि मुह केरि कि हेरि इत’ इति पाठं स्वीकुर्वन्ति । तेषां सते ‘त्वं सुखं परावर्त्य तिष्ठ, अथवा एतं पश्यन्ती तिष्ठ’ इत्यर्थः ।

अविकलं स एवार्थः । उभयत्र पृष्ठपुलकोद्दमः पराङ्मुख्या अपि चित्तं संमुखं कथयति ॥

स्तोकमयि निःसरति नो मध्यहे पश्य गात्रतल्लीना ।

छायाप्यातपभयतो विश्रास्यसि किं न तत्पर्यिक ॥ १४९

मध्याहे सूर्यस्य मस्तकस्थतया छाया शरीरतलगता भवति । तत्र कविर्देवतुमुत्प्रेक्षते— यत् आतपभयादेव छायापि शरीरतल्लीना भवति । बहिर्न निष्क्राम्यति । अनेन वाच्यार्थेन—यथा छाया शरीरतल्लीना भवति तथा मां कुर्विति स्वयंदूतिकाया आकृतम् । विहारी अप्याह—

‘वैठि रही थति सधनवन पैटि सदनतन मांहि ।

देखि दुपहरी जेडकी छाँहौ चाहत छांहि ॥ ५६२

‘ज्येष्ठमासस्य मध्याहं द्वाषा छायापि छायां वाञ्छति । अतएव सा छाया निबिडेषु बनेषु, सदनेषु, अन्यत् किं मनुष्याणां शरीरतलेषु स्थितास्ति ।’

तस्मिन्श्युतविनये किल रोपितुमिह शक्यते न केल्यापि ।

एमिर्याचितकैरिव मातर्विवशाऽसहैरङ्गः ॥ १९५

काचिद्बून्युपुरन्नी किञ्चित्रयोजनं साधयितुं नायिकां मानं कर्तुं शिक्षयति । तदुत्तरे सा आह—च्युतविनये रतिलौत्यलह्नितलज्जतया विनयमवधीरयमाणे तस्मिन् (प्रेयसि) अभ्यर्थ्यर्थानीतैरिव अवसीभूतैर्माझैः कीडायामपि मानः कर्तुं न शक्यते । प्रियतमं द्वाषा हृषीक्षासान्माङ्गेषु पुलको भवति । अत एव मासाविकाराद्विर्भूतरैरहं मानं कुर्वती लजिता भवामि । मानस्य स्थितिरेव न भवति । विहारी आह—

‘मोहि लजावत निलज ये हुलसि मिले सब गात ।

भानु उदैकी ओस लौं मान न जान्यो जात ॥ १००’

‘इमानि निर्लजानि मेऽज्ञानि नायकस्य संमुखागमने ‘हुलसि’ पुलकद्वारा हर्षं प्रकटय्य मां लजयन्ति । भानोस्तद्ये यथा नीहारत्तथा मानो विलीयमानो न प्रतीयते । अत एवाहं मानं कर्तुं न समर्थेत्याशयः ।’

प्रेयसि सुविषमशीले शुद्धमना देवरेऽसद्वशचित्ते ।

न वदति कुदुम्बविघटनभयेन तनुकायते सुपा किन्तु ॥ १५९

देवरे कासविकाराद्युषितचित्ते सख्यपि अविकृतचित्ता पुत्रवधूर्वामस्यभावे प्रियतमे देव-
रस्य तां कुत्सितां वार्ता कलहकृतकुदुम्बविघटनभयेन न कथयति, किन्तु तद्वःखेन कृशा
भवति । विहारी अप्याह—

‘कहति न देवरकी कुवत कुलतिय कलह डराय ।

पंजरगतमंजार ढिंग सुग लौं सूकति जाय ॥’

‘कूलवधूः कलहभयेन देवरस्य कुत्सितां वार्ता न कथयति । किन्तु मार्जारतिकटस्थिता
पञ्चरगता शुक्रीव शुद्धति ।’ ‘सुपा’ पदेन शुगुरादिसत्तायां संमिलितकुदुम्बे कलहो माभू-
दिति भयेन हृदय एव मुटपाको निर्भरं चित्रितो गाथया । किञ्च ‘सुविषमशीले’ ‘अनवद्वा-
चित्ते’ हति पदाभ्यां यः किल भावविशेषधित्रितः सोऽन्त्राऽप्राप्यः ।

किं भण्यतां तु वाचा कियदिव वा लिख्यते लेखे ।

तव विरहे यद्वःखं त्वमेव तस्यासि विदितार्थः ॥ ६७१

‘कागद पर लिखत न वनै कहत सँदेस लजात ।

कहिहै सब तेरो हियौ मेरे हियकी वात ॥ ३९४’

‘पत्रे लेखितुं न पार्यते । लजितया मया वाचापि च कि संदिश्यताम् ।’ तव
हृदयमेव मम हृदगतं संतापादिकं ते कथयिष्यति ।

क्षणमुञ्छति मार्जयति क्षणमुद्गुवति क्षणं न तद्विदती ।

सुगधवधूः स्तनपृष्ठे दत्तं दयितेन नखरपदम् ॥ ५१३३

विहारी नखक्षतं दन्तक्षते परिवर्तयामास । आह सः—

‘छिनकु उघारत छिन छुवत राखत छिनक छिपाय ।

सब दिन पियखण्डित अधर दरपन देखत जाय ॥ १०९’

‘प्रियेण खण्डितमधरं क्षणं विवृणोति क्षणं स्पृशति, क्षणं च तं दिहुते । दर्पणे अधर-
मवलोकयन्त्यास्तस्याः सर्वं दिनं व्ययेति ।’ गाथायां सुगधा नायिका, विहारिणा तु प्रेम-
गर्विता निर्मिता । किन्त्वर्थः स एवोपजीवितः ।

गेहिन्या माहानसकर्मसीमलिनितेन हस्तेन ।

स्पृष्टं मुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥ ११३

महानसे तन्मयतया प्रसक्ताया गृहिण्या मुखे पाक्षात्रादिगता इयासिका लक्षा । अत
एव तदवस्थायामपि शोभमानं मुखं वीक्ष्य सानुरागहासं प्रिय आह—यदिदानीं सला-
ञ्जनस्य चन्द्रस्य दशां मुखं वास्तव एव गतमिति । गृहकार्यप्रसक्तायाः गृहिण्याः खाभा-
विकी शोभा । तत्रैव च प्रसाधनसाधनानपेक्षः प्रियतमस्य खाभाविकः प्रेमहेतुकहृष्ण-
कर्त्तः सुभगतया चित्रितो गाथाकारेण । ‘विहारी’ तु प्रसाधनं कुर्वत्याः प्रेयसा वर्णने
इममर्थमुपजिजीव—

‘पिय तियसों हँसिके कहाँ लध्यौ डिठोना दीन ।

चन्द्रमुखी मुखचन्द्रसों भलो चन्द्रसम कीन ॥ ४९१’

दृष्टिदोषनिवर्तकं कजललाञ्छनं दट्टा प्रियः सहासं प्रेयसी माह—हे चन्द्रमुखि ! त्वया (कजलरेखामानैकदेशे कुर्वीत्या) सकलद्वच्छन्द्रो मुखस्य सम्यक् समानीकृतः ! अथवा हे चन्द्रमुखि तव मुखं ‘चन्द्र तें भलो’ चन्द्रादप्यधिकं सुन्दरमासीत् । कजलविन्दुं रचयन्त्या तत्त्वया चन्द्रसमं कृतम् ।’

मुखे इयामिकासम्बन्धेन सकलद्वच्छन्द्रो चन्द्रस्य समतासंपादनवर्णना उभयत्र समाना । परंतु एकत्र इयामिका गृहणीत्वप्रयोजके गृहकार्ये लभा स्वाभाविकी वर्ण्यते । अपरत्र दृष्टिदोषनिवर्तनसंरम्भात् स्वयं खमुखसौनदर्यं वहुमन्वानया शङ्खारविधया रचितमित्युभवोत्तारतम्यं माभिकैः परीक्षयम् । उभयत्र वर्णितः परिहासोऽपि कुत्राधिकं स्वारसमावहतीत्यपि सहदैरवगम्यम् ।

चतुर्थीत्रते चन्द्रायार्थदानावसरे नायिकामुखं दट्टा जनस्य चन्द्रभ्रान्तिर्भवतीति सविच्छिन्निति वर्णितं गाथायाम्—

हसितः प्रशंसता सखि चिरमावसथिकजनः पत्या ।

विभुरिति तव किल वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः ॥ ४९२

विहारिमहाभागोपि प्रकारान्तरेणाह—

‘तू रहि हौंही ससि लघौं चहि न अठा बलि बाल ।

सब हि तु विनुही ससि लघौं दैंहैं अरघ अकाल ॥’

‘त्वमिहैव तिष्ठ । अद्वालकं मा आरोह । अहमेव चन्द्रं वीक्षे । सर्वं एव जनो विनैव चन्द्रदर्शनमकाल एवार्थं प्रदद्यात् ।’

विहारिसूक्तौ ‘दैंहैं’ इति संभावनैव । गाथायां तु चन्द्रवुद्धा अर्थकुसुमाञ्जलिर्वितीर्ण एव ।

प्रियनामग्रहणेन हर्षातिशयमालोक्य परिलक्षितवल्लभानुरागां लक्षितां वर्णयामास गाथा—

चलभ एव स नहि यदि गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।

भवति मुखं तव रविकरसंभेदोऽन्निच्चमिव नलिनम् ॥ ४९३

विहार्यपि लक्षितां लक्षयति—

‘नाम सुनतही है गयो तन और मन और ।

दैवै नहीं चित चहि रहौ कहा चढाये त्यौर ॥’

‘नामग्रहण एव देहे पुलकादि, मनसि चावल्यं चोदभूत । इदानीं तव मनोवासी स जायको गोपयितुं न शक्यते । श्रूमङ्गादिकृत्रिमक्षोपाभिन्नेन किं भवति ।’

एवमादिषु स्थलेषु गाथार्थोऽविकलमुपजीवितः श्रीमता विहारिणा । गाथासप्तशत्यां वर्णनीयो विषयः प्रायः प्रकृत्या यः किल लोके उपलभ्यते तादृश एव । प्राकृतिकशोभा-मध्येषु ग्रामेषु यः किल जनानां परस्परं स्वाभाविकः ग्रणयपरीपाकः, स एव कविना काव्यसूक्तौ परिणयितः । क्षेत्रेषु नदीतटेषु लतागहनेषु वैतसवनेषु अकृतिभ्रणया रसिका विहरन्तीति सप्तशतीवर्णोयमग्रे प्रस्फुट एव भवेत् । किमिह विशेषपद्धतिवेन । अत एव नायकयो रूपवर्णनमपि स्वाभाविकमेव । न तत्र कविः प्रायः प्रकृतिसीमानम-तिक्रमति । यद्यत्र कथिदतिशयोपि वर्णनीयो भवेतद्यापि ध्वनिरूपेण तसमिन्द्यज्ञ-यति । यथा—

तस्या अङ्गे प्रथमं यत्रैव हि यस्य निपतिता दृष्टिः ।
तत्रैव तस्य मझा सर्वाङ्गं किल न केनचिद्बृहृष्टम् ॥ ३४४'

सौन्दर्यसिन्धोस्तस्या एकैकाङ्गशोभादर्शने निश्चलनिलीना दृष्टिर्न सर्वाङ्गशोभादर्शने समयेति तात्पर्यम् । एवं च साकलयेन यदा द्रष्टुमेव जनेन न प्रभूयते तदा कथमिव तद्रुतं शक्येत, अत एवानिर्वचनीयं तस्या रूपमिति ध्वनितम् ।

कस्याक्षिदितशयोक्तर्वाच्यरूपेणावतारणा गाथायामतिन्यूनैवावलोकयेत । नायिकाया वतुःकान्तिं सूचयितुं दीपशिखोपमापि दत्ता गाथायाम्, परमेकद्वास्थलेष्वेव । यथा—

मा पुत्रि चौर्यसुरतश्चद्वाशीले ! भ्रमान्धकारेऽस्मिन् ।
दीपकशिखेव निविडे तमसि निकामं निरीक्ष्यसे नूनम् ॥ ५१५'

विहारी तु गाथासूचितमिदं सादृश्यं स्थाने स्थाने निववन्ध—‘कहो दुराई क्यों दुरे दीपसिखासी देह’ । ‘पावक झरसी ज्ञमकिंकं गई झरोखा झाँकि’ । ‘ज्यौं ज्यौं पावकलप-टसी तिय हियसौं लपटाति’ । ‘जल चादरके दीपलों जगमगात तन जोति’ । ‘अङ्ग अङ्ग नग जगमगत दीपसिखासी देह’ । इत्यादि ।

गाथायां यदीपशिखासाम्यं तच्च केवलं रूपातिशयवर्णनयैव, प्रत्युत दीपशिखा गोपि-तापि यथा प्रकाशते तथा तवाभिसारः सर्वविदित इति सूचयन्त्वा कथान्वितांडया हितै-षिताभावः ‘पुत्री’ति संबोधनसहकारेणात्र ध्वन्यत इति जानीयुविंभर्शकाः । अस्तु. सल्यं त्वैतत्-यत् स्वतःसंभवी एवार्थो गाथाकर्तुरभिप्रेतः । कविप्राणोऽक्षिसिद्धो नात्र वर्ण्यत इति न मेऽभिप्रायः, परं तादशोर्थः पूर्वस्यापेक्षयातितमां न्यूनविषय इति मर्मतो गाथा-तत्त्वालोककानां स्पष्टम् ।

ब्रजभाषामहाकविना विहारिणा तु प्राक्तनसंस्कृतशैलीमुपजीव्य यदा ह्यात्मनः ‘सत-सईं’ समुपनिवद्दा, आसीत्तस्मिन्समये भारते मोगलमहीभृतां साम्राज्यम् । ‘उर्दू’ भाषा द्येतस्मिन्काले राजाश्रयवशालोकानामादरभूमिरभूत् । एतसां भाषायां च शैलीनाम् (‘मुहाविरे’) यथार्थमनुसरणेन केवलं भाषागतमेव माधुर्यमनुभूयते । वर्णविषयस्त्वति-संक्षिप्तः । अत्युक्तिरवश्यं चमत्कारकरूपेण पदे पदे ह्युपनिवध्यते यथा किल वर्णनीय-

विषये आकर्षकतोत्पदते । स्पष्टमिदमेतद्भाषाविदां तदालोचनानां च । अतो नेदमुदाहरणैः पपञ्चितुं काम्यते । एतदर्शनाभिलाखुक्तमेतत्स्य ‘साहित्यवैभवस्य’ छन्दोवीध्याम्, जयपुरवैभवस्य’ भूमिकायां चैतदालोचना विस्तरतोवलोकयितुं शक्यते । अत्र त्विद-मेव दर्शयितुमिष्यते यदेवंविधवातावरणस्य प्रभावं विहारिसुक्तिरपि नोल्लङ्घयितुमपार-यत् । अस्ति स्थाने स्थाने अत्युक्तिरूपेण वर्ण्यस्योत्कर्पंप्रदर्शनं विहारिस्तौ । विरह-वर्णने यथा—

‘ओंधाईं सीसी सु लषि विरह बरी बिललात ।

बीच हि सूखि गुलाब गौ छीटौ छुईं न गात ॥’

‘विरहसंतापमवलोक्य शीतलीकरणार्थं सग्ध्या यावदेव पाठलासलिलस्य (गुलाब-जल) काचकूपिका आवर्जिता तावदेव सर्वमेव जलं परिज्ञूष्य लुप्तमभूत् बिन्दुरपि तद्वात्रे नास्पृशत् ।’ अहो संतापः !!

‘सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि विरहिन-तन-ताप ।

बसिवेकां ग्रीष्मदिननि, पस्थो परोसिन पाप ॥’

‘विरहिण्याः प्रतिवेशिन्या विरहजनितः शरीरोष्मा शीततोनिंचि (न दिवसेपि) शरीरे हिमक्षिलास्थापनादित्यैत्यन्तेः कथंचित्प्रतिवेशिभिः सोढः । ग्रीष्मतौ हु तस्याः प्रतिवेशे निवासः प्रतिवेशिनां पापमिव परिहरणीयोऽभवत् ।’ इत्यादि.

दौरबल्यम्

‘करी विरह ऐसी तज, गैल न छाँडत नीच ।

दीनेहू चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच ॥’

‘मृत्युनेंत्रयोरोहनेनं धृत्वा विरहत्तुभूतां तां पश्यति परं न प्राप्नोति । एवंभूता सा नायिका विरहेण कृता । तथापि नीचः (विरहः) एतदनुसरणं न त्यजति ।’ पद्मासिंहः—‘तज न छाँडत गैल’ इत्यस्य ‘तथापि सा प्रेमपथं न त्यजति’ इत्यर्थमाह । इत्यादि.

शरीरसौकुमार्यम्

‘छाले परिखेके डरनि, सकत न हाथ छुचाइ ।

झाझकत हियै गुलाबके झमा झमावत पाइ ॥’

चरणौ प्रक्षालयन्ती परिचारिका कोमलौ तस्याथरणौ करेण न स्पृशति । कदाचन मत्करस्येन सुकुमार्या अस्याथरण्योः क्षतपिटका भवेयुः । पाठलाकुसुमसाहाय्येन शनैः-शर्वनश्वरणौ प्रक्षालयन्त्या अपि तस्या हृदयं तत्कष्ट्याह्याव ब्रिमेति ।

‘मै बरजी कइ बार त इत कत लेत करौंट ।

पखुरी लगै गुलाबकी परिहैं अङ्ग खरौंट ॥’

मया कतिवारान् त्वं प्रतिषिद्धा यत् अस्यां कुसुमशय्यायासितः कथमिव पार्वपरिवर्तनं करोषि । पाठलाकुसुमपत्रिकायाः स्पर्शेष्यि तव गात्रे विलेखनं क्षतं भविष्यति । इत्यादि.

शरीरकान्ति:

‘सघनकुञ्ज घन घनतिस्मिर अधिक अँधेरी राति ।

तज्ज न दुरिहै स्याम घह दीप सिखासी जाति ॥’

‘वर्षासमयः । तत्रापि कृष्णपक्षस्य रात्रिः । ततोपि घनघटा परित आच्छादिता । एत-
दुपर्यपि संकेतस्थलभूतः कुञ्जोति घनतयाऽन्वकारिततमः । तथापि दीपशिखेव गच्छन्ती
सा अलक्षिता न भवेत् ।’

‘जुवति जोन्हमें मिलिगई नेकु न होति लखाइ ।

सौन्धेके डोरै लगी अली चली सँग जाइ ॥’

‘गौरशरीरा नायिका उयोङ्गायां मिथिताऽभवत् । न किञ्चिदपि भेदः प्रतीयते स्त ।
तनुसुगन्धस्त्रैगैव सखी तामेतामनुगच्छति ।’ इत्यादि ।

एवं सख्यपि स्वाभाविकं वर्णनं विहारिस्त्रौ नोपलभ्यत इति न शब्दते वल्लम् ।
दृश्यतां ग्रामवासिनीनां नारीणां प्राकृतं वर्णनम्—

‘गोरी गदकारी पैरै हँसत कपोलन गाड ।

कैसी लसत गमारि यह सुनकिरवाकी आड ॥’

गौरवर्णा । स्वास्थ्यसूचकानि भरितान्यज्ञानि । हसन्त्यां यसां कपोलयोर्गतः पतति ।
खण्ठीठस्य (सपक्षकीठविशेषस्य) हरितं पक्षं भालविन्दुस्थाने दधती सेयं ग्रामीणी
कीटशी शोभते ।

‘पहुला हार हिये लसै, सनकी बैंदी भाल ।

राखत खेत खरी खरी खरे उरोजन वाल ॥’

वन्यपुष्पाणां हारो वक्षसि । शणपुष्पस्य विन्दुर्भाले विशृतः । उच्चकुचवुरमा सेयं वाला
तिष्ठन्ती क्षेत्रक्षां करोति ।

धूमपानस्यापि वर्णनमात्मं विहारिणा—

‘ओढ उचै हाँसीभरी दग भौंहनकी चाल ।

मो मने कहा न पीलियो पियत तमाखू लाल ॥’

तमाखपानं कुर्वता प्रियेण ओढमुखसमय्य हसन्तीभ्यामिव दृम्यां भ्रुवोर्भुमतया च
कि मनो मे न पीतम् ?

श्रीमद्भिक्षकादत्तव्यासकृतटिपप्पत्तुसाम्—‘पूर्वं तमाखू-गजिकादीनां प्रचार आसीन
वा । अथवा—‘तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः’ इति भगवतो विरिश्वेश्वतुभिर्मुखैः प्रशंसा-

गीतिपरमिदं पदं केवलं संस्कृतनिबद्धमेवात्मि, उत कर्सिर्भित्प्राचीने काव्येष्युपलभ्यत
इत्यादेः परस्परविवादस्य नावश्यकता । यदि ‘पियत तमाखू लाल’ इति सदुक्ति-

श्रीमतां चेतोहरा तहिं तस्य अपि विहारिकोषे न न्यूनतेलेखात्र वक्तव्यम् ।

गाथासप्तशत्यां यथा किल तिलक्षेत्राणि कार्पासकेदाराः शालिवप्राश्च कामिनोः संकेत-
यद्वान्यावर्णितानि, एकस्य धान्यक्षेत्रस्य परिपाके संकेतभज्जशङ्क्या कामिनेर्विषादश्च
योपनिबद्धः—

‘किं रोहिषि न तवदना शालिक्षेत्रेषु धवलितेष्वेषु ।

हरितालमण्डितसुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥ १९

तथैव विहारिणः सूक्तावपि प्रायोऽवलोक्यते—

‘सन् सूख्यौ वीत्यौ बनौ उखौ लई उखारि ।

हरी हरी अरहर अजौ धरि धरहरि हिय नारि ॥’

शणोपि शुष्कः । कार्पास्यपि समाप्ता । इक्षुक्षिरप्युत्तवाता । परमद्यापि (संकेतोप-
योगि) आडकीक्षेत्रं हरितं वर्तते । हे सखि, हृदये धैर्यं धर ।

—०५७—

वर्णनीयो विषयः

प्राकृतभाषानिवद्वायास्तदेतस्याः सप्तशत्या वर्णनीयो विषयोपि प्राकृत एवेति विमर्श-
कानां विदितम् । एषा हि स्वतःसंभविनमेवार्थं तथा मायुरेणोपनिवद्वाति यथा स्वाभा-
विकथटनानुबद्धं चेतः स्त्रोऽस्यामेकान्तमवतिष्ठते । शज्जारप्रधानाया अप्यस्या वर्णनीया
नायिकास्तादश्यो न सन्ति दर्पणायितेषु यासमज्जेषु भूषणानि प्रतिविम्बैश्चतुर्गुणितानि
भवेत्युँ । न वा तथाविधाः सन्ति यासां गात्रेषु तनुद्युतिमिलितो मुक्ताहारः कर्पूरमणिमयो
भवेत्, यस्य परीक्षायै प्रतिक्षणसंनिहिता सख्यपि तृणं स्पर्शयितुं परवशा भवतिै । अत्र
हि ग्रामवासिन्यो विलासिन्य एव शज्जारस्य नायिकाः । उन्मुक्तवातावरणे पोषिता हृष्ट-
पुष्टाङ्गाः पश्चावासिनो युवका एव तासां लक्ष्यम् । स्वभावरमणीया ग्रामस्य परिसरा एव
तेषां प्रसोदस्थानानि । वेतसनिकुञ्जाः पलालपुञ्जावैषां विहारस्थलानि । हरितहरितानि
निविडसस्याच्छादितानि धान्यक्षेत्राण्येवाभीषामसि सारक्षेत्राणि । यथा—

हृष्टापि हरितदीर्घं प्रत्यूषे नातिखिद्यते हलिकः ।

अस्तीरहस्यमार्गं तु पारथवले तिलक्षेत्रे ॥ ७।८३

अस्यां हि ग्रामवासिनां जीवनमानन्दमयं प्रतीयते । साम्प्रतसिव राजकरैः कृषकजीवनं
दुःखाभाराकुलं नासीत्सिन्समये । प्रचुरवर्णिणा पर्जन्येन प्रकाममुदपाद्यन्त धान्यानि ।
धान्यापूरितगृहाः कृपकनिवहाः स्वैरमारमन्ति स्म तस्मिन्समये—

१ ‘अङ्ग अङ्ग प्रतिविम्ब परि दर्पन से सब गात ।

दुहरे तिहरे चौहरे भूपन जाने जात ॥’ विहारी ।

२ ‘है कपूरमनिमय रही मिलि तनदुति मुक्तालि ।

दृन दृन स्वरी विच्छद्वनै लगति चलाय तज आलि ॥’ विहारी ।

निष्पत्तस्य संपद् गायति शरदीह पामरः स्वैरम् ।
दलितनवशालितण्डुलधबलमृगाक्षु रजनीषु ॥ ७८३

तण्डुलारम्भकं सेवनजलं प्रदाय सुप्रसन्नः कृषको यदा हि शालिशुच्छकापूर्णं शेत्रम् च व्योक्यति स तदा पुरस्यैव दर्शनेन स हि मनसि प्रासीदत् । अहो कीदृशी स्वामाविकी च श्वेषवैदर्यध्यपूर्णा चोकिः—

दीर्घकायिना दत्तजानुपतनेन पङ्कमलिनेन ।
पुत्रेणेव हि शालिद्वेषानन्द्यते हलिकः ॥ द्वादश

कृपिसंबन्धीनि कार्याण्यव्येषां भवन्ति, सहैव जीवने साभाविक्यः प्रमोदचेष्टा अपि
संचलन्ति । त्रियः पुरुषाश्च कार्पासचयनाय क्षेत्रेषु संगच्छन्ते । पारस्परिकव्यवहारा-
दन्त्येषि कृषकाः कार्ये साहाय्यमापाद्यन्ति स्म । सुखदस्यातपाः शिशिरवासराः ।
रम्यो वनोद्देशः । उत्तमादकसर्वसामग्रीपूर्णसिन्सभये समभवत्तेषु शुद्धारचेष्टा: ।
हलिकप्रताङ्गरक्ता वधुरज्ञभावैरन्यासामिलक्षणीया भवति—

गृहपतिसुतोच्चितेष्वपि पद्यत कार्पासवृन्तेषु ।

मोर्धं भ्रमति पुलकितो लग्नस्वेदाङ्गलिः करो वधवाः ॥ ४५९

ग्रामवासिन्यो मधुकपुष्पावचयाय ग्रामपरिसरं प्रयान्ति। भवन्ति तासां संकेतकैलयोपि तत्रैव। यथा हि मधुकपुष्पादपदेशेन त्रियमासन्नियते काचित्—

वह पृष्ठभारना सित भर्मी गत शाख ग्रण हि विज्ञसिम् ।

अयि विगलिष्यसि गोदातीरविकटकुञ्जमधुमधुक् शनैः ॥ २३

ईर्ष्याकुलाश्व केचित्कृषका दयितामप्रेष्य खयमेव पुष्पाण्युचिन्वन्ति—

ईर्ष्याल्लिः पतिरस्या दत्ते निशि नो मधकमचेतम्

उच्चिन्ते स्वयमेव हि मातर्कंजुकस्वभावोयम् ॥ २।५९

शालिगोपी शालिक्षेत्रे रममाणा शुक्रपतनशङ्खाकुला मनोभीष्टं वल्लभमाह—

पड़ि तरुकोटरतो निष्कान्तं पश्य पंशुकानां हि

शरदि द्रुमो ज्वरित इव सलोहितं पित्तमिव वमति ॥ ६४२

आर्यसंसशत्यामप्युक्तम्—

पथिकासक्ता किञ्चित्तद्व वेद घनकलमगोपिता गोपी ।

केलिकलाहुंकारैः कीरावलि मोघमपस्त्रसि ॥ ३४८

शालिपाके च संकेतभृत्यमिया सा विधीदति—

दिवसे दिवसे शध्यति संकेतकभृत्यार्दितार्दा

अवानी विश्वामित्र वासु विश्वामित्र ॥ ३१२ ॥

क्षेत्रे भोजनानेत्री दद्वा भावनामत्तो हालिको हलाहलदान्मोचयन् नाथमेव मुबति—
नवकर्मिपामरेण हि पद्य सपदि भक्तहारिकां वीक्ष्य ।

योक्तप्रग्रहमात्रे मोच्येऽप्यवहासिनी मुक्ता ॥ ७।९२

वर्षायु कर्दमपूर्णे क्षेत्रे हलचालनश्चान्तः पामरो रात्रौ शेते, तत्पत्री च मनोजाङ्कुला
स्थिते—

कर्दममश्चहलाग्रोत्कर्षणशिथिलेऽथ निद्रिते पत्यौ ।

अग्रासमोहनसुखा धनसमयं पामरी शपते ॥ ७।९३

यस्मिन्दिने क्षेत्रकर्षणमारभ्यते स्स तद्दिने प्रथमं हलपूजाऽभवत् । सर्वेषि क्षेत्रेषु
गच्छन्ति स्स । ब्रियो हले आलेपनेन स्वस्तिकादि लिखन्ति । तस्मिन्ब्रवसरे क्षेत्रान्त-
र्भाविनं प्रियसमागमं स्वरन्याः परसंसक्तायाः करौ कम्पेते—

कार्पासवप्रकर्षणदिनमङ्गलमधिहलं प्रकुर्वत्याः ।

हृदि धृतमनोरथायाः करावसत्या हि धरथरायेते ॥ २।६५

नासीत्तासां सविधे साडम्बरा वेषभूषा । एता हि ‘नवरङ्गक’ प्राप्यैव प्रसन्ना भवन्ति—

हलिकसुषुषा हि लव्यानवरङ्गकमलभ्यलाभमिदम् ।

पद्यत न माति वृहतीष्वपि तन्वी त्रामरथयासु ॥ ३।४१

नीतानि निविड० ॥ ४।२८

रतिरसलम्पटयां ॥ ५।६१

एतेषां प्रेम केवलसिन्दियलालसारज्वमेव नाभूत । आसीदेतत्त्वाभाविकम् । दयि-
ताविरहाङ्कुलः पामरोपि प्रियाशून्यं यहं न प्रविविक्षति—

निष्कर्मणोपि दून्यात्क्षेत्राद्वसर्ति न पामरो ब्रजति ।

मृतदधितादून्यीकृतगृहदुःखं परिहरन् हन्त ॥ ६९

जायादून्ये भवनेत० ॥ ४।७३

निर्वाधिकप्रेमविषये कीदृः मधुरमुक्तं गाथाकारेण—

विपिनान्तृष्णमथ विपिनात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राह्यम् ।

हरिणानां हरिणीनां तथापि च प्रेम मरणान्तम् ॥ ३।८७

गृहकार्यविलीनतया अशुद्धरितापि हलिकसुता लोकानां मनोहारिणी—

प्रेक्षन्ते ऽनिष्पाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम् ।

तनयां दुर्घसमुद्रोत्तरत्सुलक्ष्मीमिव सतुष्णाः ॥ ४।८८

सुखनलिनच्छायायाम् ॥ ४।२४

आमनायकतनयो आमयुवतीनां विलासलक्ष्यम् । स च जायानुरक्ततया नैतासामपि-
स्यखो भवतीति तं प्रत्याकोशः—निष्कृप जीयाभीहक० ॥ १।३०

एवं पूर्णयौवना हलिकवधूरपि ग्रामगुवकानां लक्ष्यं भवति—द्वृतिविवरस्तिर्गत० ॥३।५७

अत्र केवलं ग्रामवासिनामेव स्वाभाविकः शुद्धारो न वर्णितः प्रश्नुत अरण्यवासिनि भिन्नानां किरातानां चापि तैसरिंगी की प्रणयचर्चा चित्रिता । नागरिकचर्चाभिमानिभिन्नाहित्यानि विवरन्धन्यकौरैः कैथित् शुद्धाररसो नागराभिमानिपूत्तमपात्रेष्वेव स्वीकृतः, अन्यत्र त्वाभासरूप इति तृतीयशतकस्य अथविंशत्तसाथां ‘विकीर्णीते’ इत्यादिगाधायां सरखतीकण्ठाभरणमतभादर्शितं मथा टीकायाम् । परं स्पष्टोयं प्राडिवादः । सरलनिसर्गेषु ग्रामवासियुः किल पारस्परिकः स्वभावजः प्रणयवन्धो भवति स तावद्दुचितः । यत्किञ्चित्यायमपि प्रेमलेशं कृत्रिमैराडम्बरैर्वहृकुवैद्विनीगराभिमानिभिरेव किमीश्वरगुहादेतस्य स्वत्वमायत्तिकृतम् । अस्तु अत्र वनेचराणां व्याधानामपि शुद्धारः सुमुहुर्मावध्यते । प्रियतममेकान्ततो वशीकृतवती व्याधवधूः प्रियश्रणयवितासु सप्तक्षीषु गजसुक्तालंकृतास्थिपि मयूरपिच्छावतंसा भ्रमति—शिखिपिच्छाकावतंसा० २।७३

तत्पतिः सततसुरतासक्तया दुर्बलो भवति । अत एव दौर्बल्यवशाहुराकर्षं धनुस्तक्षणेन तनुकरोति । एतत्किलात्मनः सौभाग्यं मन्वाना व्याधवधूमैस्त्वाभिमन्यते—अद्य कतमोपि० २।१९

अत्रोपवर्णितो व्याधो न साधारणः । एष हि हेलैव सत्तगजानां हन्ता । एतदविष्टिते वने दृश्यस्कन्धलम् गजमदमालोक्यैव तत्पत्ती निजपतिमरणमनुसिनोति—गजगणडस्थल० ॥२।२१ अत्र पुलिन्द्यपि प्रियस्य सपलीसङ्गशङ्क्यापि सानिनी भवति—मधुमसिक्या० ७।३४

प्राकृतदृश्यानि

अत्र हि स्थाने स्थाने प्राकृतदृश्यानां मनोहारि वर्णनम्—प्रोक्तुलघवन० ७।३६, निरन्तरै या मेघधारा वर्णन्ति तासु रज्जुत्रिक्षां कृत्वा महीमुक्तेसुमप्रभवतः अत एव शब्दे कुर्वतो जलदस्य कीटृः मनोदृरं वर्णनम्—अविरलनिपत० ५।३६, विषुतो वथा—वरपवन० ६।८३, ४। मयूरस्तृग्रामलम् वर्षाजलं कथसिवाचमतीति दृश्यतां स्वभाववर्णनम्—४।९४ । ग्रामे सावं ग्रमतां मशकानामपि कथसिव स्वभाववित्रितः—६।६० । वर्षासु गिरिग्रामाणां शोभा—४।३६ वर्षासु क्षेत्रवृत्तेश्वरि ऊर्ध्वचब्बवः काकाः कर्थं स्थिताः—६।३३ । अम्बरादवतरन्त्याः शुकपङ्क्याः कीटृः मनोहारि वर्णनम्—१।७५

शरदि मेघानां शोभा—७।७९ कमलवनलद्यम्याः स्वाभाविकं वर्णनम्—५।९५; ७।४, अलिप्तेः शोभा—६।७४, रात्रौ कमलानामुपरि भ्रमराणां शोभा—६।६१, शरदि जलानां स्वच्छता—७।२२, सायमावासग्रहणाय दृश्यविशेषे तिष्ठनां पक्षिणां कीटृक् स्वभाववित्रिणम् । उपरित उद्दीय ते प्रथमं लघुशाखामे तिष्ठन्ति किन्तु यावतेषामप्र-

रक्षुपुटं धुन्वन्तः कथंचित्संस्थानं लभन्त इति । मन्ये एवंविधं खभावचित्रणं सप्तखणि
सप्तशतीष्व उपलोकयेत किं पुनरेकद्वाषु—भरनमित० ७।६०,

निर्माणदेशास्याभासः

इयं सप्तशती मध्यदेशो निरमीयतेति स्पष्टमेतदाभासः प्राप्यतेऽस्याम् । विन्ध्यस्य
आने २ वर्णनम्—१।७०, २।१५—१६, ६।७७, मध्यदेशवाहिन्या नर्मदाया अपि
बहुशो वर्णनम्—अकृतज्ञ० ६।९९, गोदावर्या अपि प्राप्यते वर्णनम्—४।५५,

अत्र ह्यार्थाणामारम्भकनिवासस्थले हिमाचलाच्चल इव नातिमुद्घर्ष्यमः, किन्तु तिरमः
पतति । यथा मध्याह्वर्णनम्—६।५१, खिजस्य—३।९९, अपराह्नस्य प्रशंसा—५।७३,

वस्त्रविशेषाणां सूचना

तस्मिन्काले अग्रे बन्धनीयां कञ्जुलिकाम् (‘पीठचोली’ ब्रजप्रान्ते) छियो धारयन्ति
स्मेलत्र सूच्यते । तस्यां हि स्तनयोः सन्धिवन्धस्थले द्व्यज्ञुलपरिमितमञ्चलम् (‘मगजी’
‘गोट’) च संयोज्यते । तस्य हि नाम ‘कपाटकम्’ । यथा—द्व्यज्ञुलक०—७।२०

अधुनापि मध्यदेशे तादृशये छीराणां कञ्जुलिका प्रचलति । एषा हि ‘खण’निर्मिता
भवति, यत्र हि द्व्यज्ञुलमञ्चलम् (‘कोर’) वानकालिकमेव भवति । प्रायश्च नीलवर्णाम-
सिक्तशामिरोचयन्तीत्यहो मध्यदेशीयानां प्राक्तनाचारपालनपाटवम् !

वस्तूनां नामानि

तत्कालप्रचलितानि कानिचन वस्तूनां नामान्यपि चेतः प्रमोदयन्ति । यथा उपरितने
पद्ये ‘बानगी’ पर्यायकं ‘वर्णिका’ पदम् । ‘वस्तुपरीक्षार्थं यद्वस्त्रेकदेशप्रदर्शनं तद्विणिकेत्यु-
च्यते’ इति गङ्गावरडीका । मुडनिर्माणय इक्षुनिष्ठीडकं ‘यच्चम्’ अपि विनियुज्यते स्म-
याच्चिक गुडम् ६।५४, क्षेत्रसेचनार्थम् ‘अरहट्स्य प्रयोगः प्राप्यते—रिक्ता० ५।९०,
हलादिचालनकाले वलीवृद्धिनां गणे बन्धनीयथर्मिपटः (‘जाति’ इति साम्प्रत ख्यातः)
‘योक्त्रम्’ इति, नासारज्जुथ (‘नाथ’) ‘अवहासिनी’ति व्यपदिश्यते स्म ७।३२,

एवं ‘न्रपुसी’ [‘तेवरसी’ खीरा] ६।३४, ‘तुवरी’ (‘अरहट’) ४।५६, एकवृन्तगतं
बदरयुगलम् ‘बदरसंधाटी’ ५।१९, कपिकच्छः ‘कोछ’ ६।३२, हालाहलः ‘बहुमनिया’
१।६२, छाडी ‘छाल’ २।१५, शारी (‘सार’ ‘गोट’) २।३८, दुर्मोच्यो ग्रन्थिः
(‘फेदा’) दुर्दोली २।४९, इत्यादीन्यपि नामानि प्राप्यन्ते ।

ब्रतविशेषाणां नामानि

प्राक्प्रचलितानां तपःसूचकानां केवांचन ब्रतविशेषाणामपि नामान्युपलभ्यन्ते—यथा
श्यामशब्दलाख्यो यत्र वहौ प्रविश्य जले प्रविश्यते—२।८५, अग्निपानीयाख्यः ३।११,
चतुर्थादिब्रतेषु चन्द्रायार्थदानमपि वर्ण्यते—हसितः प्रशंसता० ४।४६, ब्रजभाषाक-
विविहारी अध्याह—

भूमिका ।

५८

‘तू रहि, होंही सखि लखों, चढ़ि न अटा वलि वाल ।
सब हि तु बिन ही ससि लधैं, दैहैं अरथ अकाल ॥

उत्सवाः

होलिकामहोत्सवस्य साम्प्रतं प्रचलितः प्रकारलद्युपकरणसंभारथ प्राग्युपलभ्यते
अत्र हि रङ्गजलस्य वर्णचूर्णेश्च (‘गुलाल’) च प्रक्षेपो वर्धयते—वेत्तूणः ४।१२,
संस्कृतग्रन्थेषु होलामहोत्सवे रङ्गप्रक्षेपादेवैर्णनं न्यूनमेवोपलभ्यते । रत्नावल्यां थ्रीह-
वेण ‘पिटातक’ प्रक्षेपादेवद्येवं वर्णनमुपनिवद्म्—

‘कीर्णः पिटातकौवैः कृतदिवसमुखैः कुक्कुमश्छोदगौरैः
हेमालङ्कारभासिर्भरनसितशिरःशेखरैः कैङ्किरातैः ।

एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजितारोपवित्तेशकोपा
कौशाम्भी शातकुम्भद्रवद्वचितजनैवैकपीता विभाति ॥’

‘पेक्ख दाव इमस्त महुमत्तकासिर्णीजणसअंगाद्गहिदसिंगकजलप्पहारणच्छन्तणा अ-
रजणजणिदकौदूहलस्स समन्तदो सुव्वत्तमद्दुष्टामच्चरीसद्दुहरथामुहसोहिणो पद्धण-
पडवासपुञ्जपिजिरज्ञन्तदिसामुहस्स तिरिअं मणमहुस्सवर्स्स’ ।

अस्योत्सवस्य पूर्व ‘मदनः’ ‘मदनोत्सवः’ इति वा प्रतिद्विरासीत् । दक्षिणाद्वलेयापि
होलोत्सवस्य मदनोत्सवनामा ख्यातिः । अस्मिन्निर्गलः शृङ्गारः पूर्वमपि प्राचलत् ।
मादकसेवनं कुमुमरजितवस्त्राणां धारणं च साम्प्रतमिव तदाप्युत्सवाङ्गं पर्यगण्यत—
दद्यितकर० ॥ ६।४४, ४५ ।

फालगुनोत्सवे निथः कर्दमप्रक्षेपस्य सप्तशतीकालेपि रीतिरासीदिल्लुपलभ्यते—
फालगुनमहनिर्देव्योऽपि ४।६९,

.. अन्येषां क्रीडाविनाशाणामपि सप्तशतां सूचनं प्राप्यते । यथा उत्तानशवितस्य जनस
चरणोपर्युपविष्टानां धालानां पतनोत्पतनात्मका क्राडा ‘उत्कुलिका’ तु—उत्कुलिकवा० २।१६,

चूतलतिकानामी युवकीडा, यत्र हि नवलतिकासिर्हत्वा प्रियस्य नाम पृच्छयते—
नवलतिका० १।२८,

आचारविशेषाः

प्रथमप्रथमं वरसंगमे ‘आनन्दपटः’ [लग्नोहितं वधूवन्नम्] वरसंबन्धिनीमिर्महि-
लासिलेकेषु प्रददर्थत इत्याचारस्य सूचनं प्राप्यते—कृतिममानन्द० ॥ ५ । ५७,

राजपुण्ड्रे चाम्प्रतमपि सोयमाचारः प्रचरति । गजाधरस्तु ‘आनन्दपटः प्रथमपु-
ण्ड्रवतीवद्वम् । प्रथमरजोदर्शने जाते तद्वत्रं वन्धुमिलेकेषु प्रददर्थत इति देशविशेषे

२ ‘प्रेक्षात्वं तावद् अस्य मधुमत्तकासिर्णीजनस्वयंग्राहगृहीतशृङ्गकजलप्रहारनृत्यनागरजनजनित-

आचारः । जारसंबन्धदृष्टशोणिताया अस्थाने संध्रमदर्शनेन जारस्य हास इति बोधम्
इत्याह । रजोदर्शने जारसंबन्धस्य कः स्वरस इति मार्मिकैवर्चार्यम् ।

नितरजोदर्शने हरिद्रामिश्रघृतेन (वर्णघृतेन) लिप्समुख्या पुष्पवल्या स्त्रीयत इत्याचार-
स्य वन्यथा—आदरनसिता० ११२२,

क्रतुक्षाते हरिद्रोदर्तनं कियते । यथा—ज्ञानहरिद्रा० ११८०, संतरेदन्तजननपर्यन्तं
खीष्वरमणं यथा—गृहीत पश्य० २११००,

उत्सवावसरे गृहनारीभिः प्रतिगृहं सम्बन्धिभ्यो वायनकानि [जयपुरे 'लाहिणा']
दीयन्ते—नीताति निविड० ४१२८, नवभोगिनी० ७।३,

विवाहोत्तरं चतुर्दिनानि श्वशुरगृह एव जामाता निवसति । चतुर्थे दिने चतुर्थमङ्गलम्
[होमादिकम्] संपाद्य खगृहं गच्छतीति व्यवहारो यथा—उपगत ७।४४,

विवाहतः पूर्वं मङ्गलाचारणीतानां प्रारम्भो यथा—नीयमाने ७।४३,

कृष्णसारमृगो दक्षिणाद्वामं गच्छशशुभ इति शकुनविचारो यथा—एकोपि कृष्ण-
सारो ११२५,

अस्यस्थतायां संवन्धिनः खास्थ्यप्रश्नाय रोगिणो गृहं गच्छन्ति । यथा—मुख-
पृच्छक० ११५०, सुखगृहिण्ठका० ४।१७,

आसीत्पूर्वं ग्रामेषु पर्णकाष्ठाद्याच्छादितेषु गृहेषु वासः । अत एव दुईवादनिकोपे जाते
तन्निर्वापणाय दूरदूराज्ज्ञा आहृत्यन्ते स्म । तत्सूचनार्थं डिण्डमस्ताङ्गते स्म—उप-
थधावित० ६।३५,

सप्तशतीनिर्माणकाले सतीदाहप्रथा साधारणतया प्रचलितासीदिति सूच्यते—अनुम-
ण० ७।३३, निर्वापयते हि० ५।७ ग्रामणः ५।४९,

पूर्वं व्यपराधेषु बोरतमा दण्डः प्रदीयन्ते स्म । इमशानपादपे लम्बयित्वा चौराय उद्द-
वन्वनेन प्राणदण्डः प्रादीयत—नोद्वापयमाने० ६।३६, शूलारोपणप्रथाया अपि सूचना
यथा—धाराविधौत० ६।६३,

यः किल प्राणदण्डार्थं वथस्याने नीयते स्म तदेष्व दोषघोषणार्थं पटहस्ताङ्गते स्म—
तेन विना वत० ११२९। मुद्राराक्षसेपि स्थाने स्थाने एतत्रप्रथायाः सूचना प्राप्यते ।

गृहवाटिकायां लोकाः ग्रायशोऽक्षोटवृक्षमवश्यं रोपयन्ति स्म—मदयति०—५।१७,
गर्भिर्णी प्रति दोहदप्रथस्य प्रथा यथा—किं किं तु० १११५, । दुर्गतगेह० ५।७२,

पूर्वं हि शौर्यपूर्वकमपहरणे चैर्येण च वन्दीकृत्य नार्यो नीयन्ते स्म । एतद्वन्दीक-
रणमपहरुः पक्षे वथा शौर्यिचिह्नं पर्यगण्यत, तथैव शौर्यप्रदर्शनपूर्वकं तन्मोचनं तद्व-
रुपिषि वीरताख्यातयेऽभूत् । वीरताभिमानिनो रावणस्य सुराज्ञनावन्दीकरणात्परिनोपो
माधादात्रपि वर्णितः—

‘अमीक्ष्ममुष्मैरपि तस्य सोध्यनः सुरेन्द्रवन्दीभूतानिलैर्यथा’ १।६५,

अत्रापि वन्धीकृतनारीणां भर्तुशौयोपर्यसिमानः सबहुमानमाविष्कृतः—
वज्रपतना० १५४, ५७, । वन्धा प्रतीर० २१८, नो वन्दि० ६२७,
शत्रुनारीणां वलाद्वन्धीकृत्यापहरणमस्तिस्तमयेपि कविभिः शार्यप्रख्यापकमगम्यते—
'टोंक' राज्याधिपतीनां पूर्वपुष्पो भीरखानामको यदा हि जयपुरराज्यमाचक्राम त
जयपुरराज्येन प्रहितो 'लदाना' स्थानाधिपतिर्भारतस्मिन्हो भीरखानं पराजित्य तत्त्वारीवन्दी-
कृत्यानिनाय । एतस्य वर्णनमस्तपूर्वजेः श्रीमण्डनकवीन्द्रेः कृते 'भारतचरित्र' नामके
प्रजभाषाकाव्ये सुमनोहरमुपलभ्यते । तस्यैकं पद्यमधत्तादीयते—

‘मदनके ब्रेटे तैनें मार पठनेटे सबै
थेरी ता समैमें भई देह जिन जुरमें
मुख महताव औ गुलाव सम आव दिपै
नैन धोय सुरमें बहो है नीर उरमें ।
हीरा पुखराज लाल मोतिनसों छाँई रहै
मण्डन अनेकविध खाती खान खुरमें
बात यह बाँकी चहुं चक्कनमें छाय गई
लयायके किलामें धरीं भीरखाँकी हुरमें ॥’

सप्तशतीसमये खण्डखण्डराज्यानां प्रायशः सूचना प्राप्यते । शासनविषये तत्त्व-
ग्रामाधिपतीनां पूर्ण स्तातड्यमार्चीत् । यथा—ग्रहरवनमार्ग० १३१, चिन्तयति० ७१२,
३१, प्रजानामुपरि राज्ञः पर्याप्त आतङ्कोभवत् । राजविरुद्धं यत्किञ्चिदपि कथयन् जा-
राजतो निग्रहस्य पूर्ण भयमाशङ्कते स्मेति वर्तमानशासनतत्त्वस्य छाया तदाप्यन्ववर्ततेव ।
आह गाथा—पथिकःपथिकसा । ४१९६

स्वाभाविकः शुद्धारः

सेयं सप्तशती शुद्धारप्रधानेति ग्रन्थसंग्राहकेष्वारम्भे प्रोक्तम् । एतस्या निर्मापकः
श्रीमान् सातवाहनो नवयोवनोज्ज्मितः शुद्धारविषयकाणि काव्यान्वेषाभिरोचयामास,
अथवा तस्मिन् काले समाजस्य रुचिरेव तादृशी वभूव । अत एवाव शुद्धाररस त्राङ्गी ।
परं सोयं प्रतिदिनव्यवहारे हृदयान्तस्त्वेन सार्विकैरुभूयते तादृश एव, न चेवलं
कविप्रसूत इति तत्त्वतः प्रवृत्ता जानन्वेव कोविदाः । इह काचिद्विणिका प्रकाश्यते ।
विस्तरभयात्तिषामङ्काः प्रवीयन्ते । ग्रन्थान्तस्य विलोकनीयाः—

प्रथमशतके—५, ११, २०, ४४ । द्वितीये—२३ । तृतीये—२६ । चतुर्थे—५, २४, ३१,
६८, ७३, १०० । पञ्चमे—७३, ७९, ९८ । पछे—१३, १५, ६४, ७६, ८६ । सप्तमे—
४५, ४७, ९३, ९७, ९९ ।

मासप्रस्तावीनां रतिविषये पूर्वरसिकानामनुभवमाह—मासप्रस्ताव० ३११ । माला-
कारी वहोः कालादेव रसिकानां साभिलापवीक्षणपात्रमासीदिव्यप्यसा—सुख० १

विप्रलभ्मः

‘विरहिष्यास्तापोद्भासान्माघमासस्य रात्रौ सर्वसिन्नपि ग्रामे अग्निमत्यो वात्याः तैहन्ति’ एवंविधं वर्णनमन्यस्यामपि सप्तशत्यां शक्येत विलोकयितुम्, यस्य किञ्चित्प्रयः पूर्वमपि दत्तः । अवश्यमेतेषु कविकल्पनासौष्ठवं पूर्णमात्रायाम् । परं ये किल छाव्यं ‘जीवनस्य व्याख्याम्’ मन्यन्ते ते हि नैसर्गिकं वर्णनमेव बहु मन्यन्ते । दृश्यतां आथाकार आह-बाधसलिल० २।८५ । अतिकोपापि० ५।९३ । पथिकवधू० ६।४० । आधासयति० ३।८३ तस्या दृश्य० ३।५३ । एकैक० ३।२० । रक्षति पुत्रं० ७।२१

२।८५ गाथायामाह-तव विरहे तथा संतापो यथा तस्या अधरो वहिप्रवेशमेवाज्ञुभवति । एवं विरहकृतदाहे त्वदनुध्यानजन्यस्तथा बाष्पप्रवाहो भवति यथा तदधरो जलमग्न-मेवात्मानं मन्यते, इति श्यामशब्दवत्स्य प्राङ्गता संपादिता । त्रतं साधयतीत्यनेन-सर्वमन्यत्रत्यव्यायजनकमिव अवहेल्य ‘केनचिदुपायेन तं लभेय’ इति साधनाचरमफल-ह्यं भवन्तमेव मन्यत इति नायकं प्रत्यनुरागातिशयः सर्ववस्तुषु निर्वेदश्च सूचितः । दृश्यताम्, अत्र केवलं संताप एव नाधिकीकृतः किन्तु तेन सह विप्रलभ्मस्य जीवभूतो रतिस्थायिभावोपि धन्यात्मना परमं पोष्टिः ।

विहारिमहाभागस्य विरहवर्णने तु संतापस्य दौर्बल्यस्य वा वाच्य एवातिशयोऽत्युक्ति-स्पैण रसिकांश्चमत्करोति । वर्तमानोपि व्यङ्ग्योर्थो वाच्याया अतिशयोक्तेरप्ये आत्मान-मत्रकुक्ष्य मन्दीभवतीति स्थाने स्थाने मार्भिकेः समीक्ष्यम् । गाथायास्तु स्वभावत एव सेयं सरणिर्यन् साधनीयमयै व्यङ्ग्यविधयैव सूचयतीत्यास्तां विस्तरो मार्भिकेषु ।

देववर्णने शृङ्गारः

अन्यसंग्राहकेण ‘असिद्धं पाउभकव्यम्’ इति प्रतिज्ञानुरोधादेवानां वर्णनेपि शृङ्गार एवाज्ञीकृतः । अत्र हि चराचरनायको भगवान् भूतपतिरपि कर्ममार्गमनुरूप्यान इव सन्ध्यामुपास्ते । तन्मध्यत एव भगवत्युमाप्यनन्तरीभवति । इयत्संनिहिता भवति यदर्थाज्ञर् तत्प्रतिदिम्बोप्यापतति । तदासक्तश्च भगवान्मन्त्रादिकमपि विस्मरति । इसां शैलीं गोवर्द्धनोप्यनुसार । आह स सः—

सन्ध्यासलिलाजलिमपि कङ्कणफणिपीयमानमविजानन् ।
गोरीमुखार्पितमना विजयाहसितः शिवो जयति ॥ ६ ॥

गाथायां अन्यान्तवर्णनीयस्य विषयस्य ध्वनिरूपेण सूचनार्थं भगवान् शङ्खरोपि पार्वत्या रसान्तमनुगतश्चितिः । स हि जन्मतोऽभ्यस्तं परमप्रियं फणिकङ्कणमपि पार्वतीभय-वाहा परिहृति—पार्वत्या० १।६९ ।

सुनत गणिकमुङ्ग माहनिसि, लुष्टं चलति उहि गाम ।
विनवूङ्ग विनुही सुनै, जिवत विचारी वाम ॥ ‘विहारी’

इतोमे संस्कृतकवयस्तु शनैः शनैस्थाप्रेषरा अभवन् यदेवानां रतिवर्णनमध्यारभन्त । सत्यमिदमनपलपनीयमेव, यत्केवन कवयः शृङ्गारे तथाऽभिमत्ता भवन्ति यदेतेषां विषयपरिज्ञानायाप्यवसरो न भवति । यान् देवानेते विज्ञविधाताय स्तोतुमारभन्ते तेषामपि सुरतमेव चित्रयन्तः प्रचलन्ति । ये किल साहित्यनिबन्धकारमूर्द्धन्यास्तदेतद्वर्णनम् 'पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितं मन्यन्ते' तेषि खस्याकरण्येष्वेवोदाहरणविधया ताष्टशमेव वर्णनं प्रसाद्य शिक्षयन्ति । काव्यप्रकाशो (५ उद्धासे) शैषोपरि लक्ष्मीनारायणयोः संभोगः स्फुटमेवोदाहरणविधयोपात्तः—

विपरीतरए लच्छी वम्हं दहुण णाहिकमलद्वम् ।

हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढकेह ॥

शिवपार्वत्यर्था—चतुर्थोल्लासे इकेलिहिअ० (गाथा० ५।५५)

शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचने अप्रतिद्वन्द्वः श्रीमान् गोवर्द्धनमहाभागसु न जाने आरम्भादन्तपर्यन्तं कियद्वारान् देवानां सुरतं पुरुषायितादिनानाप्रकारैररतिप्रेमपूर्वकं वर्णयति । एष हि महाभागो भगवर्ती जगन्मातरं श्रियमपि रागान्धां व्यपदिशति, यतो हनया सुरतं रसान्धतया अहिगरुडादयस्तिर्थं एव किं सर्वजगतः पितामहोपि संमुखस्थितो न परिगणितः । प्रत्युत स वराको हाराभिषातैर्घृष्ममध्यचितः—

तल्पीकृताहिरगणितगरुडो हाराभिहतविद्यिर्जयति ।

फणशतपीतश्वासो रागान्धायाः श्रियः केलिः ॥ २४

गाथाकारसु गोवर्द्धनपद्धत्या देवतानां स्तव एव सर्वं शृङ्गारसत्प्रमेयरचनाचातुर्यं न परिशेषयति । एवंविधा एकमात्रा गाथा संरूपाण्यामपि सप्तशत्यासुपलभ्यते, या हि व्यन्धर्थसूचनेऽप्रतिद्वन्द्वा काव्यप्रकाशोप्यद्वाहता 'रतिकेलि० ५।५५' । अन्यैर्वर्णनैः सह तुलयन्त्वस्या अपि तारतम्यं तीक्ष्णमतयः सूर्यः ।

घोरः शृङ्गारः

आकृतभाषायाः शृङ्गारनिर्भरतामापादयितुं तत्कवयः प्रायः शृङ्गारं निर्मर्यादमावरणे-यन्ति, येन घोरशृङ्गारप्रेमिणस्त्रत्राधिकमासज्यन्ति । अत्रापि स समयो निर्वाहित एव । पुष्पवत्या सह प्रणयचर्चा उक्तैव, यस्याः परिचयः पूर्वं दत्तः । रसिकंमन्यास्तावतपर्यन्त-मध्यन्धा भवन्ति यत्कुमारीमपि न परिहरन्ति । 'आनन्दपट'वर्णने सोऽपचारोपि पूर्वं सूचितः । 'दीर्घरमणार्थं नायकमन्यमनस्कं करोति' इत्यादि तु कदाचिदवतरणसौकर्यार्थं टीकाकारैरेव कल्पितं भवेत्, परमनेन तत्समये शृङ्गारसाम्राज्यमवश्यमनुभितं भवति । कामशास्त्रप्रोक्तवन्ध-नखक्षतादिवर्णनं तु शृङ्गारकाव्यानां शोभैव । अत्रापि तेषां स्थाने स्थाने चर्चा । विपरीतवन्धस्य १।५२, ४।९१, ५।८३, ७।१४, आदिषु गाथासु वर्णनम् ।

वेश्यानामपि रसिकसमाजे पूर्णैः प्रवेश आसीदिव्यनया सूच्यते । तासां प्रेमाणः

वातस्यायनकामसूत्रेषु गणिकानां भूरितमं गौरवमावर्णितं यत्ताः परमविदुष्यश्चतुःष्टि-
कलानिष्ठाता राजनीत्यां परमपणिताश्च समभवन् । अत एव राजानो बहुतरधनदाना-
दिना ताः संमान्य राजनीतिसाध्यानि निजकार्याणि संपादयन्ति स्म । न ताः केवलं
भोगसामनमेव, प्रत्युत परमविदश्चात्मा राष्ट्राणामुत्थानपतनयोरपि परम्परयोपकरणं
बभूवुः । अत एव मन्ये 'वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः' इत्यादिको नीत्यनुभतस्त्वतिवादः
प्रचलितोस्ति । अस्तु, अत्र तद्विद्या उच्चतप्रतिभा गणिकास्तु न सन्ति परं खस्य कला-
पाणिष्ठ्यं बहुतरमभिमन्यमानास्तादृशः सन्ति या अन्यामाद्रियमाणां गुणवर्ती खस्यामे
निरक्षणं मन्यन्ते, यथा—वर्णानप्यविदन्तो ० २१९

खियो नानाकृष्टैः पत्युदृष्टितो जारं गोपयन्ति सेत्यस्य परिचयः पूर्वं दत्तः । एवं
स्फुटशृङ्गारवर्णनासमयो गाथाकारेणापि प्रायो निर्वाहित एव । परमेवं सत्यपि पातिव्रत्य-
साप्यादर्शः सामान्यो न । गाथावर्णिता पतिव्रता प्रोष्ठिपतिकाया दीनायाः खप्रतिवेद-
श्चिन्याः 'मन्मण्डनदर्शनेन चरित्रव्यष्टिनं मा भूदिति' विचारेण खयमपि उत्सवादिष्वपि
मण्डनादिषु संकुचति—खाधीनेपि ० १३९

धनवतां निजबान्धवानामप्युपहारादिकं दीनस्य पत्युराभिजायरक्षार्थमवहेलयति—
छायां सुदुर्गतस्य ० १३८

ज्योतिषप्रविष्यः

ज्योतिर्वित्प्रसिद्धो ग्रहंगतिसाधनप्रकारोपि मनोहरं वर्णितो गाथाकारेण । सूर्यदीनां
गतिसाधनार्थं कठिनीरेखामाकृष्य ज्योतिर्विद् गणितं करोतीत्याह गाथा—

कुत्र गतं रविजिम्बम् ०—५१३५

धान्यादिराशेमर्त्तं यथा—मा प्रतिष्ठ ०—३१५२

वैद्यकप्ररिचयः

शारदज्वरे पित्तस्य वमनं तेन सह रक्तमपि निःसरतीत्याह—पद्यत ०—६१६२

नीतिः

नीतिविषयिकाः सूक्योपि सरसतमाः समासाद्यन्ते । यथा—ग्रधमशतके—८३,
द्वितीयशतके—१३, ३५, ३६, ८६ । तृतीयशतके—५०, ५३, चतुर्थे—१९, २०, २१,
पञ्चमे—२४ । षष्ठे—१२, ४१ । सप्तमे—९५ ।

श्लेषचमत्कारः

स्थाने स्थाने विदरधाभिनन्दनीयः श्लेषोपि चमत्करोति चेतः । यथा—६१६६,
७१५७, ७१६५, । सोयं श्लेषः संस्कृते निर्वाहयितुमसंभव एव बहुषु स्थलेष्यमवत् । यथा
'गोरक्षम्' इत्यस्य प्राकृते 'गौरवम्' 'गोरजः' इत्युभयमप्यर्थो भवेत्कथमयं संस्कृते संभ-
वेत् । यथा ११८९, २१३४, ४१११ ।

टीका

सोयं गाथासप्तशती आमूलचूडं ध्वन्यं वहुलेति निवेदितमेव । अत एवात्र केवलं

श्लोकयोजनमात्रेण न टीकानां कर्तव्यं पूरितं भवति । पूर्वं मुद्रिता गङ्गाधरभट्टकां टीका यथापि सुमनोहराक्षरगुम्फिता तथापि ध्वन्यर्थान्वदुत्र न सूचयत्यपि । अत्र हि प्रस्तेक-पदस्य यावद्यज्ञायार्थो न सूच्यते तावच्च गाथाया महत्वमवभासितं भवति । गङ्गाधरस्तु दुर्बोधस्यलेपु संक्षिप्तां टिप्पणीमिव वाच्यार्थस्य करोति । कुत्रचित्तु तद्विषयेषि नानव्रत-मवलम्बते । तस्य किञ्चिन्मात्रं निर्दर्शनमुपस्थापयामि । सप्तमे—

सुन्दर यदि कौतुकितोसि सकलतिथिचन्द्रदर्शनसुखानाम् ।

तन्मोच्यमानकञ्जुकमीक्षस्व मुखं मसृणमस्याः ॥ ७२ ॥

अत्र हि ‘सखायं प्रति सख्युक्तिः । दूल्या वा नायकं प्रयुक्तिः’ एतावन्मात्रां कृपां कृत्वा पलायितवानप्रे गङ्गाधरः । अत्र को वा चमत्कार इति परीक्षारूपेण बहवो मार्मिका अपि पृष्ठा आसन्परं न तेषि सहसा वकुं प्राभवन् । एवं स्थितौ कियत्यावश्यकता टीकाया इति प्रतीतं भवेत् । असां हि परस्परालिष्टोर्ध्वांकृतमण्डलायितवाहुलतिकं प्रतिलोम-क्रमेण कञ्जुकावतारणकाले नायिकाया मुखशोभा सुमधुरमावर्णिता । अत एव कञ्जुकाव-रणस्य शनैः शनैरपगमे प्रतिपदादिसकलतिथिष्ठूदितस्य चन्द्रस्य क्रमात्सादृशं भवतीति सकलतिथिचन्द्रसदशत्वं मुखे विचित्रमास्थापितं गाथया । नैतादशी कल्पना अन्यत्राव-लोकयेत । यावदहं स्मरामि सोयमयो रामभद्रदीक्षितेनाप्युपनिवद्दः परमित एवोपजीवितः सः । नायं गाथया अपहृतः, प्राचीनत्वात्तस्मा । अस्तु । एवंस्थलेषि टीकाया मूकता रोचेत कस्यैचित् ॥

कुत्रचित्स्वर्यं टीकापि भ्रान्ता भवति । नवकर्मिपामरेण० ७।९२ इति गाथायां हल-वाहने लभः पामरो भक्तहारिणीं दृष्ट्वा क्षुभितचित्ततया योक्त्रस्य ‘जोत’ इति रुद्यतस्य वृषकण्ठावसक्तस्य चर्मपट्टस्य प्रश्रहमात्रे बन्धमात्रे मोक्षयेषि नासारज्जुं सुष्वतीत्युच्यते । टीकाकृदाह—योक्त्ररूपे प्रश्रहे इति । छायापि भ्रामिका । अत एव सन्देहचिह्नाङ्किता छाया द्विसुद्धणीयाऽभवत् ।

आपृच्छन्ति० ७।८० इति गाथायां ‘खडिएहिं’ ‘खंडिएहिं’ इति भ्रामकमात्रे पाठद्वये ‘खङ्गिकैः’ इति छाया कृत्सा । न च टीकायां तत्संगतिः कृता । इह हि ‘खटिक’ इति पाठो वास्तवः । स च पञ्चाहिंसकार्थं संगमयन्प्राकृतकोशेष्वप्युपलभ्यते, किन्तु टीका-कृद्वापि मौनी । यद्वदति तदपि मूलान्नं संगच्छते ।

बधिरान्धा० किल० ७।९५ गाथायां ‘मूळलओ’ इत्यस्य ‘मूळकः’ इत्यर्थः कृतो यः किल मार्मिकमपि विद्वांसं प्रच्यावयति सत्यादर्थात् । अत्र हि ‘मूळः’ इत्यर्थो वास्तवे, यः संगच्छते ग्रकरणेन । इत्यतां धनपालकृतः ‘पाइअलच्छी’ ‘प्राकृतलक्ष्मी’कोषः । आनन्दस्त्वयं यत् टीकाकृत, ‘मूळकः’ इति छायां करोति, परं न तां व्याख्यया संगम-यति । केवलं भ्रामयित्वा पृथक्पलायते ।

एवमाद्या असुविधाः स्थले स्थके प्राप्यन्ते, कियत्यो वा ताः प्रदर्शयेत् । किं च अस्मि-कर्मात्रे च भ्रामकमात्रे नक्षत्रालिङ्गी अस्मित्याहि सर्वेषिद्यसौविद्यमानमाय सेयं टीका

निरमीयत । अत्र व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनाय यावच्छक्षयमधिकाधिकं प्रयतितम् । सेयं टीका गज्जाधरटीकामवलोक्यैव न्यबध्यत । व्याख्यासापेक्षोपि योर्थस्तत्र परिलक्षः सोऽस्यां पर्यगुह्यत । व्यङ्ग्यार्थस्थले विस्तारेण तत्त्वकाशानचेष्टाऽक्रियत । गुणदोषविवेचका वाचकाः स्वयमिदमेनामवलोक्य परीक्षिष्यन्ते तत्किं नाम वागारम्भणेन ।

किञ्चेदमपि निवेदनीयमापतितं हतविधेर्दुर्विलासात् यत् ‘सतसईसंहार’सर्गात् हिन्दी-साहित्ये सुतरां लब्धप्रतिष्ठेन विहारिसप्तशत्याः संजीवनभाष्यारम्भकेण पं. पद्मसिंह-महोदयेन गाथासप्तशतीं विहारिसप्तशतीं च मिथस्तुल्यता गाथापेक्षया विहारिकृतेर्थः किल समुत्कर्षः साधितस्तथात्रालोचना विहिता । टीकां रचयता मया सोयं संदर्भो वहोः कालात्पूर्वमेव न्यबध्यत । अस्य कियांश्ननांशो ‘मातुरी’नामकहिन्दीमासिकपत्रिकायां प्रकावितोऽप्यभूत्पूर्वम् । किन्तु सम्प्रति सखेदं शुणोमि यत्साहित्यमार्मिकोसौ पद्मसिंह-महोदयो लोकान्तरं प्रयात इति । हन्त मन्मनसि भूयान्खेदो यदेषा आलोचना तल्लोचनातिशीर्णं भूत्वा पुस्तकाकारे संप्रति प्रकाशिता भवतीति । हन्त को वा विधे: प्रभवेत् ?

वाराणसेयगवर्नमैष्टसंस्कृतकालेजस्याध्यक्षपदमधितिष्ठतः सुप्रसिद्धप्राच्यसाहित्यमार्मिकस्य एम्. ए. पद्मपिंडितस्य श्रीगोपीनाथकविराजमहाभागाय भूयांसमुक्तारमधिवहामि यो हि सातवाहनस्य गाथासप्तशत्याश्च परिचयदिक्प्रदर्शनाय पाश्चात्यपद्धत्या ‘वाङ्मुखम्’ [Fore words] निबन्धुमन्वग्रहीत । मार्मिकोः पाठकमहाभागाः प्राकृसंस्करण-सुद्दितमुपोद्घातम्, मन्त्रिद्वां भूमिकाम्, तत्र प्रदर्शिता रचनामातृकाः, कविराजमहोदयस्य वाङ्मुखं चैतदादि सर्वामपि सामर्मिमेकत्र संकलय्य सप्तशतीविषये भूयसः परिज्ञातव्यविषयान् तत्त्वनिर्णयं च स्वखमल्या सम्यगुच्छयेयुरिति मनसि भूयस्तरां विश्वसिमि ।

एतद्विषयस्य संपादने जग्यपुराजकीयज्योतिर्थशालाप्रधानदैवज्ञेन भूतपूर्वकाव्य-मालासंपादकेन बाल्यसुहदा पं. श्रीकेदारनाथशर्ममहाभागेन समये समये सुबहु साहाय्यमाचरितमिति हृदयतः कार्त्तस्थमावहामि ।

अन्ते च नवसम्बन्धमहाभागान्प्रति पुनरावेदयामि—

निभृतनिषेव्यममृतमयमुपवनमिदमार्यरसिकानाम् ।

नाऽऽवश्यकंप्रवेशाः सुधियः क्षाम्यन्तु तत्सदयम् ॥

आशाढ़शुक्लद्वितीया
सं. १९८९

भद्रश्रीमथुरानाथशास्त्री साहित्याचार्यः
Supervisor of Sanskritpathshala
Jaipur State.

१ इक्षाराधिकवदर्शनाव्रतरूप्यमुसारं न आवश्यकः प्रवेशो येषां ते । तथा च रुचेन्द्रात्मेण संमतमत्र नास्तीलत्र निभृतोपवने तेषां प्रवेशाधिकारोपि नास्तीलाशयः ।

सातवाहनः ।

दीपकर्णिसूतुः सातवाहनो नाम कथन विद्वान्महीपतिः प्रतिष्ठानपुरे वभूव, यत्सभा बृहत्कथाप्रणेतृगुणाव्य—कालापव्याकरणकर्तुशर्ववर्मेप्रवृत्तयो भूयांसो मण्डयो-चक्रुरिति कथासरित्सागरघटतरङ्गस्थितकथातः प्रतीयते. ‘सोऽहं दरिद्रो वित्तार्थं प्रयातो दक्षिणापथम् । प्राप्तः पुरं प्रतिष्ठानं नरसिंहस्य भूपतेः ॥’ (३११०८) इत्यादिकथासरित्सागरस्थश्लोकेभ्य एव दक्षिणापथे प्रतिष्ठानपुरमस्तीत्यवगम्यते, तच्चाधुना ‘पैठण’ नाम्ना प्रतिद्वमस्ति. ‘कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवर्तीं [जघान]’ इति वात्सायनप्रणीतिकामसत्रस्य द्वादशाध्यायोपान्ते समुपलभ्यते. डॉक्टरपीटर्सनेन बुन्दीनगराधीशपुस्तकालयादानीते गाथासप्तशतीपुस्तके ‘राणण विरहभाए कुन्तलजग्नेण अद्वैषण हालेण । सत्तस्वै अ समतं सत्तममज्जासां एतम् ॥’ इति सप्तमं शतकम् । इति श्रीमत्कुन्तलजनपदेश्वर-प्रतिष्ठानपत्तनाधीश-शतकर्णोपनामक-द्वीपि(दीप)कर्णीत्मज-मलयवतीशाणप्रिय-कालापप्रवर्तकशर्ववर्मधीसख-मलय-वत्युपदेशपिण्डिभूत-ल्यक्तमाषात्रयस्तीकृतपैशाचिकपिण्डितराजगुणाव्यनिर्मितभसीभ-बृहत्कथाविष्टसप्तमांशावलोकनप्राकृतादिवाकपद्मक (?)प्रीत-कविवत्सल-हालाद्युपनामक-श्रीसातवाहननरेन्द्रनिर्मिता विविधान्योक्तिमयप्राकृतगीर्गुम्फिता शुचिरसप्रधाना काव्योत्तमा सप्तशत्यवसानमगत् ॥’ एवं समाप्तिश्च वर्तते. एतद्विलोकनेन वात्सायनस्मृतः कथासरित्सागरवर्णितश्च साँतवाहन एक एव. तेनैवेयं गाथासप्तशती प्राचीन-ग्रन्थेभ्यः संकलिता. स च ख्लिस्तान्दस्य प्रथमशतक आसीदिल्लाधुनिकानां विद्वद्दर्शणां निश्चयः. युक्तं चैतत्. यतः शकप्रवर्तकः शालिवाहन एव सातवाहन इति निर्विवादैव प्रैथमशतके तस्य स्थितिः अयं गाथासंप्रहकर्ता सातवाहनोऽन्यैः प्रलक्षिभिरप्यभिषुतः यथा—‘अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः । विशुद्धजातिभिः कोषं रक्ते-

१. राजशेखरसरिप्रणीते प्रबन्धकोपे सातवाहनप्रवन्धे ‘अधुना तु दक्षिणदेशस्थितं प्रतिष्ठानपुरं क्षुलक्ष्यामतुल्यं वर्तते ॥’ इत्यस्ति.
२. डॉक्टरपीटर्सनस्य त्रुटीये रिपोर्टाद्यपुस्तके २४९ पृष्ठे द्रष्टव्यम्.
३. ‘कामगिरि समारभ्य द्वारकान्तं महेश्वरि । श्रीकुन्तलाभिषो देशो हूणदेशं शृणु प्रिये ॥’ इति शक्तिसंगमतत्रम्. तसिन्समये च गुरुर्जेशोपि सातवाहनस्यैव प्रभुत्वमासीत, यतस्सेन संतुष्टेन स्वसच्चिवाय शर्ववर्मणे भरकच्छ(भरोच)देशप्रभुत्वं दत्तमिति ‘राजाहृत्तनिचैवैरथ शर्ववर्मां तेना चित्तो गुरुरिति प्रणतेन राजा । स्वामी कृतश्च विषये भरकच्छनांश्च कूलोपकण्ठविनिवेशिनि नर्मदायाः ॥’ असात्कथासरित्सागरघटतरङ्गसप्तमासिस्त्रश्लोकाज्ञायते.
४. अनन्तराजकलशदेव हर्षदेवादयः कर्मीरमहीपाला अपि सातवाहनकुलोत्पत्ता आसज्जिति कहुणराजतरप्रिणीतः कथासरित्सागरसमासिस्त्रप्रशस्तिश्च प्रतीयते. सोऽपि सातवाहनः कदाचिदयमेव स्यात्.
५. प्रबन्धकोपे तु ‘महानीरस्वामिनि सोऽसु गते ४७० वर्षानन्तरं विक्रमदित्यः । तस्मस्माकालीन पदार्थं सातवाहनः । कालिकाच्चार्थं समकालीनोऽपि कक्षन् सातवाहनः, सोऽसादर्वाचीनः ॥’ इत्यस्ति.

रिव सुभाषितैः ॥’ इति हर्षचरितारम्मे वाणः । कोषश्चायमेव गाथासंप्रहस्पो वाणस्य
विवक्षितः, ‘जगलां ग्रथिता गाथा सातवाहनभूमुजा । व्यधुर्घृतेस्तु विस्तारमहो चित्र-
परम्परा ॥’ अयं श्लोकः केषुचित्सूकिमुक्तावलीपुस्तकेषु राजशेखरनाम्ना समुद्धृतो
दृश्यते. ‘सच्च भण गोदावरि पुव्वसमुद्देश साहियासन्ती । सालाहणकुलसरिसं जड ते
कूले कुलं अथिथ ॥ उत्तरजो हिमवन्तो दाहिणओ सालवाहणो राआ । समभारभक्तन्ता
तेण न पश्चत्थए मुहवी ॥ एतद्वाथाद्वयं राजशेखरसूरप्रणाते प्रबन्धकोषे सातवाहन-
प्रबन्धे समुपलभ्यते.

शतानन्दसञ्जुमहाकविश्रीमदभिनन्दप्रणीतरामचरितास्यमहाकाव्यस्य सप्तमसर्गान्ते
पञ्चदशसर्गान्ते च ‘नमः श्रीहारवर्णाय येन हालादनन्तरम् । खकोपः कविकोषाणामा-
विर्भावाय संस्तुः ॥’ अयं श्लोकः, द्वात्रिंशत्सर्गसमाप्तौ च ‘हालेनोत्समपूजया कविवृष्टः
श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना । श्रीहरो
विततार गद्यकवये वाणाय वाणीफलं सद्यः सत्कियथाभिनन्दमपि च श्रीहारवर्णोऽप्रहीत ॥’
अयं श्लोकः समुपलभ्यते. एतेन श्रीपालितकविर्व धनलिप्सया स्वप्रभोर्हालस्य नाम्नाय
गाथासप्तशतकग्रन्थः संग्रहीतः स्यादित्यप्यनुमीयते. सातवाहनस्यैव हालः, शालः,
सालवाहनः, एते पर्यायाः सन्तीति हैमंकोपादिपु सुव्यक्तमेव.

संग्रहरूपैऽस्मिन्यन्ये काश्चन गाथा हालप्रणीता अपि सन्ति. यतः इच्छियुस्तके
चतुर्थगाथामारभ्य द्वादशगाथापर्यन्तं प्रतिगाथाग्रे तत्तद्वाथाकर्तृणां ‘हालस्स (हालस्य),
बोडिसस्स, चुडोहस्स, मअरन्दसेणस्स (मकरन्दसेनस्य), अमरराथस्स (अमरराजस्य),
कुमारिलस्स (कुमारिलस्य), सिरिराथस्स (श्रीराजस्य), भीमस्सामिणो (भीमस्वामिनः),
हालस्स, एतानि षष्ठ्यन्तानि नामानि समुपलभ्यन्ते. अप्रे च लेखकप्रभादेन गलितानीति

३. ‘शालो हाले मत्स्यमेदे’ इति, ‘हालः सातवाहनपाठिये’ इति च हैमनेकार्थः, “शालते
शालः । इयति वा । ‘शालामादया’- इति लः । हालः सातवाहननृपः । तत्र यथा—‘जडे शालमही-
पालः प्रतिष्ठानपुरो पुरा ।’ इति ‘यथा-दिवं गते हालवसुंभराधिये ।’ इति च तटीका अनेकार्थकैरवा-
करकौमुदी. ‘हालः सातसातवाहनः’ इति हैमनाममाला. ‘हलत्यरातिहृदयं हालः । उवलादित्वात्
णः । सातं दत्तसुखं वाहनमस्य सातवाहनः । सालवाहनोऽपि ।’ इति तटीका अभिधानचिन्मा-
णिः. ‘सालाहणम्भि हालो’ इति देशीनाममाला. हालः सातवाहनः इति तटीका. ‘शालो
हालनृपेऽपि च’ इति विकाण्डशेपनेकार्थः. कथासरित्सागरे तु—‘सातेन यसाद्दोऽभुत्तामासे
सातवाहनम् । नाम्ना चकार कालेन रात्ये चैनं न्यवेश्यत् ।’ इति सातवाहनपदस्य निर्विकर-
क्तास्ति. सातो नाम कश्चन यक्षः कुबेरदायेन सिंहतां प्राप्तः. तेनायं स्वपृष्ठेऽधिरोपित इति कथायी
तत्रवातिः. वात्स्यायनीयामयत्रे तु ‘शातवाहनः’ इति ताल्यादिः समुपलभ्यते. वायु-मास्य-
विष्णुपुरोपु भागवते च हालमहीपते नाम समुपलभ्यते इति विद्वद्वभाष्टारकरोपाह-रायकृण-
शमैभिः प्रणीते दक्षिणप्राचीनेतिहासान्त्रिपुस्तके २५ ऐषे विलोकनीयम्. शातवाहनस्य
विसरेण वर्णनं च नन्द चतुर्थगार्भां

भाति. एतद्वन्धान्तर्गता गाथा खन्यालोके, तल्लोचने, सरखतीकणाभरणे, काव्यप्रक
चोदाहताः सन्ति. कुलबालदेवनिर्मिता गङ्गाधरभट्टनिर्मिता चास्य टीका समुपलभ्य०,
तत्र गङ्गाधरभट्टनिर्मितैव समीचीना. टीकाकब्रोदेशकालौ चानिश्चितावेष.

जर्मनीदेशे टीकारहितोऽयं ग्रन्थो रोमन्लिप्या वेचरपण्डितेन मुद्रितः स च तदेशी-
चानामेवोपकारक इति गङ्गाधरभट्टप्रणीतटीकासमेतोऽस्मामिसुद्धयितुमारब्धैः, भविष्यति
चायमतिप्रलो मनोहरक्ष ग्रन्थो रसिकानां हृदयावर्जक इति दृढमाशास्महे.

प्राक्संस्करणे काव्यमालासंपादक भ. भ. पं. दुर्गाप्रसादशमंणामुपेद्वातः ।

१. पुस्तकान्तरे 'कुलनाथदेव' इत्यपि नाम दृष्टमस्ति.

२. ग्रधमसंस्करणे गङ्गाधरभट्टटीकासहिता सेव्यं मुद्रिता । इदानीं तदाभारेण नवीना टीका
मदापितास्ति ।

हालोपनामकमहाकविश्रीसातवाहनसंकलित-

ग्राकृतगाथासप्तशत्याश्छायारूपा

(भद्रश्रीमथुरानाथशार्मसंग्रहिता)

संस्कृतगाथासप्तशती ।

निजनिर्मितया व्यङ्ग्यसर्वेङ्गषाख्यव्याख्यया संचलिता ।

गणनाथे नंतिमयता गुम्फतंगाथेन मञ्जुनाथेन ।

व्यङ्ग्यार्थसारसिद्धै सैषा सर्वेङ्गषा क्रियते ॥ १ ॥

तत्र प्रथमं प्रकाशयिष्यमाणगाथारक्तकोषस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिसिद्धये कृतं मङ्गलं
श्रोतृजनसुखार्थमुपनिवधाति कविः—

पसुवद्द्वारा रोषारुणपद्मिमासंकन्तगोरिमुहूर्नदम् ।

गहिअग्वपङ्गुअं विअ संज्ञासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥

[पशुपते रोषारुणप्रतिमासंकन्तगौरीमुखचन्द्रम् ।

गृहीतार्धपङ्गजमिव संध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥]

प्रमथपते रोषारुणगौरीमुखचन्द्रसञ्चरत्प्रतिमम् ।

कलिताऽर्द्धसरसिरुहमिव सन्ध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥ १ ॥

निशि तथा प्रकटितप्रणयपरिपाकचेष्टितोऽपि प्रातरेव कथमयं मां विहायाऽन्यां
भ्यायतीति रोषेण अरुणं व्यङ्ग्यरीमुखं तदेव चन्द्रः तस्य संचरन्ती संकाम्यन्ती प्रतिमा
प्रतिबिम्बो यत्र, अत एव कलितार्धसरसिरुहमिव रक्तमुखप्रतिबिम्बव्याजेन गृहीतार्धप-
ङ्गजमिव प्रमथपते: शिवस्य सन्ध्यासलिलाञ्जलिं नमत । प्राकृते पूर्वनिपातस्याऽनियत-
तया ‘संकान्तप्रतिमम्’ इति स्थाने प्रतिमासंकान्तमिति संघटितम् । अथवा प्रतिमया
संकान्तमिति योजनीयं स्थात । मङ्गलतच्छायायां तु न तावशङ्केशः । पशुपतेरिलाय
स्थाने प्रमथपतेरिति तु—‘सर्वेषां प्रमथानां सविव एव मामयमुपेक्षते’ इति प्रणयको-
पातिशयं व्यनक्ति । पङ्गजपदस्यापि अर्धाञ्जलौ न स्वारस्यमिति सरसिरुहपदेन
परिवर्तितं तदृश्युतिमेव मुष्णाति । शशधरकलामौलैः प्रातः सन्ध्यासलिलाञ्जलिवर्णेन-
विच्छित्तिर्थन्थारभमङ्गलमुमादेव्याः प्रणयकोपप्रकटनेन वर्णनीयस्य शङ्गाररसनिर्म-
रतां चाऽभिव्यनक्ति । अत एवाऽवसानेऽपि ‘सन्ध्योपात्तजलाञ्जलिविभृतगौरीमुखा-

म्बुरुहम् ।’ इत्यादि भगवतः सन्ध्यासलिलाङ्गलिमुपस्तुवन् समाप्तिमङ्गलं सूचयिष्यति । किं वा—आरम्भे प्रातः सन्ध्याङ्गलिवर्णनेन अवसाने च सायंसन्ध्याङ्गलिस्तवनेन सुनिष्ठुणमयं ग्रन्थकारः प्रारम्भावसाने सूचयताति स्यादेव सुधिवां सुधिदितमित्यलम् । “यदा मानिन्याः प्रश्नवरोषमसहमानं नायकं प्रति दूल्या उक्तिरियम्—‘अनभिज्ञोऽसि प्रेमव्यवहाराणाम्, यस्त्वं प्रियाप्रश्नवरोषलक्षणे हर्षस्थाने कुप्यसि । न पद्यन्ति किं देव्याः सन्ध्यासलिलाङ्गलावपि प्रश्नवरोषम्’” इति गाथाश्वरटीका ।

गाथाकोषनिर्माणहेतुमवतारयति—

अभिअं पाउअकाव्यं पठिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।

कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते केहूं ण लज्जन्ति ॥ २ ॥

[अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च येन जानन्ति ।

कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते ॥]

अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।

कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ते ॥ २ ॥

खीबालादिसकलसुखोचार्यवर्णमयत्वादखिलानन्दनम्, शृङ्गाररसनिर्भरत्वेनाऽहादजनकत्वादमृतसिव सकलकामनाविषयं प्राकृतकाव्यमवसरे पठितुम्, अपरेण पठितं च श्रोतुं सम्यग् बोडुं येन जानन्ति, कामस्य तत्त्वचिन्तां (कामतत्त्वचिन्तां वा) कुर्वन्तस्ते जनाः कथं न लज्जन्ते । प्राकृतपदाङ्गानुसरणमेव चेत्काम्यं तहिं—‘कुर्वन्ति च ते’ पाद्यम् । कामशास्त्रव्युत्पत्तिविधुरं विदर्थनायिका प्राकृतकाव्यस्तुतिव्याजेन शिक्षयति वा ।

साररूपतया स्वग्रन्थस्योपादेयतां सूचयति—

सत्त सताइं कहवच्छलेण कोडीअ मज्ज्ञआरम्भि ।

हालेण विरहाइं सालङ्काराणँ गाहाणम् ॥ ३ ॥

[सस शतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये ।

हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥]

१ ‘कहं’ इति पदे ‘हं’ इति गुरुक्षरस्याऽपि छन्दोभङ्गमयाङ्गक्षरवदुच्चारणं विधेयम्, अत्र प्रमाणं प्राकृतपिङ्गले यथा—‘जह दीहो वि अ वणो लहु जीहा पढइ होइ सो वि लहु । वणो वि तुरिअपदिओ दोतिणिं वि एक जाणेहु ।’ इति । ‘यदि दीर्घमपि वणं लहुं कृत्वा जिहा पठति तदा सोपि वणों लहुरेव भवति । द्वा वणों त्रयो वा वणीस्त्वरितपटितास्तानेक एव वणं इति जानीत ।’ इत्येतद्विका । एवं ‘इं’ ‘हं’ इति वणीद्वयम्, ‘इं’ ‘जः’ इति वर्णद्वयं शुद्धम् । जवणीं (अन्यवर्णी)-मिलितं वा विकल्पेन लघु भवति । तथा रकारयुक्ते इकारयुक्ते वा व्यञ्जने परे-पूर्वक्षरं विकल्पेन लघु भवति, इत्यादिनियमाः सोदाहरणाः प्राकृतपिङ्गले द्रष्टव्याः । असामिर्मत्र वस्य गुरुक्षरस लक्ष्यक्षरवदुच्चारणं भवति तदुपरि एतादृशमर्थचन्द्राकारं चिह्नं स्थापितमस्ति । इति काव्यमालासम्पादकस्त्वर्गीयमहोपाध्याय श्रीगुर्ग्रंसादानां दिप्पणी ।

सप्त शतकानि कोटेर्मध्ये कविवत्सलेन हालेन ।

गाथानां रचितानि हि नानालङ्कारलितानाम् ॥ ३ ॥

कविगाथारत्कोषनिर्मणेन तत्कीर्तिश्चिरीकरणात्कीर्तीनां वत्सलेन हालेन शालिवाहनेन नानालङ्कारलितानां गाथानां कोटेर्मध्ये (मञ्ज्ञारो मध्यः) सप्तशतकानि विरचितानि संगृहीतानीति यावत् । गाथालक्षणं तु पिङ्गले—‘पठमं बारहू मत्ता वीए अडारेहि संजुता । जह पठमं तह तीअं दहपञ्चविहृनिआ गाहा ।’ संस्कृते तु बन्धानुरोधेनार्थगीत्यन्यतरच्छन्दसा साऽवबोद्धव्या ।

पलवगहनतया दिनेऽपि दुष्क्रिये कमलिनीपुलिने कयोश्चित्संकेतसंघटनाऽमीम् । तत्राऽन्याऽसत्ततयाऽनागत्यैव—‘दत्तसंकेता त्वं नागता, अहं त्वागतः’ इति वादिने कामुकं प्रति काचिदाह—

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तमिम रेहइ बलाआ ।

णिमलमरगअभाअणपरिडिआ संखसुत्ति व्व ॥ ४ ॥

[पश्य निश्चलनिःस्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्रिरिव ॥]

विसिनीपत्रे निश्चलनिःस्पन्दा पश्य राजति बलाका ।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्रिरिव ॥ ४ ॥

जनसंचाराभावाच्चिर्भयतया निश्चला चाऽसौ निःस्पन्दा च बलाका (बक्षी), निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्रिरिव शङ्खघटितं शुक्ल्याकारं चन्दनादिनिधानपात्रसिव राजते इति त्वं पश्य । अवाऽचेतनोपमया लेशोऽपि संचलनाऽभावः, तेन च नितान्तं निर्जनत्वं गम्यते । अनेन च व्यङ्गायैन—‘मिथ्या वदसि । न त्वमन्याऽगतोऽभूः’ इत्यर्थो व्यज्यते । चलनं शरीरकिया स्थानान्तरप्रापिका, स्पन्दस्त्ववयवकिया स्थानान्तरप्रापिका । एवं च पौनस्त्वत्यं नाऽश्वाहीन्यम् । यदा निःस्पन्दनेनाश्वस्त्वं तेन च जनरहितत्वं, तेन च सकेतस्यानसिद्धिनिति कथानित्वंनिश्चित्प्रति व्यज्यते । अथवा—‘कल्लोलिनीकाननकन्दरादौ हुःखाश्रये चाऽपिंतचिन्तयृतिः । गुदुकमारम्भमनिन्द्रधैर्यः श्लोऽपि दीर्घं रमते रतेषु ।’ इति कामशास्त्रादीर्घरमणार्थं नायकम्याऽन्यनित्तां कुर्वती काचिदाह । निश्चलोऽचलस्तद्विनिःस्पन्दा वेगविधारणप्रयत्नवशात् । निश्चलेति पुरुषसंबोधनं वा । तथा च यदि वेगविधारणपरोऽपि तदेनां बलाकां पश्यन्यमनस्कतया चिरं रमस्वेति भावः, इति गजाधरभृः ।

रतावपरितोषात्मुरतावसानोवितकृतिमोपचारशृन्यतया रतान्तेऽपि कटाऽभुजास्ति-झनादिविश्रमं कुर्वती नायिकां काचित्सखी शिक्षयति—

तावचिअ रहस्यमए महिलाणं विभमा विराशन्ति ।

जावण कुवलअदलसेछआँ मउलेन्ति णअणाडं ॥ ५ ॥

[तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।

यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥]

रतिसमये महिलानां राजन्ते विभ्रमास्तावत् ।

कुवलयदलसद्शानि न यावन्मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥ ५ ॥

रतिसमये महिलानामुत्तमस्तीणां न तु रमणीनाम्, तासां हि केवलं रमणमेव प्रयो-
जनसिति भावः । विभ्रमास्तावदेव राजन्ते पुरुषाणां भनोहारिणो भवन्ति यावदति-
सुखसंमोहिततया नयनानि मुकुलितानि न भवन्ति । अतस्ताहृशं नाथकमुपलभ्य रति-
सुखाऽप्राप्तावपि प्राप्तरतिसुखयेव खक्तविभ्रमया अत एव मुकुलीकृतनेत्रया त्वया
भाव्यमिति । अत्र प्राक्तनटीकाकुद्गजाधरभट्टः “पुरुषाणां नयनानि यावन् मुकुलितानि
न भवन्ति” इति व्याच्चर्हयौ । तदेतत्र रमणीयमिव । कामशास्त्रे सुरतान्ते नारीणां
सुरतसुखनिमीलिताक्षत्वमुपवर्ण्यते न पुंसाम् । तथा च अनङ्गरङ्गे—“नारी विसृष्टकुसु-
मेषुजला रतान्ते नित्यं करोति बहुवलग्नरोदने च । कैवल्यमेति मुकुलीकृतचारुनेत्रा
शक्तोति नो किमपि सोऽुमतिप्रयासा ॥” यद्वा विपरीतरतप्रसङ्गे सदर्पा कांचिदुद्दिश्य
कस्यचिदुक्तिरियम् । विभ्रमास्तावदेव हारिणो भवन्ति यावत्किल पुरुषायितपरिश्रम-
खेदालसतया नयनानि न मुकुलन्तीति । सरस्वतीकण्ठाभरणे-रसाश्रितेषु भावेष्वदाहता
सेयं गाथा । (परि. ५) ।

स्वविलासोपवनरोपितस्य फलपुष्पवन्धस्य कुरबकतरोदोहदमन्वेषयन्तं नाथकं प्रति
बहोः कालादलव्यनाथकसमागमाया नायिकायाः सखी वदति—

णोहंलिअमप्यणो किं ण मृगसे मृगसे कुरवअस्स ।

एअं तुह सुहग हसइ वलिआणणपङ्क्ताँ जाआ ॥ ६ ॥

[दोहदमात्मनः किं न मृगयसे मृगयसे कुरबकस्य ।

एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्क्तं जाया ॥]

किं नात्मनो मृगयसे विमृगयसे दोहदं कुरबकस्य ।

सुभगैवं तव जाया वलिताननपङ्क्तं हसति ॥ ६ ॥

सुभगमात्मानं भन्यमानस्त्वं मदालिङ्गनरूपं कुरबकस्य दोहदं प्रार्थयसे नात्मनः ।
एवं तव जाया संबन्धानुरोधेन भार्यामात्रं न तु प्रेयसी, वैमुख्यामिव्यज्ञनाय परा-
वर्तितसुखपङ्क्तं हसतीति भावः । किंच ‘जाया’ पदेन ‘सा सन्ततिजननोचिता’ इति
साकृतमुपालभ्यो व्यन्यते । स्तीणामालिङ्गनेन कुरबकविकासः कविसमयसिद्धः । यद्वा
‘णोहलिअं’ नवफलोद्भवसित्यर्थः । मदालिङ्गनेन कुरबकस्य फलोद्भमं प्रार्थयसे, आत्मनः
पुत्ररूपं फलं किमिति न प्रार्थयसे । अहो तव जाज्यमिति भावः ।

वसन्तसमये प्रवासोन्मुखं नायकं प्रति तत्प्रस्थानमाक्षिपन्ती नायिकासखी
समभिघते—

ताविजन्ति असोएहिं लडहवणिआओँ दइअविरहमिमि ।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पहुप्पन्तो ॥ ७ ॥

[ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे ।

किं सहते कोडपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥]

दयितविरहेऽप्यशोकैर्विदग्धवनिताः प्रताप्यन्ते ।

कस्यापि कोडपि सहते प्रभवन् पादप्रहारं किम् ? ॥ ७ ॥

अशोकैरननुभूतशोकतया परपीडाऽनभिज्ञः । दयितविरहेऽपि प्राणप्रियविगुक्ततया
दयावसरेऽपि विदग्धवनिता: दयितसमागमवियोगानुभवशालिन्यः प्रकर्षेण ताप्यन्ते ।
यतः प्रभवन् अवसरोपलब्ध्या समथो भवन् कोडपि कस्यापि पादप्रहारं किं सहते ?
अपि हु नेत्यर्थः । कान्तसशिधौ तु संतापसामर्थ्याभावादयितविरहेऽवसरमुपलभ-
मानैः प्रताप्यन्ते इति भावः । कोडपि कस्यापीत्यनेन असम्बन्धिनः कस्यापि कोपि
सम्बन्धविशेषरहितः किं पादप्रहारं सहते ? वरवर्णिनीचरणताडनरूपं दोहदं त्वयैव कारि-
तेयं मत्सखी तव विरहे लब्धाऽवसरे: साकुशयैरशोकैः प्रताप्यमाना संशयितर्जीविता
स्यादिति भावः । वनितासु विदग्धविशेषणेन ‘या: किल प्रियैकचित्ता दक्षिणा भवन्ति
ता एव विरहिकलताभविकमनुभवन्ति, ततश्च तस्य वैदर्घ्यं न त्वया दुःखकारणं
करणीयमिति प्रवासप्रतिषेधो ध्वन्यते । प्रोषितपतिकायाः सख्या तत्कान्तं प्रति
लिखिता विरहगाथेयमिति कश्चित् ।

कस्याश्वितकेनचिकासुकेन सह तिलवाटिका संकेतस्थानं नियतमासीत् । ततः पक्षेषु
तिलेषु संकेतस्थानान्तरं जारं प्रति श्रावयन्ती श्वश्रुं प्रत्याश्र्यकथनव्याजेनाऽह-

अन्ता तह रमणिङ्गं अहां गामस्स मण्डणीहूअम् ।

लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डम् ॥ ८ ॥

[श्वश्रु तथा रमणीयमस्साकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम् ।

लूनतिलवाटीसद्वशं शिशिरेण कृतं विसिनीषण्डम् ॥]

रमणीयं श्वश्रु तथाऽस्साकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम् ।

लूनतिलवाटसद्वशं विसिनीखण्डं कृतं हि शिशिरेण ॥ ८ ॥

‘श्वश्रु’ इति सम्बोध्यस्य मान्यतया निर्मायं निवेदनार्हैवाद्रक्तव्यस्य सत्यत्वं सूच्यते ।
पूर्वमस्साकं ग्रामस्य मण्डनस्थानीयं रमणीयं कमलखण्डं शिशिरेण हिमदग्धपलवतया
नालसात्रशेषत्वालूनतिलकोषेण तिलक्षेत्रेण समं कृतम् । पूर्वं हि पत्राद्याहरणार्थं
जनानां तत्र सञ्चारोऽभूदिदानीं तु नेदमपि इति पद्मसरसो विजनत्वं ध्वन्यते । अत-

एव पूर्व यथा तिलक्षेत्रं संकेतस्थलमासीत्था तदिदमिति भावः । केविच्चु 'तिलक्षेत्र-पद्मसरसोरभयोरप्यगुप्तवेन संकेतस्थानान्तराऽभावाद्गृहमेव संकेतस्थानमिति ध्वनिः' इत्याहुः । अभिसारिकाणां तिलवनाभिजनीखण्डयोर्बहुमानप्रसिद्धिरिति प्रसङ्गे सरस्वती-कण्ठाभरणे सेयमुदाहृता ।

कस्याश्वित्केनचित्सह शालिक्षेत्रं संकेतस्थलमासीत् । ततः पक्षेषु शालिषु तद्भज्ञं दृष्ट्वा रुदतीं तासुद्विद्यं संकेतस्थानान्तरं श्रावयन्ती सखी आह—

किं रुथसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिष्टेत्तेसु ।

हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥९॥

[किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु ।

हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥]

किं रोदिषि नतवदना शालिक्षेत्रेषु धवलितेष्वेषु ।

हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥९॥

हरितालेन धातुविशेषेण मण्डितमुखी नटीव । शणवाटिका तु पीतकुसुमस्तवकनिकर-मण्डितमौलि—शणतरुनिवहनिरन्तरतया हरितालमण्डितमुखीवेत्युपमा । अथवा हरीणां मर्कटानां जालेन (आलेन) मण्डितं मुखं प्रवेशमागो यस्या इति शणवाटिकाया निर्जनत्वेन संकेतस्थलं तदिति सूचितम् । मण्डितमुखीस्यनेन यथा शणवाटिका मण्डितमुखी, तथा त्वमपि संकेतस्थलनियमनेन प्रसन्नादया कृतमण्डना शृङ्खरनाद्य-माचरेति नायिकां प्रति सखी ध्वनयति । 'नतवदने'स्यनेन मुखमानं कृत्वा किं तिष्ठसि, पश्य मे इङ्गितानीति उन्मुखतासम्पादनं सूच्यते । अथ वा शालिक्षेत्रपाकस्य हृषीस्थानत्वेऽपि रोदनेन लक्षितशालिक्षेत्रसंकेतस्थला कापि परिहासशीलया क्याचिद्देवमुपहस्यते ।

कलहान्तरितां नायिकां कान्तानुवर्तनशीलां कर्तुं सखी आह—

सहि ईरिसि व्विअ गई मा रुच्वसु तिरिअवलिअमुहअन्दम् ।

एआण्ँ वालबालुङ्कितन्तुकुडिलाण्ँ पेम्माणम् ॥ १० ॥

[सखि ईद्येव गतिर्मा रोदिस्तिर्थगवलितमुखचन्द्रम् ।

एतेषां वालकर्कटीतन्तुकुडिलानां प्रेम्माम् ॥]

ईद्येव गतिः सखि तिर्थगवलितमुखेन्दु मा रोदीः ।

प्रेम्मामेतेषां शिशुकर्कटिकातन्तुकुटिलानाम् ॥ १० ॥

सखीत्वेन निर्वाजं शिक्षणाहें ! नवर्कटिकातन्तुकुटिलानामेतेषां प्रेम्मामी-द्येव गतिः, अर्थात् संनिहितमेवाऽनुवर्तन्ते । वैष्टितमेव वेष्यन्ति । 'शिशु-पदेन अतिनवीनतया मार्दवाऽतिशयान्मनागाकर्षणेनापि त्रुत्यन्तीति शीघ्रमनुनयः सूच्यते । कर्कटिकातन्तुरातिमृदुलो भवति ततश्च यत्र संसञ्ज्यते ततोऽन्यत्र संयोज्य-

मानसुवृत्तीति तार्पयम् । अत एव यावदन्यत्र दयितस्य प्रेमानुबन्धो न भवति तावरेव मानं विहाय तमेवानुवर्तस्वेति सखीं प्रति सूच्यते । एवं त्वदासक्तिचित्ता विरहविभुरेयं सानिनीं, तदेनां मनोमालिन्यादर्वोगेवाऽनुग्रहस्वेति कान्तं प्रलयपि व्यङ्ग्योऽर्थः ।

यहीतमानायाः कस्याद्विदनुग्राह्यं चरणपतितस्य भर्तुः पृष्ठमारुदं पुत्रं हृष्टा बन्धविशेषसमरणेन तस्या हास्योदयोऽभवदिति काव्यित्सखीं प्रत्याह—

पाअपडिआस्स पइणो पुट्ठि पुत्रे समाख्यहत्तम्मि ।

दढमण्णुदुणिणआएँ वि हासो घरिणीऐँ णेकन्तो ॥ ११ ॥

[पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समाख्यहति ।

दढमन्युदूनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ॥]

पादपतितस्य पत्युः संरोहति पृष्ठमग्रतः पुत्रे ।

निरगाद् गेहिन्या अपि हासो दढमन्युदूनायाः ॥ ११ ॥

पत्युः स्वामिनः, न तु वल्लभस्येत्यर्थः । पुत्रे समारोहतीत्यनेन पुत्रवत्त्या गलितत्यौ-वनायामप्यत्यन्यते । गेहिन्या इत्यनेन तस्या एव गृहस्वामिनीत्वात्यभावाति-शयो योख्यते । दढमन्युदूनाया इति प्रणामेऽपि कोपोपशमाऽभाववर्णनेन स्वाधीन-पतिकायात्तस्याः सौभाग्यदर्पाद्भृत्यविषयेऽनादरः, पत्युश्च तादृशामपि क्षेहातिशयो ध्वन्यते । यद्या कृतकलहयोर्दम्पत्यो रात्रिवृत्तमनुसंधायाऽऽगता सपलीं प्रति तद्वृत्तमाह ।

प्रियविरहकातरया क्याचित्प्रेषिता निष्ठार्था दूती विपरीतलक्षणया नायकं प्रशं-सारूप्यकमुपालभमाना भङ्ग्या खसखीमरणं च सूचयन्ती आह—

सच्च जाणहू दडुं सरसम्मि जणमिमि जुञ्जेत राओ ।

मरउण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से ॥ १२ ॥

[सत्यं जानाति द्रष्टुं सद्दशो जने युज्यते रागः ।

प्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥]

सत्यमवैति द्रष्टुं सद्दशि जने युज्यते रागः ।

प्रियतां न भणिष्यामि, श्लाघ्यं बत मरणमप्यस्याः ॥ १२ ॥

विपरीतलक्षणया “सा सत्यं द्रष्टुं जानाति, सद्दशो जने रागो युज्यते” इत्यनेन त्वद्रत्तचित्तायात्तस्या अनुरागातिशयमपरिजनति अत एव असद्दशो निःक्षेहे तत्स-दशो जने तस्या अनुरागो न युज्यते, अत एव न सा मौरध्याप्रेमानन्धतया वा द्रष्टुं जानाति । ततश्च परिणाममबुद्धैव यत्र कुत्रिचित्तीतिमादधती प्रस्वाहं प्रतप्यमाना सा स्वकर्मणैव प्रियतामित्येव वरम्, परं न त्वां तज्जीवनाय भणिष्यामीत्यर्थः । एवं च यदि स्त्रीवधपातकं नाऽकाङ्क्षसि तद्वित्ता सा त्वरितमेव जीवनीयेति नायकं प्रति

त्वरितोपसर्पणं धन्यते । अथवा न विपरीतलक्षणा । साधारण एवार्थो यथा—सा मत्सखी सत्यमेव द्रष्टुं जानाति, यतोऽनन्यरूपश्लाघिनी त्वद्रूपमेव बहु मन्यते इत्याशयः । ‘सदृशि जने रागो युज्यते’ इत्यनेन रूपाभिजनादिभिरनुरूपे त्वयि तस्याः समागमौ-त्सुक्यं युक्तमेवेति नायिकायाः स्तुत्यनुरागाभ्यां नायकग्रोत्साहनम् । त्रियतामित्यनेन तत्र समागममप्राप्य सा जीवितं जह्यादिति तस्या दशा सूच्यते । ततश्च तस्य छ्रीवध-पातकम्, आत्मनश्चानुरोधभङ्गभीरुत्वं धनितम् । अस्या भरणमपि श्लाघ्यमित्यनेन अनुरूपात्मानात्त्वदूतचित्ताया भरणे जन्मान्तरे त्वत्प्राप्तिसंभव इति प्रेमातिशयध्वननेन नायकचेतःप्रोत्साहनं सूच्यते । सरस्वतीकण्ठाभरणे अनुरूपविषयस्यानुरागस्योदाहरणे गृहीतेर्यं गाथा (५ परि.) ।

‘शृहकार्यसक्तायाः प्रेयस्या वस्त्रादिमालिन्यं न प्रियवैमुख्याय’ इति मालिन्यशङ्क्या गृहकार्यपराङ्मुखीं स्वसखीं प्रबोधयन्ती काचिदाह—

वरिणीएँ महाणसकर्मलभ्रमसिमलिइएण हत्थेण । छिं चुं मुहं हसिझइ चन्द्रावस्थं गअं पइणा ॥ १३ ॥

[गृहिण्या महानसकर्मलभ्रमसीमलिनितेन हस्तेन ।

स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥]

गृहिण्या माहानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन ।

स्पृष्टं मुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थां गतं दयितः ॥ १३ ॥

महानससम्बन्धिकर्मणो या मसी मलिनाम्बुकालिमा तया मलिनीहृतेन हस्तेन स्पृष्टम् संकान्तश्यामिकमित्यर्थः । अत एव सलाउठनसिवेति चन्द्रावस्थां गतं मुखं प्रेमातिशयनिबन्धनकुतुकेन दयित उपहसतील्याशयः । यस्य यदुचितं कर्म तदज्ञतिष्ठतो वैरूप्यमप्यलङ्करणमेव । यतो लभमसीश्यामिकमपि मुखं पत्या सपरिहासं चन्द्रेणो-पर्मीयते । अत एव कुलखीणां गृहकार्यविमुखत्वमनुचितमेवेति सखीं प्रति सूच्यते । छायायां छन्दोनुरोधेन कर्मवाच्यस्य कर्तृत्वाच्येन विपरिणमनं सद्यम् । दयितपदं तु ‘दयितत्वेनानुरागदृश्या मलिनीहृतमपि मुखं चन्द्र इवाहादयति’ इति स्वारस्यं पुष्टाति । सेयमात्मीया स्वा नायिकेति कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ।

फूत्कारमरुता वहावज्वलति कुप्यन्तीं काश्चित्प्रति स्वाभिलाषमभिव्यञ्जन्कश्चिदाह—

रन्धणकमणिउणिए मा जूरसु रक्तपाडलसुअन्धम् ।

मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पञ्जलइ ॥ १४ ॥

[रन्धनकर्मनिपुणिके मा कुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।

मुखमारुतं पिबन्धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥]

रन्धनकर्मनिपुणिके ! मा कोपी रक्तपाटलसुगन्धिम् ।

धूमायते पिबंस्ते मुखमरुतं नो शिखी ज्वलति ॥ १४ ॥

तत्र अधरप्राप्तर्थम् अभिष्ठुतपूजोचितस्य रक्षपाटलाकुसुमस्येव सुरभिशीतलो गन्धो
यस्य तम् । ते मुखमास्तं पिबन् शिखी धूमसुद्धिरति—न च प्रज्वलति । त्वं मा कोपं
कार्षीः । रोषारुणत्वन्मुखदिवक्षया इव धूमोद्भरुरूपं चाढुमयमभिराचरति । त्वन्मुख-
मास्तपानलालसयैव नायं ज्वलति, ज्वलिते तस्मिन्मुखमास्तदानानवसरात् । अग्नौ
कामुकचेष्टावर्णनेन साभिलाषो व्यनितः । त्वं तु रन्धनपरतया त्वदबलोकनकौतुकोप-
गतमपि मां हृष्ट्यापि नाभिनन्दसीति साकूतमुपालभ्यते । वैषयिकीषु रतिषु गन्धे रतिरि-
त्युदाहृतवान् कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ।

नवोढायाः कस्याश्विनूतनगर्भधारिण्याः कान्तं प्रति ग्रणयातिशयं सूचयन्ती
काचिदाह—

किं किं दे पदिहासइ सहीर्हि इअ पुच्छिआएँ मुद्राए ।
पटमुग्गअदोहणीै णवरं दइअं गआ दिढ्डी ॥ १५ ॥

[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्ठया मुग्धायाः ।

प्रथमोद्भृतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥]

किं किं नु रोचते ते मुग्धाया इति सखीविपृष्ठायाः ।
प्रथमोद्भृतदोहदिन्या दयितं प्रति केवलं गता दृष्टिः ॥ १५ ॥

किं किं रोचत इति बहुवस्तुगतमप्यभिलाषं सखीभिः पृष्ठया मुग्धया मौग्ध्याद्
गर्भायासमजानल्या तया, दृष्ट्या केवलं दयिताऽभिलाषः सूचितः । सर्ववस्तुस्थाने
दयित एव सर्वात्मना कामनीय इति भावः । यद्वा प्रश्ने सति दयिते इष्टिदानेन ‘ममा-
भिलाषमपि दयित एव जानातीति दयिते हृदयैक्यमभिव्यज्यते । अथवा सपल्नीं प्रति
सासूयस्य सपल्नीजनस्योपालम्भवादोयम् । मुग्धाया इति मोहवशाद् गर्भायासमप्यपरि-
गणयन्त्याः । प्रथमोद्भृतेति । बहुवरं प्रसूतास्तु गर्भेदखिन्नाः पूर्वानुभवात्सुरतायासं
परिहरन्ति । इयं त्वनुभूतप्रसवयेदा त्रियसमागममेव परमभिलष्टतीति तदाशयः ।
संभोगपरीष्टिषु, दोहदेन मुग्धायाः प्रेमपरीक्षेति सरस्तीकण्ठाभरणम् (५ परि.) ।

प्रेषितपतिका काचिद्विरहदाहृत्वैकल्यमभिव्यज्यन्ती कान्तसमागमविषये परिजनं
त्वरयितुं चन्द्रप्रार्थनान्याजेनाह—

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द्र दे छिवसु ।

छित्तो जेहिं पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहि ॥ १६ ॥

[अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।

स्पृष्ट्यै थैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥]

अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश माम् ।
तैरेव तात किरणैर्यैरिह मे प्रियतमः स्पृष्टः ॥ १६ ॥

‘दे’ शब्दः साकुनयसंबोधने । अमृतमयेत्यनेन जगजीवनहेतुत्वं शिशिरसुखत्वं च, गगनशोखरेखनेन उन्नततया अखिललोकलोचनानन्दकारित्वम्, रजनीमुखतिलकेत्यनेनाऽबलाजनपक्षपातित्वम्, तातेखनेन सदयत्वम्, चन्द्रेखनेनाहादकत्वं चाभिव्यञ्जयते । एवंविधोपि त्वं मां निर्देयं दहसि । प्रवासिनं मद्धितं तु अमृतशिशिरैः करैः स्पृशसि, अत एव नाऽप्याप्यायाति । ततो मामपि तैरेव करैः स्पृश, येन विरहवैधुर्यं सहेयेति भावः । प्रेमपुष्टिषु, प्रलापः सोयमित्युदाहृतं कण्ठाभरणे भोजेन (५ परि.) ।

सखि मुश्वेदानीं विषादम् । आगत एवाऽयं श्वो वा तत्र वशभः । किंतु आगतमात्र एवासौ न त्याभिनन्दनीयः, अपि तु मानोपालम्भादिभिः सुचिरं परिखेय, ततोमे प्रवासनिवृत्तिं स्वीकार्य ततोसौ परिरम्भादिभिः संभावनीय इति सखीभिः शिक्षिता प्रियतमोत्कृष्टिता प्रोषितपतिकाह—

एहइ सोवि पउतथो अहं अ कुप्येज्ञ सोवि अपुणेज्ञ ।

इअ कस्स चि फलइ मणोरहाण्ँ माला पिअमम्मि ॥ १७ ॥

[पृथ्यति सोऽपि प्रोषितो अहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति ।

इति कस्सा अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥]

सोऽप्येष्यति प्रवासी, कोपिष्याम्यहमथाऽनुनेष्यति सः ।

इति कस्यापि फलति किल मनोरथानां प्रिये माला ॥ १७ ॥

प्रोषितः स एष्यति, निरनुक्रोशे बहोः कालादनन्तरभागते तस्मिन्नुत्कृष्टिता तदा-गमनमात्रसुखिताऽहं कोपिष्यामि, कोपोपि तावत्कालं स्थायति यावत्स मामनुनेष्यति, इति किल पूर्वतः स्थिरीकृता मनोरथानां माला कस्यापि भाग्यशालिन एव प्रियविषये फलति न मत्सदृश्याः, या किल द्वृमात्रे पतत्वेव सर्वात्मना कान्तवशंवदा मानेष्यस-मर्थी । एवं च इयच्चिरं प्रियतमाऽगमने या मानं दधति कठोरचित्तास्ता एव धन्या भवन्तु नाहमिल्यात्मनोऽनुरागातिशयो ध्वनितः । गङ्गाधरभट्टसु “कान्तस्य निरनु-क्रोशत्वात्, आत्मनश्च कान्तावधीरणभीरुत्वात्, इयच्चिरं प्रेमानुवन्धस्या संभाव्यमानत्वाच्च सर्वमेतन्मनोरथमात्रमिल्याशयेनाह—इतीति । कस्यापि धन्यजनुष एतत्सम्पद्यते । मम तु मन्दभास्यायाः कुत एतदिति भावः ।” इति वदन् कान्ताऽगमनादिकं सर्वमेव मनोरथमात्रं व्याच्छ्वयौ । ‘समारहति’ ‘कुपिष्यामि’ इत्यादिव्याकृतिविरोधास्तु कद-चन लेखकमुद्रकयोरेव प्रमादो भवेत् । प्रवासे, आलिङ्गनादीनां कालहरणमित्युदाहृतं भोजेन ।

कथमेषु दिनेषु दुर्बलोसीति मित्रेण पृष्ठस्य प्रियतमस्य बहुमहिलाऽकर्षणं काचि-त्सेष्योपालम्भमन्यापदेशेनाह—

दुग्गअकुद्गम्बअट्टी कहं णु मएँ धोइएण सोढब्बा ।

दसियोसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पडएण ॥ १८ ॥

[दुर्गतकुदुम्बाकृष्टिः कथं नु मया धौतेन सोढव्या ।

दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन ॥]

दुर्गतकुदुम्बकृष्टिर्धैतेन मया कथं नु सोढव्या ।

इति पश्य दशाऽपसरत्सलिलेन पटेन रुदितमिव ॥ १८ ॥

इयत्कालमहं दरिद्रकुदुम्बकृतमाकर्षणं सोढवानस्मि, परं धौतेन मया जलसम्बन्धात्स्मिततनुतया जीर्णताधिक्ये, आकर्षणं कथं सोढव्यमिति शङ्कया खेदात् दशाभ्यः प्रान्तेभ्योऽपसरत्सलिलेन पटेन रुदितमिव । अर्थाद्वलादाकर्षणवशादचेतनोपि पटः प्रान्तगलज्जलधाराच्छलेन रोदिति, ततो विदर्घोर्यं मत्कान्तो बहुमहिलाच्छन्दाच्छत्त्या कथं न खिञ्चः स्यादिति ध्वन्यते । यद्वा कापि वैश्या धनदानं विना बहूनां ग्रामप्रधानानामाकर्षणजन्यसुद्वेगं कुद्रनीं प्रति सूचयितुमित्यं कथयति । वास्तवे तु सप्तशालां हालेन संगृहीतान्येवमादीनि नीतिसूक्ष्मिकरत्वानि ‘अमृतं प्राकृतकाव्यम्’ इत्यादिपद्ये प्राकृतकाव्यस्य कामशास्त्ररहस्यप्रतिपादकत्वप्रतिज्ञाबलादेव टीकाकार्यबलाच्छङ्गारपरतया व्याख्यातानि । परं प्राकृते शृङ्गारेतरप्रतिपादकं पद्यमेव नास्तीति नैतत्तात्पर्यम् । यत्किमप्यस्तु । प्राचामनुरोधादनिच्छयापि मयापि शृङ्गारपरतयैव व्याख्यातानीत्यलं मार्मिकेषु ।

कोप्यात्मनः परवशतामनुरागातिशयं च नायिकां प्रति प्रकाशयितुं नायिकागृहगम्यिनं वत्समन्याऽपदेशेनाह—

कोसेम्बकिसलअवण्णअ उण्णामिएहि॑ कण्णोहि॑ ।

हिअअद्विअं धरं वच्चमाण धवलत्तणं पाव ॥ १९ ॥

[कोशाम्रकिसलयवर्णं तर्णक उच्चामिताभ्यां कर्णाभ्याम् ।

हृदयस्थितं गृहं व्रजन्धवलत्वं प्रामुहि ॥]

उच्चामितश्रवोभ्यां तर्णक कोशाम्रकिसलयसवर्णं ।

हृदयस्थितं व्रजन्धृहमवामुहि त्वं नु धवलत्वम् ॥ १९ ॥

उत्कण्ठावशादुच्चामिताभ्यां कर्णाभ्यामुपलक्षित । वीजकोषाच्चिसृताम्रकिसलयसवर्णे । रक्तमसृणेति यावत् । एवंविध है तर्णक ! हृदयानुचिन्तितं गृहं व्रजन् धवलत्वं षण्डलं श्रेष्ठतां वा प्रामुहि । अहमिव हृदयाऽनुध्यातगृहप्रवेशे पराधीनवृत्तिर्मा भूया इति भावः । अथवा यां वृद्धां कामयसे तस्याः कृते त्वं तर्णक इवेति कयाचिदकुष्या कवित्पत्युच्यते ।

शश्यामनागच्छन्तीं प्रियतमां प्रतीक्ष्य तद्वावजिज्ञासार्थं मध्येशश्यं कृत्रिमनिद्रानि-मीलिताक्षमत एव कपोलचुम्बनपुलकिताङ्गत्वेन विदितमिथ्यास्वापं कान्तं कान्ताऽऽह—

अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्ज ओआसम् ।

गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्गण पुणो चिराइस्सम् ॥ २० ॥

[अलीकप्रसुप्तकविनिमीलिताक्ष है सुभग ममावकाशम् ।

गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥]

कृतकस्वापनिमीलितनयन सुभग देहि मह्यमवकाशम् ।

गण्डपरिचुम्बनोद्भूतपुलक पुनर्नैव चिरयिष्ये ॥ २० ॥

शयनीयमध्ये मह्यमवकाशं देहि अत्रै नैवं चिरयिष्यामीत्यनेन आत्मापराधक्षमा-
यनरभसेन नायिकाया अपि रसोद्भूमो व्यज्यते । केविच्चु—‘देसु हथमज्ज्ञओआसम्’
इति पदच्छेदं विद्याय ‘हतमध्य अङ्गविन्यासेन रुद्रमध्य अवकाशं देहि’ इति व्याचक्षते ।
गण्डपरिचुम्बनेत्यादिविशेषणेन नायिकायाः प्रियेज्जितज्ञानं यूनोक्तं परस्परमनुरागश्च
च्छन्यते । पुंसो व्याजोदाहरणे गृहीतेयं गाथा भोजेन (५ परि.) ।

वैश्याऽऽहानार्थमागते नायकसुहृदि पूर्वतो शृहाऽवस्थितं विटमाच्छादयन्ती वैश्या-
प्राता दुहितरमाह—

असमन्तमण्डणा विअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स ।

बोलाविअहलहलअस्स पुत्रि चित्ते ण लगिहिसि ॥ २१ ॥

[असमाप्तमण्डनैव ब्रज गृहं तस्य सकौत्तहलस्य ।

च्यतिक्रान्तौसुक्यस्य पुत्रि चित्ते न लगिष्यसि ॥]

असमाप्तमण्डनैव ब्रज गृहं तस्य कौतुकिनः ।

नातिगतौत्सुक्यस्य प्रसंक्ष्यसे मानसे पुत्रि ॥ २१ ॥

सकौत्तहलस्य तस्य गेहमसमाप्तमण्डनैव ब्रज । मण्डनविलम्बवशाङ्गतिक्रान्तोत्कण्ठस्य
तस्य चित्ते न प्रसक्ता भविष्यसीत्यनेन वैश्यास्तुरागोदयो गाढोत्कण्ठानामेव पुंसां
भवति, औत्सुक्यशैथिल्ये तु चेतः प्रसक्तिर्हायत इति वृद्धायाः कुट्टन्या अनुभवः प्रकटी-
कियते । एवं च मण्डनकरणेनैवाऽस्या विलम्बो जाते नान्यप्रसङ्गेनेति युक्त्या भुजङ्गो-
पनम् । पुंसः कुत्तहलस्योदाहरणमिदं सरस्वतीकण्ठाभरणे ।

कश्चिज्ञागरिकः शृण्वतीषु रसिकवामासु तच्चित्तहरणार्थं रजस्वलाया अप्यपरित्या-
गेनात्मनः कामुकत्वातिशयं प्रकटयन् सहचरमाह—

आअरपणामिओँ अघडिअणासं असंहअणिडालम् ।

वण्णधिअतुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥ २२ ॥

[आदरप्रणामितौष्टमधटितनासमसंहतललाटम् ।

वर्णघृतलिप्तसुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्तरामः ॥]

आदरनमिताधरपुटमधटितनासिकमसंहतललाटम् ।

वर्णघृतलिप्तसुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्तरामोऽद्य ॥ २२ ॥

हरिद्रावर्णमिश्रं घृतं वर्णघृतम् । देशविशेषे रजस्वलामुखं वर्णघृतेन लिप्यत
इति काचित्प्रथा । तस्याः, यस्याः सौन्दर्यं मया त्वयि प्रकटितम् । एवंविधामपि मां न

परिहरतीत्यादरेण स्वेच्छाप्रकाशनार्थं चुम्बनाय नमितोधरपुदो यस्मिन् । अधरपुट एव चुम्बनसमयादोषप्रपेक्षया खारस्यम् । वर्णवृत्तेन चिह्ननभयाद् असंयोजिता नासिका यत्र, तथा असंहतललाटम् । परितः सर्वतथुम्बनमय स्परामः, तत्स्वृतिरवापि नापयातीलर्थः । यदा ग्रोषितः कश्चित्प्रियायाः स्पृष्टकं नामानुरागातिशयसूचकमालिङ्गनं स्मरन्ब्रात्सानं विनोदयतीति गाथातपर्यम् । ‘परिउम्बणं’ परिम्भणं यात् ।

जनसंमदेष्मि प्रियतमं प्रति प्रकाशितश्वङ्गारचेष्टां सखीं प्रबोधयितुं प्रच्छन्नकामुकोक्तं कुलजाया गाम्भीर्यगुणं काचिदाह—

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकपोला ।

गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिअां ण सहधिसो ॥ २३ ॥

[आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला ।

प्रातरप्यवनतमुखी इयं सेति प्रियां न श्रहध्मः ॥]

आज्ञाशतानि ददती तथा रते हर्षविकसितकपोला ।

प्रातस्त्ववनतवदना न श्रहध्मः प्रियां सेति ॥ २३ ॥

रते सुखजनितहर्षेण पुलकितकपोला सती । एहाणाधरम्, परामृश नितम्बम्, मुच्च चिकुरमेलादीन्याज्ञाशतानि तथा ददती, प्रातस्तु-किमप्यजानतीवाऽवनतवदना । ‘रात्रिसंगता सेयं प्रिया’ इति न विश्वसिमः । प्रातस्तु-इति अपिष्याने तुरेवार्थसमर्पकः । लोकसमक्षं गूढाकरतैव नायकप्रतिहेतुः, न तु चावल्यसिति भावः ।

अन्यानुरक्ततया सविधमनागच्छन्तनं पुनर्गुरुजनमयादां च कारणीकुर्वणं नायकमुपालभमाना कुलीनतानमस्कारच्छलेन काचिदाह—

पिअविरहो अपियदंसं अ गहआइँ दो वि दुक्खाइँ ।

जीए तुमं कारिज्जसि तीए णमो आहिजाईए ॥ २४ ॥

[प्रियविरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे ।

यथा त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै ॥]

प्रियविरहोऽप्रियदर्शनमपि गुरुके द्वे इमे दुःखे ।

त्वं कार्यसे यथा किल तस्यै नम आभिजात्यै ते ॥ २४ ॥

प्रियायात्स्याः विरहः, अप्रियायाः मम च दर्शनम्, द्वे अपि गुरुके इमे दुःखे यथा कार्यसे त्वम् अनुभाव्यसे, तस्यै ते आभिजात्यै कुलीनतायै नमोऽस्तु । करोति-रत्राऽनुभवार्थः । अत एव मा दुःखमनुभवेत्यर्थं मा दुःखं कार्णीरिति व्यवहियते । असिंचृतुज्ञानाद्यवसरेऽपि यन्मासुपागतोऽसि तदपि बन्धुजनाभ्युर्घनां धर्ममर्यादां वाऽनुसन्धान एव, न तु लेहेनेत्यहो ते कौलीन्यसिति प्रच्छन्न उपालम्भो ध्वन्यते ।

गमनाय सजीभूतोऽपि कथमयं न ग्रस्तित इति केनचित्पृष्ठे सपरिहासं तद्वयस्य आह—

एको वि कल्पसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो ।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ २५ ॥

[एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन् ।

किं पुनर्बाधाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥]

एकोपि कृष्णसारो न ददाति वलन् प्रदक्षिणं गन्तुम् ।
किं पुनरस्माकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥ २५ ॥

प्रदक्षिणं वलन् दक्षिणतो वाममागच्छन्नित्यर्थः । एकोपि कृष्णसारस्तथाविधो मृगो
गन्तुं न ददाति । कृष्णसारे मृगे प्रदक्षिणं वलति यात्रा न सिध्यतीति शाकुनिकाः ।
पुनः बाधाकुलितं तथाविधयोः कृष्णशारयोः प्रियाया लोचनयोर्युगलं तु किमिति
भावः । ‘बाहाउलिअं’ इत्यस्य मृगपक्षे ‘व्याधाकुलितम्’ इत्यभिज्ञातव्यम् । संस्कृते
तदिदं न संभवति । तथा च कान्तास्तेहनिगडितोयं न प्रवसतीति योतितम् । हयं प्रवा-
सविलम्बेन पुंसः प्रेमपरीक्षेति सरस्तीकण्ठाभरणे भोजः ।

कथिद्यन्यविनितासक्तः प्रियथा सोपालभ्यमधरीकृतोऽभवत् । ततः खापराधप्रच्छा-
दनाय मानमभिनयन्तमनुनीयमानप्यनुनयमगृह्णन्तं प्रणविनी सप्रेमदण्डमाह—

ण कुणन्तो विअ माणं णिशासु सुहसुचदरविबुद्धाणम् ।
मुण्णइअपासपरिमूसणवेअणं जइ सि जाणन्तो ॥ २६ ॥

[नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुसदरविबुद्धानाम् ।

शून्यीकृतपार्श्वपरिमोषणवेदनां यद्यज्ञास्यः ॥]

मानमकरिष्य इह नो निशासु सुखसुसदरविबुद्धानाम् ।

शून्यितपार्श्वविमोषणपीडामज्ञास्य एव यदि ॥ २६ ॥

निशासु स्वकान्तया सह सुखसुसानां भव्ये च किञ्चिद्विद्विद्वानां ततोऽन्याभिसारिष्या
स्वकान्तया शून्यीकृतेन पार्श्वेन (शर्यैकदेशेन) यत्परिमोषणं प्रतारणं तेन या वेदना
तां यदि त्वमज्ञास्यसदा त्वमिह अस्मिन्नन्यासक्तिविषये मानं नाऽकरिष्य एवेति योजना ।
यथा त्वमन्यासक्तोपि दोषमनभ्युपगच्छन् मानेन मां सुभृशं व्यथयसि, तथाहमप्य-
न्यासक्ता स्यां तदा त्वमिमां वेदनां जानीयाः । ममैवायं दोषः, यदहं त्वत्प्रणयभज्जं न
करोमीति भावः ।

कृतकलहयोर्दम्पत्यो रात्रिवृत्तान्तपरिज्ञानायाऽऽगता प्रियसखी प्रणयरोषविनिवृ-
त्यर्थमाह—

पणअकुविआणं दोळ वि अलिअपसुताणं माणइङ्गाणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिणकणाणं को मळ्हो ॥ २७ ॥

[प्रणयकुपितयोद्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।

निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मङ्गः ॥]

प्रणयकुपितयोरुभयोरपि मानवतोरलीकनिद्रितयोः ।

निभूतनिरुद्धश्वासाऽवहितश्वसोर्तुं को मङ्गः ॥ २७ ॥

स्वानिःश्वासशब्दान्तरायेण अपरस्य निःश्वासशब्दो न श्रूयत इति निभूतं निश्चलं
निरुद्धनिःश्वासयोत्तथा च परस्परशब्देऽवहितश्वसोर्दत्तकर्णयोरत एव कृतकप्रसुप्तयो-
र्मानवतोः । दत्तकर्णतया कृत्रिमनिद्रा प्रतीता । परस्परनिःश्वासकर्णेनदत्तावथानतया
मानेऽपि परस्परमभिलाषः सूच्यते । अवहितश्वसोरपि मानवतोरित्यनेन परस्परमनुनये-
च्छायामपि बलादभिनीतमानयोरित्यहो अद्गुतो मान इति परिहासो द्योल्यते । को मङ्ग
इत्युपालभ्यप्रश्नः । न कोपीत्यर्थः । परस्पराऽवधीरणाऽसमर्थौ युवां वृथैवात्मानं खेद-
यथ इति भावः ॥

काचिद्गृती नायिकाया देवरातुरकालत्वेनाऽसाध्यतां सूचयन्ती कामुकं प्रस्ताव—

णवलअपहरं अङ्गे जहिं जहिं महइ देवरो दाउम् ।

रोमञ्चदण्डराई तहिं तहिं दीसइ बहूए ॥ २८ ॥

[नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम् ।

रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥]

नवलतिकाऽहतिमिच्छति यतो यतोऽङ्गेषु देवरो दातुम् ।

रोमाञ्चदण्डराजिस्ततस्ततो दृश्यते वध्वाः ॥ २८ ॥

येषु येष्वङ्गेष्विष्विति सप्तम्यर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । बहुवचनेन सर्वेष्वप्यङ्गेषु रोमाञ्चो-
दयेन रसोत्कर्णी धन्यते । नवलताया आहतिः प्रहारः प्रणयविभ्रममभिव्यनक्तिः ।
दण्डपदं रोमाञ्चकण्ठकानां दृष्टावस्थानेन सात्त्विकस्यैर्य धन्यति । ‘वधू’पदेन श्वशुरा-
दीनां कुटुम्बे कृतावस्थाना गृहवासिना देवरेण च बद्धभावा नेयं साधयितुं शक्यत
इति, कामुकं प्रति धन्यते । सेयं ‘कृतलतिका’नामी कीर्तेति सरखतीकण्ठाभरणे
भोजः । तत्र हि ‘कस्ते प्रियतमः’ इति पृच्छद्विः नवलताभिः प्रियो जनो हन्यते ॥

प्रोषितपतिका प्रियतमसभीपगामिनमध्यगं सखीजनं वा तदानयनत्वरार्थमेवमाह—

अङ्ग मए तेण विणा अणुहूअसुहाइँ संभरन्तीए ।

अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्जपडहो व्व ॥ २९ ॥

[अद्य मया तेन विना अनुभूतसुखानि संसरन्त्या ।

अभिनवमेवानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥]

तेन विना वत मयका ह्यनुभूतसुखानि संसरन्त्याऽव्य ।

नादोऽभिनवघनानां निशामितो वध्यपटह इव ॥ २९ ॥

गर्जितश्वरणाद्वर्षासु पूर्वानुभूतसुखानि संसरन्त्या भया मेघानां रवो वध्यपट्टह इव
वध्यस्थानं नीयमानस्य दोषशोषणापटहशब्द इव श्रुत इति भावः । एवं च वर्षास्मिति
तदनागमने मे भरणमवद्यंभावीति यत्समथप्राप्तं तद्विद्धीयतास्मिति ध्वनितम् ॥

असुन्दरभार्यानुरागितया दूतीजनसंघटनापराञ्जुखं ग्रामपालपुत्रं कस्याद्यित्संगमा-
योत्साहयितुं कान्चिहृती सोपालम्भमाह—

णिकिव जाआभीरुअ दुहंसण डिम्बईडसारिच्छ ।

ग्रामो ग्रामणिणन्दण तुज्ज्ञ कए तह वि तणुआइ ॥ ३० ॥

[निष्ठुप जायाभीरुक दुर्दीर्घन निम्बकीटसदक्ष ।

ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥]

निष्ठुप जायाभीरुक दुर्दीर्घन निम्बकीटसंनिभ हे ।

तनुकायते कृते ते ग्रामोयं ग्रामणीसूनो ॥ ३० ॥

असुरक्षसुन्दरीजनविमुखताविन्दिदय ! जायाभीरुक भार्यापरतच्च ! अतएव स्वच्छन्द-
विहरणाभावाद्वर्दीर्घन दुर्लभदर्शन ! एवं तु असाद्वशान्त्रैवाकारयसि, परं स्वैरविचरणभा-
वान्मार्गादिव्यपि तव दर्शनं दुर्लभमिल्यभिप्रायः । निम्बकीटसंनिभ, तिक्तश्चिशालितया
निम्बकीटो यथा दूपरिहरणयोरये निम्ब एव रमते तथा सुन्दररमणीषु स्वच्छन्यस्वं
कुरुपायामेव भार्यायां व्यासज्ज्वरे, अत एव निम्बकीटसदक्षा हे ग्रामणीसूनो ग्रामपालन-
न्दन ! त्वं हि ग्रामप्रमुखस्य पुत्रः कस्त्वां दमयितुं शक्तः, अत एव भवता तु निर्भयेण
भाव्यम्, परं भवांस्तु जायाभीरुकतया न तथेति निर्भयताप्रदर्शनेन प्रोत्साहनं व्यज्यते ।
अयं ग्रामः, ग्रामनिवासी समग्रोपि विलासिनीजनः, तव कृते ‘कर्थं भवता समागमः
स्यात्’इति भवच्चिन्तया तनुकायते दुर्बलो भवति । ‘त्वं तथा कमनीयो यथा सकलोपि
कामिनीवर्गस्त्वां कामयते । त्वं तु कुरुपापरवशो न तं वीक्ष्येऽइति भावः । ‘ग्रामस्तु-
कायते’ इत्यनेन सुन्दरकामिनीवर्गः शनैः शनैर्हसति, यतस्त्वत्सदक्षा न तस्मै विलासा-
वलम्बनं ददतील्यपि सूच्यते ॥

ग्रामणीसुतयोषिद्वजुरक्तल्वेषिपि तद्भूतुः सुभटतया भयेन नाभ्युपगच्छन्तं कंचित्कामुकं
प्रोत्साहयितुं पस्यावनिच्छ्या तस्याः सुखसाध्यां पुरस्य सुखप्रवेशनिर्गमतया निरपायतां
च सूचयन्ती दूती सुभटस्तुतिव्याजेनाह—

पहरवणमग्गविसमे जाआ किञ्छेण लहड़ से णिद्य ।

ग्रामणिउत्तस्य उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥ ३१ ॥

[प्रहारव्रनमार्गविषमे जाया कुच्छेण लभते तस्य लिङ्गाम् ।

ग्रामणीपुत्रस्योरसि पल्ली पुनः सा सुखं स्वप्निति ॥]

प्रहारव्रनमार्गविषमे कुच्छाज्जायायाऽस्य निदितं लभते ।

स्वप्निति पुनः पल्ली सा सुखमुरसि ग्रामणीसूनोः ॥ ३१ ॥

‘उरे’ इत्यस्य प्राकृते ‘उरसि’ ‘पुरे’ वा इति द्विधाऽर्थः संभवति । एवम् ‘पहरवणमग्नविषमे’ इति विशेषणस्यापि ‘प्रहारवणमार्गविषमे’ इति ‘प्रहरवणमार्गविषमे’ इति चोभयथाऽर्थः । शास्त्रप्रहारवणकिञ्चिंविषमे लिङ्गोचतकर्कशेऽस्य आमणीपुत्रस्योरसि जाया पलीत्वेन वशंवदा स्त्री कृच्छ्रेण निद्रां लभते । अनिच्छन्त्यपि भयात्तमालिङ्ग्य स्वपितीत्यर्थः । पुरपक्षे तु—प्रहरेण गम्यो यो वनमार्गस्तेन विषमे दुर्गमे तस्य पुरे, पक्षी लक्षणया आमवासी जनः सुखं स्वपिति । पुरस्य सुराक्षिततया निःशङ्कं निद्राति, न कोऽपि जागर्तीत्यर्थः । किंच—मार्गस्य प्रहरगम्यतया न कोपि भवन्तं निर्गच्छन्तमनुस-रिष्यतीत्यपि व्यज्यते । सा किल तस्य जाया, वहुवल्लभत्वात्तस्य स्त्रीमात्रम् न तु प्रियतमा । अत एवाऽसंतोषेण निद्रामलभमाना सा साऽवसरेव । अतस्तत्र निर्विशङ्कं गच्छते कामिनं प्रति दूख्या द्योल्यते । संस्कृते द्वयोरर्थयोर्युगपत्संग्रहाभावेन अर्थाऽनुगतशब्दानुसारं द्विधा पठनीयं स्यात् ॥

आसक्तिवशाद् गोत्रस्खलिते सत्यन्यनायिकानामा संबोध्य मानेऽनुमयन्तं नायकं धीरा खण्डिता प्रणयकोपवक्ततया सविनयोपालम्भमाह—

अह संभाविअमग्नो सुहश तुए जेव णवरँ णिवृद्धो ।

एहिं हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥ ३२ ॥

[अयं संभावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः ।

हृदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य ॥]

संभावितमार्गोऽयं निर्व्यूढः सुभग केवलं भवता ।

हृदयेऽन्यद्वचनेऽन्यद्वृन्मिदानीं तु लोकस्य ॥ ३२ ॥

नूनमस्मिन्समये लोकस्य हृदये अन्यत् वचने त्वन्यत्—अयं पुनः प्राकृतः संभावित-मार्गः श्रेष्ठपुरुषाणां समयः केवलं भवतैव निर्व्यूढो यद्यदये स्यात्तदेव वचने इति । तत्र हृदये सैव रात्रिसहचरी रमते अत एवानुनयेषि तज्जामैव गृहीतम् मौखिकेन प्रियवच-सापि न मम नाम । अहो ते श्रेष्ठतेति भावः ॥

पत्वुरन्यासङ्गेन प्रणयकुपिता पराङ्मुखं शयाना काचित्पृष्ठाभिमुखसुतं कान्तमाह—

उल्लाँह णीससन्तो किंति मह परंमुहीए सअणद्धे ।

हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुढिं पलीवेसि ॥ ३३ ॥

[उष्णानि निःश्वसन्किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्थे ।

हृदयं प्रदीप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदीपयसि ॥]

उष्णानि निःश्वसन्किल शयनाद्दें किमिति मम पराङ्मुख्याः ।

मानसमप्यनुशयतः प्रदीप्य पृष्ठं प्रदीपयसि ॥ ३३ ॥

शयनीयाद्दें पराङ्मुख्याः । पूर्वं तत्र मम चोभयोः शयनीयमेकमासीनं विभक्तम् ।

इदानीं न तथेति स्वकीयेद्देष्टु पृष्ठं परावृत्त्य शयानायाः । त्वचिन्तामप्यकुर्वाणाया इत्यपि पराङ्मुखत्वेन धन्यते । सपलीसमुत्कर्षजनितेनानुशयेन सम मानसं प्रदीप्य, उष्णनिः-
श्वासैः पृष्ठमपि किमिति प्रदीपयसि । अथवा पराङ्मुखायाः इति विपरीतमुच्यते । अहं तु त्वत्तः प्रेमपराङ्मुखी अस्मि । तामेवानुकूलां बहुभासुपगच्छ । विश्वासाभिनयादिभि-
र्मामात्मानं च किं मुधा खेदयसीति भावः ॥

अवधिदिवसेष्यनागतं नायकं स्वयमुपगता दूरी कस्यात्थिद्विरहिण्या अवस्थामेवमाह—

तुह विरहे चिरआरआ तिणा णिवडन्तवाहमइलेण ।

रहरहसिहरधएण व मुहेण छाहि विअ ण पत्ता ॥ ३४ ॥

[तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्वाष्पमलिनेन ।

रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन च्छायैव न प्राप्ता ॥]

तव विरहे चिरकारक तस्याः पतदश्वपूरमलिनेन ।

छाया मुखेन नासा रविरथशिखरध्वजेनेव ॥ ३४ ॥

अवधिदिवसलहनात् चिरकारक ! पतदश्वपूरमलिनेन निपतद्वाष्पमलिनेन तस्या मुखेन तव विरहे छायैव कान्तिरेव न प्राप्ता । तव समागमे या कान्तिरभूसा एकदिनमपि न होते भावः । यथा सूर्यसांनिध्याद्विरथध्वजेन कदापि छाया झातपाभावो न प्राप्त इति । ‘छाया सूर्यप्रभा कान्तिः प्रतिविम्बमनातपः’ अमरः । ततथ चिरकारितां परिल्यज्य विरहविकलमेनामनुकम्पयेति व्यञ्जयोऽर्थः ॥

नववधूं सतीवृत्तशिक्षणार्थं कापि कुटुम्बसंभाविता पुरन्द्री आह—

दिअरस्स असुद्गमणस्स कुलवहू णिअअकुहलिहिआइं ।

दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसौमित्तिचरिआइं ॥ ३५ ॥

[देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजकुञ्जलिखितानि ।

दिवसं कथयति रामानुलग्गसौमित्तिचरितानि ॥]

कुञ्जलिखितानि दूषितमनसो ननु देवरस्य कुलयोषित् ।

दिवसं कथयति रामानुलग्गसौमित्तिचरितानि ॥ ३५ ॥

कामविकारेण दूषितमनसो देवरस्य, देवरं प्रतीति भावः । कुलवधूः, कुलीनतया कुटुम्बविघटनभयेन तद्वरभिप्रायमन्येष्वप्रकाशयन्तीति कुलवधूपदेन योख्यते । शृहभित्तौ लिखितानि रामानुगतलक्ष्मणचरितानि, दिवसं समग्रदिनमस्मिव्याप्य कथयति । निशि दूषितहृदयतया न भवेत्तप्रभाव इति दिवसे वर्णनम् । दिवसमित्यल्यन्तसंयोगेन बहुकाल-वर्णनातहृदीकरणाध्यवसायो धन्यते । सौमित्तिचरितानीत्यनेनैव देवरशिक्षणे संभवत्यपि, ‘लक्ष्मणो रामं पितरमिवानुवर्तमानो यथा सर्वदा तन्मतानुयायमवतथा त्वयापि ज्येष्ठो आता तथैव बोद्धव्योऽन्यथा ज्येष्ठश्रावा सह तवैककुटुम्बेनुगमनं दुर्वर्टम्’ इति ‘रामानु-गत’पदेनाभिव्यज्यते । कुलवध्वा भित्तिचित्रितं रामाग्रणवृत्तान्तं ग्रदर्श्य तत्र वैमात्रे-

येऽपि रामे सभार्थेऽनुलग्नानि लक्षणचरित्राणि समुदीर्य अशुद्धमना देवरोपि प्रत्याख्यायते, किमुताऽन्यः । सोप्येवम्, न तु प्रकटम्, सर्वत्र कलङ्कसंकीर्तनभयादिति भावः ॥

‘सतीत्वखण्डनकारणेष्वपि दृढचित्तानां न विनाशो भवति’इत्युक्त्या स्वदोषं प्रच्छाद्यन्ती कान्विदाह—

चत्तरधरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ ।

असईसपञ्जिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डअं सीलम् ॥ ३६ ॥

[चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।

असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डतं शीलम् ॥ ३६ ॥

चत्वरगृहिणी तरुणी प्रोषितपतिका च मञ्जुमूर्तिञ्च ।

असतीप्रतिवेशिन्यथ सुदुर्गता न खलु खण्डतं शीलम् ॥ ३६ ॥

चत्वरे (चतुष्पदे) यहं यस्याः, वास्तवे तु चत्वरे प्राङ्गणसदशे शूल्यप्रान्तरे यहं यस्याः, तत्र विविक्ततया विटानां यातायातसंभवात् । ‘चत्वरे राजमार्गे यहं यस्याः’ इति गज्ञाधरभट्टः । मञ्जुमूर्तिः प्रियदर्शना, सुन्दरीत्यथः । असत्याः कुलटायाः प्रतिवेशिनी । सुदुर्गता भूरिदरिद्रा । तथापि शीलं पालित्यनं न खण्डतम् । अत्र चत्वरगृहिणीत्वादेः शीलखण्डनकारणस्य सत्त्वेषि तदभावाद्विशेषोक्तिः । ‘विशेषोक्तिरत्यतिः कार्यस्य सति कारणे’ इति लक्षणात् । अनया च ‘कलङ्ककारणाभिशङ्कया जनैसुधाहं निन्दिता, न मे चरित्रदोषः’ इति निजदोषेषोपनं व्यङ्गयम् । वस्तुतस्तु सेयं पतिव्रतायाः क्षयाश्चिच्छील-प्रशंसा । भोजोपि स० कण्ठाभरणे शीलसम्पदुदाहरणे इमामुदाजहार (५ परे०) ।

नदीतटकदम्बनिकुञ्जकृतसंकेतेन कान्तेन विश्रलब्धा नायिका ‘अहं तत्र गता, त्वं तु नागतः’ इति तं सूचयन्ती सखीजनमन्यापदेशोनाह—

तालूरभमाउलसुदिअकेसरो गिरिणईएं पूरेण ।

दरबुहुउबुहुणिबुहुमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥ ३७ ॥

[जलावर्तंप्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिनद्याः पूरेण ।

दरमझोन्मझनिमझमधुकरो हियते कदम्बः ॥]

आवर्ताकुलखण्डितकेसरभारो भरेण गिरिनद्याः ।

हियते कदम्बशाखी दरमझोन्मझमझमधुपोऽयम् ॥ ३७ ॥

तालूरो जलावर्तं इति देशी । ‘आवर्तानां जलभ्रमाणां भ्रमणेनाकुलः’ इति पुनरुक्तस्मि-वेति संस्कृतच्छायायामावतैः आकुलः इत्येव निबद्धम् । अतएव खण्डितः केसरभारः परागकोशसमूहो यस्य सः । तथापि दरमझोन्मझमझमधुपः इष्वन्मझः, कदम्बचिहुपरिप्रवा-हिततया उन्मझः, कदाचिच्च जलवेगेन मझो मधुपो यस्मिन् । मधुपानलोभिनोपि गलि-तमरन्दे प्रतिरिति मधुपपदेनाभिव्यज्यते । तादशोयं कदम्बवृक्षो गिरिनद्याः भरेण पूरेण हियते । एवं च भमकेसरतया गलितमकरन्देषि कदम्बे सततमधुपानलोभिनोऽपि

भ्रमरस्येयं दृढ़त्वेहता, तव तु का नाम चिरत्वेहताप्रत्याशा, इदानीमेवाहं छलितेति सरोष
उपालभ्यो व्यञ्जयते ॥

कस्याक्षित्पतिव्रताया धनाद्यसाध्यतां सूचयितुं दूती कंचित्कामुकमेवमाह—

अहिआअमाणिणो दुग्ग्रास्स छाहिं पअस्स रक्खन्ती ।

णिअवन्धवाणं जूरइ घरिणी विहवेण एत्ताणम् ॥ ३८ ॥

[आभिजात्यमालिनो दुर्गतस्य छायां पत्यु रक्खन्ती ।

लिजवान्धवेभ्यः कुध्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्यः ॥]

छायां सुदुर्गतस्य हि रक्खन्त्यभिजातमालिनः पत्युः ।

विभवेनागच्छद्यः कुध्यति गृहिणी स्ववान्धवेभ्योऽपि ॥ ३८ ॥

दरिद्रस्य अथ कौलीन्यमानवतः पत्युद्धायां महत्वं रक्खन्ती । विभवेन धनसमृद्धा
सहाऽऽगच्छद्यः । बान्धवानां धनसमृद्धिमालोक्य पत्युर्मनोरलालिनभिवदित्याशयेन । एवं
च पतिनित्यानुवृत्त्यर्थं बन्धुजनस्याप्युपहारं न वहु मन्यते, किं पुनः कामिजनस्येति न
धनादिना सा साध्येति कामुकं प्रत्यभिव्यञ्जयते ॥

काञ्चित्पतिव्रतां कामयमानं विटं प्रति दूती तस्याः स्वभावमाह—

साहीणे वि पिअअमे पत्ते वि खणे ण मणिडओ अप्पा ।

दुग्ग्रापउत्थवहां सअज्जित्तां सण्ठवन्तीए ॥ ३९ ॥

[स्वाधीनेऽपि प्रियतमे प्रासेऽपि क्षणे न मणिंत आत्मा ।

दुर्गतप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं संस्थापयन्त्या ॥]

स्वाधीनेऽपि प्रेयसि लब्धेऽवसरेऽपि मणिडतो नात्मा ।

प्रतिवेशिनीं दरिद्रप्रोषितपतिकां हि दृढयन्त्या ॥ ३९ ॥

स्वाभीष्टप्रियतमतया मनोभीष्टमण्डनसमृद्धिरभिव्यञ्जयते । मदनमहोत्सवादाववसरे
प्रासेऽपि, तथा च शालीनतया वेषभूषणासक्त्यभावेऽपि सौभाग्यादिनिमित्तं धारणा-
र्हताऽभिव्यञ्जयते । दरिद्रश्च प्रवासं गतश्च पतिर्यस्तां प्रतिवेशिनीं स्वचरित्र्ये दृढी-
कुर्वन्त्या आत्मा नालङ्कृतः । कृतमण्डनां मामवलोक्य व्याकुला सेयं खणिडतचरित्रा
स्यादिति शङ्कया या नात्मानमपि मण्डयति तस्याः स्वचरित्रखण्डनकल्पना दूर इति
तात्पर्यम् । अथवा प्रतिवेशिनीस्थापनार्थमनया मण्डनं न कृतम्, न तु कामुकान्तर-
विरहद्युखेनेति स्वसखीदोषप्रच्छादनार्थं सख्या वचनमिति गङ्गाधरभट्टः । प्रवासे ख्यियो
नात्मानं भूषयन्ति, अतएव ‘प्रस्तरती’लादाविव निषेधार्थकप्रपूर्वोऽसौ ‘वस अच्छा-
दने’ धातुः । न वज्रभूषादिकं यत्र चीमि: कियत इति स. कण्ठाभरणे भोजः ॥

दूती नायकमनुकूलयितुं नायिकानुरागं वर्णयति—

तुज्ज्व वसइच्चि हिअं इमेहिँ दिद्वो तुमंति अच्छीहिँ ।

तुह विरहे किसिआहां ति तीऐं अङ्गाहाँ वि पिआहां ॥ ४० ॥

[तव वसतिरिति हृदयमाभ्यां दृष्टस्त्वमित्यक्षिणी ।

तव विरहे कृशितानीति तस्या अङ्गान्यपि प्रियाणि ॥]

वसतिस्त्वेति हृदयं त्वममूर्ख्यां दृष्ट इति नेत्रे ।

तव विरहे कृशितानीत्यङ्गान्यपि तु प्रियाण्यस्याः ॥ ४० ॥

हृदयं तव वसतिरित्यनेन ‘सर्वदा त्वां सा हृदयेन विचिन्तयति’ इत्यनन्यासक्तिरभिव्यज्यते । ततश्च आत्मनः शरीरमपि त्वत्सम्बन्धेनैव सा वहु मन्यते, अन्यथा एतावत्पर्यन्तं तव विरहे तस्या जीवितमेव दुरवस्थानमासीदिति, अनुरक्तां तामचिरसामानन्दयेति नायकं प्रति ध्वन्यते ॥

काचित्खण्डिता वहुधा कृतापराधमथ च ‘सद्ग्रावस्तेहोचितं नेदम्, यत् इयन्कुप्पसि’ इति भृशमनुग्रहन्तं कार्तं विपरीतार्थवाग्मुक्तेनोपालभते—

सद्भावणोहभरिए रक्ते रजिज्जइति जुत्तमिणम् ।

अणहिअे उण हिअअं जं दिज्जइ तं जणो हसइ ॥ ४१ ॥

[सद्ग्रावस्तेहभरिते रक्ते रज्यत इति युक्तमिदम् ।

अन्यहृदये पुनर्हृदयं यदीयते तज्जनो हसति ॥]

सद्ग्रावस्तेहभृते रक्ते रज्यत इति हि युक्तमिदम् ।

यदीयते अन्यहृदये हृदयं यत्तज्जनो हसति ॥ ४१ ॥

सद्ग्रावेन सर्वकार्यानुकूलतया साधुभावेन, स्तेहेन च पूर्णेऽनुरक्ते जनेऽनुरज्यत इतीदं युक्तमेव । किं च कुन्तलकलापस्तेहवति अलक्षकादिरागरक्ते तस्मिन् हृदयानुकूले जने त्वमपि पादसंवाहनादिना रजितो भवतीलयपि साकृतमभिव्यजितम् । यत् पुनः अन्यहृदये सद्ग्रावस्तेहशून्यस्य मादशस्य हृदये यत् हृदयं दीयते तज्जनोपहासायैति तामेव लेहभरितां हृदयदयितामनुर्वत्सवेति भावः । यद्वा काचिद्दूती अभियोजयाः पल्यावतुरागभज्ञार्थं तस्मिन्द्वासन्तमपि दोषसुद्ग्रावयन्ती इदमाह । अनुरक्त एव हृदानुबन्धो युज्यते, अनुरक्तेऽन्यत्रासक्ते तद्विद्म्बनमात्रमिति तदाशयः ॥

वैफल्यशङ्क्या नायिकाऽभिसारमनारभमाणं विमृश्यकारिणं नायकं प्रोत्साहयितुं दृत्याह—

आरम्भन्तस्य धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्त ।

तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥ ४२ ॥

[आरभमाणस्य धुवं लक्ष्मीर्मरणं वा भवति पुरुषस्य ।

तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥]

धुवमारभमाणस्य प्रभवति लक्ष्मीर्नरस्य मरणं वा ।

मरणमनारम्भेऽपि प्रभवति लक्ष्मीः पुनर्न भवतीयम् ॥ ४२ ॥

एवं स्थितावपि लक्ष्मीमिव सौशीत्यादिगुणोपेतामङ्गतां किञ्चिति भीरुतयो-
पेक्षस इति नायकप्रोत्साहनं व्यन्यते ॥

‘प्रवासादिषु विरविरहमपि सहन्ते योषित इति किं नामाऽत्रैव वर्तमाने तस्मिश्च-
रथति इयदुद्धिमासि’ इति सान्त्वयन्तीं प्रौढां कामपि विरहोत्कण्ठिता काचिदाह—

विरहणलो सहजइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स ।

एकग्रामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ ४३ ॥

[विरहानलः सहात आशाबन्धेन वल्लभजनस्य ।

एकग्रामपवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥]

वल्लभजनस्य सहात आशाबन्धेन विरहवहिरपि ।

प्रवसतिरेकग्रामे मातर्मरणं विशेषयति ॥ ४३ ॥

एकस्मिन्नेव ग्रामे प्रवासो मरणादतिरिच्यते, प्रत्याशाहेत्वभावादिति भावः । दूरस्थ-
योरिव अन्तिकस्थयोरपि संनिर्कर्षभावात्प्रवासो भवतीति विषये सेयमुदाहृता गाथा
भोजेन (५ परि.) ।

सुरतसमये नायकस्यान्यमनस्कतां वीक्ष्य विमनायमानां नायिकां दूरी आह—

अखबडइ पिया हिअए अणणं महिलाअणं रमन्तस्स ।

दिढे सरिसम्मि गुणेऽसरिसम्मि गुणे अणीसन्ते ॥ ४४ ॥

[आस्खलति प्रिया हृदये अन्यं महिलाजनं रममाणस ।

हृषे सदृशे गुणे असदृशे गुणे अदृश्यमाने ॥]

हृदये प्रियाऽस्खलति किल रममाणस्यान्यमहिलायाम् ।

हृषे गुणे तु सदृशे हृदृश्यमाने गुणेऽसदृशे ॥ ४४ ॥

संस्कृते रमतेरकर्मकतया सप्तम्या विपरिणामश्छायायाम् । अन्यमहिलायां रममा-
णस्य प्रियस्य हृदये सीत्कृत-हसित-सौन्दर्यादौ सदृशे गुणे हृषे सति, विसंवादिनि
गुणे चादृषे सति पूर्वानुभूता प्रिया आस्खलति, सहसैवोदेति, स्मृतिपथमुपयातीत्यर्थः ।
‘प्रिया’पदेन ‘हृदयस्य या प्रीतिपात्रं भवति, सा सदृशान् गुणान् दृष्टा हृदये जाग-
र्ति’ इति पूर्वानुभूतनायिकायाः प्रेमास्पदत्वं व्यन्यते । एवं च अन्यस्त्रीप्रसङ्गे सति भर्तु-
हृदये समानोत्कृष्टपकृष्टगुणाश्रयतया प्रिया स्मृतिपथं याति, न तु त्वयि वैराग्यादन्य-
मनस्कता । तथा च स्वैर्गुणैस्तामपि शनैःशनैर्विस्मारयेति नायिकां प्रत्युपदेशो व्यन्यते ।
अथवा रममाण इति अन्तर्भावितपृथक्मुपगम्य ‘रममाणस्याऽपरां रमणीम्’ इति छाया-
पाठं स्त्रीकृत्य अन्यां रमणीं रमयत इत्यर्थोऽभ्युपगम्यः । एवमादिषु विषयेषु गङ्गा-
धरस्य मौर्ण वैर्यभङ्गायैव । यद्वा-कश्चिद्भज्ज्ञो बहुविनितोपमोगेन कामुकत्वातिशयमा-
त्मनः प्रकटयन्, शृण्वत्कामिनीजनचेतःसमाकर्षणार्थं स्वानुभवमिवाह ॥

मानिनीमनुनेतुमनुभवशालिनी काचित्प्रौढा यौवनादिरुर्भतामेवमाह—

णइउरसच्छहे जोव्वणम्मि अहपवसिएमु दिअसेमु ।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दङ्गमाणेण ॥ ४५ ॥

[नदीपूरसद्वशो यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु ।

अलिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥]

तारुण्ये सरिदोघप्रतिमेऽतिप्रोषितेषु दिवसेषु ।

अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि तु किं दग्धमानेन ॥ ४५ ॥

कतिपयदिनस्यागितया यौवनस्य नदीपूरसादश्यम् । अतिप्रोषितेषु अल्यन्तं (दीर्घम्)
प्रवासं गतेषु, अपुनरागामिषु इति यावत् । एते दिवसा रात्रयश्च गता न पुनः प्रति-
निवर्तन्त इति भावः । अतएव एवंविधेषु अपुनर्लभ्येषु यौवनदिवसेषु सुखविधात्का-
रकोयं मानहतकस्त्यज्यतामिति तात्पर्यम् । 'पुत्रि' इति संबोधनेन त्वत्तो वृद्धतया
महाऽनुभवशालिन्यहं स्नेहमाजनं त्वां हितमुपदिशामीति निजवक्तव्यस्योपादेयता ध्वन्यते ॥

काचित्प्रवत्स्यत्पतिका निशाप्रार्थनाऽपदेशेनात्मनो विरहाऽसहत्वं सूचयन्ती कान्त-
प्रवासनिरासार्थमाह—

कळ्णं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि ।

तह वङ्ग भअवह णिसे जह से कळ्णं विअ ण होइ ॥ ४६ ॥

[कल्यं किल खरहदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।

तथा वर्धस्व भगवति निशो यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥]

कल्यं किल खरहदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रुतं जनतः ।

भगवति वर्जस्व निशो तथा, यथा कल्यमेव नोदेति ॥ ४६ ॥

सम पीडानभिज्ञत्वान्निष्ट्रहदयः प्रियः कल्यं प्रातः प्रस्थास्यते इति जनतः श्रूयते ।
'प्रत्यूषोऽहर्सुखं कल्यः ।' 'जनात् श्रूयते' अनेन मद्विरहदुःखमनुमाय प्रलक्ष्यं न स
गन्तुमसूचयत्परं जनेभ्यः श्रूयते । तथा च महुःखं जानन्नपि स प्रवसतीति निगृह
उपालम्भोऽसिव्यज्यते । भगवति निशो, तथा वर्धस्व यथा कल्यं न भवतीत्यनेन अह-
मिमां निशामेव दृष्टवती, नदिनोदयं द्रक्ष्यामि, 'तद्विरहे जीवितस्य स्तोगामित्वादिति
ध्वन्यते । तथा च यदि मज्जीवितं कामयसे तर्हि परिहर प्रवासाध्यवसायमिति प्रियं
प्रलयमिव्यज्यते । यद्वा प्रातरयं गमिष्यति, इतोत्रे त्वं खच्छन्दं विहरेति जारं सुख-
यितुं स्वैरिष्या उक्तिरियमिति ॥

१ एतां गाथामविकलमनुहरति हिन्दीपश्चमिदम्—“सजन सकौरै जाँयगे नैन मरैगे रोय ।
विधना ऐसी रैन करि, भोर कबहु ना होय ॥”

सखीमौरध्यकथनव्याजेन तत्प्रियतमस्य प्रवासनिरासार्थं काचिदाह—

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्यम् ।

पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥ ४७ ॥

[भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।

पृच्छन्ती अमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥]

भाविष्यपथिकस्य जाया ह्यापृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।

पृच्छन्ती प्रतिगेहं भ्रमति प्रियविश्रयोगसहशीलाः ॥ ४७ ॥

भाविष्यपथिकस्य अनुपदमेव पथिकतां स्त्रीकरिष्यतः, जाया स्त्री न तु वल्लभा । मत्स-
स्त्री तु त्वां हृदयदयितं मन्यते परं त्वमेतां भरणीयां भार्यामात्रं मन्यते, अत एव
सुग्राहासपीमां परिल्यज्य प्रस्थातुं समीहस इत्युपालम्भो ध्वन्यते । प्रियविश्रयोगं सहते
एवंविवं शीलं यासां ताः, अर्थात् प्रियविरहं याः सोढवत्य एवंविधाः दृढाः ख्यिः
प्रति, आपृच्छनम् ‘प्रिये ! याम्यहम्’इति गमनप्रश्नः । तस्मिन् समये यज्ञीवधारणं
तस्य रहस्यं निगूहतत्वं पृच्छन्ती सती प्रतिगेहं आम्यति । प्रियतमगमनसमये जीव-
धारणं सुतरां कठिनकार्यमिति न सहसा तादृशदृढमहिलालभसंभवः, अतएव अन्वे-
षणार्थं प्रतिगृहं भ्रमतीत्याशयः । ‘रहस्यं’पदेन, आपृच्छनकाले जीवधारणस्योपायो न
साधारणतया सुलभः किन्तु अतिगूढं तत्तत्वमिति तस्य दुर्लभत्वं ध्वन्यते । एतेन
‘तव विरहस्तु दूरे, तव गमनसमय एव मुग्राया एतस्या जीवनसंशयः’ इति सुस्पष्टं
ध्वन्यते । प्रवासविषये साव्यसेन (भयेन) ख्यिः प्रेमपरीक्षा भवतीति सेयमुदाह-
रणरूपेण गृहीता गाथा भोजेन (५ परिं ०) ॥

काचित्स्वाधीनपतिका, अन्यस्त्रीज्ञात्मनः सौभाग्यमास्थापयितुं पत्युरन्यवनिता-
प्रसङ्गप्रार्थीनाव्यपदेशेन भर्त्यर्थन्यकामिन्यवकाशाभावमाह—

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्न दइअस्स ।

पुरिसा एकन्तरसा ण हु दोषगुणे विआणन्ति ॥ ४८ ॥

[अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वसाकं दयितस्य ।

पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥]

अन्यमहिलाप्रसङ्गं कुर्वसाकं तु देव दयितस्य ।

पुरुषा एकान्तरसा दोषगुणौ न खलु जानन्ति ॥ ४८ ॥

‘दे’शब्दः सानुनयसंबोधने । हे देव, असाकं दयितस्यान्यमहिलाप्रसङ्गं कुरु ।
यतः खलु एकमात्ररसाः पुरुषाः स्त्रीणां गुणदोषौ न जानन्ति । अन्तशब्दः स्वरूप-
वाची, ततश्च एकरसा इत्यर्थः । एकमात्ररसो मे दयित इति सूचनाज्ञात्राऽपरवनिताऽ-
वकाश इति ध्वनितम् । स्त्रीणां गुणदोषपरिज्ञानाय कामं प्रसज्यतां मद्वितोऽन्यम-
हिलास्त्रिति वदन्त्या ‘मत्सदृशी अन्यगुणवती न लप्सते । अतएव गुणमुग्धो मे दयितो

वशीभूतः' इति अन्यमहिलाः प्रत्यामनैः सौभारयं धन्यते । यद्वा पत्वुरन्यासङ्गशार्थ-
नेन, अवकाशमिच्छन्त्या जारं प्रति प्रच्छच्चरताभिलाषः सूच्यत इति कवित् । अह-
ङ्कारद्दिः (अत्यहङ्कारा) सेयमुद्दता नायिकेति स. कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ॥

स्वयंदूती पथिकमाह—

थोअं पि ण णीसरई मज्जणो उह सरीरतललुका ।

आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ ४९ ॥

[स्तोकमपि न निःसरति मध्याहे पश्य शरीरतललीना ।

आतपभयेन च्छायापि पथिक तस्किं न विश्राम्यसि ॥]

स्तोकमपि निःसरति नो मध्याहे पश्य गात्रतललीना ।

छायाप्यातपभयतो विश्राम्यसि किं न तत्पथिक ॥ ४९ ॥

आतपखिज्ञाः पथिका यसां छायायां विश्राम्यन्ति सा अचेतना छायाप्यातपभयेन
बहिर्नि निक्षाम्यति किं पुनर्बेतन इत्युत्प्रेक्षया मध्याहे न कोपि बहिर्निःसरति, तथा च
विविक्षानिरपायेऽस्मिन्सुखसमये छायामिव मां गात्रतललीनां कुर्विति प्रच्छब्दं रताभिः-
लषो व्यञ्यते ॥

विरहोत्कणिठता चिरकालानन्तरमागतं कान्तमुपालभमाना ज्वरश्चाधाच्छलेन सच्चा-
रुर्यमाह—

सुहउच्छअं जर्ण दुष्टहं वि दूराहि अम्ह आणन्त ।

उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ५० ॥

[सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन् ।

उपकारक ज्वर जीवमपि नयन् कृतापराधोऽसि ॥]

सुखपृच्छकं सुरुर्लभजनमप्यस्माकमानयन् दूरात् ।

उपकारक जीवितमपि नयन् नहि ज्वर कृतापराधोसि ॥ ५० ॥

सुखपृच्छकं अस्वस्थदशायां सुखं पृच्छति तावशम् । तथा च लोकव्यवहारादागतो
भवान् न लेहादित्युपालम्भो धन्यते । अस्माकं नितरां दुर्लभं जनमपि दूरादानयन् ।
अतएव दुर्लभप्रियाऽऽनयनकरत्वादुपकारक है ज्वर, जीवितमपि नयन् न कृतापरा-
धोसि । सुरुर्लभ इत्यनेन 'तुम्हं समर्पितहृदया वयं ते सुलभास्त्वं तु अस्माकमतिदुर्लभः'
इत्याक्षेपो द्योत्यते । दूरात् इति विपरीतलक्षणया समीपवासी अपि न दर्शनावसरं
ददासीत्युपालम्भसूचनां वा । 'अस्माकं सुरुर्लभम्' इत्यनेन 'भवानसमदर्थेव निष्ठृ-
हृदयः, अन्यासु ते निर्बाधा प्रीतिः' इत्युपालम्भो व्यञ्यते । एवं चैतावत्कालं त्वद्वर्णना-
भिलाषेणैव दुःखं सोढमिदानीं तु त्वद्वर्णनोपकारो ज्वरेण साधित इत्येवं निःस्तेहे त्वयि

मम भरणमेव साम्प्रतं वरमित्युपालम्भोभिव्यज्यते । कामबाधया प्रत्यैतव्या सैयमप्रस्तु-
तप्रशंसेति भोजः । यतः अप्रखुतस्य ज्वरस्य स्तुत्या प्रियस्य प्रतीतिर्भवतीति ॥

खण्डिता सुखप्रशार्थमागतं कान्तं प्रति सेर्वमाह—

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।

सुहउच्छुभ सुहअ सुअन्धअन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥ ५१ ॥

[आमजरो मे मन्दोऽथवा न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।

सुखपृच्छक सुभग सुगन्धगन्ध मा गन्धितां स्पृश ॥]

आमज्वरोस्तु मन्दोऽथ मे न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।

सुखपृच्छक शुभगन्ध स्पृश मा मां गन्धितां सुभग ॥ ५२ ॥

त्वद्गतक्रीघेन रात्रौ जागरणाद् उत्पन्नो मे आमज्वरः—अजीर्णोत्पन्नो ज्वरः । मन्दोस्तु अथवा न मन्दोस्तु, जनस्य महुःखाद्यजानत उदासीनस्य का चिन्ता ? जनस्येतनेन साधारणमत्युज्यवत् त्वं तटस्योऽसि, अतएव महुःखादुःखितस्य भवतः किमनेन मन्दाऽ-
मन्दप्रेक्षेनेत्युपालम्भो व्यन्यते । सुखपृच्छक ! लोकव्यवहारानुरोधादस्यास्थ्यवार्ताकारक ! एतेन ‘प्रातरपि केवलं लोकानुरोधादेव समागतो न पुनः लेहात्’ इत्याक्षेपो व्यन्यते । सुभग ! बहुवल्लभत्वात्तौभायसम्पन्न ! हे शुभगन्ध ! प्राणप्रियालिङ्गनसंकान्ताङ्गपरिमल-
त्वात्सौरभयुक्त ! गन्धितां ज्वरगन्धयुक्तां मां मा स्पृश । असुभगाया मम स्पर्शमात्रेण संक्रान्तज्वराऽशुभगन्धः प्राणवल्लभायास्त्वं कि सुधा क्षेपमाजनं भवसि ? तथा च त्वम् एवमवस्थामपि मां परित्यज्य पुनरपि तत्रैव समासको भवध्यसीति सोत्रासमुपालम्भो व्यन्यते ।

‘स्तोकमायस्यचेव खियसे, न यथावद्रमसे’ इति कान्तमाक्षिप्य सुतसुखसंभ्रमात्स्थय-
मावद्यपुरुषायितवन्धां पुनश्च सौकुमार्यादिल्यायासैनैव श्रान्तां कान्तां कान्तः सहासमाह—

सिहिपिच्छुलुलिअकेसे वेवन्तोरु विषिमीलिअद्वच्छिँ ।

दरपुरुसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाण जं दुःखम् ॥ ५२ ॥

[शिखिपिच्छुलुलितकेशे वेपमानोरु विनिमीलितार्धाक्षिँ ।

इष्टपुरुषायिते विश्रामशीले जानीहि पुरुषाणां यद्युःखम् ॥]

शिखिपिच्छुलुलितकेशे निमीलितार्झाक्षिँ वेपमानोरु ।

दरपुरुषायितविश्रामशीले पुंसामवेहि यद्युःखम् ॥ ५२ ॥

रतिजनितकम्पवशात् वर्हिर्बहवत् विस्तकेशकलापे ! त्वम्-नितम्बभरसंवहनायासा-
द्विनिमीलितार्झनयने ! ऊरुगल एव दत्ताऽखिलभारतशा कम्पमावोरु । अतएव इष्टपुरु-
षायिते एव विश्रामयन्ति ! पुरां यद्युःखं (तदिदानीम्) अवेहि जानीहि । गङ्गाभरस्तु

मूलमनुरूपन्धानो ‘ईषत्पुरुषायिते—विश्रामशीले’ इति व्यस्तं व्याचख्यौ । विश्राम इत्यपि पाणिनीयानामरुद्दम् ।

निःशेषितवैभवतथा पूर्वं निष्कासितस्य, इदानीमुपार्जितप्रभूतधनसमृद्धेः कस्यचिह्न-जड्डस्य पुनर्वशीकरणाय प्रेषयन्तीं मातरं प्रति वेश्या आह—

प्रेमस्स स विरोहिअसंधिअस्स पञ्चक्खदिङ्गविलिअस्स ।

उअअस्स व ताविअसीअलस्स विरसो रसो होइ ॥ ५३ ॥

[प्रेम्णो विरोधितसंधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।

उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥]

विच्छिन्नसंहितस्य प्रेमणः प्रत्यक्षितव्यलीकस्य ।

विरसो रसो भवति वत तापितशीतस्य पयस्स इव ॥ ५३ ॥

पूर्वं विच्छिन्नस्य ततः पुनः संहितस्य योजितस्य प्रत्यक्षीकृतव्यलीकस्य प्रत्यक्षदृष्टपरा-धस्य प्रेमणः । पूर्वं तापितस्य ततः शीतलीकृतस्य उदकस्येव रसो विरसो भवति । अर्यं भावः—पूर्वं तु विच्छिन्नस्य प्रेमणः सन्धानमेव दुःसम्भवम् । तत्रापि प्रत्यक्षमबलोकितो-इन्द्र्यविट्संभोगाद्यपराधः कथमिव समाधेयः । श्रुतेऽनुसिते वा विप्रिये भवेत्कदाचित्यती-कारः, प्रत्यक्षीकृते तु का नाम समाहितिः ? अत एव सुशृङ्खं पर्युपास्यमानोऽपि नासौ तथानुरज्येत । किमिति मुधाऽवधीरणाऽवमानमनुभावयसीति ध्वन्यते ।

कस्यचिह्नदुदात्तपुरुषस्य समुचितवैभवप्राप्तौ पूर्वावस्थासहचराणामप्यसौ दुःखनिरासाय यतते इति निर्दर्शयितुं बन्दीकृतायाः कसाश्वन योषितः पतिपराक्रमवृत्तं कथिदभिधत्ते—

वज्रपटणाइरिकं पद्मणो सोऊण सिञ्जिणीघोषम् ।

पुसिआइं करिमरिएं सरिसबन्दीणं पि णअणाइं ॥ ५४ ॥

[वज्रपतनातिरिकं पत्थुः श्रुत्वा शिञ्जिणीघोषम् ।

प्रोञ्चितालि बन्द्या सदशबन्दीनामपि नयनालि ॥]

वज्रपतनातिरिकं पत्थुः श्रुत्वा तु शिञ्जिणीघोषम् ।

स्वसद्वशबन्दीनामपि बन्द्या द्राकृ प्रोञ्चिते नयने ॥ ५४ ॥

करिमरी बन्दी । दिग्बधिरीकरणातिशयात् वज्रपतनशब्दतोऽप्यधिकं पत्थुः प्रत्यक्षार-वमाकर्ण्य, तेनाऽतिशयेन भर्तुरेवेति परिचीय । बन्दीकृतया शरनार्था, स्वयमिव बन्दी-करणदुःखमनुभवन्तीनामन्यासामपि बन्दीनाम् ‘अतिशयितधनुर्धरः सोयमुपस्थितो मे स्वामी, मामिव भवतीरपि मोचयिष्यति, तत्किमधुनाऽश्रुविमोचनेन’ इति बाष्पकलुषिते नयने मार्जिते इत्यर्थः । ततश्च मनस्सी धनसमृद्धिपुलभ्य दारिद्र्यदुःखानुभवशालितया द्याइतो दीनानामन्येषामपि दुःखमपाकुरते इत्यनेन निर्दर्शयते । ‘बहुशोऽनुभूतेष्ये भविष्य-स्यपि भूतवत्प्रत्ययो भवतीति निर्दर्शयन्, बन्द्याः पतिशौर्यवहुमानमाह कथिदिति’ गङ्गा-धरावतरणिका ।

शुष्पवन्तं कञ्चन भुजङ्गं मोहितुं वैश्याधात्री स्वदुहितुः सुरतचालुयेषि सौकुमार्यातिशयं
प्रकटयितुं भुजङ्गान्तरनिन्दाव्याजेनाह—

सहइ सहइ चिं तह तेण रामिआ सुरअदुर्विअद्वेण ।
पम्माअसिरीसाइँ व जह से जाआइँ अङ्गाइँ ॥ ५५ ॥

[सहते सहते इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥]

सहते सहते इतीयं रमितैवं सुरतदुर्विदग्धेन ।
म्लानशिरीषाणीव हि जातान्यस्या यथाङ्गानि ॥ ५५ ॥

इमं प्रकारमपि सहते इमं प्रकारमपि सहते इति मुहुः प्रकारान्परिवर्ल्य इयं कोमलाङ्गी
मदुहिता सुरतदुर्विदग्धेन सुरताऽऽयासादिपरिचयाऽचतुरेण एवं रमिता अर्थात्तथा उप-
भुक्ता । एवमत्र तथाऽये । यथास्या अङ्गानि म्लानशिरीषाणीव निःसहानि जातानि । सहते
सहते इति वीप्सा बहून् सुरतप्रकारानाख्याति । तथा च सेयं बहुषु सुरतप्रकारेषु विदग्धेति
कामुकं प्रति व्यज्यते । सुरतायासादेव सेयं निःसहाङ्गी न पुना रोगादिनेत्यपि सूचितं
भवति । एवं च त्वमपि तथैवैनामुपमोद्यसे यथेयमतिषुकुमाराङ्गी नाधिकमाकुला स्यादिति
दुहितुः परिश्रमस्य समयस्य च संक्षेपं सूचयति ।

अन्यवनितासङ्गेनोपेक्षमाणं नायकं प्रति कस्याश्वनानुरागातिशयं प्रकाशयितुं दृती
आह—

अगणिअसेसज्जुआणा बालअ बोलीणलोअमज्जाआ ।

अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥ ५६ ॥

[अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा ।

अथ सा अमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥]

अगणितसमस्तयुवका बाल व्युत्क्रान्तलोकमर्यादा ।

अथ सा अमति दिशामुखविकासिताक्षी तव कृतेन ॥ ५६ ॥

हे बालक तादशङ्गीरलोपेक्षणात्, रमणीवधाऽपराधाऽचिन्तनाच्च निजहिताहितज्ञान-
कून्य । न गणिता न बहुमतास्त्वदन्ये अशेषा युवानो यथा सा । एतेन नेदं मनस्यभि-
मन्येथा यदहमेव युवक इति, किं त्वनयैव त्वदनुरागादन्ये न वीक्षिता इति साकृतं
ध्यन्यते । गुरुजनशिक्षाऽवधीरणात् लज्जात्यागाच्च उल्लङ्घितलोकमर्यादा, सा पूर्वोक्त—सौन्दर-
यानुरागाद्यनेकगुणा, तव कृतेन त्वदर्शनाभिलाषेण दिष्टुखप्रसारिताक्षी सती भ्रमति ।
तव नैकत्राऽसक्रिति चतुर्दिक् तवान्वेषणे यतत इति सूच्यते । ततश्च यावत्तेयं शोच-
नीयामवस्थामश्रुते तावदेनां त्वरितमनुगृह्णाणेति नायकं प्रति ध्यन्यते । प्रेमपुष्टिषु लज्जा-
विसर्जनमेतदिति स. कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ।

बन्धां कस्यांचन जाताभिलाषश्चोरयुवा भर्तृशौर्यभिमानेन निजकारामुक्तिं विश्वसन्त्या-
स्तथा उत्साहभज्ञार्थमाह—

करिमरि अआलगजिरजलआसणिपडनपडिरवो एसो ।
पइणो धणुरवकङ्गिरि रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ ५७ ॥

[बन्दि अकालगर्जनशीलजलदाशनिपतनप्रतिरव एषः ।

पत्युर्धनूरवाकाङ्गुणशीले रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥]

बन्दि ! अनवसरगर्जनशीलजलदवज्ञपतनरव एषः ।

पतिचापरवाकाङ्गुणि रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥ ५७ ॥

अकाले गर्जनशीलस्य जलदस्य वज्रपतनस्यैष शब्दः । पतिधनुषङ्गारथवणलालसे !
पत्युः स्वरणेन मुधा रोमाञ्चं किं वहसि । नायं धनुषङ्गारस्ततः कथंकारं मदनुकम्भां
विना मुक्तिं वाऽछसीति तां प्रति सूच्यते । अत्र रोमाञ्चरूपेण रसस्य जन्मेति स. कण्ठा-
भरणे भोजः (५ परि.) ।

वहुवल्लभस्य साध्वी काचिज्ञायिका भर्तुः शौर्यप्रकाशनेन सह असतीनां निजसपली-
नामभिसारसज्जां सूचयितुं शश्रूं प्रस्ताह—

अज्ञ वैअ पउत्थो उज्जाअरओ जणस्स अज्ञे अ ।

अज्ञे अ हलिद्वापिञ्चराहँ गोलाणइतडाहँ ॥ ५८ ॥

[अद्यैव प्रोषित उज्जागरको जनस्याद्यैव ।

अद्यैव हरिद्राविष्णुराणि गोदानदीतटानि ॥]

प्रोषित एषोद्यैव प्रोज्जागरको जनस्य चाद्यैव ।

गोदानदीतटान्यपि हन्त हरिद्राविष्णुराण्यद्य ॥ ५८ ॥

संग्रामप्रसङ्गेन भवतुत्र एषोऽद्यैव प्रवासं गतः । अद्यैव च चौरायाकमणभयाद् ग्राम-
वासिनो जनस्य प्रकर्षेण उज्जागरकः (जागरणम्), अस्तीति शेषः । जनस्य सपलीजन्म-
स्याद्यैव अभिसरणाभियोगाजागरणमस्तीलयि धन्यते । गोदावरीतीराण्यपि अद्यैव हरि-
द्राविष्णुराणि सन्ति, हरिद्रोद्वर्तिताङ्गप्रक्षालनेन असतीनामङ्गरागसंकमणादित्यर्थः ।
पूर्वं ग्रामप्रधानस्य भवतुत्रस्य सत्तायामसतीनां न तावदन्याभिसरणसाहसमभूतिं
भावः । एतेन यथासौ मत्पतिशौरायाकमणरोधकत्वेन शरस्तथैव वहनायिकारमणत्वेन
वनितोपभोगकुशलोपीति धन्यते ।

कुलवधूशिक्षार्थं प्रौढा काचित्पारिवारिकपुरन्द्री सतीवृत्तमाह—

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअमे विसमसीले ।

ण कहह कुद्धम्बविहडणमएण तणुआअए सोळा ॥ ५९ ॥

[असद्वचित्ते देवरे शुद्धमना: प्रियतमे विषमशीले ।

न कथयति कुदुम्बविघटनभयेन तनुकायते सुषा ॥]

प्रेयसि सुविषमशीले शुद्धमना देवरेऽसद्वचित्ते ।

न वदति कुदुम्बविघटनभयेन तनुकायते सुषा किन्तु ॥ ५९ ॥

देवरे असद्वचित्ते कामविकारदूषितचित्ते सत्यपि शुद्धमना: अविकृतचित्ता सुषा
मुत्रवधूः वामस्वभावे प्रियतमे कुदुम्बकलहभयेन न किञ्चिद्वदति । विषमस्वभावः पतिः
कदाचिद् भ्रात्रा कलहायमानः कुदुम्बं विशुद्धलयेदिति भावः । किन्तु मानसिकदुःखगोप-
नेन प्रलयं कृशा भवति । अप्रियसापि यस्य प्रकाशनेऽनिष्टं सम्पद्यते तद् गोप्यमेवेति
भावः । 'सुषा' पदेन श्वश्रूषशुरयोः सत्तासूचनात् कुदुम्बस्य वृद्धजनाधिष्ठितत्वं विस्तृतत्वं
च ध्वन्यते ।

कलहान्तरितायाः सखी प्रियतमेन 'किमवस्था संप्रति भवत्सखी' इति पृष्ठा आह—

चिन्ताणिअद्विअसमागममिम कअमण्णुआँ भरिजण ।

सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुणा प ओहसिआ ॥ ६० ॥

[चिन्तानीतद्वितसमागमे कृतमन्युकानि समृद्ध्वा ।

शून्यं कलहायमाना सखीभी रुदिता नोपहसिता ॥]

चिन्ताऽनीतप्रियतमसमागमे विहितमन्युकानि संस्तृत्य ।

शून्यं कलहाऽकुलिता रुदिताऽलीभिर्न चोपहसिता सा ॥६०॥

ध्यानोपस्थापितस्य दियितस्य (भवतः) समागमे, विहितो मन्तुः क्रोधो वैस्तानि
विहितमन्युकानि, क्रोधकारणानि सप्तलीसमागमादीन् संस्तृत्य । एतेन 'भवदपराधात्त-
थाऽसा हृदये व्यथयन्ति यथैषा समयान्तरेऽपि न तान्विस्मरति' इति ध्वनितम् । शून्यं
मुवैव कलहायमाना साऽस्मत्सखी, सखीभिः रुदिता रोदनेन शोचिता । एवमुपहासस्थ-
लेपि करुणावशाङ्गोपहसिता । रुदितेत्यत्र कार्यस्य रोदनस्य कारणभूते शोके लक्षणया
शोचितेत्यर्थः कार्यः, गैरीण्यां 'रुद' धातोरकर्मकतया यथास्थितस्याऽसंगतेः । ग्राकृते तु
हिन्दीभाषावद् सदधातोः सकर्मकतया न दोषः । एवं च कृतकलहापि सा निरन्तरं
भवन्तमेवाऽनुध्यायन्ती तन्मयतया तथा विचेष्टते यथा सर्वेषामप्यसौ शोचनीया जाता ।
ततश्च त्वद्गतप्राणांस्मिमां किं सुधा व्यथयसि, अचिरमतुनयस्त्र, कृतमेभिः प्रश्नैरिति
ध्वन्यते । अत्र चिन्ताया मूलभूता रतिः प्रकृष्टते इति स. कण्ठाभरणे भोजः (परि. ५) ।

प्रच्छन्नरताभिलाषिणं नागरिकं प्रति कुलजत्वेन प्रच्छन्नमेव समागमं कामयमानाऽभि-
सारिका सवैदगद्यमाह—

हिअण्णएहिँ समअं असमत्ताइँ पि जह सुहावन्ति ।

कजाइँ सणे प तहा इअरेहिँ समाविजाइँ पि ॥ ६१ ॥

[हृदयज्ञैः समसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति ।

कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥]

असमाप्तान्यपि हृदयाभिज्ञैः साकं यथा हि सुखयन्ति ।

कार्याणि नेतरैः सह समापितान्यपि तथा मन्ये ॥ ६१ ॥

हृदयाभिज्ञैः हृदयेच्छां विजानद्विः इज्जितज्ञैः सह असमाप्तान्यपि यथाचिन्तितमपूरितान्यपि कार्याणि यथा सुखयन्ति तथा इतरैः हृदयमजानद्विः सह पूरितान्यपि न सुखयन्तीति मन्ये । तथा च त्वद्विविद्विद्वधेन सह यदि संकल्पेषि समागमो भवेत्सोऽपि सुखाय, न पुनर्जडेन कामं समागमोपीति सूच्यते । अथवा निजभर्तुः पामरत्रप्रकाशनेन पतिविषयको विरागो जारै चानुरागोनेन ध्वन्यते । किं वा अधमेऽनुरक्तां प्रति ब्रबोधन्याः सख्या वचनम् ।

संनिहितो धनागम इत्याम्राङ्कप्रदर्शनच्छलेन निभृतं सूचयन्ती कान्तां कान्तस्य प्रवासोदयमपनेतुमाह—

दरफुडिअसिपिसंपुडणिलुकहालाहलग्ग्लेप्पणिहम् ।

यकम्बुट्टिविणिग्ग्रामकोमलमम्बङ्गुरं उआह ॥ ६२ ॥

[ईषत्स्फुटित्तुक्तिसंपुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छलिभम् ।

पक्काम्ब्रास्थिविनिर्गतकोमलमम्बाङ्गुरं पश्यत ॥]

दरभिन्नत्तुक्तिसंपुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।

पक्काऽम्ब्रास्थिविनिर्गतकोमलमम्बाङ्गुरं पश्य ॥ ६२ ॥

दरमित्रे ईषत्स्फुटिते शुक्तिसंपुटे निलीनः गुप्तः, ईषद्वयमान इत्यर्थः । यो हालाहलः ‘वह्मनिया’ इति प्रसिद्धो जन्तुविशेषः तस्य पुच्छाग्रसद्वशम् । पक्काप्राय यदस्थि ततो विनिर्गतं च कोमलं च । ‘हालाहलो ब्रह्मसर्पे’ इति मेदिनी । वीजकोषनिर्गतस्य आम्राङ्कुरस्य वर्णकारौ हालाहलपुच्छसंवादिनाविति संघटितयाऽनयाऽर्थ्युपमया—‘यदि संनिहितघनरसमये समयेऽस्मिन्प्रवससि तर्हि सोयमाम्राङ्कुरो हालाहल इव मां कथावशेषां कुर्यादिति’ सौष्ठवेन ध्वन्यते ।

निरपायसुविचरसुरतयोग्यतां प्रदर्शयितुं यहस्य जनसंचारशून्यतां सूचयन्ती, विररमणाय जारमन्यमनस्कं वा कुर्वती काचिदाह—

उअह पडलन्तरोइणणिअअतन्तुद्वपाअपडिलग्गम् ।

दुल्खसुचागुत्थेक्कबउलकुसुमं व मकडअम् ॥ ६३ ॥

[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तुर्ध्वपादप्रतिलङ्घम् ।

दुल्खसूत्रग्रथितैक्कबकुलकुसुमिच भक्कटकम् ॥]

पश्यत पटलविलम्बितनिजतन्तुतलोध्वैपादपरिलक्षम् ।

दुर्लक्ष्यसूत्रसंगतवकुलकुसुममेकमिव हि मर्कटकम् ॥ ६३ ॥

पटलविलम्बितः छदिषोऽन्तरादवर्तीणो यो निजतन्तुः तस्य तले ऊर्ध्वपादैः परिलक्षम् । अत एव दुर्लक्ष्यसूत्रप्रथितमेकं वकुलकुसुममिव स्थितं मर्कटकं ल्हतां पश्यत । ‘अथ मर्कटकः सस्यमेदे वानरल्हतयोः’ इति मेदिनी । अनया मर्कटकस्यभाववर्णनस्यया स्वभावोक्त्या ‘इदं स्थानं जनयातयातशून्यमत एव सुचिरं रतोत्सवोऽसुभूयताम्’ इल्यथो ध्वन्यते ।

पुराणदेवकुलस्य जनसंचारशून्यतां प्रदर्श्य सुखसंगमार्थमुत्तेजयन्ती काचित्कामुकी जारमाह—

उअरि दरदिङ्गथणुअणिलुकपारावआणँ विरुएहिं ।

णित्थणइ जाअवेअणँ सूलाहिणँ व देअउलम् ॥ ६४ ॥

[उपरीषद्वृष्टशङ्कुलीनपारावतानां विरुहैः ।

निस्तनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥]

उपरि दरदिङ्गशङ्कुलकनिलीनपारावतोच्चरुहैः ।

निस्तनति जातपीडं शूलाभिन्नं व देवकुलम् ॥ ६५ ॥

उपरि उपरिभागे, चूडाकलस्य भग्नतया दरद्वष्टो यः शङ्कुकः, ईशदवशिष्ठतया किञ्चिद्वृश्यमानो यः कीलकः, तत्र निलीनानां निर्जनतया संकोचित्तचरणं कुञ्जीभूय स्थितानां पारावतानामुच्चैः रुहैः शूलाभिन्नं व शूलाप्रोतमिव जातवेदनं देवकुलं (देवमन्दिरम्) निस्तनति करुणं रौतीर्थ्यर्थं । इवार्थको वशब्दः । तथा च रतिसमये पारावतरुतानुकारी यन्मणितादि जायते तदपि नात्र संलक्ष्येतेति गृहूं सूचितम् । शूलाभिन्नमिव जातपीड-मित्युत्रेक्षया वसतिआवृत्तां प्रदर्श्य स्थानस्य निर्जनता द्योत्यते । एवं चानुपलक्ष्यरतिकृजितं निःशङ्कुभ्रतं सुरतमनुभवेति वकूवैश्चिष्ठेन च्वन्यते । नायकस्य दीर्घरमणार्थं चमत्कारमुत्पादयितुं शूलाभिन्नमिवेत्युत्रेक्षणम् । तथा च कामशास्त्रम्—‘कलोलिनीकाननकन्दरादौ दुःखाश्रये चापितवित्तवृत्तिः । मृदुद्वतारम्भमभिन्नर्थैर्यः श्लथोपि दीर्घं रमते रतेषु ॥’ इति गङ्गाधरः ।

परवनितालोकुपस्य निजदयितस्यानुरागमाङ्गुष्ठवर्तीं पुनः ‘नासौ मव्यनुरक्तः, न चाहं तस्य प्रिया’ इत्यादिना प्रेमाणमनभ्युपगच्छन्तीं परकीयां काश्चन सप्तलीं काचिदाह—

जह होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिं अङ्गेहिं ।

णवस्त्रअपीअपेऊसमत्तपाडि व किं सुवसि ॥ ६५ ॥

[यदि भवसि न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गः ।

नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]

यदि तस्य न प्रियासि प्रतिदिवसं निःसहैरङ्गः ।

पीयूषमत्तनवशिशुमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥ ६५ ॥

त्वं यदि तस्य ग्रिया न भवसि, तर्हि अनुदिवसं सुरतपरिश्रमपरिम्लानतया निःसहै-
रज्जैरुपलक्षिता सती, पीयूषेण अभिनवदुर्घेन मत्ता निद्रावशीकृता नवजाता
महिषीवत्सेव किं स्वपिषि ? ‘पीयूषं सप्तदिवसावधिक्षीरे तथाऽमृते ।’ इति भेदिनी ।
‘पीयूषममृते नव्यसूतधेनोः पयस्यपि ।’ हैमोपि । प्रसबोत्तरसप्तदिवसाभ्यन्तरीणदुर्धंपा-
नेन पशुवत्सो निद्रातीति लोकप्रसिद्धम् । सुरतपरिश्रमजातो जागर एव ते तदनुरागं
प्रकाशयतीति भावः । अत्र ‘पाढी’ इवेति महिषीवत्सोपमा अनर्हतां सूचयन्ती सपलीगता-
मीर्यां व्यनक्ति । गङ्गाधरस्तु—‘निजभर्तुरेवाऽप्रियासि, तर्किं मया दुर्भग्या’ इति निर-
स्यन्तीं नाथिकां प्रति साभिलापस्य कस्यचिदुक्तिरियम्’ इत्याह । तत्र नायिकायां ‘पाढी’
इत्युपमा विचारणीयैव । ‘प्रियतमस्य त्वं ग्रियासि’ इति समर्थनमपि जारविष्येऽच्युप-
पचम् । स हि प्रियस्य वैगुण्यं संसूच्य नाथिकां साधयतीति वृष्टम् । सख्यादिभिरवगतः
प्रकाशोर्यं प्रेमा इति स. कण्ठाभरणे भोजः ।

विदेशगतपतिकां काञ्चिदन्याऽसक्तां लोकापवादभीता काञ्चिद्वन्धुवधूराह—

हैमन्तिआसु अइदीहरासु राईसु तं सि अविणिदा ।
चिरअरपउत्थवह्येण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥ ६६ ॥

[हैमन्तिकास्तिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविलिन्दा ।

चिरतरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यद्विवा स्वपिषि ॥]

अतिदीर्घास्वविनिद्रा त्वमसि भृशं हैमनीषु रजनीषु ।
सुचिरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यद्विवा स्वपिषि ॥ ६६ ॥

इयदीर्घासु रात्रिषु अविगतनिद्रा (अपूरितनिद्रा) त्वं यद्विने स्वपिषि तत्र सुन्दरम्,
लोकानामसतीतीवशङ्काकारणत्वादयुक्तमित्यर्थः । प्रोषितपतिकात्वेन प्रियसंभोगादिकं रात्रि-
जागरणकारणं तु निवारितमेव । नतु तत्कालभेदं प्रियत्रासौ तच्चिन्तयापि रात्रिजागरणं
संभवति, प्रियसत्त्वे प्रतिदिनाभ्यासाद्वा । तच्छङ्कानिरासार्थं संबोधनम्—‘सुनिरप्रोषित-
पतिके !’ इति । तथा च बहोः कालात्रियविप्रयोगसहत्वाच्च प्रियचिन्तया विनिद्रत्वमपि
संभवतीत्याशयः ।

‘पङ्किले पथि, कर्दमभयादुष्टुत्य तथा मम पदस्थाने पर्दं निक्षितं न पुनरनुरागात्’ इति
प्रियाप्रणयं गोपयन्तं कान्तं काचिदाह—

जइ चिक्खलुभउप्पयप्रयमिणमलसाइ तुह पए दिण्म् ।
ता सुहअ कण्ठइज्जन्तमङ्गमेलिं किणो वहसि ॥ ६७ ॥

[यदि कर्दमभयोद्धुतपदमिदमलस्या तव पदे इत्तम् ।
तस्युभय कण्ठकितमङ्गमिदानीं क्षिमिति वहसि ॥]

पङ्कभयोत्पुतपदमिदमलसितया तव पदे प्रदत्तं चेत् ।
पुलकितमङ्गमिदानीं किमिति सुभग तत्स्फुटं वहसि ? ॥ ६७ ॥

अलसायमानया न तु वास्तवमलसया । तथा च तस्य मन्दगमनमपि अनुरागमूलक-
मेवेति भावः । पङ्कभयोत्पुतपदमिदं पदे तव पदे चेत्प्रदत्तं तर्हि स्पष्टं कष्टकितमङ्गमिदानीं
किमिति वहसि । मार्गे गच्छन्त्योपि त्वश्यनुरज्यन्तीत्याकूतेन सुभगेत्यामच्छ्रणम् । यदीयं
त्वयि नाऽनुरक्ता, तर्हि तव पदस्थानेऽनया पदे दत्ते कथं ते रोमाद्वा जात इत्याशयः ।

अनुरागतिशयं प्रकाशयतोपि दानशून्यस्य भुजङ्गस्य हेपणार्थं दुहितुश्च शिक्षार्थं
वेश्याधात्री आह—

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहाअ व पुणिमाअन्दो ।

अन्तविरसो व कामो असंपआणो अ परिओसो ॥ ६८ ॥

[प्रासः क्षणो न शोभते अतिग्रभाते इव पूर्णिमाचन्द्रः ।

अन्तविरस इव कामो असंप्रदानश्च परितोषः ॥]

प्रासः क्षणो न राजस्यतिकल्ये पूर्णिमेन्दुरिव ।

अन्तविरस इव कामो ह्यसंप्रदानश्च परितोषः ॥ ६८ ॥

प्रासः अतिक्रान्तः क्षणः उत्सवो न शोभते, यथा अतिग्रभाते पूर्णिमाचन्द्रः, तत्प्रका-
शस्यातिक्रान्तत्वात् । सम्यक्प्रदानशून्यः परितोषश्च न शोभते, यथा अन्तविरसः कामः ।
यस्या कामनाया अनन्ते वैरस्यमुत्पद्यते न सा लोकानां प्रिया । तथैव परितोषप्रकाश-
नान्ते समुचितवितरणभावे रसक्षतिरिति यदि त्वमिमामनुरक्तां कामयसे तर्हि सम्यग्वि-
तरणीयमिति कामुकं प्रलभिव्यज्यते ।

पूर्वोक्तं सर्वमिदं ‘अइप्पहाअब्ब पुणिमाअन्दो । अन्तविरसो व कामो’ इति पाठं
निर्भितवतो गङ्गाधरस्यानुरोधेन । वस्तुतस्तु—

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहाअमि पुणिमाअन्दो ।

अन्तविरसो अ कामो असंपआणो अ परिओसो ॥

प्रासः क्षणो न राजस्यतिकल्ये पूर्णिमाचन्द्रः ।

अन्तविरसश्च कामो ह्यसंप्रदानश्च परितोषः ॥

प्रासेराशायामेव आनन्दाधिक्यात्मास उपस्थितः क्षण उत्सवो न शोभते, प्रासत्वेन
उत्कण्ठानिवृत्तेः । तथा अतिग्रभाते पूर्णिमाचन्द्रो न शोभते । सायं क्रमेणोदेष्यतस्तस्य
दर्शने यथोत्कण्ठा न तथाऽत्तं जिगमिषोस्तस्य दर्शन इति भावः । परिणामविरसा कामना
च न शोभते, एवं सम्यक्प्रदानशून्यः परितोषश्च न शोभते । एते चत्वारो न शोभन्ते
इति दीपकः । अप्रेषि सैषा शैली प्रदर्शिता गाथाकोषकारेण यथा—‘ठज्जह पहुस्स
ललिअम्’ [२ शतके ४३] ॥

स्वाधीनभर्तुकां काव्यन नवीनां कामयमानं प्रति तत्प्राप्तेराशां निरस्यन्ती दूती अन्या-
पदेशेनाह—

पाणिग्रहणे विअ पर्वद्दै णाअं सहीहि सोहगम् ।

पमुवद्दणा वासुकिकङ्गणम्मि ओसारिए दूरम् ॥ ६९ ॥

[पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।

पशुपतिना वासुकिकङ्गणेऽपसारिते दूरम् ॥]

पार्वत्याः सौभाग्यं करत्रहण एव विदितमालीभिः ।

व्यपनीते पशुपतिना निजवासुकिकङ्गणे दूरम् ॥ ६९ ॥

पार्वत्या भयनिवृत्यर्थम्, अभिरुचितेऽपि स्त्रीये वासुकिलपे कङ्गणे पशुपतिना दूरमप-
सारिते सति पाणिग्रहण एव प्रियाद्वुरागरूपं पार्वत्याः सौभाग्यं सखीभिर्ज्ञातम् । इदानीमेव
एवंविधमनुगतत्वं तर्हि अग्रे का कथेति भावः । तथा च नित्यमनुकूलमाचरतः प्रियर्स्य
सेयं प्रथमत एव तथा वल्लभा यथा नेयमन्यं कामयितुर्महतीति कामुकं प्रस्यभिव्यज्यते ।
'विज्ञा उपक्रम एव भद्रं विस्तु च जानन्तीति दर्शयन् कथिदाह' इति गजाधरः । क्षिव-
निष्ठः प्रथमाद्वुरागानन्तरः सोयं संभेगशूद्धार इति स. कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ।

कस्याश्वन ग्रोषितपतिकाया श्रीष्मान्तः प्रियप्रत्यागमावधिरासीत् । नवमेवोदयशङ्क-
याऽवधिलङ्घनं मत्वा प्रियतमस्याऽन्यासांक्ति संभाव्य व्याकुलायास्तस्याः समाश्वासनार्थं
सखी आह—

गिहो दवगिगमसिमइलिआह॒ दीसन्ति विज्ञसिहराह॒ ।

आससु पउत्थवद्दै ण होन्ति णवपाउसब्भाह॒ ॥ ७० ॥

[श्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।

आश्वसिहि ग्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृद्भाषि ॥]

श्रीष्मे भान्ति दवानलमसीमलिनितानि विन्ध्यशिखराणि ।

न नवप्रावृद्भजलदाः ग्रोषितपतिके समाश्वसिहि ॥ ७० ॥

विन्ध्यशिखराणि श्रीष्मे दावानलमसीसम्पर्केण मलिनानीवाऽचरितानि, न तु वास्तवं
मलिनानि भान्ति प्रतीयन्ते, दृश्यन्ते इति यावत् । औपम्यवल्पपहुतिरलङ्घार इति स-
कण्ठाभरणे भोजः (४ परि.) ।

प्रथमसङ्गमेऽनुरागाऽतिशयं प्रकाशयन्तं वहुवल्मभं कान्तं सर्वदा एकरसप्रणयाद्वृ-
त्यर्थं काचिदाह—

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिवोदुं देसु तेत्तिअं पणअम् ।

ण अणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणक्खमो सद्वो ॥ ७१ ॥

[यावन्मात्रं शक्यते निर्वोद्धुं देहि तावन्तं प्रणयम् ।
न जनो विनिवृत्तप्रसादहुःखसहनक्षमः सर्वः ॥]

शक्यो वोद्धुं यावांस्तावन्तं देहि मे प्रणयम् ।
सर्वों जनो निवृत्तप्रसादपीडासहो नाऽयम् ॥ ७१ ॥

यावान् प्रणयः सर्वदापि निर्वोद्धुं शक्यते तावन्तं मे देहि । अयं सर्वोपि जनः, निवृत्तो यः प्रसादः प्रणयस्तस्य या पीडा दुःखं तत्सहः सहनक्षमो नास्ति । तथा च बहुवल्लभेन भवता पूर्वं बहुयोपि प्रणयभज्ञं कृत्वा परित्यक्ताः, न तद्वद्वहमपि बोधनीया । अननुभूत-प्रणयखण्डना तद्वनुरक्ताऽहं तु त्वया प्रणयखण्डने कृते न जीवामीति व्यन्यते ।

प्रियतमप्रणयभज्ञतः परिगृहीतमाना, प्रियेण च ‘किमेवं मध्यद्यापि प्रणयविमुखासि’ इत्याद्यनुनीयमाना काचिन्मानिनी तत्प्रणयस्याऽस्थिरतामात्मनश्चानुरागातिशयमाविष्क-र्तुमेवमाह—

बहुवल्लुहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं ।
सा किं छडुं मग्गइ कत्तो मिडुं व बहुअं अ ॥ ७२ ॥

[बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं सृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥]

बहुवल्लभस्य दिवसान् पञ्च कथञ्चित्तु वल्लभा या स्यात् ।
सा षष्ठं तु सृगयते ? कुतो हि मृष्टं च बहुकं च ॥ ७२ ॥

बहुयो वल्लभा यस्य स बहुवल्लभः तस्य या वल्लभा भवति सा कथंचित् पञ्च दिवसांस्तु पश्यति । अनन्तरमन्यत्रासत्कास्य कान्तस्याभिग्रायमवगत्य सा तु (किम्) षष्ठं दिवसे सृगयते पश्यति, नैव पश्यतीत्यर्थः । यतो हि मृष्टं च बहुकं च कुतः । यच्चनुकूलं परिमाणतोऽधिकं च तत्सुकृतपरिपाकलभ्यमित्यर्थः । “सिष्टं च” इत्यपि संभवति । तथा च या बहुकूलं तवाऽनुरागमुपलब्धवती स्यादवश्यं सा धन्या, मम मन्दभाग्यायास्तु कुत एतदिति कान्तं प्रत्यभिव्यज्यते । यद्वा, अभिमतप्रियस्य सार्वदिक्संभोगाऽलाभात्खिद्य-मानां नाप्रिकां बोधयन्त्याः सख्या इयमुक्तिः । अपैति च शोभते च तादशोयं कुसुमभराग इति स. कण्ठाभरणे भोजः (परि. ५) ।

सततमनुगतस्य दियतस्यानुरागमात्मनोऽपि च तं प्रलभिलाषातिशयं प्रकाशयितुं नायिका सखीमाह—

जं जं सो णिज्ञाअह अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो ।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तम् ॥ ७३ ॥

[यद्यस्य निर्धर्यायत्यङ्गावकाशं ममालिमिषाक्षः ।
पच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेण इयमानम् ॥]

निर्धायति किल यं यं सोऽनिमिषाक्षोऽङ्गकाऽवकाशं मे ।
प्रच्छादयामि तं तं वाञ्छामि च तेन दृश्यमानं च ॥ ७३ ॥

अभिलाषातिशयादनिमिषनयनः स यं यस् अङ्गकस्य तनोरङ्गस्यावकाशं निर्धायति पश्यति, तं तं दयितस्य निरन्तरदर्शनाद्विढोदयेन आच्छादयामि, तेन दृश्यमानं वाञ्छामि च, अङ्गदर्शनेन प्रियमनोहरणाभिलाषादित्याशयः । ‘कापि पत्यावन्ययोषाऽवकाशनिरासार्थं खसौभाग्यमात्मनश्च पत्यावनुरागमाह’ इति गङ्गाधरः । छायार्या यद्यदित्यवकाशविशेषणं तु चिन्त्यमेव ।

कलहान्तरितायाः सखी अनुनयार्थं तत्कान्तं प्रोत्साहयितुमाह—

दिढ्मण्णूदूणिआँ वि गहिओ दइअभ्मि पैच्छह इमाए ।
ओसरइ बालुआमुष्टि उव माणो सुरसुरन्तो ॥ ७४ ॥

[दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया ।
अपसरति बालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥]

दृढमन्युदूनयापि च पश्यत दयितेऽनया गृहीतोपि ।
सुरसुरिति हन्त मानो निरयत इव बालुकामुष्टिः ॥ ७४ ॥

दृढमन्युदूनयादप्यनया दयितया, दयिते दयितं प्रति गृहीतोऽपि दृढं खीकृतोपि मानः बालुकामुष्टिरिव हन्त सुरसुर इति निरयते अपगच्छति । सुरसुरिति मुष्टितो बालुकानिःसरणस्वभावोत्तया ‘तवानुरागवशादिदार्नीं खत एव मानः शिथिलीभवन्नपस्तरति, ततथावसरोऽधुनाऽनुनयस्य’ इति दयितं प्रति द्योत्यते ।

उद्याने विहरन्कश्चन कान्तामनसि मनसिजोदीपनाय समीपगतां तामेवमाह—

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओँ ओअरइ ।
णहसिरिकणठबभटु व कणिठआ कीररिज्जोली ॥ ७५ ॥

[पश्य पञ्चरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति ।
नभःश्रीकण्ठञ्चष्टेव कणिठका कीरपङ्किः ॥]

अवतरति पश्य नभसो मरकतमणिपञ्चरागसंवलिता ।

गगनश्रीगलमध्याद् गलिता किल कणिठकेव शुकपङ्किः ॥ ७५ ॥

नभःश्रीकण्ठमध्याद् भ्रष्टा, मरकतमणिभिः पञ्चरागमणिक्यैश्च संवलिता संघटिता कणिठका इव ‘कणी’ इति ख्यातं कण्ठाभरणमिव शुकपङ्किर्भसोवतरतीति त्वं पश्य । शुकानां हरितवर्णत्वान्मरकतमणिसादृश्यम्, तच्चूनां च लोहितवर्णत्वात्पञ्चरागसाम्यमिति सेयमुल्येक्षा । तथा च मनसिजरसमयोयं समय इति कान्तां प्रति सूच्यते । ‘सुरतासक्ता काचिच्चिररमणार्थं कान्तमन्यमनस्कं कर्तुमाह’ इति गङ्गाधरः ।

अन्यपुरुषाभिषहङ्गं तुद्वा भर्ता दुर्गमस्थाने निरुद्धा काचिज्जारप्रेषितां दूर्तीं दुर्दशापञ्चस्य
मनस्तिनो व्यपदेशेनैवमाह—

ण वि तह विएसवासो दोगच्च मह जणेइ संतावम् ।
आशंसिअत्थविमणो जह पणाइजणो णिअत्तन्तो ॥ ७६ ॥

[नापि तथा विदेशवासो दौर्गत्यं मम जनयति संतावम् ।
आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥]

न तथा विदेशवासो जनयति दौर्गत्यमयि न मे तापम् ।
आशंसितार्थविमना निवर्तमानो यथा प्रणयी ॥ ७६ ॥

विसद्वदेशे (कुमारे) वासः, दारिद्र्यं च मम तथा संतार्पं न जनयति यथा प्रल्याशं-
सिते अर्थे (धने) विमना विषणमनाः सन् (निराशम्) निवर्तमानो यथा प्रणयिजनः,
इति मनस्तिपक्षे । कुलटापक्षे तु—वन्धनस्थाने वासः, दुर्गतता (गतिनिरोधः) च मम
तथा दुःखं न जनयति यथा प्रल्याशंसिते अर्थे (प्रयोजने 'प्रियसंगमे') विमुखः प्रणयी
(कान्तप्रहितदूर्तीजनः) । नायमवसरोऽभिसारयेति जारनिवर्तनाय कुलटोक्तिर्वा ।

रात्रिनिवासकामः पथिक इति सर्वान्प्रववश्य, अलिन्दे गोपायितस्य जारस्य सोयं रति-
समय इति सूचयन्ती दूर्ती कामुकीमाह—

खन्धगिगणा वणेषु तणेहिं गाममिम रक्खिओ पहिओ ।
णअरवसिओ णडिजइ सापुसएण व सीएण ॥ ७७ ॥

[स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैर्यामे रक्षितः पथिकः ।
नगरोयितः खेद्यते सानुशयेनेव शीतेन ॥]

स्कन्धाग्निना वनेषु ग्रामे च तृणैः सुरक्षितः पथिकः ।
शीतेन खेद्यते इसौ सानुशयेनेव संवसन्नगरे ॥ ७७ ॥

वनेषु स्कन्धाग्निना बृहत्काष्ठाग्निना, ग्रामे च तृणैः (तृणानां ज्वालनेन अवगुण्ठनेन
वा) सुषु रक्षितः पथिकः नगरे संवसन् असौ (पथिकः) सानुशयेनेव स्मृतपूर्वाऽ-
मर्थेणेव शीतेन खेद्यते । तथा च शीतभयाद् गृहाभ्यन्तरनिलीनसकलजनायामस्यां
शिशिरनिशायां शीतब्याकुलमेन पथिकं त्वमेव निरपायं गोपायेति सूच्यते । 'स्कन्धाग्निः
स्थूलकाष्ठाग्निः' इति हारावली । यद्वा—खयंदूर्तिकायाः पथिकं प्रति निजाऽभिलाषावि-
ष्करणमेतत्—'नगरे तृणकाष्ठादीनां दुर्लभत्वात्, नागरिकाणां च निर्दयत्वात्, दुःसह-
शीतभीषणायामस्यां शिशिरनिशीथिन्यां यद्यात्मानं गोपायितुमिच्छसि तर्हि स्तनोषमणि
मच्छयनीये निलीयस्त' इति ।

कथिदात्मनो दृढ़स्तेहतां कामकलाकोविदतां च प्रकाशयन् शृणत्कामिनीजनमनो-
हरणायाऽह—

भरिमो से गहिआहरधुअसीसपंहोलिरालआउलिअम् ।
बथणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्कमलं व ॥ ७८ ॥

[सरामस्त्वा गृहीताधरधुतशीर्षप्रधूर्णनशीलालकाकुलितम् ।
वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥]

आत्ताधरधुतशीर्षभ्रान्ताऽलकसंकुलं स्मरामोऽस्याः ।
वदनं परिमलतरलितमधुकरपुञ्जप्रकीर्णकमलमिव ॥ ७८ ॥

रसाखादनय गृहीते अधरे तन्निवारणिव्रमेण धुते (कम्पिते) शीर्षे, भ्रान्तैः मौलि-
कम्पनेन भ्रमणशीलैः अलकैराकुलम्, अत एव परिमलेन तरलितः इतस्तो भ्राम्यन् यो
मधुकरपुञ्जः (भ्रमराऽलिः) तेन व्यासं कमलमिव स्थितम्, अस्या वदनं स्मरामः ।
यद्यसामु त्रिव्यसि तर्हि त्वामपि तथैव लालयाम इति शृण्वन्तीं प्रति ध्वन्यते ।

प्रियतमसमादत्याः प्रसाधनाऽभावेऽपि सौभाग्यं वर्धत एवेति काचिद्विदितरहस्यां
वयस्यामाह—

हल्लफलहाणपसाहिआणँ छणवासरे सवत्तीणम् ।
अज्ञाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहगम् ॥ ७९ ॥

[उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपलीनाम् ।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥]

उत्साहरभसमज्जनविमण्डतानां क्षणे सपलीनाम् ।
कथितमिव मज्जनाऽनादरेण सौभाग्यमार्यया नूनम् ॥ ७९ ॥

हल्लफलमुत्साहतारत्यम् । ‘मज्जनप्रसाधितानामस्ताकं प्रियो वश्यः स्यात्’ इत्युत्साह-
रभसेन यन्मज्जनं स्नानं तेन प्रसाधितानां सपलीनां मध्ये, क्षणे उत्सवदिवसे आर्यया गुणै-
दार्येण श्रेष्ठ्या सपलया मज्जनानादरेण स्नानाऽवज्यया सौभाग्यं कथितमिव । रूप-गुण-
वशीकृतः पूर्वत एव वचनाऽनुगतो दयित इति गर्वेणति भावः । सोऽर्थं विव्वोकाख्यो
भावः—‘विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः’ इति साहित्यदर्पणः । केविन्तु ‘हल्लफल’
शब्दं कहुण्जलवाचिनं स्वीचकुः । तथा च किञ्चिद्विष्णजलस्नानप्रसाधितानामिलर्थः ।
‘सहचरप्रलोभनार्थं विटः कस्याश्रित्सौभाग्यर्गर्वसूचकं विव्वोकमाह’ इति गज्जाधराऽज्ञीकृत-
मवतरणम् ।

कृतहरिदोदर्तनतया जालवलयलमलमपनयन्तीं कृतविशुद्धिस्नानं पुष्पवर्तीं प्रति
सामिलाषः कक्षन विदर्घ आह—

हाणहलिहाभरिअन्तराहैं जालाहैं जालवलअस्स ।
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थम् ॥ ८० ॥

[स्नानहरिद्राभृतान्तराणि जालानि जालवलयस्य ।

शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम् ॥]

स्नानहरिद्राभरितान्तराणि जालानि जालवलयस्य ।

कं किल कृतार्थयिष्यसि विशोधयन्ती तु वंशकण्टकतः ॥ ८० ॥

जालप्रथानस्य वलयस्य (करकङ्गणस्य) लानीयहरिद्राहृद्धावकाशानि जालानि क्षुद्रेण वंशकण्टकेन शोधयन्ती तल्लभमलमपनयन्ती त्वं कं जन्म कृतार्थं करिष्यसि ।' अपवाहि- तदिनचतुष्यतया गाढोत्कण्ठां कृतप्रसाधनं त्वामद्य यः किल रमयिष्यति तस्य जन्म कृतार्थसित्याशयः । 'किलिञ्चिथ'शब्दे वंशवाची । यद्वा-हरिद्रादिलानीयद्रव्येण कृतज्ञानां केशसंर्माज्ञोह्लग्रकरतया प्रकटितघनवाहुमूलौ काञ्चन रमणीमुहिष्य नागरिकस्य कस्य-चिदुक्तिरियम् । अस्मिन्पक्षे जालवलयस्य कद्भूतिकाया जालानि वंशकण्टकेन शोधयन्ती त्वं कं कृतार्थयिष्यसीति पूर्ववदर्थः । 'कं कृतार्थं करिष्यसि'इति साधारणशब्दप्रयोगात्तस्याः कुलठात्वं व्यज्यते । यद्वा-कमिति काङ्क्षा न कमपीति लभ्यते । कद्भूतिकासंस्कारैणैव कालातिपातादिति गङ्गाधरः ।

काचिद्विद्वधनायिका निजदित्यितस्य प्रवासम्, अतिपरिच्यात्प्रणयन्यूनीकरणम्, पिशुनवचनविश्वासं च प्रतिषेधन्ती, आत्मनोऽनुरागं प्रकाशयति—

अदंसणेण पैममं अवेइ अदंसणेण वि अवेइ ।

पिसुणजणजम्पिणेण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥ ८१ ॥

[अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति ।

पिशुनजनजलिपतेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥]

प्रेमाऽदर्शनतोऽपैत्यपैति नूनं च सततदर्शनतः ।

पिशुनजनजलिपतेनाप्यपैत्यथाऽपैति चैवमेवाऽपि ॥ ८१ ॥

प्रवासादिजातेन अदर्शनेन प्रेम अपैति । एवं चतुर्षु । अथ च एवमेवापि अपैतीति चतुर्थे पदयोजना ।

एतां गथामेव स्फुर्टं बोधयितुमन्यामाह—

अदंसणेण महिलाअणस्स अदंसणेण णीअस्स ।

मुखस्स पिशुनजनजलिपतेनैवमेवापि खलस्स ॥ ८२ ॥

[अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्स ।

मूर्खस्स पिशुनजनजलिपतेनैवमेवापि खलस्स ॥]

खीणामदर्शनेन हि नीचस्य च सततदर्शनेनेह ।

पिशुनजनजलिपतेनाशस्य खलस्सैवमेवाऽपि ॥ ८२ ॥

अदर्शनेन स्त्रीणां प्रेम अपैति, तासां लघुहृदयत्वादिति भावः । नीचस्य तुच्छहृदयस्य सततदर्शनेनाऽपैति, प्रयोजनसाऽपेक्षत्वेन शीघ्रमेवोत्कण्ठानिवृत्तेः । मूर्खस्य, न तु स्वयं विवेकशालिनः । खलस्य दुष्टस्य, एवमेवापि कारणं विनाऽपि । ततश्च ‘उदारहृदयस्य त्वद्विधिविवेकशालिनः प्रेम प्रत्यहमुपचीयेतैव, प्रवासादिनिरासेन मादशचित्ताऽनुवृत्तेरिति’ ध्वन्यते ॥

प्रसवानन्तरभाविस्तनपतनोत्तरमपि सेयं पूर्ववदनुवर्तनीयेति प्रथमगर्भायाः सुभगायाः सखी तत्कान्तं बोधयन्ती स्तनकालिमकथनव्याजेनाह—

पोदृपडिएहि दुःखं अच्छिज्जइ उण्णएहि होऊण ।

इअ चिन्तआणं मण्णे थणाणं कसणं मुहं जाअम् ॥ ८३ ॥

[उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयत उच्चताभ्यां भूत्वा ।

इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं सुखं जातम् ॥]

उच्चतिभूद्धां भूत्वोदरपतिताभ्यां बताऽस्यते दुःखम् ॥

इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं सुखं जातम् ॥ ८३ ॥

उच्चताभ्यां भूत्वा उदरपतिताभ्यां सद्भ्यां बत दुःखं आस्यते स्थीयते । लोकेऽपि यः पूर्वं प्रणयबहुमानादिना उच्चतिशाली भूत्वा दुर्दैवशार्दुर्दशामापन्नः सञ्चुदरभरणव्यग्रो भवति तस्याऽपि चिन्तया लज्जया च श्यामं सुखं भवतीत्यर्थान्तरं ध्वन्यते । तथा च भवद्विधदक्षिणनायकेन सेयं चिन्ता व्यपनेयेति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

केनचिद्यूना सह कांचन सुन्दरीं संघटयितुकामा काचन दूती नायकानुरागमाह—

सो तुज्ज कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो ।

जह से मच्छरिणीए वि दोचं जाआए पडिवण्णम् ॥ ८४ ॥

[स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्रः ।

यथा तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ॥]

सुन्दरि कृते तथा तव हालिकपुत्रः सुमहिलः क्षीणः ।

दौत्यं यथाऽस्य पत्न्या प्रतिपन्नं मत्सरिण्यापि ॥ ८४ ॥

हे सुन्दरि ! सुन्दरीत्यनेन ‘तव सौन्दर्यं तथा तस्य हृदये प्रतिफलितं यथा नान्या काचन हृदये प्रतिभाति’ इति योत्यते । तव कृते सुमहिलः स हालिकपुत्रः तथा क्षीणः, यथा मत्सरिण्यापि अस्य जायया दौत्यं स्त्रीकृतम् । सुमहिल इत्यनेन ‘तव सौन्दर्यंप्रे रूपवतीं भार्यामपि विहाय त्वद्यनुरक्तः’ इति नायिकासुतिर्धन्यते । हालिकपुत्र इत्यनेन ‘तस्य सोयमनुरागो न कृत्रिमः । इत्यार्जवं सूच्यते । हालिकोस्य पिता वर्तमानस्था च नास्य कृषिकार्यादिव्यासङ्गेन त्वदनुरागभङ्गः, प्रभूतं च धनसिति व्यज्यते । जायया दौत्यं प्रति-

पन्नमिति सापद्यशङ्का न कार्यं, यतः पत्युरनिष्ठभयाजायापि स्वयमेव संगमोपयाचिकेति ध्वन्यते । क्षीण इति भूतकालिकत्प्रत्ययेन ‘तस्य भूयान् गात्रापचयो जातः, इदानीं-मेवमकृत्रिमाऽनुरागं सरलहृदयं तं यदि नाऽन्युपगच्छसि तर्हि पुरुषवधपातकं ते भविता’ इति ध्वन्यते ।

बहुवल्लभे नायके चिरादागते स्नेहोपालम्भसंस्थेन वाणुमफेनात्मनोनुरागं प्रकाशयति कान्चन वचनविदर्घा—

दक्षिण्येण वि एन्तो सुहथ सुहावेसि अह्न हिअआइं ।
णिक्कइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणम् ॥ ८५ ॥

[दाक्षिण्येनाप्यागच्छन्सुभग सुखयस्यसाकं हृदयाति ।

निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥]

दाक्षिण्येनागच्छन्नपि सुखयसि सुभग हृदयमसाकम् ।
निष्कैतवेन यासां गतोसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥ ८५ ॥

बहुनां बलभत्वात् हे सुभग ! दाक्षिण्यवचादप्यागच्छन्म्, न त्वनुरागादित्यर्थः । असाकं हृदयानि सुखयसि । असाकमिति बहुवेन ‘दक्षिणतया याः किल त्वयाऽनुराग-स्थन्ते ता अपि न जाने कियत्यः’ इति ध्वन्यते । यासां समीपे कैतवाभावेन गतोऽसि तासां सुखं तु किं वाच्यमिति भावः । तथा च ‘चिरानुरागसंपन्ना असद्विद्या विहाय न जाने कियतीषु त्वं हृदयेनानुरूपयसि, इदानीं केवलं कैतवेनागच्छता त्वया वर्यं कियत्सुखिता इति त्वमेव जानीहि’ इत्युपालम्भो व्यज्यते । ‘कलहान्तरिता चिरागते कान्ते सन्नेहोपालम्भमाह’ इति गङ्गाधरः ।

ताडयन्त्यामपि मयि नोपनारान्परित्यजति दयित इति स्वसौभाग्यं प्रकाशयन्ती स्वाधीनपतिका अन्यवनिताप्रसङ्गं निरस्यति—

एकं पहसुविष्णं हृथं मुहमारुणं वीअन्तो ।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ वीएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥

[एकं प्रहारोद्दिग्मं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन् ।

सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥]

एकं प्रहारखिन्नं मुखमरुता वीजयन् हस्तम् ।

सोपि हसन्त्या कण्ठे मया गृहीतो द्वितीयेन ॥ ८६ ॥

प्रहारेण खिन्नमुद्दिश्मम् एकं मम हस्तम् ‘अहो कोमले ते हस्ते भवेत्पीडा’ इति मुखमा-रुतेन वीजयन् स दयितो हसन्त्या मयापि द्वितीयेन हस्तेन कण्ठे गृहीतः । एवमनुकूले दयिते का कथाऽन्यवनिताप्रसङ्गस्येति सूच्यते । श्रीमुंसयोश्चादुप्रसङ्गे उदाहृता सेयं गाथा भोजेन कण्ठाभरणे (५ परि.) ।

प्रणयकलहवशात्केलिसदनतो निष्कान्तां कान्तानुगम्यमानां कान्तां परावर्तयितुं
तत्सखी आह—

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स ।

पुढपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहठिअं हिअअम् ॥ ८७ ॥

[अवलम्बितमानपराङ्गुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य ।

पृष्ठपुलकोद्भमस्तव कथयति संमुखस्थितं हृदयम् ॥]

आगच्छतः प्रियस्य खाऽऽलम्बितमानतः पराङ्गुख्याः ।

मानिनि हृदयं कथयति पृष्ठे पुलकोद्भमस्तवाऽभिमुखम् ॥ ८७ ॥

ख्यमवलम्बितेन मानेन पराङ्गुख्याः, न तु हार्दिकेनेति भावः । तब पृष्ठे पुलको-
द्भमः अभिमुखं संमुखस्थितं हृदयम् आगच्छतः प्रियस्य कथयति । उपरितः पराङ्गुख्या
अपि हृदयतः प्रियाभिमुख्यास्तवोत्कण्ठं पृष्ठे रोमाञ्चः प्रथयतीति स्पष्टमलीकमिमं रोषं
परिलजेत्याशयः । अयत्नाऽपनेयमात्रा सेयमधीरा नायिकेति सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजः ।

प्रणयकलहे प्रियतमं भृशं परिभवन्तीं मानिनीं शिक्षयितुं सखी मानिन्यन्तरस्तुति-
प्रसङ्गेनाह—

जाणइ जाणावेउं अणुणअविहविअमाणपरिसेसम् ।

अहरिकम्भि वि विणआवलम्बणं सच्चिद कुणन्ती ॥ ८८ ॥

[जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्वावितमानपरिशेषम् ।

विजनेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ॥]

ज्ञापयितुं जानीतेऽनुनयगमिततिग्ममानपरिशेषम् ।

विजनेऽपि कुर्वती किल सुदती विनयावलम्बनं सैव ॥ ८८ ॥

विजनेपि एकान्तेऽपि, सुरतसमय इति यावत् । विनयावलम्बनं कुर्वती भुजप्रक्षेप-
सीत्काराद्यकरणात्पुरतसामयिकं धार्ढ्र्यं परिहरन्ती सैव सुदती, अनुनयेन गमितस्य विद्वा-
वितस्य तिग्ममानस्य परिशेषं सूचयितुं जानीते, नान्या युवतीत्यर्थः । ‘सुदती’इत्यनेन
तत्समयोपस्थिते हास्यप्रसङ्गेऽपि केवलं दन्तमुकुलान्येव व्यञ्जयन्ती, न तु हृदयेन हस-
न्तीति सूचितम् । अयमाशयः—मानिनी सा प्रियतमेनाऽनुनये कृतेपि यदि तिग्मो
मानो न परिशाम्यति तर्हि मौनाऽलम्बनादिना तं सूचयति, न तु त्वमिव दयितं परि-
भवति । अत एव भवत्यापि प्रियतमः सर्वदानुर्वतनीय एव न त्वधरीकरणीय इति ।
गूढमानद्दिः उदात्ता सेयं नायिकेति कण्ठाभरणे भोजः ।

बहुवल्लभत्वेपि एकस्यामेवानुरक्तं कञ्चन रसिकमुद्दिश्य कृष्णव्याजेन काचिदाह—

सुहमारुण तं कल गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणां बल्लवीणां अण्णाण वि गोरअं हरसि ॥ ८९ ॥

[सुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन् ।

एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥]

त्वं कृष्ण राधिकाया सुखमरुता गोरजोऽपनयन् ।
आसामन्यासामपि गोपीनां गौरवं हरसि ॥ ९० ॥

हे कृष्ण ! सुखमारुतेन राधिकाया: ‘गोरअम्’ गोरजः कपोलादिलझां गोधूलिमपन-यन् । गोरजोऽपनयनच्छलेन कपोलादि चुम्बचिल्यर्थः । कृष्णराधिकापदसच्चिविना ‘गो’-पदस्य धेनावेव शक्तेः । ‘गोरजः चक्षुरजः’ इति गङ्गाधरः । त्वम् एतासामन्यासामपि बल्लवीनां ‘गोरअम्’ गौरवं हरसि, राधिकाचुम्बनेन सौभाग्यखण्डनादिति भावः । अत्रै-कस्या ‘गोरअं’ हरन् अन्यासामपि ‘गोरअं’ हरसीति प्राकृते संभवन् विरोधः संस्कृत-च्छायायां न निर्वोद्धुं शक्य इति बोध्यम् । ‘यद्वा गोरअं गौरतां हरसि, अपमानेन कृष्णी-करणादिति भावः’ इति गङ्गाधरः ।

बहुवारं कृतापराधमथ केवलं ‘क्षमस्त’इत्येतावतैव क्षमापयन्तं कान्तं खण्डता काचिदाह—

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिसिस सुहश एत्ताहे ।
अवराहाण्य अलजिर साहसु कअए खमिजन्तु ॥ ९० ॥

[किं तावकृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानीम् ।

अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम् ॥]

सुभग कृता अथवा यान् करोषि किं वा करिष्यसीदानीम् ।
अपराधानां कतरे क्षम्यन्तां कथय निर्हीक ॥ ९० ॥

सुभग ! बहुवल्लभत्वात्सुभगंमन्य । ‘त्वं सौभाग्यदर्पणैव खैरमाचरञ्जपराधान्करोषि’इति ध्वनितम् । किं ये अपराधाः पूर्वं कृताः, अथवा यान् वारितोऽपि इदानीं करोषि, अप्रे यान्करिष्यसि वा, एतेषां भूत-वर्तमान-भविष्यतां मध्ये कतरे क्षम्यन्तामिति हे अल-ज्जाशील ! कथय । केऽपि क्षन्तुं न शक्यन्त इति परिणतेन निषेधेन ‘पूर्वं ते कियन्तो-ऽपराधा न सोढाः’ इति ध्वनितम् । किञ्च-‘तव तथा शाश्वं यथाऽप्रेष्यपराधान्करिष्य-स्येव’इति सोपालम्भसंभारं संसूच्यते ।

अनुनयायकुर्वाणं दुर्विदग्धं नायकं शिक्षयितुं दूती आह—

पूर्मेन्ति जे पहुतं कुविअं दासा व जे पसाअन्ति ।
ते विअ महिलाणं पिआ सेसा सामि विअ वराआ ॥ ९१ ॥

[गोपायन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति ।
त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः ॥]

गोपायन्ति प्रभुतां येऽनुनयन्ते च दासवद्कुपिताम् ।
खीणां त एव दयिताः स्वामिन एवाऽपरे वराकाः स्युः ॥ ९१ ॥

ये खकीयं प्रभुत्वं कान्ताविषये गोपायन्ति, न तु प्रकटयन्ति । अपराधेऽपि दण्डादिकं न प्रयुज्जत इति भावः । ये च कुपितां तां दासवदधीनाः सन्तः प्रसादयन्ति, त एव महिलानां दयिताः प्रियाः । अपरे शेषाः दण्डप्रयोक्तारोऽनुनयपराङ्गुखाश्च खीणां स्वामिन एव स्युः, न वल्लभाः । अत एव वराकाः, प्रणयपरिपाकफलाऽप्राह्या शोचनीयासे इति भावः । तथा च त्वं यदि तत्प्रियतमतां कामयसे तर्हि अननुयादिषु माऽऽत्मनोवधीरणां मन्यस्वेति ध्वन्यते । ‘दूर्मैति जे सुहृत्तम्’ (दुन्वन्ति ये सुहृत्तम्) इति पाठं स्त्रीकुवैन्भोजः, गोत्रस्वलनादिना परिखेद नायकः प्रेमपरीक्षां करोतीति निर्दर्शयामास ।

पूर्वमतिप्रेमाभिनिवेशेन प्रणये प्रवृत्तम्, पश्चाद् गर्भदशायामुदासीनं नायकमुपालभमाना दूती अभ्रमरव्याजेनाह—

तइआ कअग्व महुअरण रमसि अण्णासु पुष्पजाईसु ।
बद्धफलभारगुरुईं मालईं एङ्गि परिच्छअसि ॥ ९२ ॥

[तदा कृतार्थं मधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु ।
बद्धफलभारगुर्वीं मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥]

मधुकर कृतार्थं न तदा रमसे ह्यन्यासु कुसुमजातिषु भोः ।
बद्धफलभारगुर्वींमधुना बत मालतीं परित्यजसि ॥ ९२ ॥

कृतः अर्धः पूजाविधिर्येन, सर्वाणि पुष्पाण्यवधीर्यं कृतादरेत्यर्थः । ‘मूल्ये पूजाविधार्थः’ इत्यमरः । भो मधुकर ! मधुकरेत्यनेन केवलं मध्वाखाद एव ते प्रयोजनं न प्रणय इति ध्वन्यते । ‘किअग्व’ इति पाठे कृतघ्नेत्यर्थः, तथा च मालतीकृतं परिमलोपकारं विस्मृतवत्तया अधमस्त्वमित्याक्षिप्यते । तदा तस्मिन्प्रणयसमये अन्यासु पुष्पजातिषु न रमसे । वर्तमानतानिर्देशेन ‘स ते प्रणयसमयो मम चक्षुषोर्मन् वर्तमान इव, इदानीमचिरैणैव परिवर्तसे’ इत्युपालम्भो योत्यते । ‘पुष्पजातिषु’ इति जातिपदोपादानेन बहुवचनेन च ‘समग्रा अपि कुसुमानां जातयः परीक्ष्य मालतीसौभासक्तेन त्वया परिलक्ष्यतः’ इति अभरपक्षे । ‘सर्वविधा अपि रमण्यो रसिकंमन्येन त्वया परीक्ष्य भत्त्वाभिनीगुणासक्तेन सता सतिरस्कारमवहेत्तिः, इति नायकपक्षे एवमारुढप्रणयातिशयोऽपि, इदानीमेतां परित्यजसीत्युपालम्भेतिशयो ध्वन्यते । इदानीं ब्रह्मेन फलभारेण गुर्वीं मालतीं परित्यजसि । फलभारगौरवेण मालत्या मकरन्दशून्यता, नायिकायाश्च विपरीतरतादियथे-च्छुरुताऽक्षमत्वं व्यज्यते । तथा च पूर्वं दर्शिततादशप्रणयाऽभिनिवेशस्त्वमधुना स्वार्थ-

परतमात्रेण तां परिल्यजन् किं वा वाच्य इत्युपालम्भो ध्वन्यते । ‘धृतगर्भा सेयं संप्रति नोपभोगयोग्या’ इति जारं प्रति दूस्याः सूचनेति कथित् ।

नायकस्य विकलतातिशयमालोक्य स्त्रीकृतदूतीभावया मातुलान्या तस्य गुणसौन्दर्यां-
दिषु कथितेषु तं प्रत्यनुरक्ता नायिका तामाह—

अविअहपैक्षणिज्ञेण तत्खणं मामि तेण दिष्टेण ।

सिविणअपीएण व पाणिएण तह विअ ण फिझा ॥ ९३ ॥

[अविनृष्टग्रेक्षणीयेन तत्खणं मातुलानि तेन द्वेषेन ।

स्वमपीतेनेव पानीयेन तृष्णैव न अष्टा ॥]

द्वेषेन तेन मातुलि तत्खणमवितृष्णवीक्षणीयेन ।

तृष्णैव नापयाता पयसेव स्वमपीतेन ॥ ९३ ॥

मातुलि ! अविनृष्टम् अपरिशाम्यदभिलाषं वीक्षणीयेन तत्खणं द्वेषेन तेन नायकेन
स्वमपीतेन पानीयेनेव तृष्णैव न अष्टा नाऽपयाता । तदवलोकनेन नाहं परितृप्यामीति
तदनुरागो घोख्यते । अथवा समीपस्थितं जारं ‘त्वद्वृशानाभिलाषो मम नापयातः’ इति
श्रावयन्ती अन्यापदेशेन काचित्सूचयति । *

अथमसंकेतभङ्गं द्वाप्ता संकेतस्थानान्तरस्थिरीकरणाय काचित्कुलटा भुजङ्गं सुजनप्रशं-
साच्छलेनाह—

सुधणो जं देसमलंकरेऽ तं विअ करेऽ पवसन्तो ।

ग्रामासणुम्मूलिअमहावडहाणसारिच्छम् ॥ ९४ ॥

[सुजनो यं देशमलंकरोति तमेव करोति प्रवसन् ।

ग्रामासबोन्मूलितमहावटस्थानसदशम् ॥]

देशमलङ्कृते यं सुजनः प्रवसंस्तमेव बत कुरुते ।

ग्रामासबोन्मूलितमहावटस्थानसमविरात् ॥ ९४ ॥

सुजनो यं देशं निवासेनाऽलङ्करोति, तमेव देशं प्रवसन् देशान्तरं गच्छन् सन् ग्रामा-
सबो ग्रामसमीपे उन्मूलितो यो महावटस्थानसदशं करोति । ग्रेषितसुजनो देशो रहो-
वृत्त-विश्रमाद्यभावाद् गुणिजनगोष्ठीविदग्धान् यथा दुःखयति तथा उन्मूलितवटस्थानमपि
दुःखयतीत्यर्थः । ततश्च दिवापि दिनकरकरात्मुम्बितत्वेन सततान्धकारवन्धूकृतो जटा-
गहनगोपयितो महान् वटपादपो वाल्ययोन्मूलित इति किञ्चिदन्यत्संकेतस्थानं स्यादिति
जारं प्रति सूच्यते ।

गमनसमये ‘सर्वव्यस्तेऽयं जनः’ इति वदन्तं भविष्यत्पथिकं कान्तं प्रति प्रियतमाह—

सो नाम संभरिअह पब्मसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअवं च कअं गअं च पेम्मं णिरालम्बम् ॥ ९५ ॥

[स नाम संसर्यते प्रभ्रष्टो यः क्षणमपि हृदयात् ।

सर्वत्वं च कृतं गतं च प्रेम निरालम्बम् ॥]

संसर्यते स नाम क्षणमपि हृदयात्पृथकृतो यो हि ।
सर्वत्वं च कृतं यदि गतं निरालम्बनं प्रेम ॥ ९५ ॥

यः क्षणमपि हृदयात्पृथकृतो भवेत् स नाम सर्वयते । यस्तु रात्रिनिद्वं हृदयमधि-
तिष्ठेत् स किं सर्वताम् । यदि च प्रेम सर्वत्वं प्रियस्मरणयोगयं कृतं तदैव निरालम्बनं
सदू गतम् । ततश्च क्षणकालमपि हृदयमसुबत्सत्व विरहे मम काऽवस्था भवेदिति
प्रवासमभ्युपगच्छता त्वयैव विचार्यतामिति त्रिवं प्रत्यभिव्यज्यते ॥

प्रथममनुरागातिशयं प्रदर्शयोपभुक्तवन्तं ततोऽन्यासक्ततया तां चिरादिस्मृतवन्तं मन्द-
सेहं नायकमनुकूलयितुं दूती नायिकाऽनुरागमाह—

णासं व सा कपोले अज्ञ वि तुह दन्तमण्डलं बाला ।
उद्धिष्ठण्पुलअवैवेष्टपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥

[न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं बाला ।

उद्धिष्ठण्पुलकवृतिवेष्टपरिगतं रक्षति वराकी ॥]

न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तु तव दन्तमण्डलं बाला ।
उद्धिष्ठण्पुलकमण्डलवेष्टनगतमङ्ग रक्षति वराकी ॥ ९६ ॥

अङ्ग (संबोधने) । बाला बाल्यवशात्प्रथमं त्वकृतशीलखण्डना सा वराकी, उद्धिष्ठनं
यत्पुलकमण्डलं तदैव रक्षणनिमित्तं वेष्टनं तेन परिगतं परिवृतमिति यावत् । अन्योपि
रक्षणीयं वस्तु वृतिवेष्टनादिना साऽवहितं रक्षति । अनेन ‘तव दन्तक्षतं यदा यदा स्मरति
तदा तदा रोमाञ्चितकपोलपाली भवति’ इति नायकालम्बनोऽनुरागो ध्वनितः । तव दन्त-
मण्डलं मण्डलाकारं दन्तक्षतं न्यासमिव निषेपमिव अद्यापि तु रक्षति । ‘बाला’इलानेन
कृतशीलखण्डनां बालमपीमां परिल्यजतस्तवाऽहो नैर्वृण्णं चाऽसौभाग्यं चेत्युपालम्भो
ध्वन्यते । निषेपमिव सा रक्षतीलानेन तस्याः सुदृढो विश्वासो यत्पुनरपि तामस्युपगमि-
ध्यसीति नायिकायाः सल्प्रेमानुबन्धो ध्वन्यते । वहतील्यायनुपादाय ‘रक्षति’पदेन तव
स्मारकरूपेण तस्मिन्नितिवृहमानुद्विदिरिति सूक्ष्यते । सा त्वेवं निष्कपटहृदया भवन्तमनु-
ध्यायति, भवांस्तु न तत्राऽनुरज्यतीति एवंविधे शठे त्वयि सुभायास्तस्याः सुदृढोयमनु-
रागो न युक्त इति दैन्यं वराकीपदेन ध्वन्यते । ततश्च प्रथमदिनमिवायापि त्वामनुध्या-
यन्तीं सुदृढानुरागामनुकम्पार्हमिमाम्, यदि किञ्चिदपि सौजन्यमस्ति तहिं त्वरितमनु-

वर्तस्तेति नाथकं प्रति चरमं व्यङ्ग्यम् । प्रथमुरागानन्तरे दन्तक्षतमित्युदाजहार स०
कण्ठाभरणे भोजः (परि. ५) ।

कार्यवशाद्विलम्बितस्ते इयितस्तसमाध्यवहितमेवाऽगस्तितीति अवधिदिनसज्जी-
कृतसमागमसामग्री प्रोषितभर्तृकामाश्वासयन्तीं मातुलानां प्रति सा सनिवेदासूयमाह—

**दद्वा चूआ अग्वाइआ सुरा दक्षिणाणिलो सहिओ ।
कज्जाइ विअ गरुआइ मामि को वल्लहो कस्स ॥ ९७ ॥**

[दृष्टाशूता आद्राता सुरा दक्षिणाणिलः सोढः ।

कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्स ॥]

दृष्टाशूताश्च सुराऽप्याद्राता दक्षिणाणिलः सोढः ।

कार्याण्येव गुरुण्याणि मातुलि को वल्लभः कस्स ॥ ९७ ॥

मन्मथमुन्मदयन्तः आम्राङ्कुरा दृष्टा । कान्तेन सह वसन्तेऽस्मिन् पानगोष्ठीमुखार्थं
सज्जीकृतायाः सुराया गन्धोऽप्यनुभूतः । कान्तसमागमार्थमङ्गान्युन्मीलयन् मलयानिलः
सोढः । तथा च कार्याण्येव गुरुणि, दुःखैकभागिन्या मम जीवनस्यैतान्येव महान्ति
कार्याणि । एतदनुभवार्थमेव हतजीवितं न ल्यजामि । अकि मातुलि ! कः कस्स वल्लभः ।
येनाद्यापि तद्विरहं सहमाना जीवामि । यदि मे स वल्लभेऽभविष्यत् तर्ह्यहमयप्रभृति
जीवितमल्यक्ष्यमिति प्रियानुरागसंचारितः आत्मानं प्रति निवेदो ध्वन्यते । एतत्सर्वं गङ्गा-
धराऽनुषङ्गात् । वस्तुतस्तु—

विदेशमधितिष्ठात्रा प्रियतमेन चूताः दृष्टाः । मधुगोष्ठीगरिष्ठेऽस्मिन्वसन्ते वैधुर्यदुःखाद्
यदि सुरा नाखादिता भवेत्थापि स्थाने स्थाने रसिकैः सज्जीकृता उपगन्धा साऽवश्यमा-
द्राता । मलयानिलः सोढः । अतः अहं जानामि, अत्र कार्याण्येव उपार्जनादिप्रयोजना-
न्येव महान्ति । अयि मातुलि ! कः कस्स वल्लभः ? यदि स मध्यनुरक्तोऽभविष्यत् तर्हि
विदेशगतान्दियतान्वलात्स्वस्मभवनमाकर्षन्तं तसिमं चूताङ्कुर-मलयानिलादिवसन्तसमु-
दयं दृष्टा सर्वाणि कार्याणि दूरतः परिहत्याऽवश्यमागमिष्यत् । अतः प्रयोजनसारे जगति
कः कस्स वल्लभ इति अवधिलङ्घनविचेतसा नायिकयाऽस्तमानं प्रति निवेदो ध्वनितः ।
यद्वा—कार्याण्येव गुरुणि, तस्य युवत्सन्तरसमागममूर्हपाणि कार्याण्येव महान्तीस्तेन
अन्यासङ्गं प्रलाञ्छेपो ध्वन्यते । अन्यथा कथं वसन्तेऽपि नागतः ? किं वा—कार्याण्येव
गुरुणि, कः कस्स वल्लभः । तथा च तत्र स्थिताभिर्युवतिभिस्तस्य कार्यम्, देशान्तरस्थि-
तथा मया कि तस्य कार्यम् । अत एव कार्यनिवन्धनं तासामेव वाल्लभ्यं न ममेति
वैलभम् प्रसास्या व्यज्यते । समीपस्थितं पान्थं विमोहयितुं खनायके वैराग्यं प्रदर्शयन्त्याः
स्वयंदला उक्तिरिति केचित् ।

सर्वदा दृष्टिसांनिष्ठेन संगमे न तथाविघोत्कण्डा । अत एव प्रियं प्रवासाय किमिति

नाऽनुजानीषे । अनुभव प्रवासागतदयितनिर्भरोत्कण्ठाङ्कतोपगूहनानि सुरतसुखानीहि
शिक्षयन्तीं सखीं स्वाधीनपतिका काचिदाह—

रमिञ्जण पअं पि गओ जाहे उवजहिं पडिणिउत्तो ।
अहअं पउत्थपइआ व तक्षणं सो पवासि व ॥ ९८ ॥

[रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।

अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥]

रन्त्वा पदमपि विगतो यदा स उपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।
प्रोषितपतिकेवाहं स तत्क्षणं च प्रवासीव ॥ ९८ ॥

रमणोत्तरं यावता स एकपदमपि गच्छति, उत्कण्ठावशाच्च पुनः परिरच्युं प्रतिनिवर्तते
एतस्मिन्क्षणान्तराले एवाहमात्मानं प्रोषितपतिकां श्रियतमं च प्रवासिनं भावयामि । एवं-
विधेऽनुरागे का नामोत्कण्ठाविगमस्य कथा । क्षणमात्रमपि मुखाऽनवलोकने यदा प्रवास-
दुःखमनुभवामि, तर्हि प्रियविरहे मम जीवितस्य कियदाशोति त्वयैव बोद्धव्यमिति द्वचो-
रुरागो व्यन्यते । मानं धत्वेति बोधयन्तीं वयस्यां प्रति स्वस्य मानधारणाऽसामर्थ्यं
प्रदर्शयन्त्या नाथिकाया उक्तिरिति कथित् । प्रवासानन्तरं ऊपुंसयोः प्रेमपरीक्षेति स०
कण्ठाभरणे भोजः (५ परि.) ।

सुन्दरे सहृदये सदृश्यवहारे सानुरागे च कसिनपि यूनि जातानुरागा काचित्कुलटा
निजपतिं प्रति तादशगुणाभावजितं वैराग्यं सूचयन्तीं सखीमाह—

अविहङ्गपेच्छणिङ्गं समसुहदुःखं विहणसब्मावम् ।
अणोणाहिअलगं पुणोहिं जणो जणं लहइ ॥ ९९ ॥

[अविनृष्टप्रेक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसङ्घावम् ।

अन्योन्यहृदयलङ्घं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥]

अवितृष्णवीक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसङ्घावम् ।
अन्योन्यहृदयलङ्घं पुक्कलपुण्यैर्जनो जनं लभते ॥ ९९ ॥

जनः, अवितृष्णम् अनिवृत्तोत्कण्ठं यथा स्यात्तथा वीक्षणीयम्, सुन्दरसिलर्थः । निज-
प्रेसिणः सुखदुःखयोः सतोरात्मनोऽपि सुखदुःखे मन्यमानं सहृदयमिति यावत् । वितीर्णः
प्रकटितः सङ्घावो येन, ततश्च लोकव्यवहारदक्षिणमित्यर्थः । अन्योन्यं हृदयलम्बं सानु-
रागमिति भावः । एवंविधगुणसंपर्कं जनं पुक्कलैः पुण्यैर्लभते । मम मन्दभाग्याया
एवंविधप्रियप्राप्तिः कुत इत्याशयः । मन्दज्ञेहस्य पत्युचितमनुकूलयितुं पतित्रात्या
उक्तिरिति कथित् । ‘निजपतिं प्रति वैराग्यं व्यज्ञयन्तीं कुलटा (तम्) पतिमाह’ इति
गङ्गाधरोऽवतरणमाह ।

‘गाढनिग्रहकारितया दुःखप्रदेऽपि पत्यौ कर्थं न विरज्यसि ? अहो ते निजसौख्याव-
धीरकता’इति मेदयन्तीं दूर्तीं प्रतिनिर्वर्तितुं दयितेऽनुरागातिशयमाह कचित्पतिब्रता—

दुःखं देन्तो वि सुहं जपेह जो जस्स वल्लहो होइ ।

दहअणहदूणिआणं वि वड्हह थणाणं रोमञ्चो ॥ १०० ॥

[दुःखं ददपि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।

दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः ॥]

दुःखं ददपि जनयति सुखं हि यो यस्य वल्लभो भवति ।

दयितनखदूनयोरपि रोमाञ्चो वर्धते स्तनयोः ॥ १०० ॥

यः यस्य वल्लभो भवति, स तस्य दुःखं ददत् अपि सुखं जनयतीति संबन्धः । भव-
तीति स्थाने ‘वर्धते’ इत्युक्त्या दयितकरस्पर्शेनैव प्रणयिन्याः समुद्दिद्यते रोमाञ्चः, ततो
नखद्वाने स वर्धते इत्यतिशयो व्यज्यते । तथा च—‘प्रणयरसनिर्भरेण प्रियतमेन कृतः
सोयं निग्रहोपि मिथोऽनुरागं वर्धयत्येव’इति दूर्तीं प्रति सूच्यते ।

शतकसमाप्तौ, गाथारनकोषस्याऽस्य प्रस्त्रातसुकविसंकलितत्वेनोपादेयतां सूचयि-
तुमाह—

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहमुकहिणिम्मविए ।

सत्त्वसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअम् ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहदयदयिते कविवत्सलपमुखसुकविनिर्मिते ।

सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतम् ॥]

रसिकजनहदयदयिते कविवत्सलमुखसुकविसंकलिते ।

सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥ १०१ ॥

कविवत्सलो (हालः) मुखसिव प्रधानं येषु ते कविवत्सलमुखाः सुकवयः, तैः
परिचिते ।

द्वितीयं शतकम् ।

—३०५—

मानभवलम्ब्य ‘कियद्वशीभूतस्ते वल्लभः’ इति दयितकृतात्मनेन गवेषयत्वेति तव
सखीं शिक्षयेति वदन्तीं सखीं प्रति नायिकासखीं सपरिहासमाह—

धरिओ धरिओ विअलइ उअएसो पिहसहीहिं दिज्जन्तो ।

मअरद्वअबाणपहारजजरे तीऐं हिअम्मि ॥ १ ॥

[छतो छतो बिगलत्युपदेशः प्रियसखीभिर्द्युयमानः ।

मकरध्वजबाणपहारजजरे तस्या हृदये ॥]

विगलति मुहुर्धृतोऽप्ययमुपदेशो दीयमान आलीभिः ।
हृदयेस्या मकरध्वजबाणाऽहतिजर्जरे नूनम् ॥ १ ॥

आलीभिः प्रियसखीभिर्दीयमानः, अनया च प्रियसखीविश्रम्मेण मुहुर्धृतोपि ‘इदानीं मानमवलम्ब्ये’ इति चेतसि स्थिराकृतोपि । मुहुरिखनेन ‘प्रियमुखावलोकने मानं विस्परति पुनः सख्युपदेशस्मरणेन तं हृदयति’ इति व्यनितम् । अयं मानोपदेशः काम-शरप्रहरार्जर्जरे अस्या हृदये नूनं विगलति नीचैः पतति, नावष्टिष्ठत इलथं । तथा च मनसो विवशता व्यन्यते । दीयमान इति वर्तमानार्थकेन शानचा, धृत इति भूतार्थं सूचयता केन च ‘सखीभिर्यदा उपदेशो दीयमान एव भवति, न तदनन्तरे कालविलम्बो भवति, तस्मिन्वेव क्षणे चेतो दृढीकृत्य तमुपदेशसियमधरत्, परं धृतोऽप्ययं गलति’ इति कामशरप्रणीकृतो नायिकानुरागातिशयो वोल्यते । मूलपदाङ्गानुरोधे ‘विगलति धृतो धृतोपि’ इति पाठ्यम् ।

नदीतटनिकुञ्जे कृतसंकेतेन कान्तेन विप्रलब्धा कान्तिज्ञायिका ‘अहं तत्र गताऽभूवम्, सरित्पूरेण संकेतस्थानं नौ भमम्’ इति जारं सूचयन्ती सखीमाह—

तटसंस्थितिर्णिडेकान्तपीलुआरक्षणैकदिण्मणा ।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥

[तटसंस्थितिर्णिडेकान्तश्चावकरक्षणैकदित्तमनाः ।

अगणितविणिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥]

तटसंस्थितिर्णिडेकान्तरश्चावकपरिरक्षणैकदित्तमनाः ।

अगणितविणिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥ २ ॥

तटसंस्थितय नीडस्यान्तरे विद्यमाना ये शावकासेषां परिरक्षणमात्रे दत्तं मनो यया तादृशी काकी, नीडतस्मज्जनोन्तरं भावि विणिपातभयं मरणभयमप्यगणयन्ती सती पूरेण नवजलौवेन समं वहति, प्रवाहेण हियत इति यावत् । एतेन ‘अहं संकेतरक्षणार्थं नदी-तटपतनसहभावि मरणभयमप्यगणयन्ती तत्र गताऽभूवम्’ इति, काकीति ढीपा ‘झीजातेः पद्य त्रेमानुवन्धदार्द्यम्’ इति च जारं ग्रति वोल्यते ।

मधूकपुष्पावच्यव्याजेन कृताभिसारा कुलटा आत्मनथिरकालसुरताभिलाषं जाराय सूचयन्ती मधूकपादपामन्त्रणव्याजेनाह—

बहुपुण्फभरोणामिअभूमीग्रसाह सुणसु विणच्चिम् ।
गोलातडविअडकुड़महुअ सणिअं गलिजासु ॥ ३ ॥

[बहुपुण्फभरावनामितभूमीगतशास्त्र च्छणु विज्ञसिम् ।

गोदातडविकृद्धिकुञ्जमधूक शनैर्गलिष्यसि ॥]

बहुपुष्पभारनामितभूमीगतशाख शृणुहि विश्वसिम् ।
अयि विगलिष्यसि गोदातीरविकटकुञ्जमधुमधूक शनैः ॥ ३ ॥

बहुपुष्पभरेण अवनामिताः अत एव भूमिगताः शाखा यस्य इदृशा । अयि गोदावरी-तीरविकटकुञ्जस्य मधुरमधूकतरो । शनैः क्रमेण विगलिष्यसि, शनैः शनैः पुष्पाणि प्रस्तो-ष्यसे, येनाहमेकाकिनी सर्वाणि तानि अधूल्यवल्लण्ठनमवचिनोमीत्याशयः । बहुपुष्पभारे-तिसंबोधनेन बहोः कालादुत्कप्तिततया संधुक्षितबहुलवीयोपि गोदातटादिदत्तमनस्ततया चिरात्स्वलिष्यति, यतो हि विकटतया जनसंचारशून्येसिन् गोदानिकुञ्जे पुष्पावचयव्या-जेन समागतया चिरं मया रंतव्यमित्यभिलाषोऽभिव्यज्यते । मधूके मधुविशेषणेन काम-नीयत्वातिशयः प्रकाश्यते ।

मधूककुसुमावचयव्याजेन संगमसुखं साधयन्त्या कथाचिन्मधूकतस्मीपगतो निकुञ्जः संकेतस्थलं नियमितमभूत् । क्रमेण कुसुमेषु न्यूनीभूतेषु तदवचयमिषेण तत्रागमनमपि दुःसंभवमित्यवशिष्टानि कुसुमान्यवचिन्वर्तीं रुदतीं काष्ठन उदर्तीं दृष्टा रसिकपौरः सहचरमाह—

णिष्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुफ्काइँ ।
चीए बन्धुस्स व अडिआओइँ रुअई समुच्चिणइ ॥ ४ ॥

[निष्पच्छिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि ।

चितायां बन्धोरिवास्थीनि रोदनशीला समुच्चिनोति ॥ ४ ॥]

निष्पच्छिमानि दुःखालोकान्यसती मधूककुसुमानि ।

अस्थीनीव चितायां बन्धो रुदती समुच्चिनुते ॥ ४ ॥

निष्पच्छिमानि सर्वान्तिमानि, परिशिष्टानीत्यर्थः । दुःखालोकानि कुसुमावचयव्याजेन लभ्यस्य जारसमागमस्य तदभावे दुर्लभत्वादुःखेन आलोकयितुं शक्यानि मधूकपुष्पाणि, चितायां बन्धोरस्थीनीव । तान्यपि न पुनर्दर्शनीयानीति बन्धुप्रेमणा रुदिद्धिः संचीयन्ते । असती रुदती सती समुच्चिनोति ।

बहीषु संसक्तवेनास्थिरप्रणयतया निजवचनमविश्वसन्तीं नायिकामनुकूलयितुं कश्चि-द्विदरधनायको हृदयामच्छ्रणव्याजेनाह—

ओ हिअ मडहसरिआजलरअहीरन्तदीहदारु व ।
ठाणे ठाणे विअ लग्गमाण केणावि डज्जिहसि ॥ ५ ॥

[हे हृदय स्वल्पसरिज्जलरथहियमाणदीर्घदारुवत् ।

स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे ॥]

स्वल्पसरिज्जलवेगहियमाणसुदीर्घदारुवन्नम् ।

स्थाने स्थाने विलगत्संप्रति केनापि धक्ष्यसे हृदय ॥ ५ ॥

हे हृदय ! स्वल्पसरितो जलरवेण हियमाणं सुदीर्घदारु इव स्थाने स्थान एव विलगत् । स्वल्पजले प्रवहतः सुदीर्घतया तलस्परशवशात्स्थाने स्थाने संसक्षिरिलाशयः । त्वं संप्रति गतावत्कालमनुकूलदैवेन रक्षितमसि, सांप्रतं केनपि धक्ष्यसे । कस्यामपि हृदयहरिण्यां संसक्तं सत्तासाः क्षणविरहेणापि दश्वं भविष्यत्सील्याशयः । स्वल्पाशयत्वेन अनभिमतासु नानावनितासु सुदीर्घशयत्वेन रसतलस्परशिनो मम मनोयोगाभावदेव नाभूचित्वला स्थितिरत एव स्थाने स्थाने मदासक्तिरभूत तु दुर्विदधत्वेति ‘स्वल्पसरित-सुदीर्घ’दिपदैविचार्यमाणगमीररमणीयोर्थो धन्यते । ‘मड्ह’ शब्दः स्वल्पाचको देशी । ‘नायकस्या-स्थिरप्रेमतया तद्वचनमस्यीकृतैर्ती नायिकामभिमुखीकर्तुं कश्चिद्दिदर्घ आह’ इति गज्ञा-धरः । नायकार्थं नायिकामनुकूलयतोऽन्यजनस्य ‘हृदय’ ! इत्यामच्छ्रणं कियदुनितमिति सुधीभिरेव विचार्यम् ।

नायिकासप्लीनां वच्नोपतस्ता काचन निजसख्याः सौभाग्यं बन्धुजनशोष्यमेवमाह—

जो तीँ अहरराओ रत्नि उवासिओ पिअमेण ।
सो विअ दीसइ गोसे सवत्तिनअणेसु संकन्तो ॥ ६ ॥

यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्धासितः प्रियतमेन ।

स एव दृश्यते प्रातः सप्तकीनयनेषु संक्रान्तः ॥]

तस्या योऽधररागो रुद्रावृष्टिं सितः प्रियतमेन ॥

उषसि स एव सपत्नीनयनेष्वालोक्यते तु संक्रान्तः ॥ ६ ॥

उद्वासितः निरन्तरपानेन विसर्जितः । ‘गोसे’ उघसि, ग्रातः । स एव रागोऽरणिमा सपत्नीनयनेषु संक्रान्तो दृश्यते । रात्रौ प्रियतमनिर्दद्यपीत-विगतराश-नायिकाभ्रदर्शनेन प्रातः सपत्नीनयनेष्वरुणिमोदयोऽभवदित्याशयः । सपत्नीनयनैः ख्वगुणं परित्यज्यान्यदीयो-ऽरणिमगुणः खीकृत इति तद्गुणेन अन्यासु वल्लभासु सतीष्वपि प्रियतमोपभोगशालिनी सैव सुभोगिति नायिकायाः सौभाग्यमभिव्यज्यते । नयनेष्विति बहुवचनेन सर्वासामपि सपत्नीनामीर्योद्यात्सर्वपैक्ष्याऽप्युक्तर्णो व्यन्ते । एकस्याः सौभाग्यवर्णेन अन्यासां तत्सपत्नीनामीर्यालुतया सुखसाध्यत्वं सूचयितुं रसिकं प्रति दूत्या उक्तिरथमिति कथित् । व्यत्ययवल्लभुख्या परिवृत्तिरलङ्घार इति सरस्तीकण्ठाभरणे भोजः (३ परि. ३०) ।

‘विद्या महिला: प्रसङ्गेन प्रियप्रणयं परीक्षन्ते’ इति काचन चतुरा कान्तलेहमनिशं गवेषयन्ती सखीं शिक्षयति—

ਗੋਲਾਅਡਿੜਾਂ ਪੇਛਿਊਣ ਗਹਵਿਸੁਆਂ ਹਲਿਅਸੋਕਾ ।
ਆਫਚਾ ਤੱਤਰਿਉ ਦੁਖੁਤਾਰਾਏ ਪਅਰੀਏ ॥ ੭ ॥

「 गोदावरीतटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिसुतं हलिकच्छाषा ।

आरब्धा उत्तरीतुं दुःखोक्तारया पदब्या ॥]

हलिकसुषा हि गृहपतिसुतमनुगोदातटस्थितं वीक्ष्य ।
आरब्धाऽवतरीतुं सा दुःखोत्तारया वत पदव्या ॥ ७ ॥

अनुगोदातटस्थितम् । गोदातटसभीपे स्थितं गृहपतिसुतं निजदयितं वीक्ष्य । सा दुःखोत्तारया दुःखेनाऽवतरणं यस्यामीदश्या पदव्या मार्गेण अवतरीतुमारब्धा वत । नदी-पूरे गच्छन्तीं पदस्खलनतो निमज्जन्तीं मामयमवलम्बते न वेति परीक्षार्थं विषममार्गेण-ऽवतरीतुमारब्धेत्याशयः । हालिकसुषाया गृहपतिसूनोश्च ‘हस्तावलम्बदानेनावयोरङ्गसङ्गमः संपद्यताम्’ इति अभिप्रायात्सोयं भावो नामालङ्कारः, कार्यद्वाराऽप्रकटनात्सोयं निरुद्धेदथेति स ० कण्ठाभरणे भोजः (३ परि. ४३) ।

मनोभिलविते नायके शृण्वति तत्प्रलोभनार्थमात्मनः सौभाग्यं श्रावयन्ती कापि सखीमाह—

चलणोआसणिसण्णस्स तस्स भरिमो अणालवन्तस्स ।
पाअङ्गुड्डावेष्टिकेसदिढाअङ्गुणसुहेलिम् ॥ ८ ॥

[चरणावकाशनिषणस्य तस्य स्तरामोऽवालपतः ।

पाढाङ्गुष्ठावेष्टिकेशदृढाकर्षणसुखम् ॥]

चरणान्तिकपतितस्यानालपतस्तस्य संस्तरामोऽद्य ।
पाढाङ्गुष्ठावेष्टिकेशदृढाकर्षणतिसुखकेलिम् ॥ ८ ॥

प्रणयकोपेनाऽनुनयमानयन्त्या भम प्रसादानार्थं चरणान्तिकपतितस्य । पतितस्यैव हि केशाः पाढाङ्गुष्ठेनावेष्टियतुं शक्यन्ते न निषणस्य । भयवशादनालपतः न त्वभिमानेन । मरीयपादाङ्गुष्ठेनावेष्टितानां केशानां दृढाकर्षणेण जाता या तस्यातिसुखकेलिस्ताम्, अथ संस्तरामः । मम स्पृगुणवशीकृतो दियितो मामेवमनुवर्तते, सैवाहं त्वां कामये, अत एव पश्य ते सौभाग्यमिति जारं प्रत्यभिव्यज्यते । संस्तराम इति बहुवचनेन सारणसामान्यातप्रदर्शनेनात्मनो वचनेऽकृत्रिमता प्रकाशयते ।

‘संकेतस्थाने संप्रति कश्चित्पथिकोऽवतिष्ठते’ इति जारं श्रावयितुं कान्तिकुलटा सखीमाह—

फालेह अच्छभल्लं व उअह कुग्गामदेउलद्वारे ।

हेमन्तआलपहिओ विज्ञाअन्तं पलालग्गिम् ॥ ९ ॥

[पाट्यस्चमल्लमिव पश्यत कुग्गामदेवकुलद्वारे ।

हेमन्तकालपथिको विधमायमानं पलालग्गिम् ॥]

मल्लमिव पाट्यति भोः पश्यत कुग्गामदेवकुलनिकटे ।

हेमन्तकालपथिको निर्वान्तं किल पलालग्गिम् ॥ ९ ॥

हेमन्तकालस्य पथिकः । कुग्गामे यदेवकुलं तस्य निकटे, द्वार इत्यर्थः । निर्वान्तम्

(विध्मायन्तम्) पलालाभ्रि फलशून्यब्रीहिनालाभ्रि किल भल्लमिव भङ्गकमिव पाठयति इति भोः पश्यत । हेमन्तकाले न कुञ्चापि शीतनिवारणोचितः पथिकनिवासो लभ्यत इति कुञ्चामता । पलालकूटेऽमौ दीयमाने तृष्णानि दर्घ्वा द्रुतमेव स निर्वाणे तस्मिन् पलालभस्कूटो दर्घवृणदश्यमतन्तुसंवलितत्वेनोपरिभागे श्यामः, फूत्कारेणान्त-रम्भौ दृष्टे सति लोहितभागदर्शनाद्रक्त इति पाव्यमानस्य भङ्गकस्य साम्यं स्वाभाविकरील्या संघटत इत्याशयः । ‘नाडी नालं च काष्ठोऽस्य पलालोऽब्री स निष्पलः’ इत्यमरः । एवं च पथिकसत्त्वा संकेतस्थाने नाधुना संगन्तुं शक्यते । हेमन्तकाले न पथिको न रात्रौ प्रस्थास्यते, तथा च नाद्य समागमो भावीति भूयानर्थोऽभिव्यज्यते ।

आमतडागसमीपे क्योश्चित्वंकेत आसीत् । तत्र किञ्चित्त्वेषायामेव रात्रौ ‘जनकरा-ऽनालोडितं विमलजलमानयास्मि’ इति व्याजेनाऽगता नायिका जारेण विप्रलब्धा । ततोऽपरदिने ‘अहं तत्र गतोऽभूवम्’ इति जारं आवश्यन्ती पितृष्वसारसुदिश्य तत्र दृष्टा-द्रुतकथनच्छलेनाह—

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्हाविआ ण अ पिउच्छा ।
केणौवि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं व्वृढम् ॥ १० ॥

[कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्हायिता न च पितृष्वसः ।
केनापि आमतडागे अभ्रसुत्तानितं क्षिसम् ॥]

कमलाकरा न मृदिता हंसा नोड्हायिताः पितृर्भगिनि ।
आमतडागे केनचिद्भ्रमिहोत्तानितं क्षिसम् ॥ १० ॥

हे पितृष्वसः ! आमतडागे केनचित् अभ्रमाकाशं पतनसमये अनुत्तानसपि उत्तानी-कृत्य क्षिसम् । एवं सत्यपि कमलोपर्मदनादिकं न जातमित्यद्रुतम् । ततश्च ‘अतिप्रत्यूषेहं तत्र गता, त्वं तु न गतः । यदि त्वं गतोऽभविष्यत्स्तर्हि हंसा न निश्चतमस्थास्यन्’ इति जारं प्रत्युपालम्भगमोऽयमर्थोऽभिव्यज्यते । ‘विमलजलप्रतिबिस्त्रितस्याकाशस्योत्तानतया भानादियमुत्पेक्षेति’ गङ्गाधरः । प्रतीयमानमपि जलधरप्रतिबिम्बदर्शनं वाच्यस्याङ्गमिति नात्र ध्वनिव्यवहारः, किन्तु गुणीभूतव्यज्ञव्यवहारः, वाच्येन विस्मयविभावरूपेण मुरिध-मातिशयप्रतीत्या चारुत्वनिष्पत्तेरिति ध्वन्यालोके सेयमुदाहता (२ उद्द्योतः ३४) ।

जारप्रवासवार्ताश्वरणेन विमनस्कतया गृहकृत्येष्वसजमानां सपलीं प्रति ईर्ष्योपालम्भ-संभृतं वयोजयेष्टा सपलीं आह—

केण मणे भग्मणोरहेण संलाविअं पवासो चि ।

सविसाइँ व अलसाअनित जेण बहुआएँ अङ्गाइँ ॥ ११ ॥

[केन मन्ये भग्मनोरथेन संलिपिं प्रवास इति ।

सविपाणीवालसायन्ते वेन वध्वा अङ्गानि ॥]

मन्ये केन विमर्दितमनोरथेन प्रवास इति लपितम् ।
येनाङ्गानि हि वच्चाः सविषाणीवालसायन्ते ॥ ११ ॥

मन्ये, भग्नमनोरथेन हताशेनेति यावत् । केनचित्प्रवासो विदेशगमनमिति लपितम् । अत्र केनेति केनचिदित्यर्थे । येन कारणेन दत्तविषाणीव वच्चा अङ्गानि अलसायन्ते । एवं च ‘जारप्रवासकथाद् विषमिव तेऽप्रियाऽभवत्, येनावश्यकानि गृहकार्याण्यपि कर्तुं न प्रभवसि । अहो ते उच्छृङ्खलत्वम्’ । इतीर्थोपालम्भौ सपलीं प्रत्यभिव्यज्येते । यद्वा पतिप्रवासवार्ताश्वरणेन विमनस्कायाः प्रोद्यतपतिकायाः प्रियतमेऽनुरागातिशयं प्रकाश-यन्ती दृती नेयं प्राप्तुं शक्येति जारं प्रति तस्या असाध्यां सूचयति । ‘गृहकृत्यपराङ्गुखीं वधूं प्रति श्वश्रूषापालम्भच्छ्लेनाह’ इति गङ्गाधराऽवतरणम् ।

‘चतुराः स्फुटीभवन्तमपि भावमिङ्गिताकारगोपेनाच्छादयन्ति’ इति शिक्षयन्ती काचिद् गोपीगतं वैदर्घ्यं स्वसखीं प्रत्याह—

अञ्जवि बालो दामोअरो च्च इअ जम्पिए जसोआए ।
कलमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥ १२ ॥

[अद्यापि बालो दामोदर इति इति जलिपते यशोदया ।

कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥]

गदिते यशोदयेति हि बालो दामोदरोऽद्यापि ।

कृष्णमुखनिहितनयनं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥ १२ ॥

दामोदरः अद्यापि बाल इति यशोदया जलिपते सति । दामोदरपदेन ‘दुरध्वभाण्डादि-भङ्गे यथा पूर्वं दाम्रा अवच्यत, तादृशमेवाऽधुनापि मन्ये’ इति पूर्वकथा योख्यते । व्रज-वधूभिरनुभूततरुणातिशायिकृष्णप्रौढभावाभिः निभृतं यथा रहस्याभिज्ञमन्तराऽन्यो न जानाति तथा हसितम् । ‘कृष्णमुखनिहितनयनम्’ इत्यनेन कृष्णेन सह नानाविधविला-सानुभवो व्रजवधूभिः प्रकाशयते । यः किल तथाविधनानासुरतविर्मद्दर्पाद्वप्तः सोपि बाल इत्युदीर्यत इति हासहेतुत्वेषि सोयं हासो वैदर्घ्यान्नाभिव्यजित इति विदर्घचर्वा प्रका-श्यत इति भावः । वधूभिरिति बहुवचनेन बहुत्र प्रकाशितासाधारणप्रौढितया कृष्णे सुर-तवैदर्घ्यातिशयः प्रकाशयते । साकाङ्गः अवसरात्मकः सोऽयं पर्यायालङ्कार इति सरस्ती-कण्ठाभरणम् (४ परि. ८० श्लो.) ।

कापि निपुणा सुजनप्रशंसाच्छ्लेन चिरकालमप्यमन्दप्रणयरक्षार्थं नायकसुपच्छन्दयति—

ते विरला सप्तुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ ।
अणुदिअहवङ्गमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥ १३ ॥

[ते विरलाः सप्तुरुषा येषां स्नेहोऽभिज्ञमुखरागः ।

अनुदिवसवर्धमान कृष्णमिव पुत्रेषु संकामति ॥]

ते विरलाः सत्पुरुषाः स्नेहो येषामभिन्नमुखरागः ।

अनुदिवसवर्धमानः पुत्रेष्वृणमिव हि संकामेत् ॥ १३ ॥

न भिन्नो मन्दीकृतो मुखरागो मुखप्रसादो यत्र, एवंभूतो येषां स्नेहः अनुदिवसं क्रमेणोपचीयमानः सन् [न तु प्रारम्भगुर्वा खलमैत्रीव सहसैव वर्धमानः] कृणमिव पुत्रेषु संकामेत् अवतरेत् । अन्तेष्ठि न विलीयते किन्तु उत्तमर्णयं देयतया कृणं यथा पुत्रेषु संकामति, तथा वंशपरम्परया अग्रेष्यनुवर्तते इत्यपरिहरणीयत्वं सुजनस्नेहस्य सूचयति । पुत्रेष्विति बहुवचनेन वंशव्यापकत्वं सुजनस्नेहस्य व्यनितम् । इह तु ‘पुत्रेषु संकामेत्’ इत्युक्त्या ‘प्रसवोत्तरमपि भयि तथैव लिङ्गातां, न वक्षोजादिशैथ्यल्येन विमनाव्यायाम्, प्रत्युत स्त्रीयबुद्ध्या सन्ततावपि स्नेहोनुवर्तयित्यः’ इति स्वसमीहितमस्त्वयनक्ति । पितृकृतस्य कृणस्य परिशोधो यथावश्यकस्था स्नेहनिर्वाहोपीति पुत्राणां कर्तव्यभारं व्यनित्युपृष्ठपदोपादानम् । ‘अनुवर्तते’ इत्याद्यनुकत्वा संकामेदिल्यनेन ‘पितरि यः स्नेह आसीत्स एवाविकलं पुत्रेषु गच्छेत्’ इति स्नेहस्याऽकिञ्चित्परिवर्तनीयत्वं व्यन्यते ।

काचिज्जनसमक्षमेव प्रकटितप्रणयभावां निजसर्वां विक्षयन्ती कृष्णानुरक्षगोप्याः परमनैपुण्यमाह—

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी ।

सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोल्यडिमागअं कहम् ॥ १४ ॥

[नरंनश्चाघनलिमेन पार्श्वपरिसंस्थिता लिपुणगोपी ।

सदशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागतं कृष्णम् ॥]

नृत्यश्लाघनिभतः पाश्वें परिसंस्थिता निपुणगोपी ।

समगोपीनां चुम्बति कपोलविम्बागतं कृष्णम् ॥ १४ ॥

समीपे स्थिता निपुणा गोपी, समगोपीनां समीपस्थित्या सदशीनां गोपीनां कपोले विम्बेन प्रतिविम्बरपेणागतम् । तथा च गोपीषु पार्श्वस्थितास्थपि चुम्बनानुभावं चातुर्यैण पिदधातीत्यर्थः । समगोपीनामिल्यस्य कृष्णानुरागितया सदशीनां गोपीनामिल्यपर्यर्थः । तथा च अनुरक्तानामपि पुरतः सानुरागं वैदगच्छेन न तथा प्रकाशयति, त्वं तु साधारणानामपि समक्षमुद्भवावा भवसीति भावः । अथवा नृत्यकर्मणा सदशीनां गोपीनाम् ‘सम्यशियं नृत्यति’ इति कर्णे कथनापदेशेनेत्यर्थः । अत्र गोपीनामिति बहुत्वेन प्रत्येकं गोपीनां नृत्यश्लाघनसंभवेन असक्त्व्युभ्नेपि न रहस्यभजः प्रत्युत तत्कृतो नायिकायाः कृष्णालम्बनः ग्रेमातिशयो व्यन्यते इत्याकृतम् । किं च ‘निपुणगोपी समगोपीनाम्’ इत्यस्य निपुणत्वेन समानां गोपीनामिति वार्ताः ।

विजृम्भमाणेसिन् जलदकाले कथं त्वया गन्तव्यमिति व्यनयन्ती कान्तं प्रति काचि-द्रव्यागममाह—

सद्वथ दिशासुहपसाँरिएहि॑ अणोणकडअलगोहि॑ ।
छङ्गि॒ व मुअहि॑ विज्ञो॒ मेहेहि॑ विन्धवडन्तेहि॑ ॥ १५ ॥

[सर्वत्र दिशासुखप्रसृतैरन्योन्यकटकलमैः ।]

छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्यो॒ मेघैर्विंसंवटमानैः ॥]
अन्योन्यकटकलमैः॒ सर्वत्र दिशासुखोषु॒ विसरद्धिः ।
छल्लीमिव वत मुञ्चति विन्ध्यो॒ मेघैर्विंवटमानैः ॥ १५ ॥

अन्योन्यं कटके पर्वते नितम्बे लमैः, पर्वते नितिडमामिलितैरिति यावत् । उनविध-
टमानैर्विंश्छिध्यद्धिः, अत एव सर्वेषु दिशासुखेषु व्यापुवद्धिमेघैः, विन्ध्यः छल्लीमिव वल्क-
लमिव मुञ्चति । यथा कश्चनोपरितनं वल्कलं विमुच्याभिनवो भवति तथा विन्ध्यो मेघा-
द्धमरं त्वचमिवावसुन्ध्य नवां सुषमां धारयतीति भावः । तथा चैवंविधे विरहिजनदुरन्ते
वनसपयेषि किं भवता प्रस्थातव्यमिति निमृतं गमननिरोधो ध्वन्यते । ‘छल्ली वीरुषि
सन्ताने वल्कले कुसुमान्तरे’ इति भेदिनी ।

गाथान्तरेषि तमेवार्थं भज्ञन्तरेणाह—

आलोअन्ति पुलिन्दा॒ पवअसिहरद्धिआ॒ धणुणिषणा॒ ।
हस्तिउलेहि॑ व विज्ञां॒ पूरिज्ञन्तं॒ णवब्मेहि॑ ॥ १६ ॥

[आलोकयन्ति पुलिन्दाः॒ पर्वतशिखरस्थिता॒ धनुर्निषणा॒ : ।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाङ्गैः॒ ॥]

परिपश्यन्ति पुलिन्दाः॒ पर्वतशिखरस्थिता॒ धनुःसक्ताः॒ ।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं विपूर्यमाणं नवाम्भोदैः॒ ॥ १६ ॥

पर्वतशिखरे स्थिताः॒ धनुषि सक्ताः॒, द्वितितलनिहितकोटिकं चापमवलम्ब्य स्थिता॒
इत्यर्थः॒ । पुलिन्दा॒ शबराः॒ । वर्णेन व्यानेना देहमहवेन च गजयूथसद्यैनवात्रैर्विपूर्य-
माणं विन्ध्यमालोकयन्ति, उपरिशिखरे हस्तिकुलैरिव पूर्यमाणं विन्ध्यं कुञ्जरमृगयासक्ता॒
अपि धनुर्निषणा॒ एव सार्वथमालोकयन्तीति भावः । शबरणां पर्वतेऽवस्थानात् विन्ध्य-
वनेऽभिसारसंभव इति नायिकाया जारं प्रत्युक्तिरिति केन्द्रित ॥

प्रशान्तमार्गान्तरायः॒ संनिहितः॒ प्रियोपगमनयोग्यः॒ शरत्समय इति ग्रोषितपतिकां
सान्त्वयन्ती सखी वर्षावसानमाह—

वणदवमसिमइलङ्गो॒ रेहृ॒ विज्ञो॒ गणेहि॑ धवलेहि॑ ।
खीरोअमन्थुपुच्छलिअदुद्धसितो॒ व महुमहणो॒ ॥ १७ ॥

[चन्द्रवमधीमलिनाङ्गो॒ राजते॒ विन्ध्यो॒ घनेव्यवलैः॒ ।
शीरोदमयनोच्छलितदुर्घसिक्ति॒ इव॒ मधुमथनः॒ ॥]

वनद्वयमसीमलिनितो राजति विन्द्यो धनैर्धवलैः ।

मधुमथनः क्षीरोदधिमथनोद्भूतदुर्गधसिक्त इव ॥ १७ ॥

उज्ज्वलोपि वनद्वयकालिना मलिनीकृतो विन्द्यः, जलाऽपायाद्वृवलैर्धनैः, क्षीरोदधेमीथ-
नेन उद्भूतम् उच्छलितं यहुर्घं तेन सिक्तः श्रीकृष्ण इव राजति । वनद्वयेलायुक्त्या
मार्गावरोधितृणकण्टकादिदाहान्मार्गसु खुगमता सूच्यते ॥

गुणानुरागादपि सचेतसां चित्तवृत्तिराकृष्टा भवति, न पुनः सर्वेत्र समागम एव
कामनीय इति चक्षूरागादभिन्नार्थिकायाः परपुरुषानुरागमाशङ्कामानं नायकं प्रति
सखी आह—

वन्दीअ णिहअबन्धवविमणाइ वि पक्लो त्ति चोरजुआ ।

अणुराएण पलोइओं गुणेषु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥

[वन्द्या लिहतबान्धवविमनस्कयापि प्रवीर इति चोरयुवा ।

अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥]

वन्द्या प्रवीर इति हतबान्धवविमनस्कयापि चोरयुवा ।

अवलोकितोऽनुरागाद् गुणेषु को मत्सरं वहति ॥ १८ ॥

हतबान्धवत्वेन विमनस्कयापि वन्द्या, प्रत्यक्षदृष्ट्यौर्यानुभावतया प्रवीर इति कृत्वा
तेरयुवा अनुरागाद्विलोकितः, न तु सुरताऽभिलाषादिति भावः । गुणेषु को मात्सर्यं
हतीत्यर्थान्तरन्यासेन ‘गुणवशंवदं खत एव चित्तमाहियते, न पुनस्तत्र सहृदयैरन्यथा
इड्यनीयम्’ इति सूच्यते ।

व्याधवध्याः सौभाग्यवर्णनेन नायकान्तरस्य तत्राऽनवकाशं सूचयन्ती काव्यहूती
आह—

अज्ञ कहमो वि दिअहो वाहवहू रूपजोवणुमत्ता ।

सोहग्गं धणुरुम्पच्छलेण रच्छासु विकिरइ ॥ १९ ॥

[अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।

सौभाग्यं धनुसष्टवकछलेन रथ्यासु विकिरति ॥]

अद्य कतमोपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।

तष्ठनुस्तवकछलो विकिरति रथ्यासु सौभाग्यम् ॥ १९ ॥

अद्य कियन्तिचिह्नानि व्यतीतानि, रूपयौवनाभ्यामुन्मत्तेव व्याधवधूः । रूपयौवन-
शीकृतस्य दयितस्य सततेसुरतासक्षिकृतदौर्बल्यादाक्रष्टमशक्यतया तष्ठस्य कृतावतक्षणस्य
धनुषः त्वक्छलेन सौभाग्यं रथ्यासु विकिरति इतस्ततः प्रक्षिपतीत्यर्थः । रथ्यासु विकि-
रतीत्यनेन सौभाग्यस्य सुलभता सूचिता । इतस्ततो रथ्यापर्यन्तं व्याधवधूसौभाग्यं सुप्र-
सिद्धं त्वं कथमजानश्चिव तत्र यतस्य इति भावः । ‘स्मृ’ इन्द्रस्य अभिनवजाता सूक्ष्मा

त्वग् अर्थः । ‘धणुरम्प०’ इति पाठं स्वीकुर्वन् कुलबालदेवस्तु ‘रम्प’ शब्दः कन्छे वर्तते इत्याह । अतिसुरतासकं मित्रं प्रति तच्चिवृत्यर्थं सहचरोक्तिरिति कथित् ।

एतमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

उविखप्पइ मण्डलिमारुण गेहङ्गणाहि वाहीए ।
सोहगधअवडाअ व उअह धणुरम्परिज्ञोली ॥ २० ॥

[उत्क्षम्प्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्याधखियाः ।

सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुःसूक्ष्मत्वकपङ्किः ॥]

उत्क्षम्प्यते ऽय मण्डलमरुता व्याधखिया गृहाङ्गणतः ।
सूक्ष्मधनुस्त्वकपङ्किः सौभाग्यध्वजपताकेव ॥ २० ॥

मण्डलाकारवाहिना मारुतेन (‘भभूलिया’ इति ख्यातेन) । सूक्ष्माः याः धनुषस्त्व-
चत्सासां परम्परा । उपरि प्रसुरत्तया सौभाग्यवैजयन्तीव उड्डयते । तदेतत्पश्यतेति
प्राकृतच्छायानुसार्यर्थः । आत्मनो विज्ञताप्रकाशनार्थं नागरिकस्य निजसहचरं प्रत्युक्ति-
रिति कथित् ।

‘कथनं विनापि विहेनैव चतुराः कंचिदर्थमवबुध्यन्ते’ इति निजसखीमिज्जितचारुर्य-
सवबोधयन्ती काचिदेवमाह—

गअगण्डत्थलणिहसणमअमइलीकअकरञ्जसाहार्हिं ।

एत्तीअ कुलहराओ णाणं वाहीअ पद्मरणम् ॥ २१ ॥

[गजगण्डस्थलनिवर्षणमदमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः ।

आगच्छन्त्या कुलगृहाङ्जातं व्याधखिया पतिमरणम् ॥]

गजगण्डस्थलवर्षणमदमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः ।

आयान्त्या कुलगृहाङ्जातं व्याधखिया हि पतिमरणम् ॥ २१ ॥

कुलगृहात् पितृगृहात् । आयान्त्या व्याधखिया । गजानां गण्डस्थलवर्षणे सति निषक्तो
यो मदसेन मलिनीकृताभिः करञ्जशाखाभिः । पतिभयेन दूरं पलायितानां गजानां पुन-
रागत्य मदस्ववणेन पतिमरणमनुस्मितमित्यर्थः । तज्जीवितदशायां तत्रागमनम्, आगम-
नेषि मदस्ववणमनुपच्चम्, ततश्च भमाऽभावे महावीरः स विपच्च इति भावः । नायि-
कान्तरासक्तस्य पूर्वमिव गजमारणासामर्थ्यान्मत्सरैर्गजैः स व्यापादयिष्यत इति निश्चित-
मित्यर्थं इति कथित् ।

वनचारिणोपि पूर्वमानुद्वित्ति न विस्मरन्ति किं पुनः सहदया इति पूर्वप्रियाप्रणयानु-
द्वित्यर्थं काचिद्वृती नायकमाह—

णववहुपेमतणुइओ पणअं पढमधरणीअ रक्खन्तो ।

आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेह रण्णं धणुं वाहो ॥ २२ ॥

[नववधूप्रेमतनुकृतः प्रणयं प्रथमगृहिण्या रक्षन् ।
तनुकृतदुराकर्षमपि नयत्यरण्यं धनुर्व्याधिः ॥]

व्याधोऽभिनववधूरतितनुकृतः प्रथमगृहिणीप्रणयम् ।
रक्षन् नयत्यरण्यं तनितदुराकर्षमपि च धनुः ॥ २२ ॥

नववध्वा: सुरतेन दुर्बलीकृतः । गृहगतायाः पह्याः प्रेसमात्रेण तनुता स्फुर्दं न प्रसि-
धतीति उभयार्थवाहि ‘रतिपदमुपात्तं शायायामिति बोध्यम् । प्रथमगृहिण्याः प्रणयं
रक्षन् व्याधिः । अवतक्षणादिना तनुकृतं तनितम् [तत्करोति तदाचषे इति प्यन्तात् क्तः]
तथापि दुराकर्षं धनुररण्यं नयतीत्यर्थः । ‘सुचिरविरहोत्तरमपि, अभिनवयौवनामपि
वधूसुपलभ्य वनेचरोऽपि व्याधः पूर्वप्रियतमाप्रणयं न विस्तरति, प्रत्युत तत्प्रणयरक्षार्थं
तदभिज्ञानभूतं दुराकर्षमपि धनुः सुलभसंकटे गहने नयति । त्वं तु सततमनुरक्षामपि
सहजमिमां कथं विस्तरसि’ इति नायकं प्रति व्यनयति । पूर्वप्रियाप्रेमातुवृत्तिशिक्षार्थं
सहचरं प्रति नागरिकस्योक्तिरिति गङ्गाधरावतरणम् । पर्युनववधूवशीभूतवेन प्रथम-
गृहिण्याः साध्यत्वं सूचयितुं जारं प्रति दूस्या उक्तिरियमिति कथित् ।

सुभगां प्रति केनचित्करणेन प्रकृप्य तथा सह पुनः संगमं सप्रतिज्ञावचनं मुहुर्सुहुः
प्रत्याच्छाणस्य वल्लभस्य तदिदं प्रत्याख्यानमस्यिरत्वादुपहासजनकमेवेति काचन सपली
सोत्प्रासमुपवर्णयति—

हासाविओ जणो सामलीअ पठमं पद्मामाणाए ।

वल्लहवाएण अलं मम त्ति बहुशो भणन्तीए ॥ २३ ॥

[हासितो जनः श्यामया प्रथमं प्रसूयमानवा ।

वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्वा ॥]

प्रथमं प्रसूयमाना हासयति श्यामला जनानखिलान् ।

वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्येव ॥ २३ ॥

श्यामला परिभाषितरूपसौन्दर्यशालिनी वरती । वल्लभसमागमेनैव प्रसवदुःखोपल-
म्भात् वल्लभवादेन प्रियतमस्य वर्णनेन । वल्लभस्य नामग्रहणेनापि भम अलम्, नास्ति
प्रयोजनमिति बहुशः कथयन्त्येव अखिलान् जनान्हासयति, पुनः प्रियतमसमागममा-
देतस्य वचनस्य स्फुटमेव हासहेतुत्वात् । सहजसुकुमाराज्ञी श्यामा प्रथमप्रसववेदनाकुल-
तया यथा तत्कालं प्रियसमागमं प्रत्याख्याति तथा तथापि वचनमिदमिति भावः । सूले
कर्मवाच्यस्यापि इह कर्तुवाच्यत्वं बन्धानुकूल्येन सारल्येन च ।

आगमने विलम्बेन प्रेषणः कृत्रिमतामाशङ्क्ष प्रियतमनिमित्तमुक्ताम्यन्ती ग्रोषितभर्तुका
निजाश्वासनपरां मातुलानीं सनिवैदमाह—

कैअवरहिअं पेम्मं णात्थि विअ मामि माणुसे लोए ।

अह होइ कस्स विरहे होत्तम्मि को जिअइ ॥ २४ ॥

[कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके ।

अथ भवति कस्य विरहो भवति को जीवति ॥]

कैतवरहितं मातुलि नास्त्येव प्रेम मानुषे लोके ।

अथ भवति कस्य विरहो वा भवति जीवति कः ॥ २४ ॥

येषां निर्मायं प्रेम भवति, तेषु कस्य विरहो भवति ? न कस्यापीत्यर्थः । अन्योन्यानु-
रागमात्रजीवितयोः क्षणमदर्शनमप्यसहमानयोः कथं वा विरहः स्वेच्छया स्थादिति भावः ।
दैववचाद्विरहे भवति जायमाने वा को जीवति ? न कोपीत्यर्थः । तद्विरहेष्य हं जीवामि,
सोपि च मासपहायान्यत्र तिष्ठति, इति प्रेम्णो निष्कृतवत्वमविश्वसनीयमिति भावः ।
'मानुषे लोके' इत्यनेन एवंविधस्य प्रणयस्य लोकोत्तरता सूचिता ।

कामिनीजनमनोहरणार्थमात्मनः कामुकतातिशयं स्व्यापयन् रसिकताभिमानी कश्चिद्
भुजङ्गः कस्याश्वनं कुलसरोजदशः स्नानसमयेऽङ्गप्रक्षालनार्थं वस्त्रपरिवर्तनार्थमुद्घाटित-
सुन्दरावयवदर्शनेनात्मनः परितोषमेवमाह—

अच्छेरं व णिहिं विथ सग्गे रञ्जं व अमअपाणं व ।

आसि म्ह तं महुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥

[आश्र्वयिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव ।

आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ॥]

आश्र्वयिव च निधिरिव दिवि राज्यमिवालममृतपानमिव ।

आसीन्मुहूर्तमिव नस्तद्विवसनदर्शनं तस्याः ॥ २५ ॥

नः असाकं तस्याः सुन्दर्याः तद्विवसनदर्शनं तादशं विवसनं दर्शनम् । विवक्षाया-
तस्या अवलोकनमिति वाऽर्थः । इह अस्मिन् लोके । आश्र्वयिव लोकोत्तरत्वादद्वृतमिव ।
परमसुखकरत्वान्विधिरिव । प्राकृते लिङ्गविभक्त्यादेनियमाभावात् 'णिहिं व' [निधिमिव]
इति प्रयुक्तम् । अलौकिकभूमिकास्पर्शात् निधीश्वरत्वलभाद्वा दिवि खर्णे राज्यमिव ।
मदनहुतवहङ्कान्तसकलशरीरनिर्वृतिजनकत्वात् निरतिशयतृप्तिकारकत्वात् विलीनानामपि
मनोभावानामुज्जीवनाच्च अलं पर्याप्तम् अमृतपानमिव आसीत् । एतादशभावुकोपि भवतीः
कामयत इत्यहो भवतीनां सौभाग्यमिति शृणुत्कामिनीभ्यो व्यन्यते ।

सपह्यां द्वेषम्, आत्मनि चानुरागमुत्पादयितुं काचित्तिपुणा नायिकान्तरासक्तमस्थिर-
प्रेमाणं नायकमेवमाह—

सा तुज्ञा वल्लहा तं सि मज्जा वेसो सि तीअ तुज्ञ अहम् ।

बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं चि ॥ २६ ॥

[सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम् ।

बालक स्फुटं भणामः प्रेम किल बहुविकारमिति ॥]

सा ते प्रिया, त्वमसि मे, तस्या द्रेष्यस्त्वमस्यहं ते च ।
बाल ! स्फुटं भणामः प्रेमेदं बहुविकारमिति ॥ २६ ॥

या त्वयि नाचुरज्यति सा ते प्रियस्ति । त्वं मे प्रियोऽसीति लिङ्गविपरिणामेनान्वयः । अन्यनायके दत्तचित्तायास्तस्यास्त्वं द्रेष्योऽसि । अहं च ते, द्रेष्याऽसीति विपरिणामेनानुषङ्गः । [अत एव] बाल ! उचितानभिज्ञतया नितान्तमप्रौढ़ ! इदं प्रेम बहुविकारम्, प्रकृतिमेदानुसारेण बहुप्रकारमिति स्पष्टं कथयाम इत्यर्थः । अनुरक्तां मां विहाय तस्यामनश्चारकायां तव प्रणयः कियद्विसोचितः, अहं च त्वां तथापि तर्यैव स्नेहदशा पश्यामीति प्रेमचरितं त्वमेव ग्रौव्या विचारयेति व्यङ्ग्योऽर्थः ।

कान्तस्य नितान्तमनुरागमात्मनश्च सौभाग्यं लजाशीलतां च सूचयन्ती काचित्स्वाधीनभर्तृका पादयोरलक्षकं विन्यस्यनन्तीं प्रसाधिकामाह—

अहअं लजालुइणी तस्स अ उम्मच्छराँ येम्माई ।

सहिआओपि वि णिउणो अलाहि किं पाअराणेण ॥ २७ ॥

[अहं लजालुस्स चोन्मत्सराणि प्रेमाणि ।

सखीजनोऽपि निपुणोऽपगच्छ किं पादराणेण ॥]

एषाहं लजालुः प्रेमाणयुन्मत्सराणि किल तस्य ।

आलीगणोपि निपुणोऽपगच्छ किं पादराणेण ॥ २७ ॥

तस्य मध्यितस्य प्रेमाणि उन्मत्सराणि खल्पस्यापि संगमविव्रस्याऽसहनतया उत्कटानि सन्ति । सखीगणोपि निपुणः किञ्चिच्छिहमात्रेण सर्वं रहयं जानातीत्यर्थः । ‘अलाहि’ शब्दो निवारणे । अतः अपेहीत्यर्थः । चरणयोररुणिङ्गः स्वतःसिद्धतया पादराणेण किं प्रयोजनमिल्यर्थः । लाक्षारसे पादयोर्विन्यस्तेऽपि खल्पमपि संगमविव्रमसहमानो दयितस्ताद्वीमेव संगमकेलौ मां व्यापारयिष्यति, ततश्च प्रियस्योदादिषु चरणचिह्नोदयेन सखीजनः सर्वेभिरुद्घवगत्य मां लजयिष्यति, अहं च लजाशीलासीति किं मुधानेन पादराणेण्याशयः । “उन्मत्सराणयुद्धटानि । उदरालक्षकादिव्यव्याजप्रवृत्तानीत्यर्थः” इति तु दुर्बोधेव गङ्गाधरटीका ।

अरण्ये दत्तसंकेता सा तिष्ठति । त्वरितमिमामनुसरेति सूचयन्ती दूती जारं प्रत्याह—

महुमासमारुआहअमहुअरज्ञंकारणिभरे रणे ।

गाआइ विरहक्षराबद्धपृष्ठिकमनोमोहणं गोवी ॥ २८ ॥

[मधुमासमारुताहतमधुकरज्ञंकारनिभरेऽरण्ये ।

गायति विरहक्षराबद्धपृष्ठिकमनोमोहनं गोपी ॥]

मधुमासमारुताहतमधुकरज्ञंकारनिभरेऽरण्ये ।

गायति विरहक्षरकृतपायिकमनोमोहनं गोपी ॥ २८ ॥

मधुमासमारुतेन आहते, मधुकरज्ञंकारेण पूरिते अरण्ये । विरहसूचकैरक्षरैः कृते

पथिकानां मनोमोहनं यथा भवति तथा गोपी गायति । मधुकरदंककारसहकारेण गीते-
मंधुरगभीरनादिता पवनेन तद्विजृम्भणं च धन्यते । अत एव पथिकमनोमोहकत्वमिति
भावः । अस्मद्विनितानामप्येवं विरहवेदना भविष्यतीति चिन्तया पथिकानां मनोमोहो
भवतीति तात्पर्यार्थः । मलयमास्ताद्युद्दीपनसामग्रीसहिते विपिने भावमयगीतिभिरह-
वेदनां विनोदयन्ती सा त्वप्रतीक्षया तिष्ठति । उदासीनाः पथिका अपि तद्विरहेण
द्रवन्ति । तत्त्वरितमिमामानन्दयेति धन्यते । गृहगमनाय पथिकान्तरं त्वरयितुं पथिक-
स्योक्तिरिति कथित् ।

अतिभूमिं गतो मानः कदाचिद्विग्यितस्यासहोपि भवतीति कांचिन्मानविषये शिक्षयन्ती
सखी कस्याथ्वन कलहान्तरिताया वृत्तान्तसुपवर्णयति—

तह माणो माणधणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुबद्धो ।

जह से अणुणीअ पिओ एकग्राम विअ पउत्थो ॥ २९ ॥

[तथा मानो मानधनया तथा एवमेव दूरमणुबद्धः ।

यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥]

मानधनया उनुबद्धस्तया तथा मान एवमेव भृशम् ।

प्रोषित एकग्रामे उप्यनुनीय यथा प्रियस्तस्याः ॥ २९ ॥

मान एव धनं यस्याः सा मानधना तथा एवमेव कारणं विनैव मानः तथा तेन प्रका-
रेण भृशं दूरमणुबद्धः, यथा तस्याः प्रियः अनुनीय एकग्रामेवि प्रोषितोऽभूदित्यर्थः । एक-
ग्रामे विद्यमानस्यापि प्रियादर्शानाभावात्प्रवास एवेति भावः । तथा च सामान्यकारणे
तावानेव मानः प्रशस्यते यावाचासौ दयितस्यासद्यो भवेदिति सूच्यते । “निष्कारणमान-
प्रहनिन्दाच्छ्लेन दूती जारस्यागमनावसरमाह” इति गङ्गाधरटीकाऽवतरणम् ।

विद्यमवनिताः प्रियतमस्य परवनितासक्ति चतुरचेष्टयैव निवारयन्ति न पुनः कलहै-
रिति वैद्यरध्यं शिक्षयन्ती कान्चित्सखीं प्रति मधुरमाह—

सालोए विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेचूण ।

णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥

[सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्यामिनो गृहीत्वा ।

अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥]

सालोक एव सूर्ये गृहभर्तुरिच्छतोऽपि गृहिणीयम् ।

पश्य गृहीत्वा धावति पादौ हसतो हसन्त्येव ॥ ३० ॥

सूर्ये आलोकसहिते एव । सूर्यप्रकाशसत्तायामेवेत्यर्थः । इयं गृहिणी । गृहिणीपदेन
गृहभारसंचालकतया गृहकार्यविशुद्धलतोत्पादके कलहे विमुखत्वं सूच्यते । अन्यवनिता-
गतचित्ततया अनिच्छतोऽपि । चातुर्येण गृह एवावस्थिति साधयन्त्याः गृहिण्याः वैद्यरध्य-
मालोक्य दाक्षिण्येन हसतो शृहस्यामिनः पादौ गृहीत्वा । विदिताभिप्रायस्य दण्डितस्य हास्यं

हास्येनैवोत्तरयन्ती नतु वाचा । धावति प्रक्षालयति इति त्वं पद्य साधु समीक्षस्वेतर्थः । गृहोपवेशनसमये पादौ प्रक्षालनीयाविति सतामाचारः । असमय एव पादप्रक्षालनाद-
न्यत्र गमननिषेधे चतुरगृहिण्यास्तात्पर्यमवगत्य हसतो गृहस्थामिनः पादौ गृहिणी ‘मद-
भिप्रायो दयितेन विदितः’ इति हसन्ती सती प्रक्षालयतीति भावः । गृहिणीनां दयितेषु
परासक्तिनिवारणस्य सेयं पद्यतिरिति सर्वीं प्रति ध्वन्यते । अभितः सोद्देदः [प्रकाशः]
सोयं भावालङ्घार इति सरखतीकष्ठाभरणम् । स्वाधीनपतिकोदाहरणेषि सेयं कण्ठाभरणे
गृहीता (५ परि.) । मूले ‘घरिणी घरसामिअस्स घेतूण’ इत्यादिदूरान्वयश्छायापद्ये
निवारितः ।

अधिकासक्तिवशात्सप्तीनामा व्यवहरन्तं कान्तं प्रति ‘प्रत्यक्षोपस्थितामपि नेमां
पद्यसि’ इति गोत्रस्थालितकुपितां निजसर्वीं निवारयन्ती वाग्विद्यधा काचन सगृहो-
पालम्भमाह—

व्याहरतु मं सहीओ तिस्सा गोत्रेण किं त्थ भणिएण ।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणह ॥ ३१ ॥

[व्याहरतु मां सख्यस्त्वस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन ।
स्थिरप्रेमा मां व्याहरतां तस्या गोत्रेण किमिह भणितेन ।

मा भणत किमप्येन यतस्ततोप्यस्तु सुस्थिरप्रेमा ॥ ३१ ॥

हे सख्यः ! तस्या गोत्रेण (नामा) मां व्याहरतां व्यवहरतु । अत्र स्थूलव्यवहार-
सूचकेन कथनेन किम् । एनम् अनुरक्षामपि मां विहाय अन्यत्र कृतासक्तिकम्, किमपि
मा कथयत । यतस्तोऽपि यस्यां कस्यांचन नायिकायामेष सुस्थिरप्रेमा भवतु । पूर्वमयं
मयि सुदृढमतुरज्यति स्म, ततः शीघ्रमेव मामपहाय अन्यस्यामासक्ति बबन्ध, या हि
संप्रति निरन्तरमेतस्याऽन्तरमधिवसति । वाचि निहितसप्तलीगोत्रः सोयं तत्रैव स्थिर-
प्रणयः स्यादेतदेवास्तु, परं नासा प्रेम्णः स्थिरतेति भावः । एवमस्थिरप्रणये त्वयि किं
दोपालम्भवचनैरिति दयितं प्रति ध्वन्यते ।

दयितविरहावकाशमुपलभ्य निजवाजिछिं साधयितुमिच्छन्तीं दुष्टदूर्तीं प्रतिनिवर्तयन्तीं
काचित्साध्वी प्रोषितमर्तका दयितेबुरागातिशयमेवमाह—

रुअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अज्जेसु जम्पिअं कण्णे ।
हिअअं हिअए पिहिअं विओइअं किं त्थ देवेण ॥ ३२ ॥

[रूपमक्षणोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जलिपतं कर्णे ।

हृदयं हृदये निहतं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥]

स्थितमक्षणोस्तद्वूपं स्पर्शो हृज्जेषु जलिपतं श्रवसोः (कर्णे) ।
हृदयं हृदये निहतं वियोजितं किमिह दैवैन ॥ ३२ ॥

तमेव निरन्तरं भावयन्त्या ममाक्षोस्तस्य रूपं स्थितम् । अङ्गेषु (तदज्ञानाम्) स्पर्शः स्थित इत्यादिलिङ्गविपरिणामेन योजनीयम् । रूपम्, सौमुर्मार्यम्, प्रियवचनानि, सद्भाववर्तनानि च यथाक्रमं भावयन्त्या मम विरहवेदना न समुदेतीति भावः । ‘अत्र दैवेन किं वियोजितम्’ इत्यनेन दैवमपि दयितेन सह मम वियोगं साधयितुं न प्राभवत् । प्रियेण सहाऽविश्वासोपदेशकानि तत्र वचनानि तु कानीति दूरीं प्रति व्यन्यते ।

प्रोषितभर्तुकायाः सखी तत्कान्तसमीपगामिनं पाथं प्रति निजसख्याः सुविषमां विरहवेदनां ग्रहागमनाय त्वरयितुमेवमुपवर्णयति—

सअणे चिन्तामझां काऊण पिअं पिमीलिअच्छीए ।

अप्पाणो उबउढो पसिठिलबलआहिं वाहाहिं ॥ ३३ ॥

[शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या ।

आत्मा उपगूढः प्रशिथिलबलयाभ्यां बाहुभ्याम् ॥]

शयने निमीलिताक्ष्या कृत्वा चिन्तामयं प्रियं तावत् ।

प्रशिथिलबलयाभ्यां सुपगूढो ह्यात्मैव वाहुभ्याम् ॥ ३३ ॥

भावनासमुपस्थितदयितसमागमेनानन्दातिशयात् निमीलितनेत्रया अनया भत्सख्या शयने शयनीये भावनामयं दयितं कृत्वा कल्पयित्वा । विरहदौर्बलयात्प्रशिथिलबलयाभ्यां बाहुभ्याम् आत्मैव उपगूढः । दयितभावनया खशरीरमेवादिलिङ्गितमिति भावः । ‘आलिङ्गितः’ इत्याद्यतुकृत्वा ‘उपगूढः’ इत्यत्र ‘गृह’ धातुरुपप्रकृत्या विरहोत्तरं दयितलाभेनोत्कण्ठातिशयाच्च पुनरपसरेदिति हृदयैकीकरणरूपं सुदृढं परिरम्भणमभिव्यज्यते । तद्यावदियं दशमीं दशां न प्रयाति तावदेव लघुतरमनुकम्पयेति तदयितं प्रति समीहितं सूच्यते ।

प्रणयकलहेन दूरमवस्थितयोर्यूनोः समज्जसकरणाय गतागतखिज्ञा दूरीं द्वयोरपि मानशमनार्थमात्मनिन्दामाह—

परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकञ्जम्मि ।

चिरजीविएण इमिणा खविअहो दड्हकाएण ॥ ३४ ॥

[परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये ।

चिरजीवितेनानेन क्षणिताः स्तो दग्धकायेन ॥]

परिभूतेनापि दिनं गृहं गृहं आमिणान्यकार्येण (अच्छकार्येण) ।

चिरजीवितेन सपदि क्षणिताः स्तोऽनेन दग्धकायेन (काकेन) ३४

रोषकटुवचनैः परिभूतेन तिरस्कृतेन । दिनं समस्तदिनपर्यन्तम् अन्यकार्येण परप्रयोजनसिद्ध्यर्थम् । युवयोः प्रणयकलहनिवृत्यर्थमिति भावः । गृहं गृहं प्रति भ्रमणशीलेन । चिरजीवितेन बहोः कालादेवविधजीवनयापकेन ब्रह्मेन अनेन दग्धकायेन सपदि अधुना क्षणिताः स्तोऽद्वेजिताः स्तोः । प्राकृते ‘अण्णकञ्जम्मि’ ‘दड्हकाएण’ इति पदाभ्यां ‘अच्छ-

कार्येण 'दग्धकाकेन' इत्यपि द्विष्टेते । ततश्च पक्षान्तरे—लोष्टप्रक्षेपादिना परिभूतेन । अचकार्येण अन्नप्राप्त्यर्थं समस्तदिनं यावत् प्रतिशृङ्खं अभाता, चिरजीवितेन दीर्घायुषा ['स एव च चिरंजीवी चैकदृष्टिथं मौकुलिः' इत्यमरः] काकहतकेन दध्याद्युपधातद्युपद्वा-दुद्विमाः सः, इत्यर्थः प्रतीयते । 'अणकज्ञमिम्' 'दहूकाण' इत्यादिशब्दशक्तिमूलच्छ-निना 'अहं युवयोः प्रसादनाय गृहाद् गृहं परिभ्रमन्ती काकस्येव तिरस्कियामनुभवामि, युवां नैतद्विचारयथस्तदात्मनो मम च हेशमात्रदायकेनानेन हठहतकेन संप्रति किं वा कलम्' इत्यर्थः प्रकाशयते ।

दुर्जनसविधे न रहस्यं प्रकाशनीयमिति शिक्षयन्कश्चित्सहचरमाह—

वसइ जहिं चेअ खलो पोसिज्जन्तो सिषेहदाणेहिं ।

तं चेअ आलअं दीअओ व अइरेण मझलेह ॥ ३५ ॥

[वसति यत्रैव खलः पोष्यमाणः स्तेहदानैः ।

तमेवालयं दीपक इवाचिरेण मलिनयति ॥]

यत्रैव पोष्यमाणो वसति खलः स्तेहदानेन ।

दीपक इवाचिरेणाऽलयं तमेवैष मलिनयति ॥ ३५ ॥

स्तेहपूर्वकमाश्रयदानेन, स्तेहस्य प्रणयस्य दानेन वा । पोष्यमाणः संवर्ध्यमानो दुर्जनः, यत्रैव वसति यदाश्रयेणैव वसतीत्यर्थः । एष खलस्तमेवालयमाश्रयभूतं जनमचिरैणैव पोषणदशायामेव मलिनयति अपवादप्रचारणादिना दूषयतीत्यर्थः । पक्षे—तैलदानेन दीप्यमानो दीपकः स्वाश्रयभूमिभागमन्तिरैव कज्जलादिभिर्मलिनयतीत्यर्थो वोध्यः । तथा चैवंविधिविश्वासवच्छकेभ्यः सुतरामवधेयमिति भावः । 'सिषेहदाणेहिं' इति मूलपदाङ्केन बहुत्वाग्रहे तु 'स्तेहदानैहिं' इति पाठ्यम् ।

दृहायातं कब्जन भुज्जं बहुवनदानाय प्रोत्साहयन्ती कुट्टनी कृपणनिन्दामुपर्यस्यति—

होन्ती वि णिष्फलच्छिअ धणरिद्धी होइ किविणपुरिसस्स ।

गिद्धाअवसंतत्तस्स णिअअछाहि व पहिअस्स ॥ ३६ ॥

[भवन्त्यपि निष्फलैव धनऋद्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य ।

त्रीष्मातपसंतस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥]

भवति कृपणपुरुषस्य प्रभवन्त्यपि निष्फलैव धनवृद्धिः ।

त्रीष्मातपसंतस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥ ३६ ॥

प्रकर्षेण भवन्त्यपि, प्रभूतेवर्थः । यथा पथिकस्य स्वीया छाया नात्मनो नापि वा परस्य संतापं हरति तथा कृपणस्य धनमिति भावः । आतपसंतस्यापि यथा स्वच्छायया न सुखोपलच्छित्सथा स्वधनेनापि न तस्य सुखसित्याशयः । छायोपमया छायावस्तर्वदा धनेन साकं सहभावेपि तत्कृतः सुखाभावो धन्वन्यते । पथिश्रान्ततया अनातपं वाञ्छन्नपि स्वच्छायया सौख्यमलब्धैव पथिको यथा यात्रां समापयति, तथा कृपणः आवश्यकत्वेपि धनसौख्यमलभमान एव जीवनयात्रां कर्त्त समापयतीति पथिकपदेन धन्वन्यते ।

स्त्रीणां वामनेत्रस्तुरुणं शुभशकुनसूचकमिलाकलय्य स्फुरितवामनेत्रा प्रोपितपतिका
प्रियतमागमनपरितोषेण वामनयनमेवमामन्त्रयते—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ झ ता सुइरम् ।

संमीलिअ दाहिणअं तुइ आवि एहं पलोइसम् ॥ ३७ ॥

[स्फुरिते वामाक्षिं त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥]

स्फुरिते वामाक्षि ! त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।

संमील्य दक्षिणं तत्प्रेक्षिष्येहं त्वयैवैतम् ॥ ३७ ॥

हे वामनेत्र ! त्वयि स्फुरिते विदेशगतः स प्रियो यदि अद्येष्यति तत् तहिं दक्षिणं
तत् (नयनम्) निमील्य तदागमनसंवाददायकेन त्वयैव एतं प्रियं सुचिरं प्रेक्षिष्ये ।
अन्यत्र सर्वत्र कृतसमादरमपि दक्षिणं नयनं निमील्य कृतज्ञताद्वुद्ध्वा त्वामेवैकं प्रियतम-
दर्शनेन कृतार्थयिष्यामीति भावः ।

कामुकान्तरसंभोगभयं प्रदर्श्य क्याचिज्ञायिकया सह कंचन नायकं संयोजयितुकामा
दूती तथा अनुरागातिशयमाह—

सुणअपउरम्मि ग्रामे हिण्डन्ती तुह कण सा बाला ।

पासअसारिव घरं घरेण कहआ वि खजिहिइ ॥ ३८ ॥

[शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तब कृतेन सा बाला ।

पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥]

शुनकप्रचुरे ग्रामे भ्राम्यन्ती तब कृतेन सा बाला ।

पाशकशारीव गृहं गृहेण खादिष्यते कदाप्यज्ञ ॥ ३८ ॥

शुनकप्रचुरे सारमेयबहुले ग्रामे तब कृतेन भवद्वर्णनार्थं पाशकशारीव चतुष्पटीगुटिकेव
(‘चौपडकी सार’) । द्यूतगुटिका यथा द्यूतपट्ट्यस्य प्रतिगेहं भ्राम्यति तथा गृहेण गृहं
भ्राम्यन्ती सा बाला । ‘अज्ञ’ इति संबोधने, हे भद्र ! कदापि कस्मिंश्चन लोकानामनव-
धानसमये खादिष्यते शुनकैर्भक्षयिष्यते । ततश्च शुनकप्रायकामुकबहुले ग्रामे भ्राम्यन्ती
सैषा नवयौवना यावदन्येन नोपभुज्यते तावदेव त्वय्यनुरक्ता सेयं द्रुतमनुकम्पनीयेति
कामुकं प्रति व्यज्यते । शुनकपदेन ‘त्वदेये अन्ये कामुकाः शुनका इव दश्यन्ते’ इति
दूर्युपदर्शितः कामुके बहुमानातिशयः सूचितः । ‘सारी’ इति दन्त्यपाठस्थापने ‘पाशयुक्ता
सारीव सारिकेव खादिष्यते’ इत्यर्थोपीति केचित् ।

यस्मिन्यूनि त्वं बद्धानुरागा स किल चञ्चलप्रणय इति कथयन्तीं सखीं नायिका निज-
सौभाग्यं सामिमानमाह—

अण्णाणं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउम् ।

तं णीरसाणं दोसो कुसुमाणं षेअ भमरस्स ॥ ३९ ॥

[अन्यमन्यं कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम् ।

तज्जीरसानां दोषः कुसुमानां नैव अमरस्य ॥]

कुसुमरसमन्यमन्यं मधुकर इच्छति स यत्पातुम् ।

दोषः स नीरसानां कुसुमानां नैव मधुपस्य ॥ ३९ ॥

अन्यम् अन्यं नानाविधं कुसुमरसमिल्यर्थः । एकत्र निजेच्छातुरुपस्य मधुनोडलाभा-देव यथा मधुकरो नानाकुसुमेषु अभिति, तद्वदयमपि इच्छातुकूलां नायिकामलभमान एव नैकत्र स्थिरतां लभते । मासुपलभ्य यथामनोरथं रसमुपभुजानस्यास्य यथा चाच्चर्व्यं शाम्यति तावक्सौभाग्यं मे भवतीभिर्दक्ष्यत इति व्यज्यते । 'मधुप' पदेन मधुपानं तस्य स्वभावस्तत्त्वं नीरसेषु तदलाभे को दोषस्तस्य । एवमेव रसिकस्यास्य न दोषः, प्रत्युत रसमार्गमजानतीनां नारीणामेव इति सूच्यते ।

मन्दस्नेहं नायकं नायिकया संघटयितुं दूती तस्याः प्रणयातिशयमाह—

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तम् ।

दारणिहिएहिं दोहिं वि मङ्गलकलसेहिं व थणोहिं ॥ ४० ॥

[रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पला त्वां सा प्रतीक्षते आयान्तम् ।

द्वारनिहिताभ्यां द्वाभ्यामपि मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम् ॥]

रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पलोपयन्तं प्रतीक्षते सा त्वाम् ।

द्वारधृताभ्यां मङ्गलकलशाभ्यामिव कुचाभ्यां हि ॥ ४० ॥

खागतनिमित्तं रथ्यायां प्रकीर्णे प्रसारिते नयने एवोत्पले यथा [अभीष्टस्यागमने चरण-न्यासार्थं पथि वरवस्त्रम् ('पगपँवडा') आस्त्रियते इत्याचारः] पूजार्थं रथ्यायां निहित-नयनोत्पला वा । द्वारधृताभ्यां मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम् (उपलक्षिता) सती उपयन्तम् आगच्छन्तं त्वां प्रतीक्षते । आगच्छन्तं प्रतीक्षते इत्युक्त्या 'भवान् मार्गे आगच्छतीव' इति दिवानिशं भवदनुध्यानादुत्कण्ठातिशयस्तस्या दूत्या सूच्यते । अथवा-त्वदभावानाय मां संप्रेष्य भवदनुरागे सुदृढिविश्वासा सा त्वां प्रतीक्षते इति । 'तुमं सा पडिच्छए एन्तम्' इति स्थाने 'तुमं पुति कं पलोएसि' इति कवित्युस्तके पाठो दृश्यते । 'त्वं पुत्रिं कं प्रलोकयसि' इति तस्यार्थः । तत्रेत्थं व्याख्या-रथ्यावलोकन-द्वारस्थिति-स्तन-प्रदर्शनैः कलितशीलखण्डनां कुलवधूं प्रति आह—रथ्यते । अयं भावः—नयनोत्पलाभ्यां कृतरथ्यापूजा द्वारि कलशाविव स्तनौ निधाय यस्य वर्तमं प्रतीक्षसे तं कथय मया तदानयने यत्रो विधेय इति गजाधरटीका ।

अगृहीतातुनयां कलहान्तरितां विमुच्य रोषविलक्षतया तिष्ठन्तं नायकं पुनरतुनयाय परोचयितुं दूती तस्याः परितापमाह—

ता रुणं जा रुवइ ता छीणं जाव छिज्जए अङ्गम् ।

ता णीससिअँ वराइअ जाव अ सासा पहुप्पन्ति ॥ ४१ ॥

[तावदुदितं यावद्गुद्यते तावत्क्षीणं यावत्क्षीयतेऽङ्गम् ।

तावच्चिःश्वसितं वराक्षया यावत् [च] श्वासाः प्रभवन्ति ॥]

रुदितं तावद्यावदुद्येत क्षीणमङ्गमपि तावत् ।

निःश्वसितं च वराक्षया तावत्प्रभवन्ति यावदुच्छासाः ॥ ४१ ॥

वराक्षया दयनीयया तथा यावद्गुद्येत रोदितुं शक्येत तावद् रुदितम् । रुद्येत इति संभवनार्थकलिङ्ग यतोधिकं रोदनं न संभवति तावदुदितमित्यतिशयो द्योल्यते । अङ्गमपि तावत्क्षीणं यावत्क्षेतुं शक्येत इति पूर्वानुष्ठेणार्थः । यावच्चिःश्वासाः प्रभवन्ति तावच्चिः-श्वसितम् । त्वदवधीरणेन रुदन्त्यास्तस्यास्तथा क्षीणमङ्गं यथेदानीं श्वसितुमपि न सामर्थ्यम् । तदिदानीं भवदुपेक्षया प्रियमाणामिमामनुनयेनानुकम्पस्येति दूल्याभिव्यज्यते ।

कस्यांचन नायिकायां शृण्वन्त्यामुपरतदयिताविरहविह्वलमात्मानमनुशोचन्कथिदा-त्मनः स्थिरलेहतासूचनेन तां प्ररोचयितुमाह—

समसौखदुखपरिवड्डिआणं कालेण रुढपेम्माणम् ।

मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥

[समसौख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रुढप्रेम्णोः ।

सिथुनयोर्मियते यच्चखलु जीवति इतरन्मृतं भवति ॥]

समसुखदुःखसमितयो रुढप्रेम्णोस्ततस्तु कालेन ।

दम्पत्योर्मियते यो जीविति सोन्यो मृतो भवति ॥ ४२ ॥

समाभ्यामुभयोः साधारणाभ्यां सुखदुःखाभ्यां समितयोरेकीभूतयोः । सुखदुःखाव-सायामेकीभूय परिवर्धितयोरिति भावः । ततः क्रमेण गच्छता कालेन उठप्रणयोर्दद्म्प-ब्योर्मध्ये यः (जाया पतिर्बा) प्रियते स जीवति । अन्यस्तादशवियोगदुःखान्मृतो भवति । वैरहदुःखदग्धादीदशाजीवितान्मरणमेव वरमिति भावः । प्राकृते ‘सिथुन’शब्दः समुदा-प्रवाचकोपि लक्षण्या प्रसेकं पत्यौ जायायां च प्रयुक्तः, गङ्गाधरेण तु संस्कृतच्छायायामपि तथैव गृहीतः । मत्कृतच्छायायां तु दम्पतीशब्दप्रयोगात्र तादशक्षेषः । ईदरो उठप्रेमणि भयि चेदुरुज्यसि, तर्हि पश्य कीदृक्त्वामनुवर्ते इति शृण्वन्तीं प्रति द्योल्यते ।

वसन्ते प्रियप्रवासश्रवणेन समधिकविहळां कुलवतीमाश्वासयन्तीं चतुरा काचित्सखी ससान्त्वनमाह—

हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवो पढममञ्जरिसणाहो ।

मा रुवमु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणम् ॥ ४३ ॥

[हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरीसनाथः ।

मा रोदीः पुत्रि प्रस्थानकलशमुखसंस्थितो गमनम् ॥]

पुत्रि प्रस्थानकलशमुखनिहितः प्रथममञ्जरीसहितः ।

नवचूतपल्लवोयं हर्ता गमनं प्रियस्य, मा रोदीः ॥ ४३ ॥

आशासनीयतया वात्सल्यपात्रतया वा अथि पुत्रीतुल्ये ! शकुनच्छलेन मया प्रस्थान-कलशमुखे स्थापितः । वसन्तकालोद्दिनप्रथममञ्चरीसहितः अयम् अभिनवरसालकिसलगः प्रियस्य प्रस्थानं हर्ता हरिष्यति, अत एव मा रोरीरिष्यर्थः । वसन्तागमनलक्षणं विलोक्य रसिकः प्रियः स्वयमेव गमनं परिहरिष्यतीति भावः । ‘हर्ता’ इति अनवतनभविष्यत्कालवाचकेन छुटा ‘अद्य न चेत्तर्हि श्वः अवश्यं विरहदुःखभावनया वसन्ते प्रस्थानं परिहरिष्यति’ इति सूच्यते । मूळे ‘पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणम्’ इति पदद्वयं कियायाः सुदूरं स्थितम् सत्कृतच्छायायां तु न तादशः क्षेत्रः ।

‘सखीभिर्दृढमानाय भृशं प्रतिबोधितापि किमिति विनैवात्मनयं मानमसुचः’ इति पृष्ठा काचिच्चतुरा सपरिहासमाह—

जो कहँ वि मह सहीहिं छिदं लहिउण पेसिओ हिअए ।

सो माणो चोरिअकामुअ व दिढ्ठे पिए णट्ठो ॥ ४४ ॥

[यः कथमपि मम सखीभिर्छिदं लवध्वा प्रवेशितो हृदये ।

स मानश्वोरकामुक हृव दष्टे प्रिये नष्टः ॥]

कथमपि सखीभिरिह यश्चिदं लवध्वा प्रवेशितो हृदि मे ।

दष्टे प्रेयसि नष्टः स हि मानश्वौरकामीव ॥ ४४ ॥

प्रणयकलहरूपं छिद्रम् अवसरं लब्ध्वा यो मानः सखीभिर्मैम हृदये बलात्संचारितः न तु मया स्वीकृत इति भावः । स मानश्वैर्येणागतो जार इव प्रिये दष्टे सति नष्टः पलायितः । प्रियदर्शनाभावदशायामेव मानो हृदयेऽवकाशं लभते, सति तु प्रियदर्शने स स्वत एवापसरतीति कुत्रात्मनयावसरः इति प्रियेऽनुरागातिशयः सूचितः । ‘अनुनयार्थं मागतं कान्तं दृष्ट्वा कलहान्तरितात्मनोनुरागं सूचयन्त्याह’ इति गङ्गाभरावतरणम् । अनुनयात्पूर्वमेव मानपलायने कथं कलहान्तरितात्मसिति विचारणीयेव ।

कुसुम्भावचयव्याजेन गतायाः सपद्याः शीलखण्डनं जातसिति सूचयितुं काचित्सपली सोत्रासमाह—

सहिआहिं भण्णमाणा थणए लग्नं कुसुम्भपुष्फं चिः ।

मुद्रवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइं ॥ ४५ ॥

[सखीभिर्भण्णमाना स्तने लग्नं कुसुम्भपुष्फसिति ।

सुग्धवधूहस्यते प्रस्फोटयन्ती नखपदानि ॥]

आलीभिरुच्यमाना स्तने विलग्नं कुसुम्भपुष्फसिति ।

नखपदान्यपचुदती मुग्धवधूहस्यते नाम ॥ ४५ ॥

कामशास्त्रचतुरेण नायकेन स्तनकुद्धमलग्रे निहितं ‘शशकुतम्’ दृष्ट्वा स्तने कुसुम्भपुष्फं लग्नसिति आलीभिरुच्यमाना मुग्धवधूः नखपदानि अपनुदती अपनयन्ती हस्यते । मुग्धवधूरिति सोङ्गठनसुपालम्भवचनम् । ईदशी सेयं मुग्धा या किल प्रियदत्तं नखक्षतमपि

न परिजानाति । अवश्यमियं सुग्राया या किल कुसुमभवाटिकायां नायकस्य कामशास्त्र-
प्रयोगपट्टिकाऽभूदिति' सापह्यमभिव्यज्यते । 'शशाषुतं पञ्च नखव्रणानि सान्द्राणि
तचूचुकचिह्नमाहुः' इति कामशास्त्रम् ।

काप्यात्मनः सुद्वानुरागं प्रदर्श्य मन्दस्तेहं नायकमभिसुखीकर्तुं मरणमयमभिव्य-
ज्यन्त्याह—

उम्मुलेन्ति व हिअअं इमाँ है रे तुह विरज्यमाणस्स ।
अवहीरणवसविसंषुलवलन्तणअणद्वद्विडाँ ॥ ४६ ॥

[उन्मूलयन्तीव हृदयं इमानि रे तव विरज्यमानस्स ।
अवधीरणसुविसंषुलविवलन्त्यनार्द्धदृष्टानि ॥]

उन्मथयन्तीवान्तरमिमानि रे तव विरज्यमानस्स ।
अवधीरणसुविसंषुलविवलन्त्यनार्द्धदृष्टानि ॥ ४६ ॥

रेषब्दः साक्षेपसंबोधने । सुद्वानुरागायां मयि विरज्यमानस्य तव अवधीरणवशेन
सुविसंषुलम् अत्यन्तमबद्वलक्ष्यं यथा भवति तथा विवलत् परावर्तमानं नयनार्धं येषु,
एतादशानि इमानि प्रत्यक्षमनुभूयमानानि दृष्टानि अवलोकनानि मम अन्तरं हृदयमुन्मू-
लयन्तीव । विरागस्तु तव दूरे, विरागसूचकेनावलोकनेनाप्युन्मूलितहृदयाऽहं मरणोन्मुखी
भवामीति गृहुं सूचितम् । इमानीत्युक्त्या 'पश्य ! प्रत्यक्षमेव मयि त्वं विरागं प्रकाशयसि,
अहं च तव तादशमवलोकनमात्रमपि न सोहुं क्षमा' इत्यनुरागातिशयोऽभिव्यज्जितः । 'ऐ'
इति संबोधनेन 'त्वत्प्रेमाधीनजीवितामपि मां न सम्यक्परिचिनोषि' इतीर्थ्याभिव्यज्यते ।

बहुवल्लभतया विरलदर्शनं नायकं काचिदात्मनो विरहविकलतामेवमाह—

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ ।
धण्णाओं ताओं जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमम् ॥ ४७ ॥

[न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासान्न रुदन्ति चिरं न भवन्ति कृशाः ।
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥]

न रुदन्ति हन्त न कृशा भवन्ति नोज्ञन्ति दीर्घनिःश्वासान् ।
धन्यास्ताः किल यासां बहुवल्लभ ! वल्लभो न त्वम् ॥ ४७ ॥

बह्यो वल्लभा वस्य तस्तंबोधनम् । यासां किल त्वं वल्लभो न, [केवलं त्वमेवानुरागं
प्रकाशयसि न ता इत्यर्थः] रोदनादिदुःखानभिज्ञतया ता एव धन्याः । अस्माभिस्तु त्वयि
निहितानुरागाभिः सर्वमिदमनुभूयत इति भावः । तथा च 'बहुवल्लभोपि त्वमेव विचारय,
बहीषु वल्लभाषु कास्त्वय्यतुरज्यन्ति ? मादशीषु च तव विरहरौक्ष्यं कियदुचितम्' इति
निषुणमभिव्यज्यते । कामबाधया वाच्याऽप्रस्तुतप्रशंसायां माने विरुद्धमित्यन्न चोदाहृता
सेवं गाथा सरस्वतीकण्ठाभरणे ।

प्रातः शयनागारतो निर्गच्छन्त्याः प्रियायाः परिवृत्त्याऽवलोकनवर्णनेन स्वसौभार्यं प्रथयन्नायक आह—

णिद्रालसपरिघुमिरत्सवलन्तद्रुतारआलोआ ।

कामस्स वि दुविसहा दिद्विणिवाआ ससिमुहीए ॥ ४८ ॥

[निद्रालसपरिघुर्णनशीलतिर्थग्वलदर्धतारकालोकाः ।

कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥]

निद्रालसपरिघुर्णत्तिर्थग्वलदर्धतारकालोकाः ।

दुर्विषहाः शशिमुख्या दृष्टिनिपाताः स्मरस्यापि ॥ ४८ ॥

सुरतजागरान्निद्रालसः, अत एव परिघुर्णन परित्राम्यन्, अनुरागातिशयातिर्थग्वलन् अर्द्धतारकाऽलोको येषु तादशाः शशिवदनाया दृष्टिप्रपद्माः कामस्यापि दुर्विषहा धैर्यच्युतिं कुर्वन्ति, किं पुनरस्माद्वद्यानां कामातुराणामिति भावः । स्वरः सर्वाम्नोहयति परं तदृष्टिस्तमपि वशीकरोतीत्यतिशयो व्यज्यते । रात्रि सायु रमसाणे मयि सा विधुवदना प्रातस्तथाविधमनुरागमनोहरं दृष्टिनिपातबहुमानं प्रादादिति स्वसौभाग्यसूचनं चरमं व्यङ्ग्यम् । निद्राव्यभिचारिण उदाहरणे परिगृहीता सेयं गथा सरस्वतीकण्ठाभरणे भोजने (५ परि.) ।

चिरप्रोवितनिजप्रियागमने निराशतां प्रदर्शयन्ती काचित् शृण्वन्तं जारं प्रत्यनुरागं हृदयोपालम्भव्याजेनाभिसूचयति—

जीविअसेसाइ मए गमिआ कहूँ कहूँ वि पेम्मदुदोली ।

एहिं विरमसु रे डड्हुहिअअ मा रजसु कहिं पि ॥ ४९ ॥

[जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।

इदानीं विरम रे दग्धहृदय मा रज्यस्व कुत्रापि ॥]

प्रेम्णो मया कर्थंचिदुर्दोली जीवितशेषया गमिता ।

रे दग्धहृदय विरमेदानीं मा रज्य कुत्रापि ॥ ४९ ॥

प्रियविदेशगमने चिरकालाद्विरहक्षीणतया जीवितशेषया प्राणमात्रावशेषया मया प्रेम्णो दुर्दोली तस्य (प्रियस) मम च प्रणयस्य परस्परानुवन्धेनातिदुर्मोच्यो ग्रन्थिः कर्थन्ति त कथं कथमपि [इदानीमामगमित्यतीति प्रत्याशया, सखीजनसान्त्वनेन, आत्मवधापातकभयाद्वा] गमिता निर्वाहिता । पाशानामन्योन्यवन्धेन दृढीकृतो दुर्मोच्यो ग्रन्थिदुर्दोलीत्युच्यते । ‘गमिता’ इति भूतकालिक—‘त्तेन’ एतावत्कालं प्रेमवन्धो निर्वाह समापितः, नाहुना निर्वोहुं शक्यत इति प्रियागमने नैरास्यं सौभार्यं दृढानुरागिता चात्मनोभिव्यज्यते । प्रेमवन्धे तादशविरहदाहमसुभूयापि पुनरन्यत्रानुरज्यसीति सनिवेदमाह—रे दग्धहृदय ! पुनः पुनर्विरहवेदनाभिसुखगामित्वादभिक्रोशनीय ! इदानीं विरम । प्रेम-

बन्धादुपरमस्य, कुत्रापि मा रज्य ।^१ अननुरक्तस्य निषेधायोगात् शृणवन्तं जारं प्रलङ्घुरागः
अेमवन्ये मम कीदृग्दार्ढ्यमिति प्रोचना च सूच्यते ।

कांचिन्नायिकां प्रति नायकमभिसुखीकर्तुं चतुरा दूती तस्या नखक्षतावलोकन-
कौतुकमाह—

अज्ञाएँ णवणहक्षयनिरीक्षणे गरुआजोवणुतुङ्गम् ।

पाडिमागत्तिजनयनोत्पलार्चितं होइ थणवट्टम् ॥ ५० ॥

[आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुरुक्यौवनोत्तुङ्गम् ।

प्रतिमागत्तिजनयनोत्पलार्चितं भवति स्तनपृष्ठम् ॥]

आर्याया नवनखपदनिरीक्षणे गुरुक्यौवनोत्तुङ्गम् ।

प्रतिमागत्तिजनयनोत्पलार्चितं भवति कुचपृष्ठम् ॥ ५० ॥

गुरुकं च यौवनेनोत्तुङ्गं च आर्याया वरस्त्रियाः स्तनपृष्ठं स्तनोपरितनो भागः । वदन-
मण्डलमवनाम्य नवनखक्षतनिरीक्षणसमये । प्रतिमया प्रतिविम्बरूपेण गते ये नयनोत्पले
ताभ्यामार्चितमिव भवति । पूर्णयौवनामेतादशीं सुन्दरीमन्वैदृप्यमुज्यमानां सहस इति कासुकं
प्रत्याकृतम् । प्रथमानुरागानन्तरं नखक्षतमित्युदाहृता सेयं गाथा कण्ठाभरणे (५ परि.) ।

छोषु नाविकमनुराज्यन्तं नायकमभिसुखियतुं विपरीतरतानभिस्त्री नायिकां च तत्र
शिक्षयितुं काचिद्दूती भगवतः श्रीकृष्णस्य लक्ष्म्याश्र कामकलासेवनपादवं नमस्कार-
व्याजेनाह—

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तम् ।

दीसइ मअपरिहीणं ससिविम्बं सूर्यविम्ब व ॥ ५१ ॥

[तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मीमुखं कौस्तुमे संक्रान्तम् ।

दृश्यते मृगपरिहीनं शशिविम्बं सूर्यविम्ब इव ॥]

तं नमत यस्य वक्षसि रमामुखं कौस्तुभेमिसंक्रान्तम् ।

मृगहीनं शशिविम्बं विलोक्यते सूर्यविम्ब इव ॥ ५१ ॥

विपरीतरतावस्थायां यस्य वक्षसि कौस्तुमे मणौ अभिसंक्रान्तं प्रतिविम्बितं लक्ष्मीमुखं
सूर्यविम्बेऽनुसंक्रान्तं मृगपरिहीनं निष्कलङ्कं शशिविम्बमिव दृश्यते, तं नमतेत्यर्थः । भग-
वन्तौ लक्ष्मीनारायणावपि परस्परप्रेमानुबन्धसुन्दरं बन्धविशेषवन्धुरं च सुरतसुखमुप-
भुजाते, किमन्ये संसारिण इति नायकौ प्रति स्वाकृतमभिसूच्यते ।

प्रियतमानुनयपराङ्गुर्खीं कलहान्तरितं ग्रौडा दूती प्रियानुनयार्थमाह—

मा कुण पाडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लम् ।

अइग्हिअग्रुधमाणेण पुत्ति रासि व छिजिहिसि ॥ ५२ ॥

[मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनय यियं प्रसादलोभयुतम् ।

जतिगृहीतगुरुस्कमानेन युत्रि राशिरेव श्रीणा भविष्यसि ॥]

मा प्रतिपक्षसुखं कुरु दयितमनुनय प्रसादलोभयुतम् ।
अतिनीतगुरुकमानाद्राशिरिव क्षीयसे पुत्रि ॥ ५२ ॥

वात्सल्यभाजनत्वेन हे पुत्रि ! प्रतिपक्षस्य सपलीजनस्य अवसरदानेन सुखं मा कुरु । किं वा युवयोः कलहदर्शनेन ईर्ष्याशीलः प्रतिपक्षजनो मोदते, अत एव तस्य मनोनुकूलं मा कुरु । प्रसादलोभुपं प्रियमनुनय । त्वत्कृतानुनयप्रतीक्षी सोर्यं त्वदनुनयेन भृत्यां वशं-वदः स्यादिति भावः । अतिनीतात् अतिगृहीतात् गुरुकान्मानाद् राशिरिव क्षीयसे । अतिभूमिं नीतेन मानेन हृदयदाहात्साम्प्रतमेव क्षीणा भवति, भविष्यति तु का कथेति भावः । मूलानुरोधेन भविष्यदर्थं एव चेदिष्टस्तर्हि ‘क्षेष्यसि हे पुत्रि राशिरिव’ पाठः कार्यः । मानपदं छिष्टम् । तथा च गृहीतेन अतिगुणा मानेन द्रोणादकादिपरिमाणेन यथा माषा-दिराशिः क्षीयते, तोलने सति न्यूनीभवति तथेल्यर्थः । यदि परिमाण [परिमीयते अनेन, लोहनिर्मितं परिमाणसाधनम् ‘बाट’] गुरु (अधिकं महत्) भवेत्तर्हि राशेमानं न्यूनं भवल्येवेति भावः । “माषादिराशिरपरि पाषाणादिना नियन्त्रितो यथा क्षीयते” इति त्वस्फुटार्थेण गङ्गाधरटीका । एष मानी त्वत्कृतानुनयलुभ्यो न त्वामनुनेष्यति, तदेतद्विचारयस्वेति तां प्रति सूच्यते ।

नायिकाया विरहवेदनामाय तत्संगमाय त्वरयन्ती दूती तत्कान्तमाह—

विरहकरवत्तदूसहफालिङ्गन्तम्मि तीअ हिअअम्मि ।
अंद्रु कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व पडिहाइ ॥ ५३ ॥

[विरहकरपद्धतुःसहपाव्यमाने तस्या हृदये ।
अशु कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति ॥]

तस्या हृदये दुःसहवियोगकरपत्रपाव्यमाने हि ।

प्रतिभाति बाषपसलिलं कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव ॥ ५३ ॥

दुःसहविरहरूपेण करपत्रेण ककचेन विदार्यमाणे तस्या हृदये कज्जलेन द्यामं प्रवहत् नयनसलिलं विपाटनधारायाः सामज्जस्यार्थं कृतं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति । वृक्षस्कन्धाव-पाटकाः ककचधारासारल्यार्थं कृष्णं मानसूत्रं पूर्वं विन्यसन्तीति व्यवहारः । प्राकृते पूर्व-निपातानियमाहुःसहपदं विरहकरपत्रादुत्तरं प्रयुक्तम्, मत्खृतच्छायायां तु न तथा नियम-भङ्गः । विरहिण्याः कज्जलसमासज्जनं तु नायकानुरागदाढ्येन ‘इदानीमायात एव’ इति विश्रम्भमूलकमुक्तणातिशयमभिव्यनक्तीति बोद्धवम् । तथा च भवदागमनद्विश्वासेन सज्जा सेयं विराद्विरहवेदनाव्याकुलिता संप्रति सत्वरेवानुकम्पनीयेति ध्वन्यते ।

कस्याश्वन विदर्घनायिकायाः कृते परमोत्कण्ठं नायकं निषेधमुखेनाधिकं प्ररोच-यन्ती वयःप्रौढा दूती सत्त्वानुर्यमाह—

दुणिणक्खेवअमेअं पुत्रअ मा साहसं करिजामु ।

एत्थ णिहिताइँ मण्णे हिअआइँ पुणो ण लब्मन्ति ॥ ५४ ॥

[हुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं करिष्यसि ।

अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥]

दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं कार्षीः ।

अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥ ५४ ॥

आत्मनो वचने विश्वासार्थं लेहतः संबोधयति—हे पुत्रक ! तथा: सविधे हृदयनिक्षेप-रूपमेतत्साहसं मा कार्षीः मा करिष्यसि । प्राङ्गते माड्योगे छुड़लकारनियमाभावेन ‘करिज्ञासु’ प्रयुक्तम् । यतः एतदुर्निक्षेपकम्, यो निक्षेपः (न्यासः) पुनर्न लभ्यते, लोके स दुर्निक्षेप इति व्यवहिते । अत्र असां रूपचारुर्यादिशालिन्यां नायिकायां न्यासीकृतानि हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते । अन्यासु नायिकासु दत्तं हृदयं कदाचन प्रेमरूपद्रव्यस्य परावर्तने परावर्तेऽपि । विदग्धायामस्यां तु न तदाशेति वैदर्यं सुट्ठप्रेमत्वं च व्यन्यते । हृदयानीति बहुवचनेन ‘परमविदग्धा बहवोपि यदि मानसान्यात्मनः समर्पयेयुस्ताहि तेषि वशंवदा भवेयुः, किं पुनर्स्त्वमेव’ इति आकर्षकतातिशयो व्यन्यते । साहसपदेन ‘एवंविधया दुर्लभया वामया प्रेमकल्पना साहसमात्रम्’ इति प्ररोचनातिशयो व्यञ्जयते । तथाच ‘हृपलावण्य—वैदर्यादिभिः परममनोहरा सेयमवश्यमनुसर्तव्या’ इति वाच्येऽपि निषेधे विविरुपेण व्यञ्जयते ।

रतावसाने मौग्धेन शून्यं स्थिताया नायिकायाः सुरतादपरितोषमाकल्य विलक्षं नायकं तस्याश्विररतादोषनिवृत्यर्थं दृती बोधयति—

णिवृत्तरआ वि वहू सुरअविरामठिँ अआणन्ती ।

अविरअहिअआ अण्णं पि किं पि अस्थि त्ति चिन्तैङ ॥ ५५ ॥

[निर्वृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिमजानती ।

अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥]

निर्वृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिं न जानन्ती ।

अविरतहृदयान्यदपि च किञ्चिदिद्विस्तीति चिन्तयति ॥ ५५ ॥

संजातसुरतसुखापि सुग्रहतया सुरतविरतो या स्थितिस्तां न जानन्ती वधूस्त्वदनुराग-बशेन अविरतं अविश्रान्तं हृदयं यसा ईद्वासी सती, इह असिन्समारम्भे अन्यदपि किञ्चिदिद्विस्तीति चिन्तयतीत्यर्थः । तथा च सेयं त्वत्प्रेमवशंवदा मौग्धयोदेव तवान्यविघुख-लालसया निभृतं स्थिता, नाऽपरितोषेणति भावः । एतेन तवेच्छानुपालनतत्परा सुग्रहा तत्समागमसुखिता च सेयमिति दूस्या योल्यते ॥

विटजनं ग्रोत्साहयितुं कुट्टनी वेश्याप्रेमप्रशांसामवतारयति—

णन्दन्तु सुरअसुहरसतल्लावहराँ सअललोअस्स ।

बहुकैअवमग्गविणिमिआँ वेसाणं पेम्माइँ ॥ ५६ ॥

[बन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस ।

बहुकैतवमार्गविलिमितालि वेश्यानां प्रेमाणि ॥]

नन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णाॽपहराणि सकललोकस्य ।

वेश्यानां प्रेमाणि हि बहुकैतवमार्गरचितानि ॥ ५६ ॥

नानाविधस्मावस्य उत्तममध्यमाधमरूपस्य वा सकललोकस्य सुरते यः सुखरसस्तत्र या तृष्णा अपरितृप्तिः तदपहराकाणि । गृह्णीषु यद्विधसुरतवितृष्णा न परिदाम्याति साप्यत्र निवर्तत इति विशेषः सूच्यते । तथा च यथाभिलिखितसंपादकानीति फलितम् । तथा बहुभिः कैतवमाणैः हरितशुष्कहृदितचादुप्रभृतिभिर्विभितानि । प्रेममाणैः एवंविधैर्हाविशेषैः परमरोचकता भवतीति सूचितम् । एवंविधानि वेश्यानां प्रेमाणि नन्दन्तु, लाभसत्कारादिभी रसिकानामभिनन्दनीयानि भवन्त्वत्यर्थः । क्वचित् ‘सुरतसरभसतृष्णाॽपहराणि’ इति पाठो दृश्यते । तत्र सुरते सरभसानि च तानि तृष्णापहराणि चेति कर्मधारयः । गृह्योषासु लजापारतङ्गयेण सरभसता दुर्लभेति तत्र विशेषः । कुट्टनीविटादिवकृबोद्धव्यवशात्रशंसापरापि सेयं सूक्ष्मः—‘सुरतसुखतृष्णायाः अस्माभाविकमार्गेवलक्ष्यात् अपहराकाणि, बहुकपटमार्गनिचित्तत्वाद्वैसुख्यसंपादकानि वेश्याप्रेमाणि तादशानामेव कृते नन्दन्तु’ इति तत्त्वतो विचारे निन्दामपि सूचयतीति गाथाग्रन्थितुश्चातुर्यसमीक्षणीयं सहृदयैः ।

किमिति कृशासीति नायकेन सहासं पृष्ठा विरहोत्कण्ठिता शनिरं तमुत्तरस्यति—

अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो ।

पाप्यसि जइ चलचित्तं प्रियं जणं ता तुह कहिस्सम् ॥ ५७ ॥

[अप्राप्तमन्युदुःखः किं मां कृशेति पृच्छसि हसन् ।

प्राप्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तदा तव कथयिष्यामि ॥]

अप्राप्तमन्युदुःखः कृशेति पृच्छसि हसन्किं माम् ।

प्राप्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तव तदा वदिष्यामि ॥ ५७ ॥

न प्राप्तं मन्युक्तं दुःखं येन तादशस्त्वम् । प्रियापराधजनितश्चित्तक्षोभो मन्युः । ‘मन्यु-देँन्ये कृतो कुधि’ इत्यमरः । परदुःखानभिज्ञतया हसन् सन् कृशेति मां किं पृच्छसि । हसन्नित्यनेन ‘तव प्रेम वेदनानभिज्ञत्वात् हार्दिकम्’ इति सूच्यते । यदि चलचित्तं प्रियं जनं प्राप्यसि तदा तव वदिष्यामि, एतस्योत्तरं दासामील्यर्थः । इदानीं कथितेपि न ते ग्रलयो भविष्यति । तवास्थिरलेहत्वादेव भमेयं दशा । तथापि मामेव निरनुकोशो हसन्पृच्छसि, अहो ते हार्दिकं प्रेमेति सोपालम्भमभिव्यनक्ति ।

चिरादुपगतं जारं तत्प्रेमणि सोढब्रहुसंकटा विरहोत्कण्ठिता सनिवेदमाह—

अवहत्तिथउण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओसि ।

एआइँ ताइँ सोकखाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥

[अपहस्तयित्वा सखीजलिपतानि येषां कृते न रमितोऽसि ।

एतानि तानि सौख्यानि संशयो यैर्जीवस्य ॥]

येषां कृतेन रमितोऽस्यपहस्य सखीजनस्य गदितानि ।

एतानि तानि सौख्यानि संशयो यैर्हि जीवस्य ॥ ५८ ॥

हस्ताभ्यां निरस्तीति हस्तयते ‘णिङ्गान्निरसने’ इति णिङ् । अपपूर्वात्तो ल्यप् । स-खीजनजलिपतानि अपहस्य बलाच्चरसेत्यर्थः । येषां संगमसौख्यानां कृतेन त्वं रमितोसि, एतानि तानि सौख्यानि सन्ति, यैर्हि जीवितस्य संशय उपस्थित इलर्थः । त्वं नावधरते परं त्वद्विरहेण मम जीवितमेव संदिग्धं सुखं तु तावद्दूरे । तथा च समागमसुखाशावल-म्बनाहं त्वद्विरहं सोहुमक्षमेति स्पष्टमभिव्यज्यते । ‘अपहस्तयित्वा’ इति गङ्गाधरटीका-पाठ्यु च्युतसंस्कृतिः । ‘कृते न’ इति पदविच्छेदोपि कैश्चन कृतः प्रकृतार्थविरोधी । रम-णाभावे निवेदस्यानुदयात् ।

मधूकनिकुञ्जे दत्तसंकेतं जारं प्रतिवेशिन्यालापव्याजेन दूती संकेतस्थानान्तरं सूच-यितुमाह—

ईसालुओ पई से रत्ति महुआं ण देइ उच्चेत्तम् ।

उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसुहाओ ॥ ५९ ॥

[ईर्ष्यार्शीलः पतिस्तस्या रात्रौ मधूकं न ददात्युच्चेत्तम् ।

उच्चिनोलायात्मनैव मातरतक्रज्जुकस्वभावः ॥]

ईर्ष्यालुः पतिरस्या दत्ते निशि नो मधूकमुच्चेत्तम् ।

उच्चिनुते स्वयमेव हि मातरञ्जुकस्वभावोऽयम् ॥ ५९ ॥

रात्रौ तां मधूकमुच्चेत्तुं न ददाति । हे भातः ! सरलस्वभावः अयं स्वयमेव उच्चिनुते इति योजना । गृहे जायमानस्य जारसमागमस्याज्ञानाद्जुखभावत्वम् । तथाच ‘मधूकनि-कुञ्जे न गन्तव्यं किन्तु तस्या गृहमेव विश्रब्धं गच्छ’ इति जारं प्रति ध्वन्यते । ‘स्वयमेव’ इत्येवकारेण ‘अन्यस्य सहायकस्य सहाऽनुपादानान्मधूकावच्यकार्यान्नं शीघ्रं गृहे प्रस्या-गमनम् ।’ अत एव विश्रब्धतापि जारं प्रति व्यज्यते ।

अनुनयमगृहीत्वा धूं च वस्त्राच्छलं बलादाकृष्णं सामिमानं गच्छन्तीं नायिकां नाय-कश्चादुपुरस्सरमाह—

अच्छोडिअवत्थद्वन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च ।

चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्ज्वस्स वि ण भङ्गम् ॥ ६० ॥

[बलादाकृष्टवस्त्रार्धान्तप्रस्थिते मन्थरं त्वं व्रज ।

चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥]

रभसावकृष्टवसनाद्वन्तप्रस्तुते ! व्रज त्वमामन्दम् ।

मध्यस्यापि न भङ्गं स्तनभारायासितस्य चिन्तयसि ॥ ६० ॥

रभसात् बलादाकृष्टं वसनाद्वन्तं वस्त्राच्छले यसा सा चासौ प्रसुता (प्रस्थिता) चेति अस्मिवरथः तत्सम्बुद्धौ । अनुनयाऽस्त्रीकारान्मभाऽनुरोधभङ्गस्तु तावदास्तां दूरे, परं

क्षिप्रगमनेन स्तनभारायासितस्य मध्यस्यापि भज्जं न विचारयसि । अहो सुरथतया ते परिणामानभिज्ञतेर्ति भावः । अनेन मध्यस्यातिलघुत्वं नायिकायाथ्वं सौकुर्सार्थमभिव्यज्य चादुद्वारा मानमोचनचेष्टाचारुर्यं व्यज्यते ॥

द्वयोर्युगपदनुरागाङ्कुरणेन मनोभवविजृम्भितं शोभत इति पथिकप्रपापालिकयोर्वृत्तान्त-मवतारयति नागरिकः—

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ ।

पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥ ६१ ॥

[ऋर्धवाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः ।

प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥]

चिरमूर्ध्वाक्षोऽम्बु पिबति यथा यथा हि विरलाङ्गुलिः पथिकः ।
तनुमपि तनयति धारां तथा तथा सा प्रपापाली ॥ ६२ ॥

पिपासापगमेपि जलपानव्याजेन प्रपापालिकामुखावलोकनकौतुकादूर्ध्वाक्षः पथिको यथा यथा जलनिर्गलनाय विरलाङ्गुलिः सच्चिद्राङ्गुलिः सन् चिरम् अम्बु जलं पिबति तथा तथा तन्मुखावलोकनार्थं तनुं सूक्ष्मापि धारां सा प्रपापाली तनयति तनूकरोति । ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति तनुशब्दाणिण्च । यथा स मुखावलोकनार्थं जलपानं केवलम-भिनयति, न तु जलं पिबति, तथा सापि तदनुरोधं मन्वाना तन्मुखावलोकनकौतुकेन तनुमपि धारां पुनस्तनूकरोति न तु यथावज्जलं पाययति । तथा च द्वयोरेव कालविलम्ब-नेन परस्परमुखावलोकने तात्पर्यमवगम्यते । एवं च द्वयोरेव परस्परमनुरागोभिव्यज्यते । यथस्मिन्पदे विरलाङ्गुलिता—धारातनूकरणादिना कालविलम्बो व्यङ्ग्य एवाभिव्यवत् तु ‘चिरम्’ इति शब्दोपात्तस्तर्हि सचिरमभविष्यत् । यथा अप्यदीक्षितदत्तोदाहरणे—

‘यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः ।

तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम् ॥’

यत्तु विरलाङ्गुलिकरणेन, मुखावलोकनमिच्छन्त्याः प्रपापालिकायाः पथिकेनोपकारः कृतः, एवं धारातनूकरणेन मुखावलोकनकौतुकिनः पथिकस्य प्रपापालिकयोपकारः कृत इत्यन्योन्यालंकारः साधयितुं वाञ्छितसदेतत्र सुन्दरम् । द्वयोरेव व्यापारे अन्यकर्तृक-मुखावलोकनसाहाय्यसंपादनरूपोपकारस्थापनेन शङ्खारापरिपोषात् । सेच्छया मुखावलो-कनविलम्बनमेव चमत्कारि, न तु स्वमुखावलोकनार्थमन्यस्य व्यापारे साहाय्यमित्यादि रसगङ्गाधरतोऽवगन्तव्यम् । प्रतीयमानाऽन्योन्यालङ्कारे सेयसुदाहृता गाथा कण्ठाभरणे भोजेन । (३ परि. २०) ।

श्वश्रुप्रभृतिभिः सुभशमवेक्षितां कामपि नायिकामुपायान्तरेण प्राप्युमसमर्थः कोपि कामुको भिक्षाटनमिषेण तदीयगृहं प्रविष्टः । सा च तमवलोक्य स्वयमेव भिक्षां दातुं गता । तदनन्तरं ‘भिक्षादानाय गता वधूः किमिति चिरयति’ इति पृच्छन्तीं श्वश्रुं प्रति सपली भिक्षाचरभिक्षादानोरनुरागचेष्टिमेवं वक्ति—

भिञ्छाअरोँ पेच्छाइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दम् ।
तं चटुअं अ करङ्गं दोळ वि काआ विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥

[भिक्षाचरः भ्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।

तच्छुकं च करङ्गं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति ॥]

भिक्षाचरोऽनुपश्यति नाभितटं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।
तच्छुकं च करङ्गं द्वावपि काका विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥

अन्यजनवगमसाव्वसेन नीचीकृतनयनो भिक्षादातुर्नाभिमण्डलं शिथिलितवसनसन्धि-
दश्यमानमनुपश्यति भ्रेक्षते । तथा च नायकदर्शनेन वसनश्लीभावसूचितो भावोदयो
व्यज्यते । तस्या: चटुकं भिक्षादानपात्रं दबामिति यावत् । करङ्गं भिक्षाप्रहणपात्रं च ।
करङ्गपदं वंशादिनिर्मितपात्रविशेषे प्रयुज्यते, यथा ‘ताम्बूलकरङ्गवाहिनी’ इति बाणः ।
द्वावपि चटुककरङ्गौ काका विलुम्पन्ति तद्वत्मनं स्वादन्तीति भावः । परस्परदर्शनेन द्वयो-
रपि स्तम्भाख्यासात्तिवक्षोदयात् काकानां निर्भयत्वमिति भावः ।

युनः पुनः कृतापराधं शिथमनुनेतुं विग्रतिपद्यमानां कलहान्तरितां सखी समवबोधयति—

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।

पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥ ६३ ॥

[येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।

प्रासेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽप्तिः ॥]

यं जीव्यते विना नोऽनुनीयते स हि कृतापराधोपि ।

प्रासेपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभो वहिः ॥ ६३ ॥

नगरदाहेन कृतापराधोपि वहिः कस्य न शिथः, अपि तु सर्वस्यत्यर्थः । पाकार्यं तस्य
सर्वैरेवोपादानात् । तथा च क्रोधोपशमे सति दयितं विना त्वज्जीवितं संशयापात्रं स्यादिति
नायकानुरागोऽभिव्यज्यते ।

शुद्धन्तं विदधनायकं प्रत्यात्मनो वैदधं सूचयितुं कान्चिद् ग्रामनिन्दाच्छलेनाह—

वकं को पुलझउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुखं वा ।

केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे ॥ ६४ ॥

[वकं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुखं वा दुःखं वा ।

केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे ॥]

कस्य मुखमीक्ष्यतां वा कस्य सुखं कथ्यतां च दुःखं च ।

केन समं वा पामरचबुले परिहस्यतां हतग्रामे ॥ ६४ ॥

पामरभूयिष्ठेऽभिसन्नामहतके केन सह वा हासपरिहासौ स्यातामित्यर्थः । इज्जितज्ञाभा-
वेन मुखदर्शनादौ कटाक्षादेर्निष्फलत्वादिति भावः । एवं च विदधस्त्वं यदि वैदध्यमङ्ग-
नासु मृगयसे तहिं तदिहावलोकयेत्यात्मभिमुखीकरणमभिव्यज्यते ।

भाविनीं मनोरथसिद्धिमनुचिन्त्यापि पराभिसारसंलभमानसाः सरोजदशः प्रसीदन्तीति
साधयितुं कृषकवच्चा रहस्यवेदी कथनं नागरिकः सहचरमाह—

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए ।

असईअ मणोरहगविभणीअ हत्था थरहरन्ति ॥ ६५ ॥

[कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुर्वत्याः ।

असत्या भनोरथगर्भिण्या हस्तौ थरथरायेते ॥]

कार्पासवप्रकर्षणदिनमङ्गलमधिहलं प्रकुर्वन्त्याः ।

हृदि धृतमनोरथायाः करावसत्या हि थरथरायेते ॥ ६५ ॥

फलहीवाहणं कार्पासक्षेत्रकर्षणम् । कार्पासक्षेत्रकर्षणस्य शुभदिने यन्मङ्गलम् आलेप-
नादिदानं तत् अधिहलं हलोपरि प्रकुर्वत्याः, हृदि धृतमनोरथायाः ‘कार्पासगुल्मेष्टपञ्चेषु
मयाऽस्मिन् क्षेत्रे रन्तव्यम्’ इति मनोरथं धारयन्त्याः असत्याः (कुलटायाः) कृषकवच्चा:
हस्तौ थरथरायेते कर्म्म प्राप्नुतः । ‘पुण्णपुंसकर्योविंश्रोः केदारः क्षेत्रमत्तियाम् ।’ इत्यमरः ।
सुरतसुखविनितया स्मरोदयात्कम्पोदय इति भावः ।

मायाविनो युक्त्या निजकार्यं साधयन्तीति सखीं शिक्षयन्ती सखी धूतविचेष्टिमाह—

पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ बहलतिमिरस्स ।

आइपणेण गिहुओं वडस्स सित्ताहैं पत्ताहैं ॥ ६६ ॥

[पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीमिर्बहलतिमिरस्य ।

आलेपनेन निमृतं वटस्य सिक्कानि पत्राणि ॥]

बहलतिमिरस्य पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीमिः ।

आलेपनेन निमृतं वटस्य सिक्कानि पत्राणि ॥ ६६ ॥

घनपङ्गवत्या बहलतिमिरस्य अन्धकारबहलस्य अत एव संकेतस्थानभूतस्य वटस्य
पत्राणि । भोजनकार्याद्युपयोगार्थम्, अन्धकारतिरासार्थं वा पथिकाश्छेत्यन्तीति शङ्क्या
आकुलाभिः कुलटाभिः, आलेपनेन पिष्ठतपङ्गलद्रवेण (‘ऐपन’ इति व्रजभाषया) निमृतं
सिक्कानि । अन्धकारप्रायेऽस्मिन् काकविष्णशङ्क्या पान्थाः पत्राणि न स्पृश्यन्तीति भावः ।

संकेतस्थानभूतस्य करञ्जस्य शाखा दन्तधावनार्थं भजन्तं धार्मिकं सोपालम्भमाह—

भञ्जन्तस्स वि तुह सगगामिणो णइकरञ्जसाहाओ ।

पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहैं धरणिं विह छिवन्ति ॥ ६७ ॥

[भञ्जतोऽपि तव स्वर्गगामिणो नदीकरञ्जशाखाः ।

पादावद्यापि धार्मिक तव कथं धरणीमेव स्थृशतः ॥]

स्वर्गामिणो नदीतटकरञ्जशाखा विभञ्जतोपि तव ।

स्पृशतोद्यापि च पादौ तव धार्मिक धरणीमेव कथम् ॥ ६७ ॥

अग्रपादिक्याऽवस्थितो दूरस्थितशाखाभज्जुं कुर्वन् नूनं क्रान्त्वैव स्वर्गं जिगमिषुरिव त्वं
कथमयापि स्वर्गं न गतोसीति भावः । एवंविधस्य ते स्वर्गप्रयाणमेव साधीय इति शब्द-
शक्त्युत्थापित आक्रोशोपि रसज्जेभ्यो अन्यत इत्यतिरोहितम् ।

शृण्वन्तीं काञ्चिदन्यां नायिकां प्ररोचयितुमात्मनः सुद्वानुरागितां कामुकतां च
प्रथयचागरिकः सहचरमाह—

अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसर्णं अइमहग्घम् ।
तग्गामछेत्तसीमा वि ज्ञत्ति दिङ्गा सुहावेइ ॥ ६८ ॥

[अस्तु तावन्मनोहरं प्रियाया सुखदर्शनमतिमहार्घम् ।
तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि ज्ञटिति दृष्टा सुखयति ॥]

प्रेयस्या सुखदर्शनमतिसुमहार्घं मनोहरं चास्तु ।
दृष्टा ज्ञटिति सुखयते तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि ॥ ६९ ॥

असहजलभ्यतया अतिसुमहार्घम्, यद्धि चेतःसमर्पणेन लभ्यते, अत एव मनोहरं
च प्रियाया दर्शनमस्तु तावत् । ततु द्वे इति भावः । सा यत्र ग्रामे वसति तस्य ग्रामस्य
यत्क्षेत्रं तस्य सीमापि दृष्टा सती ज्ञटिति सुखयतीत्यर्थः । तथा चैवंविधसुद्वदप्रेमाणं मां
चेत्कामयसे तर्हि कथं न अन्यासीति नायिकां प्रलभिव्यज्यते ।

प्रतिवेशिनो हलिकस्य मृतायामपि जायायां प्रेमातिशयं प्रशंसन्ती काचिन्मन्दज्जेहं
नायकमभिसुखीकर्तुं सोत्प्रासमाह—

णिकम्माहिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वच्चए वसद्य ।
मुअपिअजाआसुणइअगेहदुःखं परिहरन्तो ॥ ६९ ॥

[लिङ्कर्मणोऽपि क्षेत्रात्पामरो नैव ब्रजति वसतिम् ।
मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन् ॥]

निष्कर्मणोपि शून्यात्क्षेत्राद्वसर्ति न पामरो ब्रजति ।
मृतददितिताशून्यीकृतगृहदुःखं परिहरन् हन्त ॥ ६९ ॥

मृता या दप्तिता प्रियजाया तया शून्यीकृतं यद् गृहं तत्र यत्प्रियप्रणयस्मरणं दुःखं
तत्परिहरन् पामरो हलिकः । ‘पामर’पदेन पांसुलपादेपि प्रियाप्रेमानुवृत्तिमेवं निर्वहति
त्वं तु चतुरभिमानीत्याक्षेपः सूच्यते । निष्कर्मणः कार्यरहितात् अत एव जनशून्यात्क्षेत्राद्
वसति निजावासं गृहमिति यावत्, हन्त न ब्रजति । ‘वसति’पदेन गृहमेव किं जनावास-
मेव स न वाच्छति, यतस्तत्र स्त्रीणामवलोकनेन जायायाः सरणं तस्य भवतीत्यर्थः
सूच्यते । तथा च ‘हलिकोपि प्रेमानुवृत्तिं निर्वहन् मृतमार्याप्रणयानुरोधेन गृहवासादर-
प्यनिवासमेव बहु मन्यते, त्वं तु विदर्घाभिमानी जीवितायामपि त्वच्छन्दानुवर्तिन्यां
मयि मन्दज्जेहं इत्युपालम्भोऽभिव्यज्यते ।

प्रोषितपतिकायाः सखी सत्कान्तसभीपगामिनं पथिकमेवं संदिशति—

झञ्ज्ञावाऽउचिष्णिअघरविवरपलोङ्गुसलिलधाराहिं ।

कुहुलिहिओहिदिअहं रक्खइ अज्ञा करअलेहिं ॥ ७० ॥

[झञ्ज्ञावातोचृणीकृतगृहविवरप्रपत्तसलिलधारामिः ।

कुड्बलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलैः ॥]

झञ्ज्ञानिलोचृणीकृतगृहविवरप्रपत्तदस्तुधाराभ्यः ।

कुड्बलिखितावधिदिवनं रक्षत्यार्या करतलाभ्याम् ॥ ७० ॥

आर्या साध्वी एषा झञ्ज्ञावातेन उत्तृणीकृतम् (उड्डायितान्याच्छादनतृणानि वस्य)

यद् गृहं तस्य विवरात् प्रपतन्यो याः सलिलधारास्ताभ्यः । कुड्बे लिखिर्त यत्प्रवासस्या-
वधिदिवनं तत्करतलाभ्यां रक्षति, करतलाभ्यामाच्छाद्य तं लेखं रक्षतीत्यर्थः । जलधारातो
निजरक्षणपेक्षयापि प्रियलिखितावधिदिवनरक्षणं बहुमतमिति प्रेमोत्कर्षो ध्वन्यते । ‘आर्या’
पदेन तच्चामाङ्गितं छन्दोपि सूचितमिति मुद्रालंकारोपि करतलोपनतः । तथा च ‘भवलि-
खितमवधिदिवसं प्रतीक्षमाणैव एषा दीना कथंचित्कालं यापयति, तदिनातिकमे तु सुहु-
ष्करं तस्या जीवनमिति’ प्रियं प्रत्यभिव्यज्यते । अत्र ‘अस्तुधारामिः’ इति तृतीया, कर-
तलैरिति बहुवचनं च छायायामुपलभ्यमानं प्रमाद एव ।

‘संकेतस्थाने नायकस्त्वप्रतीक्षया कामपीडामनुभवचुत्ताभ्यति’ इति नायिकाम्
अन्यात् प्रति च तत्र गमने भर्यं सूचयन्ती दूरी तावदन्यापदेशेनाह—

गोलाणइए कच्छे चकखन्तो राहआइ पत्ताइं ।

उप्पडइ मङ्कडो खोकखइए पोडुं आ पिट्टैह ॥ ७१ ॥

[गोदावरीनद्याः कच्छे चर्वयन्नरजिकायाः पद्माणि ।

उत्पतते मर्कटः खोकखशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥]

पद्माणि राजिकायाश्वर्वन् गोदानदीतीरे ।

कपिस्तप्तपति च कुरुते खोकखरवं चोदरं च ताडयति ॥ ७१ ॥

राजिकायाः ‘राई’ इति ख्यातायाः । तत्पद्माणां तीव्रतया वदनदाहमनुभवन्वेदनया
उत्पतति, तत्प्रतिचिकीर्षनिव ‘खोकखो’ इति शब्दं करोति, अवशाश्रामवनुभवदरं ताडय-
तीति कपिस्तप्तावोक्तिः । एतेन च ‘भवत्प्रतीक्षया इतस्तः पर्यटन् सुहुमुहुरुद्ग्रीविक्या
त्वां विलोक्य श्वप्लस्यमावेषौ विलम्बेन वेदनातिशयमनुभवति’ इति कुलदाँ प्रति, ‘क्रो-
धान्दो मर्कटस्तिष्ठतीत्यनुपर्सर्पणीयं गोदावरीतटम्’ इति चान्यान्प्रत्यभिव्यज्यते ।

सुभगाया: पूर्वपद्मया अलंकारेण तदसमानामन्यां मण्डयितुमिच्छोर्नयकस्यावधीरणार्थं
पूर्वपद्मया: सखी स्वभर्तु: प्रणयौचित्यमेवं वर्णयति—

गहवइणा मुअसैरिहुण्डुअदामं चिरं वहेऊण ।

वग्गसआइ घोउण णवरिथ अञ्जाघरे बद्धम् ॥ ७२ ॥

[गृहपतिना मृतसैरभृहद्घण्टादाम चिरमूढ़ा ।
वर्गशतानि नीत्वाऽन्तरमार्यागृहे बद्धम् ॥]

गृहपतिना मृतसैरभृहद्घण्टास्तजं सुचिरमूढ़ा ।
वर्गशतान्यपि नीत्वाऽन्तरमार्यागृहे बद्धा ॥ ७२ ॥

गृहपतिना मृतमहिषस्य बृहद्घण्टायुक्तां ज्ञजं (दाम) तत्सद्शस्य इतरमहिषस्य प्रतीक्षया सुचिरमूढ़ा, पुनस्तादशमहिषप्राप्तिकामनया महिषाणां वर्गशतान्यपि नीत्वा (कीत्वा) तत्सद्शाऽपरमहिषाप्राप्त्या सा स्त्रक् पर्यन्ते आर्यागृहे चण्डिकायतने बद्धा, न त्वयोग्यस्य अन्यमहिषस्य कण्ठे इत्यर्थः । मम स्वामिना मृतस्य पशोरपि स्नेहमनुस्नन्वानेन एवं कृतम्, त्वं तु जीवन्त्यामेव प्रियदियताणां तन्मण्डनेन तदनुरूपामन्यामलंकरुमि-च्छसील्यहो ते प्रणयवैमुख्यमिति नाथकं प्रलभिव्यज्यते । ‘गृहपति’पदेन गृहाधिष्ठातृत्वेन स्तत्त्वोपि स नैवं कृतवानिति सूच्यते । ‘सुचिरमूढ़ा’ इत्यनेन योग्यप्राप्तये तेन बहुतरं प्रतीक्षा कृता, त्वं तु तेष्ठामेव तस्यां न तामाद्रियसे इत्युपालम्भो ध्वन्यते । ‘हुण्डुभ’शब्दो बृहद्घण्टायां वर्तते ।

सप्तलीनां विभवातिशयमालोक्यपामानेन म्लायन्तीं सुभगामभिनववधूं ‘विभवादपि प्रियप्रणयो गरीयान्’ इति सप्तान्त्वनं बोधयन्तीं तत्सखी निर्दर्शयति—

सिहिपेहुणावअंसा बहुआ वाहस्स गद्विरी भमह् ।
गअमोक्तिअरइअपसाहणाणं मज्जे सवत्तीणम् ॥ ७३ ॥

[शिखिपिच्छावतंसा वथूर्याघस्य गर्विता अमति ।
गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सप्तलीनाम् ॥]

शिखिपिच्छकावतंसा व्याधचधूर्गर्विता अमति ।
गजमौक्तिकपरिरचितप्रसाधनानां पुरः सप्तलीनाम् ॥ ७३ ॥

गजमौक्तिकैः परिरचितं सम्यक्तया कठितं प्रसाधनं याभिस्तादशीनाम् । ‘परि’ण स्सासोन्दर्यसमुज्जम्भार्थं प्रसाधने यत्कातिशयः स्फोट्यते । एवंविधानां सप्तलीनां पुरः शिखिपिच्छकमवतंसो यस्याः । ‘पिच्छक’ इति लाघवयोतकेन केन तदवतंसनेष्ययतः प्रतीयते । तथा च ‘येन महाबलिनः कुञ्चरान् हत्या तत्कुम्भमुक्तापलैर्भवत्यः प्रसाधिताः, स एव व्याधकुलपतिर्मत्संभोगात्यन्तप्रसंगेन संप्रति तथा क्षीणो यथा मयूरमात्रमारणे प्रभुः संवृत्तः’ इति श्रियतमसौभाग्येन गर्विता तदभिश्रायप्रकटनाथ तासां पुरो अमतीति भावः । ‘वनवासिन्योपि सम्पदपेक्षया सौभाग्यमेव बहु मन्यन्ते, त्वं तु विदर्घापि किमिति नैतत्परीक्षसे’ इति नायिकां प्रति ध्वन्यते । ‘याति’ इत्याद्यनुक्त्वा ‘अमति’पदेन ‘कस्याश्वनं सप्तल्या दृष्ट्या पिच्छभूषणं पतेन्न वा’ इति समन्ततः खप्रसाधनप्रदर्शनचेष्टा सूच्यते । तत्तत्र अमण्डलपेणानुभावेन गर्वाख्यसंचारिणः परिपोषो ध्वन्यते ।

भुजङ्गप्रोत्साहनार्थं कुट्टनी वेशवामानां वकिमाणमेवमाह—

वङ्कच्छिपेच्छिरीणं वङ्कुलविरीणं वङ्कभमिरीणम् ।

वङ्कहसिरीणं पुत्राऽपुण्णोहिं जणो पियो होइ ॥ ७४ ॥

[वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोलुपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम् ।

वक्रहसिरीणां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥]

वक्राक्षिवीक्षितानां वक्रगतीनां च वक्रलयितानाम् ।

वक्रपरिहासिनीनां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥ ७४ ॥

वक्रता स्वाभाव्यान्मूर्तद्व्यधर्मोपि लक्षणया वीक्षणादिविशेषे संक्राम्यति । तथा च क्रमेण अक्षिवीक्षित—गत्यादीनां कटाक्षनिरीक्षणम्, विभ्रमभद्वुरा गतिः, सव्यङ्गवचनप्रयोगः, साकृतं हसितं चार्थः । जनः एवंविधानां वेशवधूनां प्रियः पुण्यर्भवति । पुत्रकेत्यनेन विश्रम्भात्वयि सत्यमाल्यायत इति सूचितम् । तथा च ‘त्वं धन्योसि, येनैवंविधक्षी-लापि महुहिता त्वयि नितान्तमनुरक्षा’ इति भुजङ्गं प्रत्यमित्यज्यते । ‘त्वमपि दानबहु-मानादिभिरेनां निरन्तरं संतोषये’ इति कुट्टन्यात्मं प्रति चरमं व्यङ्गयम् ।

गोदावरीतीरस्थितलताभवने कृतसंकेता काचित्—एकान्तस्थानमिति ध्यानाद्यवस्थिता तत्र विन्नकारिणं धार्मिकं भीषयितुमाह—

भ्रम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ञ मारिओ तेण ।

गोलाअडविअडकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ७५ ॥

[भ्रम धार्मिक विश्रव्यः स शुनकोऽय मारितस्तेन ।

गोदातटविकटकुञ्जवासिना दससिंहेन ॥]

अभ्रम धार्मिक विश्रव्यः शुनकोद्य स मारितस्तेन ।

गोदातटविकटोऽटटिनकुञ्जवासेन दससिंहेन ॥ ७५ ॥

धार्मिकेति साक्षेपसंबोधनम्, परस्य कार्यविधातकस्त्वमवश्यं धार्मिकोऽद्यति । त्वं विश्रव्यः सन् भ्रम, नगररथास्तिति भावः । स शुनकः श्वा । स इत्यनेन यद्वयात्वया ग्रामे भ्रमणं ल्यक्तमासीदिति सूच्यते । गोदातटस्य विकटश्च उद्धटश्च यो निकुञ्जः स वासस्थानं यस्य तेन । उच्चावचभूमितयाऽपरिज्ञेयविन्यास इत्युद्धट उक्तः । अत एव च सिंहाधिष्ठिततया विकटः सः । दससिंहेन अद्य मारितः । नगरमागत्य हननार्त्सिहस्य दसता ज्ञायते । अद्येत्यनेन मया न श्रुतमिति विश्वासे न स्थातव्यम्, यतोदयतनी घटनेति पूर्वं श्रवणासंभवादिति निश्चयः सूच्यते । ‘लब्धभोजनो नाऽय मनुष्यमाकसिष्यति’ इत्यपि न विश्वसनीयम्, यतः स न केवलं भोजनापेक्ष एवाक्रामति, अपि तु स बलगर्विष्ट इति दसपदेनामित्यज्यते । तथा च गोदावरीतीरे सिंहसद्धावेन तत्र गमननिषेधः, रथायु च श्वनिवृत्या भ्रमणमसिष्यत्यज्यते । यत्तु शुष्कतार्किकेण महिमभेदेन ‘यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्वयकरणनिवृत्युपलब्धिवर्वकम्’ इति व्याप्त्या गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धिरूपभयक-

रणसत्त्वात् 'गोदावरीतीरं भीसभ्रमणायोरयं सिंहवत्त्वात्' इत्यनुमानेनैव गोदातटे निषेधो ज्ञायते न व्यञ्जनयेति साधितम् । ततु च्छनिष्ठापकैः श्रीमम्मटभौः 'भीरुपि गुरोः अभोर्वा आज्ञाया निलिलाभाद्याशया च भयकारणसत्त्वेषि परिभ्रमतीति व्यतिरेकव्याप्तिरेव न सिध्यति । किं च सिंहवत्त्वमिति हेतुर्विरुद्धोपि । यतो हि वास्तवे वीरः स्पर्शदोषात् शुनो विभ्रदपि सिंहवात् विभेतीति सिंहवत्त्वं हेतुरभ्रमणमनुमापयितुमप्रभुः, इत्यादिसमुचिताभिरुपतिभिः सुदूरं तिरस्कृतमिलादि काव्यप्रकाशादभ्योडवगन्तव्यम् ।

कथाचन नायिकया सह दाक्षिण्येन निजाभिलाषं पूरयन्तं कमपि युवानं परिहास-कुशलः कथिदाह—

वाएरिएण भरिअं अच्छि कणऊरउपलरएण ।

फुकन्तो अविइङ्कं चुम्बन्तो को सि देवानाम् ॥ ७६ ॥

[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा ।

फूल्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोऽसि देवानाम् ॥]

कर्णावतंससरसिजरजसा वातेरितेन भृतमक्षि ।

फूल्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्नयि कोऽसि देवानाम् ॥ ७६ ॥

पवनाक्षिसेतेन कर्णावतंसीकृतस्य उत्पलस्य रजसा भृतं नायिकाया नयनं तद्जोपनयनार्थं फूल्कुर्वन् । नेत्रपीडने सति मुखोष्मणा तत्सुखयन्तीति प्रसिद्धिः । फूल्करमिषेण च अपूरिताभिलाषं चुम्बन् अयि । त्वं देवानां मध्ये कतमोऽसि । नायिकावलोकनकौतुकेन अनिमिषयनयनत्वात्वं देवानां मध्ये कोऽप्यपीति भावः । देवानां कोसीत्यनेन प्रसिद्धदेवा अप्येवंविधपुण्यफलभाजो न सन्ति किं पुनर्मनुष्या इति नायिकायाः सौन्दर्यातिशयः समभिव्यज्यते ।

दयितविरहेण भृतं पीडिता ओषितभर्तृका दयितसमागमाय त्वरयन्ती सखीमाह—

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।

णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥

[सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि ।

नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः कामः ॥]

नान्यकुसुमानि सखि मां व्यथयन्ति तथा यथा कदम्बानि ।

वहति हि कामो नूनं गुटिकाधनुरेषु दिवसेषु ॥ ७७ ॥

एषु प्रावृद्दिवसेषु । गुटिकाक्षेपकं धनुर्गुटिकाधनुः ('गुलेल' इति भाषायाम्) । गुटिकाकारेण कदम्बकुसुमेन कलितात्मः कुसुमशरो मां व्यथयतीति भावः । तथा च वसन्ते यथाकर्थचिद् गसितेषि संप्रति वर्षाकालं यापयितुं नाहं प्रभवामीति विरहे वसन्तापेक्षयापि वर्षाकालायं दुःसहता च्छन्यते ।

कापिचिहृती विरहोत्कणिठतायाः सुविषमया विरहवेदनया मरणभयं प्रदर्श्य तदुपगमार्थं त्वरयन्ती तत्कान्तमहि—

णाहं दूर्दृष्टं तुमं पिओ चिं को अह्वा एत्थ वावारो ।

सा मरह तुज्ज्ञ अअसो तेण अ धम्मकखरं भणिमो ॥ ७८ ॥

[नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽसाकमन्त्र व्यापारः ।

सा ग्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥]

नाहं दूती न त्वं प्रिय इति किं वाच्र कार्यमसाकम् ।

सा ग्रियते ह्ययशस्तवं तेन च धर्माक्षरं भणामोऽङ्ग ॥ ७८ ॥

त्वदहाने प्रयत्नाभावाज्ञाहं दूती । तस्यामेवंनिरुक्तोशाच्च त्वं प्रियः । यदि त्वं प्रियोऽभविष्यत्सहिं विरहेण पीड्यमानामिमां नैवमुपैक्षिष्यथा इति भावः । अत एवाचासाकं को वा व्यापारः । तन्मरणं तव चापयशः प्रसमीक्ष्य । अज्ञेति संबोधने, हे विवेचकेति भावः । धर्माक्षरं धर्मां वार्ता वयं ब्रूमः । यद्यपि तस्यां तव नानुरागस्तथापि स्त्रीवद्यपातकभयेनैव साऽनुकूल्यनीयेति भावः । प्रियानयनार्थमागतया दूस्या निजदूतीत्वं प्रिये प्रियत्वं च निषिद्ध्यन्त्या निषेधाभासभूतेनानेनाक्षेपालङ्घारेण “त्वदुपेक्षया ग्रियमाणा सा यावज्ञापैति पञ्चतं तावदेव सा सत्वरमुपगन्तव्या” इति दग्धितं प्रत्यभिष्यज्यते । ‘निषेधाभासासमाक्षेपं ब्रूधाः केचन मन्त्रोऽह्यप्यवदीक्षितः । गङ्गाधरदीकावतरणे तु ‘विरहोत्कण्ठितायाः सर्वो तत्कान्तमाह’ इति सख्युक्तिः स्वीकृता । तारतम्यं सहृदयैरवगन्तव्यम् ।

चरणयोः प्रणिपातेनानुनयन्तं कान्तमन्यज्ञीसङ्गच्छिहं नैवपूष्येन प्रदर्शयन्ती खण्डिता सोपालम्भमसाह—

तीअ मुहाहिं तुह मुहँ तुज्ज्ञ मुहाओ अँ मज्ज्ञ चलणमिम ।

हृथ्याहस्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥ ७९ ॥

[तस्या मुखाच्चत्वं मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।

हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥]

तस्या मुखाच्चत्वं मुखं मुखाच्च तव मम ततश्चरणे ।

हस्ताहस्तिकया॒गादतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥ ७९ ॥

रात्रौ रमितायास्तस्या युवत्या मुखात् ललाटिकाख्योपगूहनविशेषसमये तव मुखम्, ततस्तव मुखाच्च ग्रणिपातसमये मम चरणे, एवमेकस्यात्थानादन्यत्र संक्रामकत्वादतिदुष्करकारकस्तिलकः । हस्ताहस्तिकया हस्तपरम्परया अगात् गतः । उपालम्भविधया तिलकं निन्दन्त्या खण्डितया॒न्यरतिलम्पटस्य नायकस्य निन्दा सूचिता । तथा च ‘निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्याजनिन्देति गीयते’ इति लक्षितो व्याजनिन्दालंकारः । अनेन च ‘युवत्यन्तरसङ्गच्छिहं प्रलक्षं ललाटे वहचपि मुवैवानुनयेन व्यामोहयसि’ इत्युपालम्भः प्रिये प्रलभिष्यज्यते । ललाटिकालक्षणं तु—‘मुखे मुखमासज्याक्षिणी अळोर्ललाटेन ललाटमाहन्यात्सा ललाटिका’ इति वात्यायनः ।

कस्याश्वन हलिकपुत्रेऽनुरागं सूचयनागरिकः सहचरमह—

सामाइ सामलिज्जइ अद्भुच्छिपलोहीअ मुहसोहा ।

जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ॥ ८० ॥

[इयामाया: इयामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा ।
जम्बूदलकृतकर्णवतंसभ्रमणशीले हलिकपुत्रे ॥]

इयामाया मुखशोभा इयामति नयनार्द्धसमवलोकिन्याः ।

जम्बूदलकृतकर्णवतंसे हलिकात्मजे भ्रमति ॥ ८० ॥

अहं संकेतस्थले स्थित्वाऽऽगत इति सूचकेन जम्बूकिसलयेन कृतः कर्णवतंसो येन एतादशो हलिकपुत्रे भ्रमति सति । हलिकेति प्राकृतानुरोधात् । जनेभ्योऽनुरागगोप-नार्थमर्द्धाक्षिविलोकनशीलायाः इयामलाया उत्तमस्त्रियाः षोडशवार्षिक्या वा मुखशोभा संकेतकालविलङ्घनवैलङ्घयेण विरहेदेन च इयामति अश्यामापि इयामायते । आचारार्थे किप् । जम्बूदलकृतकर्णपूरं हलिकसुतं वीक्ष्य ख्ययेव मलिना भवतीत्यर्थः । तथा च मुखमालिन्यरूपेणानुभावेन नायिकानिष्ठो विप्रलभ्मः पोष्यत इति ध्वनित्वं प्रस्फुटम् । विप्रलभ्मपोषकतयाऽधिकशोभाकारकं वाच्यं मुखमालिन्यं प्रति संकेतभज्जरुपस्य व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतया तु भध्यमकाव्यत्वम् । एतद्वाथानुहारि स्फटालङ्कारे उदाहृतं पद्यम्—‘आमतस्णं तस्थ्या नव० ।’

अनुनयोऽप्रहणवैलक्षण्ये कोपकछुं नायकमनुनेतुं कलहान्तरिता दूतीमाह—

द्वृं तुमं विअ कुशला कक्षण्डमउआइं जाणसे बोल्लुम् ।

कण्डूहअपण्डुरं जहण होइ तह तं करेजामु ॥ ८१ ॥

[दूति त्वसेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि बल्लुम् ।

कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि ॥]

दुति त्वसेव कुशला वकुं जानासि कर्कशमृदुनि ।

तं किल तथा करिष्यसि कण्डूयितपाण्डुरं यथा न स्यात् ॥ ८१ ॥

कण्डूयनेन कण्डूयथा शाम्यति पाण्डुरतया चर्मवैहृष्यं च न भवति तथा किल तं नायकं करिष्यसि । कदुतर्जनैर्यथा नोद्विजते मृदुभाषितैर्यथा मां भजते त्वमपि तथा वक्ष्यसीत्याकृतम् ।

बहुवल्लभं नायकं प्रति चतुरा दूती कस्याश्विदनुरागमेवं सूचयति—

महिलासहस्रभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।

दिअहं अणणकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ ८२ ॥

[महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमाअन्ती ।

दिवसमनन्यकम्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ॥]

महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा किलाऽमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा हाङ्गं तन्वपि तनुकुरुते ॥ ८२ ॥

महिलासहस्रेण भरिते व्यासे तव हृदये अमान्ती अवकाशमलभमाना सा मत्सखी ।
महिलासहस्रेणनेन 'त्वमेव तास्तुरज्यसि न ता धूर्ता:' इति सूच्यते । अनुदिनं
समग्रमपि दिवसं व्याप्य अनन्यकर्मा ल्यक्तान्यकार्या सती । ततु स्वतः कृशमपि
अङ्गं तनुकुरुते हृदयेऽवकाशलाभार्थं कृशमपि कृशतरं करोतीत्यर्थः । अनन्यकर्मेण्यनेन
त्वत्समागमोपायचिन्तां विहाय नान्यत्किमपि कार्यमिति गृहकार्यविरत्या अनुरागाति-
शयो द्योत्यते । महिलासहस्रभरितमत एव अमान्ती, एवं तव हृदये अमान्ती अत एव
अङ्गं तनुकरोतीत्युभयत्र काव्यलिङ्गाभ्यां 'कृशस्य कृशतरस-
करणेषि तव हृदये सा स्थानं नासादयति' इति विशेषोक्तिर्व्यज्यते । ततथात्र अर्थश-
क्तिसमुत्थेनालंकारेणालंकारधनिः ।

कथितकसांचिजानुरागं सहचरं प्रत्येवमाह—

खण्मेत्तं पि ण फिद्वृ अणुदिअहविइणगरुअसंतावा ।

पच्छण्णपावसङ्के व्व सामली मज्जा हिअआओ ॥ ८३ ॥

[क्षणमात्रमपि नापयात्यनुदिवसवितीर्णगुरुकसंतापा ।

प्रच्छञ्चपापशङ्केव श्यामला मम हृदयात् ॥]

क्षणमपि नापसरति पुनरनुदिवसवितीर्णगुरुकसंतापा ।

श्यामा मम हृदयादयि नूनं प्रच्छञ्चपापशङ्केव ॥ ८३ ॥

प्रतिदिनं वितीर्णे गुरुकः संतापो विरहजनिता पीडा ययेति श्यामापक्षे । पापशङ्का-
पक्षे संतापस्तपापानुस्तरणजन्यः । यथा प्रच्छञ्चपापस्य लोकेषु प्रकाशनशङ्का
मुद्दशमनुतापयन्त्यपि न क्षणमात्रमप्यपयाति, तथा श्यामा सा उत्तमत्वी मम
हृदयान्नापैतीत्यर्थः । प्रच्छञ्चपापशङ्केणनेन पापशङ्का विश्वस्तायापि यथा न प्रकाशयते
तथा दृढप्रणया कुलरमणी सापि न कस्मैचिदपि प्रकाशनीया, तथापि तुभ्यं मया
साऽऽवेदितेति सुहृदं प्रति विश्वासातिशयः सूचितः ।

कृतापराधतायामपि परिम्भणादिद्वाराऽनुयन्तं कान्तं प्रणयरोषकल्पा काचि-
त्प्रगल्भा बक्षया सरण्या समभिघत्ते—

अज्जय णाहं कुविआ अवऊहसु किं मुहा पसाएसि ।

तुह मणुसमुप्पाअएण मज्जा माणेण वि ण कजम् ॥ ८४ ॥

[अज्ज नाहं कुपिता उपगूह किं मुधा प्रसादवसि ।

तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् ॥]

क्रज्जुकाऽहं नहि कुपितास्म्युपगूह तु किं मुधा प्रसादयसि ।

मानेनापि न कार्यं तव मन्युविधायकेन मम ॥ ८४ ॥

हे कुञ्ज ! कृतापराधोपि सारल्येन प्रसन्नामिव मां मन्वानः परिरम्भणकपटेन मां प्रसादयितुमिच्छसीत्यहो ते सारल्यमिति विपरीतलक्षणया सूचितम् । अहं कुपिता नास्मि, त्वं निरपराध इति नाहं कुपिता । उपगृहं परिरम्भस्त । प्रसादनकपटेन सुधा किम् ? तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् । त्वं यथेच्छमन्यमहिलासु रमसे, मम हु तव वेदनादायकतया मानं कर्तुमपि नाथिकार इति सर्वं वकया सरण्या समुदीर्घते । मानापनोदनमन्तैरवालिङ्गनमहीकुर्वेन् कपटेन मां प्रतारयितुमिच्छसि । अहं चैतदभिज्ञेति निपुणमभिव्यज्यते । गङ्गाधरभद्रस्तु 'सुशीला नायिका कृतापराधम-नुनयन्तं कान्तं सप्रणयरोषमाह' इत्यवतारयन् 'अनभिज्ञे स्वामिनि मानो निष्फलः' इति समर्थयते । तत्र सुशीलाया अपि स्वामिन्यनभिज्ञतासमर्थेन रोषोक्तो 'उपगृह' इति कथनं च कियत्स्वारस्यावहमिति विचारणीयमेव । अत एव 'व्यलीकविप्रिययोगा-दिभिरालिङ्गनादीनां निराकरणमयथावत्प्रदानत्वात्, विसंवादनमेवोच्यते' इति प्रसङ्गे उदाहृता सेयं सरस्वतीकण्ठाभरणे (५ परि.) ।

विरहिण्या: सखी संगमाय त्वरामुत्पादितुं तत्कान्तमाह—

**दीहुलपउरणीसासपआविओঁ বাহসলিলপরিসিত্তো ।
সাহেই সামসবলং ব তীঁঁ অহরো তুহ বিওঁ এ ॥ ৮৫ ॥**

[দীর্ঘোষ্ণপ্রচুরনি:শ্বাসপ্রতসো বাষ্পসলিলপরিসিক্ত: ।

সাধযতি শ্যামশবলমিব তস্যা অধরস্তব বিয়োগে ॥]

বাষ্পসলিলপরিষিক্তস্তসো দীর্ঘোষ্ণবহুলনি:শ্বাসৈ: ।

শ্যামশবলমিব তস্যা অধর: সাধযতি তব বিরহে ॥ ৮৫ ॥

দীর্ঘেরুণৈ: প্রচুরেশ্ব নি:শ্বাসৈস্ত্বাপিতঃ, পুনর্নয়নসলিলেন সম্যক্ স্নাতঃ অধরঃ । শ্যামশবলং ব্রতবিশেষ সাধযতীব । তত্র হি পূর্বমনী প্রবিশ্য জলে প্রবিশ্যতে । তথা চ 'তদ্বরব্রতস্য পারণ ত্বদ্বরসমাগমরূপং ত্বদ্বয়ত্তমেব' ইতি নাথক প্রত্য-ভিব্যজ্যতে ।

কৌপমনুমায নাথকসমাগমে সংকুচন্তি নাথিকাং 'গম্ভীরাশ্যানাং নান্তরে কোপঃ, কেবলসুপরিত এব তেষাং তথা প্রতীতি:' ইতি তদনুনযায প্রেরণন্তী দূরী । জনসমশ্র শরত্তরোবর্ণনব্যাজেনাহ—

সরএ মহদ্বদাণং অন্তে সিসিরাইঁ বাহিরুলাইঁ ।

জাআইঁ কুবিঅসজ্জণহিঅসরিচ্ছাইঁ সলিলাইঁ ॥ ৮৬ ॥

[শরদি মহাহদানামন্তঃ শিশিরাণি বহিরুষণানি ।

জাতানি কুপিতসজ্জনহৃদয়সদৃক্ষাণি সলিলানি ॥]

শরদি হি মহাহদানামন্তঃ শিশিরাণি বহিরথোষণানি ।

জাতানি কুপিতসজ্জনহৃদয়সদৃক্ষাণি সলিলানি ॥ ৮৬ ॥

नातिप्रखरतापायां शरदि गमीरावकाशतया अन्तःशीतलानि, अथ वहिः
(उपरितः) उष्णानि । कापि मध्याहाभिसारिका ‘संकेतितहदीरलतागृहमहं गता,
त्वं तु न गतः’ इति जारं प्रति प्रिपादयन्ती सर्वपि हृदयस्य स्थिरस्तेषां सज्जनहृदय-
प्रशंसाच्छ्लेनाह् । इति गङ्गाधरावतरणम् ।

प्रथमाभिसारे साध्वसमुत्पद्यत एवेति सान्त्वयन्ती दृढी कस्याथिन्मौरध्यवर्णनप्र-
स्तावे प्रथमाभिसारिकामाह—

आअस्स किं णु करिहिमि किं बोलिस्सं कहं णु होइहि[इमि]ति
पठमुग्गअसाहसआरिआइ हिअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥

[आगतस्य किं तु करिष्यामि किं वक्ष्यामि कथं तु भद्रिष्यति [इदम्] इति।
प्रथमोद्भूतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥]

किं वाऽगतस्य वक्ष्ये किं तु करिष्ये कथं तु भवितेदम् ।
प्रथमोद्भूतनवसाहसकारिण्यास्थरथरायते हृदयम् ॥ ८७ ॥

आगतस्य नायकस्य किं वक्ष्यामि किं तु करिष्यामि । इदमभिसरणसाहसं कथं तु
भविता, कथं सिद्धिमागन्ता तु ? साहससिद्धौ संशयेन मौरध्यमभिद्योलते । प्रथमो-
द्भूतमत एव नवं साहसं कर्तुमप्रेसर्याः हृदयं थरथरायते साहसोत्कण्ठाभ्यां कम्पत
इल्यर्थः । ‘थरथरायते’ इत्यनुकरणिष्यत्वा नामधारुः ।

अनुनयाऽग्निवैलक्ष्येण कलहान्तरिताया नायिकाया अहिलत्वदेषं साधयन्तं कान्तं
प्रति तत्परिहरन्ती दृढीं तस्या वैदरध्यमेवमाह—

णोउरकोडिविलग्नं चिउरं दृश्यस्स पाअपडिअस्स ।

हिअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती विविकहेइ ॥ ८८ ॥

[नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।

हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥]

नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।

हृदयं प्रोषितमानं कथयत्युन्मोचयन्त्येव ॥ ८८ ॥

मानगपनोद्गर्थं पादपतितस्य दयितस्य परमप्रेष्टस्य न तु स्वामिसामान्वयस्य, तवे-
त्यर्थः । नूपुरशिखरावसत्तं केशं ‘तदवकर्षणेन तव पीडा मा भूत’ इति नूपुरतोऽवमो-
चयन्त्येव सा हृदयं प्रोषितमानं (गतमानम्) कथयति । निरवधिप्रणया हि विदरध-
मानिन्यो मुखतो मुखरागतो वा न प्रसादमविष्कुर्वन्ति, किं तु चेष्टाविशेषणं तं
निभृतमभिव्यञ्जन्ति । तथा च तया तव पीडानुमानेन निजनूपुरविलग्नं त्वक्केशम-
वमोचयन्त्या चातुर्येण प्रसच्चमात्महृदयमाविष्कृतमेव । परं ततः पशवर्तमानेन न
त्वयाचुरुपमाचरितम् । अतः परमविदरधायासतस्या न ग्रहिलत्वदोषः, किन्तु तत्वैव
तावदवैदरध्यमिति चतुरं सूच्यते ।

कस्याश्चिदत्तुरागातिशयं प्रतिपाद्य तत्संगमाय नायकमुत्कण्ठयन्ती दूती आह—

तुज्जङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा ।
सा किर गोलाऊले हाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥

[तवाङ्गरागशेषेण इथामला तथा खरेण सुकुमारा ।

सा किल गोदाकूले स्वाता जम्बूकषायेण ॥]

इथामा सुकुमारा तव तथा खरेणाङ्गरागशेषेण ।

सा किल गोदाकूले स्वाता जम्बूकषायेण ॥ ८९ ॥

कृतगत्रोदर्तनस्य तवाङ्गरागशेषेण तीक्ष्णतया मलापनोदकेन जम्बूकषायेण, सुकुमारतया तथातीक्ष्णजम्बूकषायाथानर्हपि सा वरवर्णिनी स्नातेत्याशयः । किलेत्यर्थचौ । तथा च मलिनतीक्ष्णतादशकषायमनभिरोचयन्त्यपि त्वयेम्णा स्नातेति द्योत्यते । एवं च भवदङ्गसङ्गभिलाषेण तवाङ्गरागोच्छिष्टग्रहणं स्नानच्छङ्गाना कुर्वन्त्या तया स्पष्टं वय्यनुरागः प्रकाशितः, तथा चैतादशीं किमिति नोपसेवसे इति ध्वनिः ।

निजदयितया सकलग्रामजनगोष्ठीमण्डनतां सूचयन्ती प्रोषितभर्तुका सखीजनमाह—

अज्ञ व्येआ पउस्थो अज्ञ विआ सुणाआइँ जाआइँ ।

रथ्यामुहदेउलचत्तराइँ अहां च हिअआइँ ॥ ९० ॥

[अद्यैव प्रोषितोद्यैव शून्यकानि जातानि ।

रथ्यामुखसुरमन्दिरचत्वराण्यस्याकं च हृदयानि ॥]

प्रोषित एषोद्यैव च शून्यान्यद्यैव जातानि ।

रथ्यामुखसुरमन्दिरचत्वरकाणि च मनांसि चास्याकम् ॥ ९० ॥

अद्यैव गतः अद्यैव च रथ्यामुख-देवमन्दिर-प्राङ्गणानि अस्याकं मनांसि च शून्यानि जातानि । ‘अङ्गणं चत्वराजिरे’ इलमरः ।

गुणतोऽवरायाः कस्याथन गणिकाया भुजङ्गणेन क्रियमाणां प्रशंसामसहमाना गुणगर्विता गणिका काचिदाह—

चिरडि पि अआणन्तो लोआ लोएहिं गोरवब्भहिआ ।

सोणारतुले व्व पिरक्खरा वि खन्धेहिं उब्भन्ति ॥ ९१ ॥

[सिद्धिरस्तु इलाहि] वर्णवलीमध्यजानन्तो लोका लोकैर्गैरवाभ्यविकाः ।

सुवर्णकारतुला इव निरक्षरा अपि स्कन्धैरुहान्ते ॥]

वर्णान्यविदन्तो लोका लोकैर्हिं गौरवाभ्यविकाः ।

स्कन्धैर्निरक्षरा अपि सुवर्णकारकतुला इवोहान्ते ॥ ९१ ॥

जानै, ‘ॐ नमः सिद्धम् सिद्धिरस्तु’ इलारम्यां वर्णमालमध्यजानन्तो लोकाः गौरवाभ्यविकाः परमादरणीया इतिकृत्वा निरक्षरा अपि निर्विद्या अपि सुवर्णकारतुला

इव स्कन्धैरुद्यन्ते सादरं नीयन्ति इत्यर्थः । सुवर्णकारतुला अक्षतोऽधिकमतोल्यन्तः [निरक्षण रान्तीति निरक्षराः] अपि गौरवाभ्यस्मिकाः दत्ताधिकगौरवाः स्कन्धैर्नीयन्ते सावधानं नीयन्ते । बोडशमाषैकरक्ष इत्यमरः । वैद्यकमते तु तोलकद्वयस्मितः । एवं च ममाग्रतः प्रशस्यमानासौ वर्णपट्टिकामजानतीवेति सुभशमात्मनो गुणगवोऽभिव्यञ्जयते । अत्र तुलापक्षे अक्षरेखारहिता इति गङ्गाधरभट्टः । अङ्गरेखारहिता इति कुलबालदेवः । निरीति वर्णमालापर्यायो देवीशब्दः ।

कलहान्तरितायाः स्मरणेन समयविनोदमिच्छन् तत्कान्तः सहचरमाह—

आअम्बन्तकवोलं खलिअखरजम्पिरं फुरन्तोट्टिम् ।

मा छिवसु चि सरोसं समोसरन्ति पिअं भरिमो ॥ ९२ ॥

[आताग्रान्तःकपोलां स्खलिताक्षरजलपनशीलां स्फुरदोषीम् ।

मा स्पृशेति सरोषं समपसर्पन्तीं प्रियां स्त्रामः ॥]

अन्तस्ताप्त्रकपोलां स्फुरदोषीं स्खलितवर्णविन्यासाम् ।

मा मा स्पृशेति सकुधमपसर्पन्तीं प्रियां स्त्रामोऽङ्ग ॥ ९२ ॥

कोपवशतथा स्खलिताक्षरं जलपन्तीम् । अङ्गेति सुहसंबोधने ।

गोदावरीमुक्तरतोरनयोरस्ति परस्परं प्रतिरित्यात्मनोभिजतां सूचयनागरिकः सह-
चरमाह—

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्तो ।

अणुअम्पाणिद्वैसं तेण वि सा आदमुवङ्ढा ॥ ९३ ॥

[गोदावरीविषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः ।

अनुकम्पानिदोषं तेनापि सा गादमुपगृढा ॥]

आत्मा तदुरसि मुक्तो गोदाविषमावतारकैतवतः ।

अनुकम्पानिदोषं तेनापि च सा प्रगाढमुपगृढा ॥ ९३ ॥

गोदावर्या अवतरणस्थलमिदमुच्चावचमिति च्छलेन नायकोरसि, अनया स्वशरीरमव-
रोपितम् । ‘भीरु ! मा भूपतनभयम्’ इति सान्त्वनदयां प्रदर्शयतेव तेन । गाढालिङ्गे
भयनिवारणानुकम्पा सिष इति भावः । प्रतीयमानोयमन्योन्यालंकार इत्यत्र प्रत्यभियोगतः
प्रेमपरीक्षायां चोदाहता स० कण्ठाभरणे ।

नायिकानुरागप्रदर्शनेन मन्दानुरागं नायकमनुकूलयितुं दूती आह—

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ञ वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।

उच्चसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥

[सा त्वया स्वहस्तदत्तामध्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि ।

उद्द्वसितनगरगृहदेवतेव अवमालिकां वहति ॥]

भवता स्वहस्तादत्तां निर्गन्धामपि हि सुभग साऽद्यापि ।
अवमालिकां विसर्जितनगरीगृहदेवतेव बत वहति ॥ ९४ ॥

हे सुभग ! गन्धरहितामपि अवमोचनयोग्यां मालिकां त्वया सोपमोगमङ्गलीकृता
प्रेमप्रसादबुद्ध्या स्वहस्तेन दत्तेति भवत्करस्पर्शबहुमानात् उद्वासितनगरगृहदेवतेव सा
अद्यापि धारयति । उद्वासिता हि नगरदेवता पूर्वं जनैरारोपितां कालानन्तरं शुष्कामेव
कुसुममालिकां धारयति, तथा त्वद्विरहवेदनयाऽन्यविधमण्डनमनभिरोचयन्ती दिव्यसौ-
न्दर्दर्थसुभगा सापि विसर्जनयोग्यामपि निर्गन्धमालिकां त्वत्करसम्बन्धसौख्यप्रदेति सबहु-
मानं धत्त इत्याशयः । तथा च त्वयि निर्मायमनुरज्यन्तीं त्वद्विरहवेदनया निर्जीवाले-
ख्यपुत्रिकामिव शोच्यां दशामुपगतां तां किमिति नानुकम्पस इति बतशब्दसहकारेण
सूचितम् । सुभगेत्यनेन एतादृशं तव सौभाग्यमतस्तन्मा वृथा कृथा इत्यपि ध्वन्यते ।
नगरगृहदेवतेत्यत्र नगरपदेन सर्वेषि नागरिकास्तां सौन्दर्यादिबहुमानकारणात्स्पृहयन्ति,
अतस्तेषामवर्मशनं यावद्या स्यात्तावदेनामनुसरेत्यपि गृहमभिव्यज्यते । धारणेन पर्युषि-
तत्वेन च अवमर्दिता माला अवमालिका ।

‘केलिभवनमागते तस्मिन्मानमवलम्ब्य निजसमीहितं साधय’ इति कस्मैचित्
कार्याय मानप्रहणं शिक्षयन्तीं बन्धुपुरन्द्रीं काचिदाह—

केलीअ वि रुसेउं ण तीरए तम्मि चुकविणअम्मि ।
जाइअएहिं व माए इमेहिं अवसेहिं अझेहिं ॥ ९५ ॥

[केल्यापि रुषितुं न शक्यते तस्मिश्चयुतविनये ।
याचित्कैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥]

तस्मिश्चयुतविनये किल रोषितुभिह शक्यते न केल्यापि ।
एभिर्याचित्कैरिव मातर्विवशास्त्रैरङ्गैः ॥ ९५ ॥

च्युतविनये रतिलौल्यलङ्घितलज्जतया विनयमवधीरयमाणे तस्मिन् (प्रेयसि) याचि-
त्कैरिव अभ्यर्थ्यानीतैरिव अवशैरत एव अनभिरुचितविषये ममाधीनतामसहमानैरभिरङ्ग-
हें मातः ! केल्यापि परिहासेनापि किल रोषः कर्तुं न शक्यते । मातरिल्यनेन अप्रतारणी-
यतया निजवचसि प्रत्येयता सूच्यते । एवं च परिहास एव यदाहं मानमवलम्बितुमवशा
तर्हि प्रणयचर्यातः सुतरां विप्रकृष्टं स्वार्थमुद्दिश्य कथंकारं कोपः कर्तुं शक्य इति ‘अपि’
शब्दस्वारस्येन प्रियप्रणयपारवश्यमभिव्यज्यते । याचित्कं वस्तु यथा न स्वीयं भवति
नापि यथेच्छं बलकार्येषुपूर्युज्यते, तथैव ममाङ्गान्यपि तस्मिन्समये प्रियतमसाङ्गवन्तीति
बलतः कार्यक्षमाणि नेति पारतच्यातिशयो ध्वन्यते । गङ्गाधरटीकावतरणे ‘अपि’पद-
स्वारस्यं न भाति ।

उत्कृष्टिक्या क्रीडन्तीं बालिकामपवारयन्तीं सर्वीं कासुकजनमनःसमाकर्षणार्थमा-
त्मनो विपरीतरतपाटवमभिसूचयितुं काचिदाह—

उप्फुल्लिआइ खेल्लु भा ण वारे हि होउ परिजदा ।
भा जहणभारगर्दई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥

[उत्कुल्लिकया खेल्लु मैनां वारयत भवतु परिक्षामा ।

भा जघनभारगुर्वा पुरुषायितं कुर्वती कुमिष्यति ॥]

उत्कुल्लिकया खेल्लु मैनां वारयत जायतां क्षामा ।

भा जघनभारगुर्वा दधती पुरुषायितं कुमिष्यति यत् ॥ ९६ ॥

उत्तानं शयानस्य पादयोरुपविश्नानां बालनां सुहुः पतनोत्पतनरूपा क्रीडा उत्कुल्लि-
केत्याख्यायते । एनां मा निवारयत । क्षामा श्रमेण जितद्वासा कृशमध्या च भवति-
त्यर्थः । यतः पुरुषायितं कुर्वती यौवने जघनभारगौरवेण न कृनितमेष्यतीति भावः ।
अत्र सखीमुहिश्य सपरिहासमुक्तावपि शिशुविषये एवमुदीरणया रसाभासता कष्टं
समाधेया ।

शीलखण्डनविलक्षणां काञ्चन कुलवधूं तच्चित्समाधानेन समाधासयन्ती तत्पक्षपातिनी
काचिद्विरोधिजनवचननिरोधार्थसाह—

पउरजुवाणो ग्रामो मधुमासो जोअणं पई ठेरो ।

जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥

[प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।

जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं भ्रियताम् ॥]

प्रचुरयुवासौ ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।

जीर्णसुरा स्वाधीना ह्वसती मा भवतु किं भ्रियताम् ॥ ९७ ॥

प्रचुरा युवानो यस्मिन् । प्रचुरतया कस्यात्कस्याद्वा शीलरक्षणेऽवधीयेते सूच्यते ।
जीर्णसुरा ग्राचीनमद्यम् । पुरातनं हि तत्त्वीतिकरं भूरिमादकं च । स्वाधीनेत्यनेन यथो-
च्छपानसौकर्यान्मनसौ भूयस्तरामवशता दोत्यते । एकैकमपि शीलखण्डनसमयेष्वेषु
सर्वेष्वेकत्र सिलितेषु चरित्रब्रंशोस्या नापराधायेत्यर्थः । अत्र ‘क्षसती मा भवतु’ इति
निषेधस्य प्रचुरयुवा ग्राम इत्यादि कारणमुक्त्वा ‘ततः किं भ्रियताम्’ इत्यनेन रोधः
क्रियते । सासुयप्रश्नार्थकस्य किमः काङ्क्षा निषेधार्थेत्वं गम्यत इति सोयं युक्त्या रोध
इति सरस्वतीकण्ठाभरणानुसारं निषेधे प्रतिकूलो रोधालङ्कारः । ‘प्रतिकूलोऽनुकूलध्वं विधौ
रोधोऽस्मिधीयते । निषेधेष्युक्तियुक्त्यां द्विप्रकारः स कथ्यते ॥’ तथा चैवं-
विषयधटनापारवश्येन खण्डितशीलासौ न वचनीयभाजनमिति विरोधिनिरोधोऽभि-
व्यञ्जयते ।

प्रणयिनो मनोहरणार्थं नायिकायामासक्तिहृदीकरणार्थं च दूती तस्या अनुरागा-
तिशयमाह—

बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्ज्ञं हत्थसंदिष्टम् ।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुणरुक्षत्सअं कुणइ अज्जा ॥ ९८ ॥

[बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम् ।

न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्षशतं करोत्यार्या ॥]

बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हि हस्तसंदिष्टम् ।
ने श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्षशतं करोत्यार्या ॥ ९८ ॥

मम हस्तेन संदिष्टं मद्वारा तवाभिमुखमुपस्थापितम् । वाचा संदिष्टमपि शैलीसिद्धत्वेन हस्तसंदिष्टमित्युक्तम् । वारंवारं कथनेन पुनरुक्षशतं यद्यपि दूर्येव करोति, परं निमृततरमुक्ता एवंविधवर्णंसंघटना कदाचन न श्रुता स्यादिति श्रवणसौकर्यार्थं प्रत्येककथनादृत्तौ शब्दशब्दायापरिवर्तनेन दूरीवचने न पौनरुक्षयं किन्तु 'न श्रुतं न श्रुतम्' इति तमेव शब्दं वारंवारभवतेर्थन्ती नायिकैव पुनरुक्षशतं करोतीति गाथाकर्तुराकृतम् । बहुश इत्यत्र शस्त्रप्रत्ययेन बहुवारं बहुप्रकारं चेति कथ्यमाने पौनःपुन्येन प्रकारमेदेन चातिशयो घोल्यते । तथा च सम्यक्श्ववणतिमितं मुहुः शब्दशैलीपरिवर्तनेपि मुहुर्सुहुराकर्णनानुरागादश्रवणसूचितोऽनुरागातिशयो घ्वन्यते । एवमनुरक्ता सेयं भवतापि सबहुमानमनुवर्तनीयेति दूर्याः प्रेमहृषीकरणे तात्पर्यम् । 'मुद्रा' हस्तगता ।

कस्यांचन कुलजायामनुरक्तं नायकं प्रति तस्या अनुरागं चान्यजनदृष्टिभ्यस्तद्वेपनदा-
क्षिण्यं च दूरी नायकप्रोत्साहनार्थमाह—

पाअडिअणेहसब्भावणिभरं तीअ जह तुमं दिष्टो ॥

संवरणवावडाए अणो वि जणो तह व्वेअ ॥ ९९ ॥

[प्रकटितस्त्रेहसद्वावनिर्भरं तथा यथा त्वं दृष्टः ।

संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथैव ॥]

त्वं किल तया प्रकटितानुरागसद्वावनिर्भरं हि यथा ।

संवरणव्यापृतया तथैव दृष्टो जनोऽन्योऽपि ॥ ९९ ॥

प्रकटितः द्वेहसद्वावो यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा । प्रकटितस्त्रेहसद्वावं च निर्भरं चेति ततः कर्मधारयः । अथवा प्रकटितस्त्रेहं च सद्वावनिर्भरं चेति । संवरणे परस्परप्रेमवन्धस्य गोपने व्यापृतया प्रवृत्तया । प्रकटितप्रेम सरसं निमृतनिर्भरतया यथा त्वं दृष्टः, 'एतस्मिन्यमनुरक्ता' इति कथिन्मा ज्ञातीदिति गोपनव्यापृतया तया अन्योपि जनस्तथैव दृष्ट इत्याशयः । लोकेभ्यो गोपनार्थं सर्वत्र समानदृष्टिनिपातेन नायके प्रेमदृष्टिस्तिरोहितेति सरस्वतीकण्ठाभरणकारमतेन पिहिताख्यो मीलितमेदः । 'वस्त्वन्तर-तिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम् । पिहितापिहिते चैव तद्बुणातद्गौ च तत् ॥' अनेन च मीलितेन त्वयि प्रेमविवशापि सा किञ्चतुरोति नायिकादाक्षिण्यमुन्मीलितम् । तथा चैवंविद्या निर्भरप्रेमसरसहदयापि परमकुशला सेयं व्यथनुरक्तेति पश्य ते सौभाग्यमिति दूरीकर्तव्यान्तर्मूलं नायकमनोहरणमभिव्यज्यते ।

असवानन्तरं रमणेन रमणे न परिगृहीता काचित्पुत्रस्य दन्तोद्भूमकथनव्याजेन संप्रति
संभोगसुखानुभवयोग्यतामात्मन एवमाह—

गैल्ह ह पलोअह इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेह ।

जाआ सुअपद्मुबिषणदन्तज्ञुअलङ्किअं बोरम् ॥ १०० ॥

[गृहीत प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति ।

जाया सुतप्रथमोऽन्निदन्तयुगलाङ्कितं बद्रम् ॥]

गृहीत पश्यतेदं प्रहसितवदना हि पत्युरर्पयति ।

जाया तनयनवोद्भूतदन्तयुगेनाङ्कितं बद्रम् ॥ १०० ॥

स्मेरमुखी जाया ‘इन्द्रं गृहीत प्रलोकयत’ इति सुतस्य प्रथमोऽन्निदन्तयुगलेनाङ्कितं
बदरं प्रियस्यार्पयतीलर्थः । तनयदन्तदष्टस्य बदरस्य दूरतो दर्शनसंभवेषि ‘गृहीत
पश्यतेति प्रियकरसमर्पणेन तदन्तक्षतस्य सूक्ष्मदृष्टिदर्शनीयतया दन्तयोरुड्डरावस्था
ध्वन्यते । अत एवोत्तरार्द्धे ननोद्भूतदन्तयुगेनेत्युच्यते । एवं च तनयस्य दन्तजननेन
प्रसवोत्तरजायमानसरससंभोगसुखानुभवसमयोयं प्राप्त इति प्रियनिवेदनौत्कृष्णं प्रहसित-
वदनेति पदेनाभिव्यज्यते । सरसतीकण्ठाभरणकारस्तु—‘निजस्योपभोगयोग्यताप्रका-
शनाभिप्रायेण सहायं बदरदर्शनप्रवृत्तिः ।’ इति स्वकलिप्तं भावाख्यमलङ्कारमाह—‘अ-
भिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भावं उच्यते ।’ कण्ठाभरणानुमतः ‘विकसितनयना’ इति पाठः ।
प्रसास्तश्चायमत्रत्यपाठापेक्षया । गाथायामस्यां गङ्गाधरस्तु ‘स्वयमेव क्षतं संपाद्य मुत्रेण
क्षतमिति मिथ्यैव दर्शयतीति प्रहसितवदनेति पदेन ध्वन्यते’ इत्याह । इदं कुलवच्चाः
संभोगभूरितृष्णासूचकतया न तथा रसानुकूलं स्यादिति मे मतिः । कण्ठाभरणपाठस्तु
तनयदन्तजननरूपप्रियदर्शनेन विकसितनयनतया निष्कपटमात्मगत एव हर्षातिशयः
ग्रतीयत इति सोऽस्यद्बुद्ध्लः ।

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।

सत्तसअभ्मि समत्तं बीअं गाहासअं एअम् ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुहसुकविनिर्मिते ।

सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलकुशलसुकविपरिरचिते ।

सप्तशतके समाप्तं गाथाशतकं द्वितीयमिदम् ॥ १०१ ॥

कविवत्सलो हालः कुशलः प्रमुखो येषु तैः सुकविभिर्निर्मिते ।

तृतीयं शतकम् ।

~~~~~

‘न मेऽन्यत्रासक्तिः, जनस्तु सिद्ध्या तथोद्घोषयति’ इत्यनुनयनं कान्तं मानिनी  
सप्रणयरोषमाह—

अच्छुउ ता जणवाओ हिअअं विअ अचणो तुह प्रमाणम् ।  
तह तं सि मन्देष्टोहो जह ण उवालम्भजोग्यो सि ॥ १ ॥

[ अस्तु तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्त्व प्रमाणम् ।  
तथा त्वमसि मन्देष्टोहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥ ]

आस्तां वा जनवादस्त्व प्रमाणं स्वयं हृदयमेव ।  
मन्देष्टोहोसि तथा न यथोपालम्भयोग्योऽसि ॥ १ ॥

अयं साम्प्रतमस्यां मन्देष्टोह इति जनप्रवादः अस्तु तावत्, दूरे तिष्ठतिव्यर्थः । तत्र  
हृदयमेव स्वयं प्रमाणम् । मां प्रति शिथिलातुरागतायामहं तवैव हृदयं प्रमाणीकरोमाति  
भावः । तथा मन्देष्टोहोसि यथा उपालम्भप्रदानस्यापि योग्यो नासील्यर्थः । खेहशालिन  
एव ब्रणयिने दीयते किलोपालम्भः । स एव च दाक्षिण्येन तमुपालम्भं सहते । त्वं  
त्वासीन इति नोपालम्भमर्हसील्याशयः । उपालम्भं प्रददत्या अपि नोपालम्भयोग्य  
इति विशेषार्थैसूचको निषेधोऽत्राभासरूपस्तथा च अलङ्कारसर्वेषांकारादीनां भतेनाक्षे-  
प्यालंकारः, ‘निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्त्रते’ । अनेन च सुहुर्सुहुस्तव व्यलीकक्षा-  
तैरुभितादत्तुरागशैथिलात्तवोपालम्भप्रदानमपि नासिरोचयासि, किं पुनरन्यत्, इति  
मानिन्याः प्रणयकोपविज्ञमितमभिव्यज्यते ।

शृणवन्तं कञ्चन युवानं वशीकर्तुं यथाभिमतवल्लभाऽप्राप्तिं सूचयन्ती कान्चित्कुलटा  
हृदयोपालम्भच्छलेनाह—

अप्यच्छन्दपहाविर दुर्लभलम्भं जणं वि मग्नत ।  
आआसपहेहिै भमन्त हिअअ कइआवि भज्जिहसि ॥ २ ॥

[ आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण ।  
आकाशपथैर्भ्रमच्छदय कदापि भक्षयसे ॥ ]

आत्मच्छन्दभ्रामक दुर्लभलम्भं जनं मृगयमाण ।  
आकाशपथैर्भ्राम्यत्कदापि हृदयायि भंक्षयसे तात ॥ २ ॥

आत्मच्छन्दनेन धावनशील ! अनेन हि हृदयस्य स्वेच्छाचारितां सूचयन्त्यपि संगमा-  
दिषु युरुजनपारतत्त्वं व्यनक्ति । दुर्लभो लम्भः प्राप्तिर्यस्य, सहजमेवाऽसुलभमित्यर्थः,  
ईदृशं जनं मृगयमाण अन्विष्यत् । अनेनात्मन उच्चाभिलापितया रसिकाभिलब्धणीयत्व-  
मभिव्यज्यते । निरवलम्भवनसागैर्भ्राम्यत् । रहस्येदभिया दूतीप्रमुखोपायपरिहारात्

निरवलम्बनं भ्राम्यदित्यर्थः । नाहूं दूत्यादिष्वपि रहस्यं विश्वसिमि । खर्यं हृदयमेव मे तावदान्तरसंतर्पकं कान्तमन्वेक्ष्यतीति आत्मनो रहस्यगोपनयोग्यतया विश्वसनीयतां सूचयति । अथि हृदय ! एवं कुर्वत् कदापि भृष्ट्यसे भग्नं भविष्यति । कदापीत्यपिशब्दः संभावनायाम् । सहसैवासुलभं कान्तजनमनन्यसाहाश्येनान्विच्छ्रुत् तदप्राप्तिःखेन निरस्तं भविष्यसीति भूयसी संभावनास्तीति भावः । तथा चैवंविधविश्वसनीयामुक्ततहृदयां मां चेदनुरज्ञवसि तर्हि ते परं सौभाग्यमिति शृणन्तं प्रति व्यन्यते । “दुर्लभलम्भं दुर्लभस्य सुरतसुखस्य लम्भः प्राप्तिर्थासात्म् । आकाशपर्यार्थमत्, दूसीप्रमुखोपायादिति भावः । कदापीत्यपिशब्दः संभावनायाम् । कः खलु सुभगो यस्तव ऋमणं शमयिष्यतीति भावः” इति गङ्गाधरटीका ।

गुणगर्विता काचिद् गणिका स्वल्पेनैव कालेन विरज्यन्तं विटं निन्दन्ती दूरीमाह—

अहव गुणविअ लहुआ अहवा गुणअणुओं ण सौं लोओ ।

अहव द्वि णिगुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥

[ अथवा गुणा एव लघ्वोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः ।

अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाजनस्तस्य ॥ ]

सुगुणा एव तु लघ्वोऽथवा गुणज्ञोस्ति न स लोकः ।

अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवान्वा जनस्तस्य ॥ ३ ॥

अपि किं गुणा एव अनादरणीया जाता इत्यर्थः । अथवाहूं निर्गुणास्मि, यथा मेऽभिमानस्तथा मयि गुणा एव न सन्तीत्यर्थः । तस्य भुजज्ञस्य जनो गृहिणीरूपो बहुगुणवान् मदपेक्षयाऽधिकगुणशाली वा, येन न तस्य मयि बहुमानः । एवंविधगुणशालीनो मां नाद्रियत इति दपित एव गुणपरीक्षणदाक्षिण्यशून्य इत्याशयः ।

‘आत्मनो हृदयवेदनामावेद्य अन्यासकं ग्रियतममभिमुखीकुरु’ इति शिक्षयन्तीं मातुलानीं प्रति काचित्प्रियतमस्यालिङ्गतामेवमुक्तीयति—

फुडून्तेण वि हिअएण मामि कह णिवरिज्जए तम्मि ।

आदंसे पडिविम्बं व ज्ञाम्मि दुःखं ण संकमइ ॥ ४ ॥

[ स्फुटतापि हृदयेन मातुलालि कथं निवेद्यते तस्मिन् ।

आदर्मे प्रतिविम्बमिव यस्मिन्दुःखं न संक्रामति ॥ ]

हृदयेन स्फुटतापि च मातुलि तस्मिन्निवेद्यते तु कथम् ।

प्रतिविम्बसिवादर्मे यस्मिन्संक्राम्यति न दुःखम् ॥ ४ ॥

सपन्नीजनवश्यतामवगल्य स्फुटता, दुःखेन विशीर्यतापि । अनेन चिराक्षेपं सहमानस्य हृदयस्य दुःखभरैरापूर्णीता द्योत्यते । दर्पणे प्रतिविम्बो यथा उपर्येव तिष्ठति नान्तः प्रविशति तथा तस्मिन्निग्रियतमेऽपि निवेद्यमानं निजदुःखं न तस्य हृदये स्थानं लभत इत्यान-

शयः । आदर्शवृष्टान्तेन प्रियहृदयस्य बहिश्चाकचक्यशालिता काठिन्यं चाभिव्यज्यते । तथा च दूरत एव स क्षिग्ध इव प्रतीयते नान्तस्सानुरागः । दुःखं च द्वितीयहृदयान्तः-संक्षमणं विना न काहप्यमुत्पादयेदिति अनितम् ।

अवासाय कृतोद्यमं नायकं निजसख्या भाविनीं विरहवेदनामन्यवृत्तान्तप्रदर्शननैपु-  
णेन सूचयन्ती सखी पथिकगृहणीवृत्तान्तमवतारयति—

**पाशाशङ्की काओ षौच्छादि दिणणं पि पहिअधरणीए ।**

**ओअन्तकरअलोगलिअबलअमज्ञाडिअं पिण्डम् ॥ ५ ॥**

[ पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहण्या ।

अवनतकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥ ]

**पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहण्या ।**

**अवनतकरतलविगलितवलयकमध्यस्थितं पिण्डम् ॥ ५ ॥**

पथिकगृहण्या दत्तमपि, पिण्डाऽवर्जनार्थमवनतात् अधोमुखीवृत्तात्करतलाद्विग-  
लितस्य वलयस्य मध्यस्थितम् । विरहवेदनया एतावत्कार्यं यत्कङ्कणोपि कराद्विगलतीति  
भावः । ओदनपिण्डं काकः पाशाशङ्क्या नेच्छतीत्यर्थः । अत्र गेहिनीपदेन प्रियतमविन-  
तया सहैव यहभारसंचालनक्षित्रया विरहस्य सुभूशोत्पीडकत्वं सूच्यते । तथा च विर-  
हक्षयायाः शकुनलाभाशया काकाय बलिमुपहरन्त्याः सेयं पथिकगृहण्या दशा, तादर्थीं  
मा मे प्रियसख्याः करिष्यसीति नायकं प्रलभिव्यज्यते । “प्रयत्नसाधितमपि युवतीं  
विमृश्यकारितया नोपगच्छन्तं नायकमुत्साहयितुं दूतीं सोपालमभमन्यापदेशोनाह—  
इत्यवतार्य पाशाशङ्क्या पिण्डं यथा काको नेच्छति तथा त्वमपि दीयमानामप्येनां भयश-  
ङ्क्या परिहरसि” इति गङ्गाधरटीका ।

प्रोषितपतिकायाः सखी तप्तिप्रयतमाय त्वरितमागमनमभिसूचयन्ती तदन्तिकगामिनं  
पथिकमाह—

**ओहिदिअहागमासंकिरीहिं सहिआहिं कुण्डलिहिआओ ।**

**दोतिणिं तहिं विअ चोरिआएँ रेखा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥**

[ अवधिदिवसागमाशङ्क्नीभिः सखीभिः कुण्डलिखिताः ।

द्वित्रास्त्रैव चोरिकया रेखाः प्रोञ्छयन्ते ॥ ]

**अवधिदिनागमशङ्काकुलाभिरिह कुञ्जविलिखिता रेखाः ।**

**आलीभिः प्रोञ्छयन्ते द्वित्रास्त्रैव चोरिकया ॥ ६ ॥**

प्रियतमाऽगमनस्याविदिनं मागच्छतु इति शङ्कायुक्ताभिः सखीमिर्भित्तिलिखिता  
दिनगणनारेखाः चोरिकया चौर्येण तप्रच्छच्छमिति यावत् । द्वित्राः प्रोञ्छयन्ते उन्मा-  
र्ज्यन्ते अपनीयन्ते । अवधिदिनगणनार्थं नायिकया प्रल्याहं भित्तौ रेखाः कृताः । अव-

धिदिनपूरणेषि तस्मिन्ननागच्छति इयं प्राणान् जह्यादिति शङ्खया अवधिदिनानागमनार्थं सखीभिर्द्वित्रा रेखा अलक्षितं प्रोऽच्छयन्ते । यदि तु नियतसमये आगच्छेत्तर्हि एतस्या दृष्टौ अवधिदिनात्पूर्वमेवागमनात्सविशेषानन्द इत्याशयः । अवधिदिनं संप्रति कियत्सं-निहितमेतद्वि प्रतिक्षणं संमुखे तिषेदित्युत्कण्ठाविनोदः ‘कुञ्जविलिखित’ पदेन सूच्यते । एतेन नायिकायाः समधिकौत्कण्ठमभिव्यजित्तम् । एवं चावधिदिनपूरणे सति न याव-दियं प्राणान् जह्यात्तावत्त्वरितमेव भवता सेयं संभावनीयेति तद्वलभाशमभिव्यज्यते ।

चाद्रक्षिभिः प्रियापरितोषणेन निजाभिलाषं साधयितुकामः कासुकथन्द्रमालोक्यै-वमाह—

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा ।

अण्णमअं व घडइउं पुणो वि खण्डजह मिअङ्गो ॥ ७ ॥

[ तव मुखसादश्यं न लभत इति संपूण्णमण्डलो विधिना ।

अन्यमयमिव घटयितुं पुनरपि खण्डयते मृगाङ्गः ॥ ]

तव मुखसादश्यं नो लभत इति हि पूर्णमण्डलो विधिना ।

घटयितुमिहान्यमयमिव पुनरपि परिखण्डयते शशभृत् ॥ ७ ॥

अन्यमयम् अन्यप्रकारं घटयितुमिव निर्मातुमिव । शशभृत् चन्द्रो विधिना विधात्रा पुनरपि पूर्णमण्डलत्वेषि परिखण्डयते एकद्वादिकलाक्रमेण हीनः क्रियते । अन्यप्रकार-रचनार्थम् एकामेकां कलां न्यूनीकृत्य ‘मुखसदशं जातं न वा’ इति मुहुसुहुर्निजनिर्मा-णनिरीक्षणसंरम्भं विधेव्यज्ञयत—परित एकैकलाखण्डनक्रमसूचकं परिखण्डयत इति परिपदं मत्कृतच्छायायायामुपात्मम् । अनया हेतूत्रिक्षया चन्द्रमसो मुहुर्मण्डलपूरणं मुहुः खण्डनं चेति व्यतिकरस्य कल्पान्तं यावदसमाप्त्या ‘तव मुखसादश्यं चन्द्रः कल्पान्तप-र्यन्तमपि न लप्सते’ इति मुखशोभातिशयो मधुरमभिव्यज्यते ।

देशान्तरप्रवासाय कृतप्रस्थानस्य गेहान्तरे स्थितस्य नायकस्य ‘तदुगमने मत्सव्याः का दशा भाविनी’ इति प्रदर्शनेन गमनं निरुन्धती नायिकासखी तद्वत्तान्तमाह—

अज्ञं गओत्ति अज्ञं गओत्ति अज्ञं गओत्ति गणरीए ।

पठम ब्रिअ दिअहङ्के कुहो रेहाहिँ चिचलिओ ॥ ८ ॥

[ अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया ।

प्रथम एव दिवसार्धे कुञ्जं रेखाभिश्चित्रितम् ॥ ]

अद्य गतोऽद्य गतो वत सोऽद्य गतश्चेति गणयन्त्या ।

प्रथमे दिनार्द्द एव हि रेखाभिश्चित्रितं कुञ्जम् ॥ ८ ॥

सः ‘अद्य गतः, अद्य गतः’ इति कृत्वा, एकदिनार्थमेकां रेखां विलिख्य गणयन्त्या अनया प्रथमे दिनार्द्द एव रेखाभिश्चित्रिते भावः । अत्र ‘गणयन्त्या’ इति वर्त-

मानार्थभिधायिना शतप्रत्ययेन ‘चित्रितम्’ इति भूतार्थवाचकेन क्षप्रत्ययेन च ‘गणनायाः पूरणं तु न जातं परं भित्तिः सर्वापि रेखाभिः पूरिताः’ इति नायिकाचेष्टितसूचनेन प्रियविरहे क्षणक्षणस्य बहुदिवसगमनवत् समधिकवेदनादायित्वमभिव्यज्यते । प्रतिदिनमेकां रेखां प्रदाय गणयन्त्या तथा दिनार्द्धं एव बहुदिवनव्यत्यये सत्यसुभवनीयं विरहदुःखमनुभूतमित्येवकारसहकारेणातिशयोत्तिष्ठन्वयते । तथा च दिनार्द्धं एव एतावद्विरहवैक्षयमनुभवन्त्या अस्याः का वाऽप्ते दशा भवेदिति त्वयैव विचारणीयमिति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘कुञ्जं रेखाभिः पूरितम्’ इति वक्तव्ये चित्रितमित्युक्त्या सरणिबद्धा रेखाः प्रदाय भित्तिपूरणे सति पुनरवकाशानुसारं नीचैरुपरि वा रेखाप्रदानेन चित्राकारता सूच्यते, एतेन भित्तौ बहुरेखाविलेखनेन विरहक्षातिशयो ध्वनितः । एकस्मिन्दिन एव ‘अद्य गतः अद्य गतः’ बहुदिवसज्ञानेन नायिकायाः प्रियानुस्सरणजन्म्यो मोहातिशयोपि न विसार्थः पाठकैः । रेखाभिश्चित्रितं कुञ्जाभिलयनेन सा कुञ्जाभिमुखं मुखं विधाय स्थितेति कार्यान्तरपरिहारेण प्रियचिन्तैकतानतया प्रियप्रेमातिशयो ध्वन्यत इत्यहो गाथाकर्तुरनन्यसाधारणो निःसीमार्थगुम्फनमहिमा ।

प्रथमसमागमे समुपलब्धासुरतसुखादपि समधिकसुखकरं भवति व्यतीतप्रथमदिनघटनास्मरणेन परस्मिन्दिवसे नायिकायाः सलज्जमधुरमवलोकितस्मित्यात्मनः सहद्यतां सूचयन्नायकः प्रियसुहदमाह—

ण वि तह पढमसमागमसुरअसुहे पाविएवि परिजोसो ।  
जह वीअदिअहसविलक्षलक्षिष्ठए वअणकमलम्मि ॥ ९ ॥

[ नायि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्रासेऽपि परितोषः ।

थथा द्वितीयदिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥ ]

न तथा प्रथमसमागमसुरतसुखाऽसादनेपि परितोषः ।  
वदने द्वितीयवासरसविलक्षनिरक्षिते हि यथा ॥ ९ ॥

प्रथमसमागमे यत्सुरतसुखं तस्य प्राप्तावपि तादृक् परितोषो न, यादृक् द्वितीयदिवसे सविलक्षं (रात्रिघटनास्मरणेन सलज्जम्) लक्षितम् अवलोकनं यस्मिन्नीद्वये वदनकमले भवति । तादृशवदनकमलस्य विषय इति वैषयिकसप्तमी सेवयम् । यदि तु प्राङ्गतपदाङ्गानुसरणाग्रहस्तार्ह—“सुरतसुखे प्रापितेपि परितोषः” इति रामो राज्यमचीकरदितिवत्सार्थणिजन्तधटितं पठनीयम् । एवं सति ‘सुरतसुखे प्रापेषि तथा न परितोषो यथा सलज्जविलोकिते वदने प्राप इत्थयैः स्यात् । प्रथमसमागमे लज्जासाधवससौकुमार्यादिभिर्न सुकरः सुरतसुखलाभ इति दुर्लभतमे प्रथमसमागमसुरतसुखे प्रापेषीत्यत्र अपिपदेन ध्वन्यते । तथा च प्रथमसमागमे सुचिरयत्नशतैः प्रापं स्याद्याकथर्थचित्तसुरतं केनविज्ञ तु अवधीरण—जघनाकुञ्जनादिकाठिन्येन सुरतसुखसुपलब्धं भवेत्, परं भया निजदक्षिण्यगुणेन प्रथमसमागमं एव सुरतसुखसुपलब्धमित्यात्मनः सौभाग्यं ध्वनयन् ‘तादृशसुखादपि

परितोषकरं तस्याः सलज्जावलोकितम् ॥ इति मार्मिकतां सूचयति । स्वकीयैव चात्र नायिका ।  
गङ्गाधरटीकायां तु—“पूर्वमकृतस्त्रीकारायाः पश्चाच्चिरप्रार्थनया स्त्रीकारं कृतवत्याः प्रथ-  
मसमागम एव नायकगुणरञ्जितायाः प्रथमाऽस्त्रीकारजनितविलक्षं वदनमालोक्य निज-  
गुणगर्वितो नायकः सहचरमाह” इत्यवतरणम् ।

काचिददुश्यायाना भदनशारान्प्रस्तुवर्तीं सखीमनुनयावधीरणात्परावृत्तस्य प्रियतमस्य  
साभिलाषमवलोकितमेवमाह—

जे सँमुहागअबोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा ।

अम्हं ते मअणसरा जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥

[ ये संमुखागतव्यतिक्रान्तवलितप्रियप्रेषिताक्षिविक्षोभाः ।

अस्माकं ते मदनशारा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥ ]

येभिमुखागतविचलद्वलितप्रिययोजिताक्षिविक्षोभाः ।

तेऽस्माकं सरविशिखा जनस्य ये सन्ति ते सन्तु ॥ १० ॥

अननयार्थं संमुखागतेन युनस्तदवधीरण्या व्यतिक्रम्य चलता । मम विमुखनिवर्त-  
नेन कदाचिद्दिगतमाना स्यादित्युक्तण्ठावशाद्विवलितेन परिवृत्तेन प्रियेण योजिता: प्रेषिता  
ये अक्षिविक्षोभाः, त एवास्माकं मदनशारा: । जनस्य अन्यजनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ।  
मन्मथशारा यथा भानसमुन्मथयन्ति तथा तादगवस्थप्रियतमावलोकितान्यपि मे मनसि  
उत्कण्ठामुत्पादयन्तीत्याशयः । ‘अपि सत्यं कुमुममया वाणा मन्मथस्येति सख्या पृष्ठा  
सखी सवैद्रध्यमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । ‘बोलन्त’ इति शत्रन्तस्य व्यतिक्रान्तेति  
च्छाया तु न मनोरमा ।

श्रोणितटलग्निवतकनकदामशालिनीं काञ्चन नितम्बिनीमवलोक्य कनकसूत्रवर्णनच्छ-  
लेन निजाभिलाषमेवमाह कश्चित्सहदयः—

इअरो जणो ण पावइ तुह जघणारुहणसंगमसुहेल्लिम् ।

अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवरुणाणं माहप्यम् ॥ ११ ॥

[ इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगमसुखकेलिम् ।

अनुभवति कनकदोरो हुतवहवरुणयोर्माहात्म्यम् ॥ ]

इतरो जनो न लभते तव जघनारोहसङ्गमसुखकेलिम् ।

अनुभवति कनकदोरो चहिवरुणयोर्हि माहात्म्यम् ॥ ११ ॥

तव जघनारोहणपूर्वकेण संगमेन या सुखसरसा केलिस्ताम् इतरो देवताप्रसाददून्यः  
अग्निपानीशाख्य—(श्यामशबलाख्य—) ब्रतरहितो वा जनो न प्राप्नोति । यत्र पूर्वममौ  
कठिनं संतप्त्य जले प्रविश्यत एवंविधकठिनब्रतधारिणमन्तरा तव जघनारोहपूर्वकं सुर-  
तमुखं न कस्यचित्सुलभमिति भावः । हुतवहवरुणयोर्देवयोर्महिमानं कनकसूत्रमनु-

भवति । काञ्चनिर्माणसमये मुहुरमौ मुहुर्जले प्रवेशस्य फलं कनकदोरकोऽनुभवतीश्वर्यः ।  
किमहमप्येवंविधसौभाग्यभाक्षदाच्चन भविष्यामीखात्माभिलाषस्तां प्रति ध्वन्यते ।

शृण्वन्तं कामुकं प्ररोचयितुं दूती नायिकायाः सौभाग्यातिशयमाह—

जो जस्स विहवसारो तं सो देह त्ति किं तथ अच्छेरम् ।

अणहोन्तं पि खु दिणं दोहग्गं तइ सवत्तीणम् ॥ १२ ॥

[ यो यस्य विभवसारस्तं स दक्षतीति किमत्राश्वर्यम् ।

अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं त्वया सपलीनाम् ॥ ]

यो यस्य विभवसारस्तं स दक्षतीति किं न्विहाश्वर्यम् ।

चित्रमभवदपि दत्तं दौर्भाग्यं तु त्वया सपलीनाम् ॥ १२ ॥

विभवसारो धनसंग्रहः । प्रियप्रेमातिशयसौभाग्यशालिन्या त्वया अभवदपि अवर्त-  
मानमपि दौर्भाग्यं ( प्रियप्रणयवच्चितता ) सपलीनां दक्षतीति तु सत्यसाश्वर्यम् । प्रिय-  
प्राणवल्लभायास्त्वं सविधेशमपि दौर्भाग्यं न स्पृशति पुनस्त्वया तत्कथं सपलीभ्यो दत्त-  
मिति भावः । अनेन विरोधालङ्कारेण ‘यासां सपलीनां पूर्वं समधिकप्रियप्रणयशालितासी-  
त्प्रियतमं निजवशमानयन्या त्वयैव तासां विस्तुदमपि दौर्भाग्यं घटितमित्यहो ते शुणला-  
वण्यादिमहिमा’ इति वस्तु ध्वन्यते । अभवदपि दौर्भाग्यं त्वया दक्षतमित्यक्षरैः ‘बहुव-  
ल्लभस्य दयितस्य नवागतया कथाचिदपि वल्लभया रूपगुणशालिनीनां पूर्वसपलीनां दौर्भाग्यं  
न जनितं त्वया तत् अभवदपि अजायमानमपि संपादितम्’ इत्यथोपि सुटीभवति ।  
अनेन सर्वेण ‘एवंविधसौभाग्यशालिन्यपि सुन्दरी भवदयें मया संसाध्यते, पश्य ते  
सौभाग्यम् ।’ इति शृण्वन्तं कामुकं प्रति प्ररोचना ध्वन्यते ।

प्रवासे तिष्ठन्कश्चित्प्रियतमासमागमसुखानुसरणेनोत्कर्णा विनोदयितुमात्मसुह-  
दमाह—

चन्द्रसरिसं मुहं से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा ।

सकञ्जग्गहरहसुजलचुम्बणअं करस्स सरिसं से ॥ १३ ॥

[ चन्द्रसदशं मुखं तस्सा: सद्वशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः ।

सकञ्जग्गहरभसोज्जवलचुम्बनकं कस्य सदशं तस्याः ॥ ]

चन्द्रसमं तद्वदनं सद्वशो ह्यमृतस्य मुखरसस्तस्याः ।

सकञ्जग्गहरभसोज्जवलचुम्बनमिह कस्य संनिभं तस्याः ॥ १३ ॥

मुखरसः अधररसः । निधुवनसमये सकञ्जग्हं रभसोज्जवलं च यच्चुम्बनम्, सप्रेम  
कैश्चित्प्रहणपूर्वकं कामवेगसरभसतया कमनीयतमं च यत्तस्याच्चुम्बनं तत्कस्य सदशं, न  
कस्यापीद्यर्थः । सुरतसामयिकं यत्तस्याच्चुम्बनं तदनुपममित्याशयः । तन्मुखस्याधर-  
रसस्य चासिङ्गोके तुलामलभमाना दिव्याभ्यां चन्द्रमृताभ्यां तौ तुलयामः कथंचित्, परं

सुरतसमयसंघटितस्य तत्प्रणयन्नुम्बनस्य तु त्रिषु लोकेष्वपि साम्यं न प्राप्नुम् इत्यनुपम-  
मेवेति गाथाकर्तुराकृतम् ।

प्रयत्नशतानुमतामपि काव्यन नायिकां विभृश्यकारितया नानुपगच्छन्तं नायकमुते-  
जायितुं दूस्याह—

**उपपण्णत्ये कज्जे अद्विचिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि ।**

**चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणह कञ्चम् ॥ १४ ॥**

[ उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्नगुणागुणौ तस्मिन् ।

चिरकालमन्दपेक्षित्वेन उरुषो हन्ति कार्यम् ॥ ]

उत्पन्नार्थे कार्ये गुणागुणावतिचिन्तयंस्तस्मिन् ।

पुरुषो विहन्ति कार्ये चिरकालसुमन्दवीक्षितया ॥ १४ ॥

कार्ये उत्पन्नार्थे सति । उत्पन्नः सिद्धः अर्थः अभिलषितपदार्थो यत्र तस्मिन्, कार्ये  
फलाभिमुखे सतीति यावत् । तस्मिन्कार्ये गुणदोषयोरावश्यकतोऽधिकं विचारं कुर्वन्पुरुषः,  
चिरकालं मन्दप्रेक्षितया नीतिमार्गेण प्रतिक्षणमपायशङ्कित्वेन निजकार्यं विहन्तीलर्थः ।  
तत्प्रार्थीनया तामनुकूलयन्या मया कार्यं साधितमिदानीं त्वं स्वयमेव विलम्बनेन विहसि ।  
तत्कृतं विचारेण । साधय समीहितमिति दूतीकृतं नायकप्रोत्साहनमभिव्यज्यते ।

निजगाढानुरागप्रदर्शनेन प्रणयकुपितं नायकमनुनयन्ती काचित्सचारुर्थमाह—

**बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअम् ।**

**तं तइ विणा ण होइ चि तेण कुविअं पसाएमि ॥ १५ ॥**

[ बालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम् ।

तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि ॥ ]

बालक भवतोप्यधिकं मम जीवितमेव वल्लभं निजकम् ।

तत्त्वां विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि त्वाम् ॥ १५ ॥

प्रणयपरिणामानभिज्ञत्वेन बालकेति व्यपदेशार्ह ! त्वत्तोप्यधिकं मम स्वीयं जीवनमेव  
प्रियम् । तज्जीवितं त्वया विना न भवतीति कारणेण कुपितं त्वां प्रसादयामि । त्वां विना  
जीवितुमेव न शक्नोमीति व्यज्ञयस्य अनया भज्ञया कथेनेन पर्यायोक्तमलङ्कारः । अनेन च  
'त्वया सह निबद्धमानप्राणायाः कीदृशो मे ग्रेमबन्धस्त्वं तु तमपि यथावज्ञ वेत्सि' इति  
बालकपदसहकारेण द्योस्यते ।

प्रथमं कुपितां तत्त्वाद्वक्ति-चरणप्रणामादिभिः प्रसन्नां सप्तान्त्वनदाक्षिण्येन च  
व्यपगमितपूर्वसंशयाम् अत एव 'मिथ्या खलवचनदूषितचित्तया मया खेदितोसि' इति  
वदन्तीं प्रियां सन्निरथालनकाकूत्तया भयः खलवचने प्रतीहीति विधिमुखेन द्युत्त्या  
निषेधयज्ञायक आह—

**पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्ज्ञ इमे ण मज्ज्ञ रुअर्ड्देण ।  
पुट्टीअ बाहबिन्दू पुलउड्मेण मिज्जन्ता ॥ १६ ॥**

[ प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलायाः ।  
पृष्ठस्य बाष्पविन्दवः पुलकोद्देदेन भिद्यमानाः ॥ ]

न प्रतियती प्रतीहि प्रखदत्या बाष्पविन्दवो यदि ते ।  
एते हि भिद्यमाना न पृष्ठपुलकोद्दमेन मम ॥ १६ ॥

खलवचनप्रलयेन मश्यविश्वासाद् रुदत्याः तव एते बाष्पविन्दवः । एते इत्यनेन स्पृष्टे प्रत्यक्षं बाष्पविन्दुप्रदर्शनं सूचितम् । तथा च नाहं त्वां मद्वचनादेव विश्वासं कर्तुमनुरुद्धे, प्रत्यक्षं ते मम प्रणयप्रमाणमिति व्यन्यते । मम पृष्ठस्य पुलकोद्दमेन रोमाङ्गोद्दमेन यदि न भिद्यमाना न चूर्णीक्रियमाणा भवेयुस्तर्हि न ग्रातियती शपथशतैः शोधितापराधेषि मयि प्रत्ययं न कुर्वन्ती त्वं खलवचने प्रतीहि पुनर्विश्वासं कुरु । ‘पुनः प्रतीहि’ इति सशिरश्वालनं काकूत्त्या प्रोच्यते, तथा च सरलोक्तौ अग्रे खलवचसि न विश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः । अयमाशयः—तवाशुबिन्दुभिरपि मम पृष्टे पुलकोद्दमो जातः । प्रत्यक्षं ममैत्येमनिर्दर्शनं पश्यन्त्यपि मयि प्रत्ययमकुर्वाणा त्वं खलवचने प्रत्ययं कुरु । ( काकूक्तिः ) । अर्थात् एवं प्रणयशालिनि मयि अविश्वासं कृत्वा खलवचसि न भूयो विश्वासः कर्तव्य इति । पततां बाष्पविन्दनां पृष्ठपुलकेन चूर्णनोक्तया रोमाङ्गस्य सुदृढता सूच्यते । तेनाशुबिन्दुभिरप्येवं घनः पुलकोद्दमो भवति किं पुनस्त्वत्स्पर्शादिनेति प्रेमातिशयो दोलते । ‘भिद्यमाना न भवेयुः’ इति वर्तमानार्थं सूचयता शानन्दा ‘अधुनापि बाष्पविन्दवो मम पुलकोद्दमेन भिद्यमानाः सन्ति’ इति प्रत्यक्षप्रदर्शनसंरम्भेण नायकस्य प्रेमाध्यवसायातिशयः प्रतीयते ।

अत्र गङ्गाधरस्तु ‘रोदनशीलायास्तव बाष्पविन्दवो मम पृष्ठपुलकोद्दमेन भिद्यमाना भिज्ञा यदि नाभविष्यन्, तदा त्वं न प्रतीयन्ती प्रत्ययं नाकरिष्य एवेत्यर्थः’ इत्याह । ‘पत्तिअ ण पत्तिअन्ती’ इत्यनेन कथमयमर्थः? प्रतीयन्तीतिपदस्य प्रत्ययं नाकरिष्य एवेति कथमर्थो जात इति तु विचारणीयमेव । किञ्च प्रतीयन्तीत्यपि च्युतसंस्कृति । एवमनक्षरं जलपन् गङ्गाधरोऽत्रोपेक्षणीय एव । यदि तु स्यातत्रापि किञ्चिन्मूलमित्याग्रहस्तर्हि तत्पदाङ्गानुसारं व्याकरणस्खलितं परिहृत्यैवं छाया व्याख्यानं च स्यात्—

**भूयः प्रतीहि भास्मिनि न प्रत्यैष्यस्त्वमश्रुपृष्ठतास्ते ।  
यद्यभविष्यन् भिज्ञा न पृष्ठपुलकोद्दमेन मम ॥ १६ ॥**

हे प्रणयकोपशीले! पुनः प्रतीहि! सशिरश्वालनं काकूत्त्या ‘खलवचने पुनः प्रत्ययं कुरु!’ सरलोक्तौ ‘प्रत्ययो न कर्तव्यः’ इत्यर्थः । रुदत्यास्तव बाष्पविन्दवो यदि मतपृष्ठस्य पुलकोद्देदेन रोमाङ्गोद्दमेन न भिज्ञा अभविष्यन् तदा त्वं न प्रत्यैष्यः मयि प्रत्ययं नाकरिष्य एव । तवाशुजलस्पर्शादपि मम पृष्टे रोमाङ्गो जातः, त्वत्स्पर्शैं तु का कथा ।

त्वं तु खलवचने प्रख्यं कुर्वती मुद्वै भावं व्यथयसीति भावः । तथा च अशुजलस्पर्शा-  
दपि रोमाद्वं वहतो भमानुरागमनुसंधाय न पुनरेषे खलवचसि विश्वासं करिष्यसीति  
नायिकां प्रख्यभिव्यज्यते ।

नायकस्य ब्रेमद्वटीकरणार्थं तस्मिन्नाकर्णयति काञ्चिद्वृतीमाह—

**तं मित्रं काअवं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि ।**

**आलिहिअभित्तिवाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥**

[ तन्मित्रं कर्तव्यं यद्यसने चापि देशकालेषु ।

आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥ ]

**तन्मित्रं कर्तव्यं यद्यसने चापि देशकालेषु ।**

**आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न तिष्ठति पराङ्मुखं जातु ॥ १७ ॥**

यन्मित्रं व्यसने विपदि, देशेषु दूरदेशान्तरेषु, कालेषु बहुसमयान्तरालेषु यौवनाद्य-  
पश्यते इति यावत् । भित्तौ चित्तिलिखितपुत्तलिकेव जातु कदाचिदपि खतो विमुखं न  
तिष्ठति, तादृ॒सित्रं कर्तव्यम् । ‘वाउल्लअम्’ पुत्तलिकेति देशी । आलिखितेति कथनेन  
चेष्टारहितत्वेन प्रियपराधीनता सूच्यते । तथा च यः स्वेच्छया न किमप्याचेष्टितुं चक्षु-  
यात् किन्तु प्रणयपरवशः क्रियजनेचल्लयैव किमपि कुर्वदित्यर्थो ध्वन्यते । ‘तन्मित्रं  
युज्यते’ इति स्थाने ‘कर्तव्यम्’ इत्युक्त्या निजप्रयत्नेन मैत्री चेद्वध्यते तहि परीक्ष्य ताद-  
शमेव सित्रं कर्तव्यमिति सूच्यते । एवं च मत्प्रयत्नेन संजातसौहृदोयं मत्प्रेयान् न  
विश्वासं भंक्ष्यतीति ब्रेमद्वटीकरणमभिव्यज्यते ।

अस्मिन्स्थाने जायमानं वृत्तं मया विदितमिति निजनैपुण्यं सूचयन्कश्चित्सहचरमाह—

**बहुआइ णइणिकुञ्जे पठमुग्गअसीलखण्डनविलक्षम् ।**

**उड्हेइ विहंगउलं हा हा पक्खेहिं व भणन्तम् ॥ १८ ॥**

[ वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।

उड्हीयते विहंगकुलं हा हा पक्खैरिव भणत ॥ ]

**वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।**

**भणदिव हा हा पक्खैरुद्धीयत इह विहङ्गकुलम् ॥ १८ ॥**

वध्वा: नवतरुप्याः प्रथमसेव संजातेन शीलखण्डनेन चारित्र्यमङ्गेन विलक्षं सल-  
जम् । अत एव पक्षैः ‘हा हा’ इति शब्दं कुर्वदिव इह नदीनिकुञ्जे पक्षिकुलम् उद्धीयते ।  
खतो जायमानस्य हा हेत्याकारकपश्चरवस्य शीलखण्डनवैलक्षं हेतुरुद्धीयते । तथा च  
निभृतनदीनिकुञ्जे रहोविहितमपि वधूव्यवसितं पक्षिणोऽप्यविद्न् किमहमिन्नितवैद्यता-  
त्मनो विज्ञत्वं द्योत्यते । वधूपदेन गुरुजनसत्तास्मरणात् गुरुजनपरवशाया अपि तादक्षा-  
हसं कठिनमिति व्यज्यते ।

प्रेषितपतिकायाः सखी तत्कान्तागमनन्तरार्थं पथिकद्वारा संदिशति—

सच्चं भणामि बालअ णत्थि असकं वसन्तमासस्स ।

गन्धेण कुरबआणं मणं पि असइत्तणं ण गथा ॥ १९ ॥

[ सत्यं भणामि बालक नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।

गन्धेन कुरबकाणां मनागप्यसतीत्वं न गता ॥ ]

सत्यं भणामि बालक न आस्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।

गन्धेन कुरबकाणामसतीत्वं न हि गता मनागप्यि सा ॥ १९ ॥

विरहचरित्रानभिज्ञत्वाद् बालकेति संबोधनीय ! अहं सत्यं भणामि । संबोध्यमुद्दिश्य वक्तव्यविषयकथनेनैव सिद्धे पुनः ‘सत्यं भणामि’ इत्युत्तया अहं बोधनीयं त्वां सत्यं बोधयामि इति लक्ष्यते । तेन च ‘अहं तव हितैषिणी अस्मि’ इति निजवचनस्य विश्वस-नीयत्वं घन्यते । वसन्तमासस्य अशक्यं नास्ति, मनउन्मादकतया शीलखण्डनादिकं वसन्तमासस्य दुष्करं नासीत्यर्थः । परं सा कुरबकाणां परिमलेन ईषदपि असतीत्वं न गता । अनेन ‘सा त्वम्येव धृतवत्रा वर्तते, आश्वसिहि’ इति योत्यते । परमेतेन सहैव ‘नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य’ इत्यनेन नायकहृदयेऽर्थमप्युत्पाद्यते । तथा च ‘विरहे नारीणां हृदयवेदना न ते विदिता, अत एव यावदियं त्वदागमनबद्धलक्ष्या न खण्डित-शीला भवति तावदेनामचिरमुपगच्छ’ इति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

नायकमुत्कण्ठितुं दूती कस्याचिदनुरागातिशयमाह—

एकैकभवइवेठणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।

तइ बोलन्ते बालअ पञ्चरसउणाइअं तीए ॥ २० ॥

[ एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया ।

त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पञ्चरशकुनायितं तया ॥ ]

एकैककवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरललोचनया ।

व्युत्कामति बाल त्वयि पञ्चरशकुनायितं हि तया ॥ २० ॥

अवसरे दृष्टिक्षेपानभिज्ञत्वाद् बालकल्प ! तामतिकम्य त्वयि आगच्छति सति । एकै-कस्मिन् वृतिवेष्टनस्य विवरान्तरे प्रहितं चब्बलं नयनं यथा एतादृश्या तया पञ्चरबद्धप-क्षिवदाचरितम् । पञ्चरबद्धः पक्षी यथा प्रतिविवरं दत्तदृष्टिर्वैमति तथा त्वदृशनलालसया तया भ्रान्तमित्यर्थः । एकैकस्मिन्निलेनेन ‘कदाचिदस्मिन्विवरान्तरे दर्शनसौकर्यं स्यादिति प्रत्येकच्छिद्वान्तरतो दर्शनेनोत्कण्ठातिशयो योत्यते । प्रेषितलोचनयेति वक्तव्ये दत्तपदेन नयनस्य दर्शने गाढसंसक्तत्वं लक्ष्यते । तथा च प्रियदर्शने परवशं नयनमित्युत्कण्ठा-तिशयः प्रतीयते । तरलविशेषणेनापि ‘नयनमार्गात् प्रियः शीघ्रं नापकामेत्’ इति दर्शनशीघ्रतया उत्कण्ठातिशयो योत्यते । शकुनिवृष्टान्तेन ‘त्वदृशनादुत्कण्ठिता सा त्वद-

निंतके पक्षीयोहुयागच्छेत्, परं पक्षिणो यथा पञ्चरवन्धेन पारवश्यं तथा तस्या गृहवन्ध-  
नेन पराधीनता' इति नायिकानुरागातिशयो ध्वन्यते । तथा च 'एवं बद्धानुरागा त्वद्-  
र्शनार्थमतिप्रियतमानापि सा आगमनसमये त्वया न दृष्टा' इति 'बालक'पदसहकारेण  
नायकस्योत्तेजने ध्वन्यते ।

तस्या गेहमार्णेण गतोप्यहं तथा न दृष्ट इत्युपालभमानं नायकं नायिकादोषपरिहारार्थ  
दूती आह—

ता किं करेउ जइ तं सि तीअ वइवेद्येष्ठिअथणीए ।

पाअङ्गुड्डद्विखर्णीसहङ्गीअ वि ण दिडो ॥ २१ ॥

[ तर्तिक करोतु यदि त्वमसि तथा वृतिवेष्टनप्रेरितस्तनया ।

पादाङ्गुष्ठाधीक्षिसनिःसहाङ्ग्यापि न दृष्टः ॥ ]

तार्तिक करोतु चेत्त्वं तथा हि वृतिवेष्टनाहितस्तनया ।

हघोसि यच्च पादाङ्गुष्ठार्द्विखिसनिःसहाङ्ग्यापि ॥ २१ ॥

वृतिवेष्टनस्योच्चतया त्वद्विशनाय उच्चर्नयनग्रेषणार्थं पादाङ्गुष्ठस्य (आये) अर्धमागे  
क्षिसं समर्पितं निःसहम् अङ्गं यथा । 'दर्शनोत्कण्ठावशाद्वेष्टनया पि नानुसंधानमारीत' इति  
देहस्याऽनादरसूचनार्थं साऽवहेलं पातनार्थकं 'क्षिसं'पदं प्रयुक्तम् । 'निःसहम्' इलमेन  
'त्वदुत्कण्ठया पूर्वमेव शरीरमवशमासीदिवानीमङ्गुष्ठाये सर्वशरीरभरसमर्पणस्य कासी-  
त्सामर्थ्यम्' इत्युत्कण्ठातिशयो व्यज्यते । अत एव शरीराग्रसंतोलनार्थं वृतिवेष्टने  
आहितौ स्तनौ यथा । अनेन स्तनयोस्तुज्ञता शरीराग्रस्य च गुरुता सूच्यते । एवं  
कृतप्रयत्नापि तथा यदि त्वं न दृष्टेसि, तर्हि सा किं करोतु ? त्वद्विशनार्थमत्युत्कण्ठिता  
कृतप्रयत्नापि सा न इष्टुमपारयदिति न तस्या दोष इति भावः ।

कसाचित्प्रवासिनो जायामभिलषनं कञ्चन कामुकं तस्या निजनायके दृढानुरागसूच-  
नेनासाध्यां प्रतिपादयन्ती दूती आह—

पिअसंभरणपलोऽन्तवाहधाराणिवाथभीआए ।

दिज्जइ वङ्गमगीवाएँ दीवाओ पहिअजाआए ॥ २२ ॥

[ प्रियसंस्मरणप्रलुठद्वाधधारानिपातभीतया ।

दीयते वक्त्रभीवया दीपकः पथिकजायया ॥ ]

प्रियसंस्मरणप्रलुठद्वाधजलधारानिपातशङ्कितया ।

आवक्तिकन्धरया पथिकगृहिण्या प्रदीयते दीपः ॥ २२ ॥

दीपप्रदानोत्तरं प्रियतमसंनिधानमुखं पूर्वमन्वभूमिति प्रियसंस्मरणेन प्रलुठत् नेत्रयो-  
र्मध्ये सर्वतः संचरत् यत् हजलमशु तस्य धारानिपातशङ्काशालिन्या । 'प्रलुठत्' पदेन  
दीपदानसमये बाध्यविसर्जनस्यामङ्गलतया तदवरोधनेन बाध्यस्य नेत्रादू बहिरनिष्कमणात्  
नेत्रमध्य एव इतस्ततः संचरणं सूच्यते । 'धारा'पदेन 'बहोः कालादुपचित्तमशुजल-  
सं. गा. १०

मतो विवशतया तच्चिपाते न बिन्दुरपि तु धारा स्यात् इति स्मृतिभावविजूम्भणेन  
भ्रियेऽनुरागातिशयो ध्वन्यते । एवं च अश्रुजलं दीपे मा पत्तदिति वक्षीकृतप्रीवया पथिक-  
शृण्ण्या दीपः प्रदीपते । ‘गृहिणी’ पदेन गृहसंचालनध्यग्रतया, अपवादेन गृहापकीर्त्या  
च परप्रेमवैमुख्यं ध्वन्यते । एवं प्रेयसि दृढवद्धभावा सा नान्यत्र रत्ति कुर्यादिति  
तदसाध्यता उपनायकं प्रलभिव्यज्यते । ब्रवासे ख्याविप्रलभ्भचेष्टासु सेयमुदाहृता स.  
कण्ठाभरणे ।

ल्लहैन्यसूचकेन कस्याद्वित्परिवृत्त्यावलोकनेन कमपि कामुकयुवानमनुरक्षयितुं दूती  
आह—

तह बोलन्ते बालअ तिसा अङ्गाइँ तह ए वलिआइँ ।

जह पुढिमज्ज्ञणिवतन्तवाहधाराओं दीसन्ति ॥ २३ ॥

[ त्वयि व्यतिक्रामति बालक तसा अङ्गामि तथा तु वलितामि ।

यथा पृष्ठमध्यनिपतद्वाष्पधारा दश्यन्ते ॥ ]

व्यतिसरति त्वयि बालक वलितान्यङ्गानि किल तथा तस्याः ।

मध्येपृष्ठं निपतद्वाष्पकधारा यथा हि दश्यन्ते ॥ २३ ॥

परप्रेमानभिज्ञत्वाद्वालकल्प ! त्वयि व्यतिक्रामति तामतिकम्य त्वयि आगच्छति सति  
तस्या अङ्गानि त्वदर्थनार्थं तथा किल वलितानि परिवृत्तानि, यथा भाविना तवाऽदर्शन-  
दुःखेन उत्कण्ठितायास्तस्या निपतन्त्यो वाष्पधाराः पृष्ठमध्ये विलोक्यन्ते । दश्यन्त इति  
वर्तमानार्थकलटा इदानीमप्यशुधाराः सन्तीति प्रदर्शनसंरभातिशयेनोत्कण्ठातिशयो  
योख्यते । परिवृत्त्यावलोकनसमये अङ्गवलनेन तन्वङ्गयास्तस्या विरहदौर्बल्यं योख्यते । धारा  
इति बहुत्वेन तस्मिन्नेव समये तावद्वाष्पनिपतनाद् वेदनातिशयो व्यज्यते । तथा च  
‘त्वदर्थमेवमत्युत्कण्ठिता सा, त्वं तु तस्या अनुरागमविजानन्वराकीं तां क्षेशयसीति ताम-  
विलम्बितं किं न संभावयसि’ इति बालकपदसहकारेण सोपालम्बं नायकप्रोत्साहन-  
मभिव्यज्यते ।

कापि श्रियतमविरहस्य दुःसहत्वमन्यापदेशेनाह—

ता मज्जिमो विअ वरं दुङ्गणसुअणेहिँ दोहिँ वि ण कज्जम् ।

जह दिढ्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥

[ तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यामपि न कार्यम् ।

यथा दृष्टस्तपयति खलस्तथैव सुजनोऽदश्यमानः ॥ ]

मध्यम एव वरं तच्च हि कार्यं सुजनदुर्जनाभ्यां नः ।

दृष्टस्तपयति यथा किल खलस्तथाऽदश्यमान इह सुजनः ॥ २४ ॥

यथा दुर्जनः दृष्टो दर्शनपथमायातस्तापयति तथा सुजनः अदश्यमानो नेत्रयोरगोचर-  
स्यापयति । तस्मात् सुजनदुर्जनाभ्यामस्याकं न कार्यम् । मध्यम एव साधारणजन एव

थ्रेष्ठ इत्याशयः । वृष्ट इति भूतकालिकत्प्रलयेन, अदृश्यमान इति वर्तमानार्थकशानन्दा च 'पूर्णदर्शनेषि हुर्जनो व्यथयति, सज्जनस्य पूर्णाऽदर्शनस्य का कथा वर्तमानमप्यदर्शनं तापयति' इति तापतारतम्यमभिव्यज्यते । तपतीत्यन्तर्भावितप्यर्थः । यथा 'निर्दृण तपति बलीयः' इति शाकुन्तलम् । तस्य सौजन्यस्मरणेन दुःसहो मे विरह इति नाथि- क्याभिव्यज्यते ।

निजवद्धमं साभिलाषमालोकयन्त्याः कस्याश्रित्कटाक्षनिरीक्षणेनेष्यालुः काचिदाह—

अद्भुच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।

सो वि सुदिङ्गो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिजिहिसि ॥ २५ ॥

[ अधर्माक्षिप्रेक्षितं मा दुर्ल स्वाभाविकं प्रलोकय ।

सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि मुग्धा कलिप्यसे ॥ ]

स्वाभाविकं प्रलोकय न कुरुध्वार्द्धाक्षिवीक्षितं सुभगे ।

स सुदृष्टोपि भविष्यति मुग्धा कलिप्यसे ॥ २५ ॥

अद्वाक्षिवीक्षितं कटाक्षनिरीक्षणम् । पूर्णोन्मीलितेत्राभ्यां विलोकनात्प्रियदर्शने आधिक्येन सौविध्यमपि भविष्यति । कटाक्षनिरीक्षणं नाधुनापि जानातीति त्वमपि जनै- मुग्धा गणयिष्यसे । सुभगे ! इति संबोधनेन 'प्रियसौभाग्यशालिनी त्वमसीति तु ज्ञात- मेवासामि' इति साकृतोत्त्या इर्षाभिव्यज्यते । तदेतदविकं मच्छायायाम् ।

प्रवासे तिष्ठन्ति क्षत्तुलशीलपालिकाया निजदियतायाश्वरितमबुसरन् विरहविनोदने- च्छया वयस्यमाह—

दिअहं सुडकिआए तीए काउण गेहवावारम् ।

गरहए वि मण्युदुःखे भरिमो पाअन्तसुत्तसस ॥ २६ ॥

[ दिवसं रोषमूकायास्तस्या: कृत्वा गेहव्यापारम् ।

गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्तरामः पादान्तसुसस्य ॥ ]

गृहकार्यं किल कृत्वा दिवसं तस्या हि रोषमूकायाः ।

गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्तरामि पादान्तसुसस्य ॥ २६ ॥

समग्रं दिवसमभिव्याप्य गृहन्यापारं कृत्वा । रोषेण मूकायास्तस्या: कोधजनितोप- तापदुःखे महत्यपि सति । मदनुरागवशास्त्राच्छ्वयायां मत्यादान्तभागे शयनं स्तरामील्यर्थः । पादान्तसुस्त्वेति मातुः स्तरातीतिवत्कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी । दिवसे गृहकार्यं कृत्वेति वक्तव्ये दिवसमिल्यान्तसंयोगेन अनावश्यकेनापि गृहकार्येण दिवससमापनं सूच्यते । तथा च कार्यव्यस्तामित्यात्समप्रदिवसपर्यन्तमभाषणेन कोपातिशयो ध्वनितः । मन्युदुः- खमहत्वेषि पादान्तशयेन प्रियं प्रत्युक्तकण्ठासूचनाद्यितेऽनुरागातिशयः, कौलीन्यं च ध्वन्यते । क्रोधवशादेकत्राऽशयनात् 'शश्यान्तसुसस्य' इति वक्तव्ये 'पादान्तसुसस्य' इत्य-

नेन 'चरणेन मदङ्गस्पर्शे सति संजातकामोदयः कान्तो मामनुनयेत्' इत्यभिग्रायादौ-  
स्तुक्ययोदयः, कोपस्य च प्रशम इति भावसन्धिर्वर्णव्यते । स च अज्ञितस्य स्मृतिभा-  
वस्याङ्गमिति बोध्यम् । 'खडकिआ' रोषमूका ।

अथमवनितासक्त इत्युत्क्रमपि कंचन धनिकं परिहरन्ती दुहितरं वेशामाता  
शिक्षानिमित्तमाह—

**पाणुडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडग्मि ।**

**ण हु ते परिहरिअद्वा विषमद्सासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥**

[ पानकुव्यामपि उवलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि ।

न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥ ॥ ]

**प्रज्वल्य पानकुट्यां हुतवहनो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि ।**

**न हि ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥ २७ ॥**

पानकुट्यां मद्यपानस्थाने ( शौण्डिककुव्याम् ) ज्वलित्वा वहिर्यज्ञस्थानेपि ज्वलति ।  
पवित्रेऽप्यपवित्रे च स्थले जुगुप्तां परिहल्य समं व्यवहरतीत्यर्थः । एवमेव विषमदशासं-  
स्थिताः खानुचितदशामापन्नाः पुरुषा न परिहारमहन्ति । अत्र हुतवहदृष्टन्तेन वहिं  
यत्र नयन्ति लोकास्तत्रैव स स्वाकार्यं करोति, एवमेव यादशोपि कामुक आयातु अस्मा-  
भिर्धनहरणं कर्तव्यमेवेति सूच्यते । तथा च अस्मत्प्रयोजनसाधकः स धनिको न त्वयाऽ-  
वधीरणीय इत्यमिव्यज्यते । 'पानकुटी चण्डालकुटी' इति गजाधरः ।

स्वस्य संमुखमेव सर्ती निजभार्या बहु मन्यमानमुपनायकं काचिद्दसती साधि-  
क्षेपमाह—

**जं तुज्ज्ञ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अब्बे वि ।**

**ता किं फुड्डउ बीअं तुज्ज्ञ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥**

[ यत्त्व सती जाया असत्यो यत्त्व सुभग वयमपि ।

तर्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥ ]

**यत्त्व जाया हि सती यत्त्व सुभग वयमसत्यः स्मः ।**

**तर्किं बीजं स्फुटतु त्वया समानो युवा नास्ति ॥ २८ ॥**

तथि अव्यभिचरितं ग्रेम कुर्वाणा यत्त्व जाया सती, स्वभर्तारमवीर्यं तथि प्रणयं  
विद्धाना यत्त्व वर्यं कुलटाः स्मः, हे सुभग ! तत्र बीजं कारणं किं स्फुटतु प्रकटीभवतु ?  
एतदेव कारणं यत्त्वया समानोऽन्यो युवा नास्ति । हे सुभगेत्यामच्छ्रेण त्वमेतादश एव  
सौभाग्यशाली अस्ति ! । इति साकृतोत्त्वा अधिक्षेपोऽभिव्यज्यते । सापि त्वय्युत्क्राता  
वयमप्यन्वपरिहारपूर्वकं भवत्येवाऽसक्ता अत एव त्वत्सद्गतो नान्यः कश्चन जगति  
युवेति विद्यतीत्यर्थः । तथा च सर्वपरिहारपूर्वकं भवत्येव निहितप्रणयसर्वखां मां प्रत्य-

क्षमेवापमन्यमानस्य अहो ते यौवनगर्वे इत्युपालम्भोभिव्यज्यते । ‘वयमसत्यः स्मः’ इति बहुवचनेन ‘एका तव जायैव सती तदन्या वयं सर्वा अपि या भर्तुरतिचारेणापराद्वास्ता: केवलं त्वत्कारणादेव । अहो धन्यस्त्वं यत्समस्तकामिनीनां त्वमेवावलम्बनम्’ इत्याक्षेपे योख्यते । गङ्गाधरस्तु—“‘स्वभर्तरि विरागं सूचयन्ती कमप्यसती सतीं निजभार्या बहु मन्यमानं युवानं सौदर्यानुरागमाह—” इत्यवतरणं कुर्वेचिदं प्रणयवचनमेवाह ।

कस्मिन्नपि प्रणयातिशयं ग्रकटयन्ती काचिद्वृतीमाह—

सद्वस्सम्मि वि दद्वे तहवि हु हिअअस्स णिव्युदि चेअ ।

जं तेण गामडाहे हत्थाहस्तिं कुडो गहिओ ॥ २९ ॥

[ सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव ।

यत्तेन ग्रामडाहे हस्ताहस्तिकथा कुटो गृहीतः ॥ ]

सर्वस्वेऽपि च दग्धे निर्वृतिरेव हि तथापि हृदयस्य ।

हस्ताहस्तिकथा यत्तेन गृहीतो घटो वसतिदाहे ॥ २९ ॥

निर्वृतिरञ्जुपमसुखम् । वसतिदाहे ग्रामडाहे यत्तेन मध्येमपात्रेण हस्ताहस्तिकथा मम हस्ताचिन्हहस्तेन घटो गृहीतः एतावन्मात्रेणापि ममालौकिकं सुखमित्यर्थः । तत्करस्पर्शस्य कुते सर्वस्वनाशमपि न किञ्चित्पूर्णयन्त्या मे कियांस्तस्मिन्बनुराग इति त्वमेवानुमित्युहीति दूर्तीं सूचयन्त्या—निजप्रणयो ध्वनितः । हर्षारुण्यः संचारी योख्यत इति सरखतीकण्ठाभरणम् ।

गुरुजनसविधे गृहकर्मव्यापृता काचिदसती दूरीसमानीतकामुकसमागमवृत्तमाकर्ष्य तत्रासमर्थतामन्यापदेशेनाह—

जाएज वणुद्देसे कुजो वि हु णीसहो झडिअपत्तो ।

मा माणुसम्मि लोए ताई रसिओ दरिद्रो अ ॥ ३० ॥

[ जायतां बनोद्देशे कुजोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः ।

मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥ ]

कुजोपि जायतां किल निःशाखो गलितपल्लवो विपिने ।

मा मानुषे तु लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥ ३० ॥

बनोद्देशे पत्रशाखारहितः कुजो मध्यकुटिलो लघुवृक्षक एव कामं जायताम्, परं त्यागी दानशीलः, रसिकः सानुरागः शङ्खारी च जनो दरिद्रो निर्धनः अवसररहितश्च लोके मा जायतामित्यर्थः । वने कदाचिदेवावश्यकतार्थं कुजवृक्षः काष्ठादिद्वारा निजोपयोगं समुच्चयेत्, परं जनसमाजे प्रतिक्षणव्यवहारापेक्षायां त्यागिनो रसिकजनस्य दरिद्रावस्थायां को वा जीवनोपयोग—इत्याकृतम् । तथा च तं ग्राति सानुरागाया अपि अवसरदरिद्राया मे तदसमागमनिमित्तं महादुःखमिति दूर्तीं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘जाएज’ इत्यस्य जायतामिति छाया गङ्गाधरानुरोधेन । वस्तुतो ‘जायेय’ इत्येवोचिता प्रतीयते ।

उपपतिं प्रति गाढानुरागं सूचयन्ती काचित्तन्मित्रमाह—

तस्स अ सोहगगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्जा ।  
जाणइ गोलाऊरो वासारचोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[ तस्य च सौभाग्यगुणमहिलासद्वशं च साहसं मम ।  
जानाति गोदापूरो वर्षारात्रार्द्धरात्रश्च ॥ ]

तस्य च सौभाग्यगुणं मम साहसमेतदमहिलासद्वशम् ।  
बोधति गोदापूरो वर्षासमयोऽर्द्धरात्रश्च ॥ ३१ ॥

अमहिलासद्वशं स्वभावभीस्थु वनितास्प्राप्यम् । मामन्तरा न काचिदपि रामा  
एतद्विधातुं समर्थेति भावः । एतदिति स्ववर्णितस्य विश्वासार्थमिति बोध्यम् । एतन्मम  
साहसं वर्षासमयार्द्धरात्रे गोदावरीतररणं कृत्वा तदभिसरणरूपम् । बोधति जानाति ।  
तस्यैतावसौभाग्यं यत्तदर्थमहं वर्षासु वेगवाहिनीं गोदावरीमन्धकारितदिग्न्तेऽर्द्धरात्रे-  
पुत्ररामीति भावः । तथा चावयोर्मिथोनुरागवृत्तं न कोपि मानुषो जानातीति निश्चित-  
मभिव्यज्यते । अत्र वर्षासमय इति निगुम्फनं पुनरुक्तिपरिहारार्थम् । यदि तु मूल-  
नुरोधस्तहि—‘वर्षारात्रोऽर्द्धरात्रश्च’ इति पाद्यम् । वर्षारात्रोर्द्धरात्र इति द्विःपाठेन ‘तद-  
भिसरणे रात्र्यर्द्धं व्यतीतम्, कदाचित्कदाचित्समग्रा रात्रिरेव व्यतीतेति सूचनेन नाय-  
केऽनुरागातिशयो च्छन्यते ।

कथमधुना प्रेमचर्या परिलक्षेति केनचित्कामुकेन साकृतमुक्ता कुलटा तं प्रति  
सखेदमाह—

ते बोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा ।  
अह्ये वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मम् ॥ ३२ ॥

[ ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थाणवः शेषाः ।  
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेदं गतं प्रेम ॥ ]

ते व्यतिगता वयस्याः कुञ्जास्ते स्थाणुमात्रपरिशेषाः ।  
बत वयमपि गतवयसो मूलोच्छेदं गतं प्रेम ॥ ३२ ॥

यैः सह तादशोऽनुराग आसीते वयस्याः समानशीला व्यतिक्रान्ताः, अस्मानतीत्य  
दूरं गता इत्यर्थः । येषु तैः सह सुरतसुखमनुभूतं तेषां लताभवनानां स्थाणवोऽव-  
शिष्टाः । अस्माकमपि तदनुकूलं वयो व्यतीतम् । अतो हन्त प्रेम मूलोच्छेदं गतम्,  
मूलतो नाशं प्राप्तसित्यर्थः । ‘ते वयस्याः’ इति वयस्यपदेन ‘अस्माकं समानवयस्त  
एवासन्, नवव्योगवित्स्वं तु नास्माकं वयःपरिपाककृतां ग्रौढतां जानीया इति गृह-  
मात्माभिष्ठायो च्छन्यते । मूलोच्छेदमिति तु गङ्गाधरानुमतः पाठः ।

गतयौवनामपि सुरताद्यासक्ता कांचिदसर्ता प्रति परिहासशीलः कथिदाह—

थणजहणणिअम्बोपरि णहरङ्गा गअवआणाँ वणिआणम् ।

उव्वसिआणझणिवासमूलबन्ध च दीपनित ॥ ३३ ॥

[ स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्गा गतवयसां वनितानाम् ।

उद्धसितानझनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥ ]

गतवयसां वनितानां स्तनजघननितम्बरुढमखराङ्गाः ।

उद्धसितस्तरवसतेमूलविवन्धा इवावलोक्यन्ते ॥ ३३ ॥

\* स्तनजघननितम्बोपरि जातानि नखक्षतानि, उद्धसिता श्वन्यीकृता या स्तरवसति-  
रनझनिवासस्तस्या मूलबन्धा इव मूलबन्धनविहानीव दृश्यन्त इत्यर्थः । कथ्यचन  
पुरातनगृहस्योपरिभागः कालाच्छयति केवलं मूलबन्धनमात्रं यथा दृश्यते तथेति  
भावः । एवं च स्तनजघननितम्बानां कामकेलिसमुचिता श्रीस्तु गता तत्स्मृतिचिह्नमात्र-  
मेवेदानीमवशिष्यत इति निषुणमभिव्यञ्जितम् ।

सर्वे पि यूँ तां दृष्टा आगताः । कथयत कीटकस्या रूपमिति नायकेन पृष्ठाः सह-  
चरा आहुः—

जस्स जहं विअ पठमं तिस्सा अझमिमि णिवडिआ दिई ।

तस्स तर्हि चेअ ठिआ सब्बङ्गं केण वि ण दिझम् ॥ ३४ ॥

[ यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।

तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥ ]

तस्या अङ्गे प्रथमं यत्रैव हि यस्य निपतिता दृष्टिः ।

तत्रैव तस्य मझा, सर्वाङ्गं किल न केनचिद्दृष्टम् ॥ ३४ ॥

‘विनिहिता’दिस्याने ‘निपतिता’ इति कथनेन यद्यच्छयापि गता दृष्टिनिवध्यते किं  
पुनरभिलाषपुरस्सरमित्यङ्गानां लावण्यातिशयो व्यञ्जयते । तस्मिन्नेवाङ्गे तस्य दृष्टिर्ममे-  
लत्र ‘ममा’ इति पदेन अधिकालोचनयुद्धा दृष्टिः स्थिरतया अवशत्वं लक्ष्यते । तेन च  
लावण्यसिन्धुरिव सा सौन्दर्येणाऽग्नेति व्यन्यते, तदेतनमच्छायायामाधिक्यम् ।  
सौन्दर्यसिन्धोस्तस्या एकाङ्गशोभादर्शाने निश्चलनिलीना दृष्टिर्न सर्वाङ्गशोभादर्शनस-  
मर्थस्यायः । एवं चाइनिर्वचनीयं तस्या लावण्यमिति ध्वनितम् ।

प्रवासे विरहवेदनामलन्तमनुभूय यृहमागतः प्रियतमासमागमेन संतुष्टः कथिदाह—

विरहे विसं व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअम् ।

किं विहिणा समअं विअ दोहिं वि पिआ विणिमिमअआ ॥ ३५ ॥

[ विरहे विषमिव विषमामृतमया भवति संगमेऽधिकम् ।

किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विसिर्मेता ॥ ]

विरहे विषसिव विषमाऽप्यमृतमयी भवति संगमेऽभ्यधिकम् ।  
किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि निर्मिता दयिता ॥ ३५ ॥

वियोगे विषसिव विषमापि जीवितसंशयस्थानमपि संयोगे अल्यन्तममृतमयी जीव-  
नौषधिर्भवति । अतः किं विधात्रा सममेव समभागाभ्यामेव द्वाभ्यां विषामृताभ्यां  
प्रिया निर्मिता ? तथा च प्रियैव मे जीवनसर्वस्तम्, इमां विना नाहं जीवितुं समर्थ  
इति नायकेनाभिव्यज्यते ।

नायिकेच्छानुसारं नायकस्य चिरप्रवासं युक्त्या निवारयन्ती वयोधिका काचिद्गूती  
आह—

अदंसणेण पुत्रां सुहु वि गेहाणुबन्धघडिआइं ।  
हत्थउडपाणिआइं व कालेण गलन्ति पेमाइं ॥ ३६ ॥

[ अदर्शनेन पुत्रक सुष्टुपि स्त्रेहातुबन्धघटितानि ।

हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥ ]

सुत चिरमदर्शनेन हि सुष्टुपि रागानुबन्धघटितानि ।  
प्रेमाण्यज्ञलिसलिलानीव गलन्तीह कालेन ॥ ३६ ॥

पुत्र ! सुष्टु सम्यकप्रकारेण । लेहातुबन्धेन घटितानि परस्परमचलीकृतान्यपि  
प्रेमाणि, कालेन यथा हस्तपुटे नीतानि पानीयानि गलन्ति तथा चिरकालमदर्शनेन  
गलन्ति न्यूनीभवन्तीत्यर्थः । कालविलम्बे सति शनैः शनैः प्रस्ववणेन न्यूनीभवतामज्ञ-  
लिजलानां यथा न भवति प्रतीतिस्तथैव चिरकालं यावत्परस्परदर्शनाभावे शनैर्न्यूनी-  
भवन्ति प्रेमाणि न प्रतीयन्त इति भावः । पुत्रेलयनेन अवज्ञनीयतया हितोपदेश्यत्वं  
योख्यते । तथा च चिरप्रवासेन कदाचित्स्याः प्रेमबन्धः द्विथिलीभवेदिति भयं प्रदर्श्य  
प्रवासनिवारणं युक्त्या व्यन्यते । “चिरप्रवासागतेन भुजेज्ञनोपालब्धा वेश्यामाता  
भुजज्ञान्तरलभाया दुहितुदोर्धं परिहरन्ती आह” इति गङ्गावरटीकावतरणम् ।

यहजनसत्तायां कथं मत्समीहितं सेत्यतीति संशयानं कंचन युवानं प्रत्याययन्ती  
दूती द्वीर्णं बहुच्छलत्वमाह—

पहुपुरओ च्विअ णिझइ विच्छुअदहुत्ति जारवेज्जवरम् ।

णिउणसहीकरधारिइ भुउञ्जुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥

[ पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदेष्टि जारवैद्यगृहम् ।

निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला बाला ॥ ]

पतिपुरत एव नीता वृश्चिकदेष्टि जारवैद्यगृहम् ।

निपुणसखीकरविधृता भुजयुगलान्दोलिनी बाला ॥ ३७ ॥

निपुणमिः सहस्रोपनचुरुमिः सखीमिः, पीडाविकला माऽसौ पथि खिचता-

मिति करे धृता । विषजनितवेदनाव्याजेन करयुगमितस्तः प्रक्षिपन्ती बाला । वृश्चिकदष्टेति व्याजेन पत्युग्रत एव जारवैद्यगृहं नीता । अत्र वर्तमानार्थेन नार्थेविशेषपुष्टिरिति 'नीयते' इत्यस्य स्थाने 'नीता' इति भूतकालिकप्रयोगो बन्धानुरोधेन । बालापदेन 'बालाया एव एतावत्पाठवं प्रगत्यायास्तस्यास्तु तत्किं वक्तव्यमित्याकृतमभिव्यज्यते । ततश्च 'पत्युग्रत एव चेदेवं भवेत्तर्हि अन्यपरिजनस्य का गणनेति मा तलामे संदिशताम्' इति दूत्या नायकप्रोत्साहनमभिव्यज्यते ।

शुद्धजनाः प्रयोजनैकमित्राणि भवन्तीति चातुर्येण सूचयन्ती पूर्वसुभगा नववधूसम-पितप्रणयसर्वेस्वं कान्तमन्यापदेशेनाह—

**विकिणह माहमासम्मि पामरो पाइडिं वहल्लेण ।**

**णिधूममुम्मुर विअ सामलौअ थणो पडिल्लन्तो ॥ ३८ ॥**

[ विक्रीणीते साधमासे पामरः प्रावरणं बलीवदेन ।

निर्धूममुरनिमौ इयामल्याः स्तनौ पश्यन् ॥ ]

**विक्रीणीते माधे प्रावरणं पामरो हि वलदेन ।**

**निर्धूममुरनिमौ नूनं इयामास्तनौ पश्यन् ॥ ३८ ॥**

प्रावरणमुर्यावरणपटम् । प्रावरणं प्रदाय बलीवर्दं कीणातीत्यर्थः । निर्धूममुरनिमौ सोम्यत्वेन शीतनिवारकत्वात्रिर्धमतुषामिसदृशौ । षोडशवार्धिक्याः नववध्याः स्तनौ पश्यन् । पामरदृष्टौ शीतनिवारकयोः कुचयोर्मुरसादश्यमिति ग्राम्यत्वं गुणो न दोषः । 'माधे' इत्यनेन शीतबाहुल्यं सूचितम् । तथा च पामरो यथा संप्रति शीतबाधानिवारकौ इयामास्तनाद्यपलभ्य दुःसहशीतसंकटनिर्वर्तकतया एवं बहुधा कृतोपकारमपि प्रावरणं परिल्यजति, तथा लब्धाभिनववधूकस्य तव पूर्वं दत्तप्रेमसर्वखयापि मया किं कार्यम् । परं तदिदं शुद्धतासूचकमित्युपालम्भो व्यज्यते । अत्र हीनपात्रनिष्ठा रतिरिति रसाभास इति सरस्वतीकण्ठाभरणम् । परमेतत्प्रादिवादभात्रम् । अनौचित्यमेव हि आभासताप्रयोजकम् । स्वस्वभावानुसारमापामरमपि सर्वेषां रत्यादिभावानुभावित्वादास्तादस्याऽबाधत्वेन स्यादेव रसः । को वा तत्रानौचित्यप्रसङ्गः? किं च हीनत्वं नाम सापेक्षम् । स्यादस्मद्दर्थ्यानामपि कस्यचिदुच्चपात्रसापेक्षया हीनत्वमित्यनवस्था । अतो यत्रानौचित्यं तत्रैव रसाभासता । अनौचित्यं च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् । यत्र लेषामनुचितमिति धीः प्रसञ्जते तत्रैव तदिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तेन ।

स्वभावरक्तानां काल-वयो-व्यल्ययेषि न मानसा भावा विपरिवर्तन्त इति सूचयन्ती काचिदाह—

**सच्च भणामि मरणे द्विअश्च पुण्णे तडम्मि तावीए ।**

**अञ्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडह दिढ्डी तह चेअ ॥ ३९ ॥**

[ सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः ।  
अद्यापि तत्र निकुञ्जे निपतति दृष्टिस्तथैव ॥ ]

सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः ।  
अद्यापि तत्र कुञ्जे निपतति दृष्टिस्तथैव मम ॥ ३९ ॥

मरणे स्थितास्मि, मरणपथसंनिहिता जातास्मीति वार्द्धक्यं सूच्यते । सेयं लोक-शैली । तापीनद्याः पवित्रे तटे च स्थितास्मीति देहलीदीपवदुभयत्र संबन्धः । अथवा पवित्रे तापीतटे अभिसारार्थं यः कुञ्जस्त्रैल्यश्चतनेन संबन्धः । तत्र, यत्र बहुवारमभिसारो विहितस्तस्मिन्कुञ्जे । यथा पूर्वमनुरागोन्मादादभिसारोत्कुका पतति स्म, तथैव । कथयतो जनस्य भणामीत्युत्कर्षाधितत्वेन ‘सत्यं विश्वासं जनयामि’ इति लक्ष्यते । तथा च त्वां सख्यात्मानुभवं कथयामीत्यात्मनो विश्वसनीयवाक्यत्वं द्योत्यते । एवं चास्मिन् समयेषि बहुसमये व्यतीतेषि न मे पूर्वभावापमार्जनमिति मञ्जिष्ठारागशालिनां न कदाचिद्भावेषु परिवर्तनं भवतीति रसिकचेतःस्थेमता ध्वन्यते । “ब्रीषु कदापि विश्वासो न कर्तव्य इति बन्धुजनशिक्षार्थं काचिदाह” इति गङ्गाधारावतरणम् ।

कापि कुलयोषितकुलटाजनप्रलोभितं भर्तारमुद्दिश्य सखीजनमाह—

अन्धअरबोरपत्रं च माउआ मह पहुं विलुप्पन्ति ।  
ईसाअन्ति महं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ ॥ ४० ॥

[ अन्धकरबद्रपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुप्पन्ति ।  
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लाङूलेभ्यः फणो जातः ॥ ]

अन्धकरबद्रभाजनमिव मम लुण्ठन्ति मातरो दधितम् ।  
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव च लाङूलेभ्यः फणो जातः ॥ ४० ॥

हे मातरः ! एतेन सखीनां वयःपौढिरात्महितेच्छुक्तं च सूच्यते । तेन च माम-सात्संकटात्परित्राय ध्वे इति काश्यमभिव्यज्यते । अन्धकरस्थितं वदरफलपात्रमिव मम दधितं लुण्ठन्ति आच्छिन्दन्ति चौर्येणाभिसरन्तील्यर्थः । अथ मह्यमेव च ईर्ष्यन्ति, मम प्रियतमोपाश्रयणान्मत्तो विनययोग्यतायामपि मया सहैव ईर्ष्या कुर्वन्तीति भावः । अतो लाङूलेभ्यः पुछ्येभ्यः फणो जातः । यद्धि पुच्छं पश्चाद्वावित्वेन निग्रहनयोग्यं तदेव अत्रस्थानमासाद्य फणारुपेण दंशकमभवदित्यर्थः । लौकिकमाभाणकं चेदम् । अन्धकरे स्थितमित्यनेन सखीबुद्ध्या न ताभ्यो मया प्रियतमः पूर्वमवेक्षित इसात्मनो विश्वासवशादनवहितत्वं द्योत्यते । वदरपात्रमिवेत्युपमया ‘अतिसमर्थं वदरपात्रं यथा हैलया लोका आच्छिन्दन्ति, तथा असतीनां कृते अतिसुलभोभून्मे भर्ता’ इत्यभिव्यज्यते । वदरभाजनमिति ‘भाजन’ पदेन वदरफलानामुपरित्वनि सुमसृणतया उन्मुक्तपात्रस्थितानां तेषामन्धहस्ताच्चिभृतमपसारणे न भवति प्रतीतिरिति सूच्यते । तेन च सरलाङूलेभ्यो मे प्रियतमः सहजमेव प्रलोभ्य इति ध्वन्यते । विलुप्पन्तीति मूल-

पदेन दयितस्यैकान्तवशीकरणं सूच्यते । तेन च 'मत्तः सर्वथा तमाञ्छन्दनन्ति' इति योख्यते । संस्कृते तु तथाऽन्यभावाङ्गुणन्तीति प्रायुज्यते । तथा च कृतविश्वासाया मम व्यलीकर्मनुष्यापि मयैव सहेष्यां कुर्वतीनामासामसतीनां प्रलोभनाद्यितं विमोच्याहं रक्षणीयेति सखीः प्रलोभिव्यज्यते ।

कस्याश्चित्स्वल्पद्वयसाध्यतां सूचयितुं क्षुद्राणामल्पलाभेन गर्वशालितां जायकं प्रति प्रतिपादयति दूती—

अप्पत्तपत्तं पावित्तण णवरङ्गं हलिअसोण्हा ।

उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु ॥ ४१ ॥

[ अप्राप्तप्राप्तं प्राप्त्य नवरङ्गं हलिकसुषा ।

पश्यत तन्वी न माति विस्तीर्णांस्वपि ग्रामरथ्यासु ॥ ]

हलिकसुषा हि लङ्घ्वा नवनवरङ्गकमलभ्यलाभसिदम् ।

पश्यत न माति बृहतीष्वपि तन्वी ग्रामरथ्यासु ॥ ४१ ॥

न लभ्यो लाभो यस्य तत्, पूर्वं कदापि न आप्तविष्यथैः । अप्राप्ता प्राप्तियस्येति मूले । नवरङ्गकं कुसुमभवत्त्वं नवं च तत् नवरङ्गकं च नवनवरङ्गकम् लङ्घ्वा । स्वभावतस्तन्वी अपि विस्तीर्णांस्वपि ग्रामरथ्यासु न माति इति पश्यते । इदंस्मिति प्रत्यक्षप्रदर्शनेन स्ववच्चसो विश्वसनीयत्वं व्यज्यते । ग्रामरथ्याखिल्यनेन हर्षातिशयालोकानां पुरतो अमणेन तप्रदर्शनोत्साहो व्यन्यते । रथ्याखिलिति बहुवचनेन ग्रामस्य सर्वरथ्यास्या लोकः पश्यन्त्वाति बुद्धा बहुरथ्याग्रमणेन तदतिशयो योख्यते । लघापदेन नवयौवनचाश्वल्यसुलभो हर्षेप्रकाशनरभसो व्यज्यते । एवं च ग्रामरथ्यास्वपि न मातीत्यतिशयोत्साहा असाधारणहर्षातिशयसहकृतो गर्वोभिव्यज्यते ।

प्रियप्रत्यक्षदृष्टमप्यपराधं वाक्चातुर्येणापनीतवतों सर्वीं कान्तिसंतोषबहुमानमाह—

आक्षेपआइँ पिअजम्पिआइँ परहिअअणिवुदिअराइ ।

विरलो खु जाणइ जणो उपणणे जम्पिअव्वाइ ॥ ४२ ॥

[ वाक्षेपकाणि प्रियजलिपतानि परहृदयनिवृत्तिकराणि ।

विरलः खलु जानाति जन उत्पन्ने जलिपतव्यानि ॥ ]

वाक्षेपकाणि परहृद्विवृतिदानि प्रियाणि गदितानि ।

विरलो जानाति जनो ह्युत्पन्ने जलिपतव्यानि ॥ ४२ ॥

वाक्षेपकाणि प्रतिवादिवचनारक्षन्दकानि । संप्रत्ययजननात्परहृदयस्य निवृतिदायनि संतोषकराणि । उत्पन्ने अपराधादौ जलिपतव्यानि, प्रियाणि गदितानि ( प्रियवचनानि ) विरलो जनो जानातीत्यथैः । प्रत्यक्षमुपन्नमपराधं वीक्ष्य संदिहानस्य भर्तुर्वचनान्यभिभूय मधुरवचनकौशलेन त्वयैव तत्संतोष उत्पादित इति त्वमसाधारणासीत्याशयः ।

नायकस्यानीप्सितामपि गृहीतमानां सखीं बोधयितुं सखी आह—

छज्जइ पहुस्स ललिअं पिआइ माणो खमा समत्थस्स ।

जाणन्तस्स अ भणिअं मोणं च अआणमाणस्स ॥ ४३ ॥

[ शोभते प्रभोर्लितं प्रियाया मानः क्षमा समर्थस्य ।

जानतश्च भणितं मौनं चाजानतः ]

ललितं प्रभोः प्रियाया मानो भाति क्षमा समर्थस्य ।

भणितं च जानतः किल मौनं चाजानतो नूनम् ॥ ४३ ॥

प्रभोः समर्थस्य स्वासिनो ललितं खेच्छाकीडितं भाति शोभते । प्रियाया मानः शोभते न तु अमनोनीततया अप्रियायाः । एवं भातीति सर्वत्र योज्यम् । अनेन च दीपकेन ‘अप्रियायास्तव मानो दयितस्य कोपोद्दीपक एव भवेदतो न त्वया मानः कार्यः’ इति सखीं प्रत्यभिव्यज्यते ।

मदनलेखेन प्रियं प्रत्यात्मवेदनां सूचयेति सख्योक्त्या दर्शनश्रवणादिना प्रथमगेव प्रूढनायकरागा काचिदाह—

वेविरसिणकरङ्गुलिपरिग्रहक्षसिअलेहणीमगे ।

सोत्थि व्यिअ ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो ४४

[ वेपनशीलस्त्रिकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।

स्वस्त्येव न समाप्यते प्रियसखि लेखे किं लिखामः ॥ ]

कम्पस्त्रिकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।

स्वस्त्येव पूर्यते नो प्रियसखि लेखे लिखामः किम् ॥ ४४ ॥

कम्पमानाः स्वेदयुक्ताश्च याः कराङ्गुलयस्ताभिः परिग्रहेन स्खलिता विस्तासा या लेखनी तस्याः मार्गे । स्वस्तीति प्रारम्भिकवर्णद्वयमेव न समाप्यते, आत्मवेदनादिकमन्यत् लेखे किं लिखाम इत्थर्थः । प्रियसमरणेनाङ्गुलीषु कम्पस्वेदोदयात्थाविधाङ्गुलिमध्यान्मुहुर्विगलिताया लेखन्या लेखे स्वस्तिमात्रमपि लेखितुं न पारयामि किमन्यदिति भावः । स्मरणमात्रेण कम्पस्वेदादिसात्त्विकभावोदयात्थायकं प्रति निरतिशयः प्रणयोभिव्यज्यते । एतद्व्याख्याने “स्विञ्चाभिरङ्गुलिभिः परिग्रहेण स्खलिते लेखनीमार्गे स्वस्तीति न पूर्यते” इति गङ्गाधरोक्तिर्विचारणीयैव । स्विञ्चाङ्गुलिद्वारा ग्रहणेन लेखनी स्खलति न पुनलेखनीमार्गः । किञ्च ‘मदनलेखं लिखेति सख्योक्ता प्रोवितभर्तृका आह’ इत्यवतरणमपि नवीनमेव । पूर्वानुराग एव अप्राप्तनायकसमागमाया नायिकायाः शाकुन्तलादौ मदनलेखो दृष्टो न पुनः शतशः प्रियोपमुक्तायाः प्रोवितभर्तृकायाः । अत एव ‘विप्रलम्भपरीषिषु लेखविधानेन प्रेषपरीक्षा’ इत्यादिना पूर्वानुरागे लेखद्वारा नायिकायाः प्रेमावेदनप्रसङ्ग एवोदाहता सेवं गाथा सरखतीकण्ठामरण इति दिकू ।

कार्यस्यानिष्ठत्वौ स्वदोषमपनयन्ती दूती नायिकामाह—

**देव्यमिम पराहृते पतिअ घडिअं पि विहृदृणराणम् ।**

**कज्जं वालुअवरणं व्व कहँ वि वन्धं विअ ण एइ ॥ ४५ ॥**

[ दैवे पराङ्मुखे प्रतीहि घटितमपि विघटते नराणाम् ।

कार्यं वालुकावरण इव कथमपि बन्धमेव न ददाति ॥ ]

**दैवे प्रतीहि विमुखे घटितमपि च हन्त विघटते पुंसाम् ।**

**कार्यं कथमपि बन्धं नैति यथा वालुकावरणः ॥ ४५ ॥**

दैवे पराङ्मुखे सति नराणां घटितमपि कार्यं हन्त विघटते नश्यति, इति प्रतीहि विध्वसिहि । तत्र निर्दर्शनमाह—यथा वालुकावरणः वालुकामिः कृतः प्राकारः कथमपि बन्धं नैति, तथा कार्यं कथमपि बन्धं नैति, सिद्धान्तकूलं मार्गं नामुगच्छतीयाशयः । तथा च दैवप्रातिकूल्यादैव कार्यं विघटितं न पुनर्मैम कौशले काचित्पुटिरिति स्वस्यापाट-वशङ्गापनयनमभिव्यज्यते । अत्र ‘बन्धमेव न ददाति’ इति च्छाया, तस्याश्च ‘घटयितु-मेव न शक्यते’ इति गज्ञाधरकृता टीका च विचारणीयैव । ‘एइ’ इत्यस्य ‘ददाति’ इति च्छाया न स्यात्, नापि च ‘देह’ इति कुहन्तिपाठेऽवलोकितः ।

रहस्यग्रविष्ट्या मातुलान्या सह नदीक्षानार्थं गतप्रस्यागता काचित्त्रावलोकिते नायके निजमनःप्रसक्तिमाह—

**मामि हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मञ्जमाणाए ।**

**एहाणहलिदाकहुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥ ४६ ॥**

[ मातुलानि हृदयमिव पीतं तेन यूना मञ्जन्त्याः ।

स्नानहरिद्राकदुक्मनुस्तोत्तजलं पिबता ॥ ]

**यूना तेन निपीतं मञ्जन्त्या मातुलानि हृदयमिव ।**

**स्नानहरिद्राकदुकं पिबता किल जलमनुस्तोतः ॥ ४६ ॥**

हे मातुलानि ! मञ्जन्त्याः स्नात्या भम ज्ञानहरिद्राकदुकम् । स्नानसमये उद्वर्तनार्थं प्रयुक्त्या हरिद्रया कठुकं जलम् । अनुस्तोतः जलप्रवाहाद्गुणं यथा स्यात्तथा । प्रवाहागत-हरिद्राजलपाने नान्यलोकानां प्रेम प्रतीतं स्यादिति तथाकरणेन नायकनैपुण्यं सूच्यते । मध्यनुरक्ततया भद्रज्जसङ्खवहुमानापिबता तेन यूना भम हृदयमिव पीतम् । तद्वावण्य-दर्शनेन पूर्वमेव विवशीकृताया सम उद्वर्तनहरिद्राजलपानान्मयि प्रणयप्रकटनातेन हृदयमपहृतमिति भावः । प्रथमानुरागे लावण्यदर्शनेन खेहृदर्शनेन चेत्युभयथा प्रेमप्र-सक्तिराख्यायते, तत्र परस्योदाहरणमिति सस्वतीकाठभरणम् । अनेन “मातुलान्या पूर्वकथितसौन्दर्यादिगुणस्य” इति गज्ञाधरवतरपोक्तमपास्तम् । हृदयमिव पीतमि-त्युत्रेक्ष्या ‘भम हृदयमिदार्नीं तदायतं तथा च तत्प्राप्तैव भम जीवनमतस्तदुपलभ्माय त्वरितं प्रयत्यताम्’ इति ध्वन्यते ।

छतमानां नायिकां दाक्षिण्येनातुनयन्कान्त आह—

**जिविअं असासअं विअ पि विच्छइ जोव्यां अतिकन्तम् ।  
दिअहा दिअहैहैं समा ण होन्ति किं पिष्टुरो लोओ ॥४७॥**

[ जीवितमशाश्वतमेव न निवर्तते यौवनमतिक्रान्तम् ।

दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति किं पिष्टुरो लोकः ॥ ]

**जीवितमशाश्वतं किल न च यौवनमपि निवर्तते ऽतीतम् ।**

**दिवसा दिवसैर्न समा भवन्ति, किं पिष्टुरो लोकः ॥ ४७ ॥**

जीवितमस्थिरमिति ‘किल’ निश्चय एव । अतिक्रान्तं यौवनमपि न पुनरावर्तते । यौवनेऽनुभवनीयानि सुखानि पुनरेह दुर्लभानि भवेयुरिति निभृतं सूच्यते । दिवसा अपि समाना न भवन्ति । अथे संतानोत्पत्यादिना एषु दिनेष्विव्र भोगस्वच्छन्दता स्थानं वेति द्योत्यते । एवंस्थितावपि लोकः किमिति सुखोपभोगादिकर्मणि निष्ठुरः, इति न प्रतीयत इत्यर्थः । एवं च ‘याचमानस्य मे प्रार्थनया प्रसादातुगुणमाचर, मा किल रोषपरुषतया अथे सरणीयसुदुर्लभसुखातुभवादात्मानं च सहचरं च वश्य’ इत्यभिव्य-ज्यते । ‘कृतकलह्योदिम्पल्योः प्रणयरोपभमर्जीं सर्वी आह’ इति गङ्गाधारावतरणम् ।

पारदारिकविनियुज्यमानविभवं प्रियतमं काविदसहमानतया सास्यमाह—

**उप्पाद्वादव्याणां वि खलाणं को भाअणं खलो चेअ ।**

**पक्काहैं वि पिम्बफलाहैं णवरं काएहैं खजन्ति ॥ ४८ ॥**

[ उप्पादितद्रव्याणामपि खलानां को भाजनं खल एव ।

पक्कान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥ ]

**अर्जितविभवानामपि खल एव हि भाजनं खलानां स्यात् ।**

**निम्बफलानि विपक्कान्यपि काकैरेव खाद्यन्ते ॥ ४८ ॥**

उपार्जितं द्रव्यं यैस्तेषामपि खलानां भाजनं दानपात्रं खल एव स्यात् । मूळे ‘उपार्जितद्रव्याणां खलानां भाजनं कः?’ खल एवेति प्रश्नोत्तररूपमिव, इह तु सरलमेवेति बोध्यम् । विपक्कान्यपीत्यपिना ‘पक्कान्येव फलानि न सुजनोपयोगीनि तदा अपक्रान्तं तु का कथा, तथा च ‘धनर्जने सत्यपि नास्मदादीनां तत्कृतं सौख्यं तदभावे तु किं वाच्यम्’ इति दधितं प्रति गृहमाक्षेपोऽभिव्यज्यते ।

कसाच्चिद् गृहवृत्तान्तमवलोक्य निजस्येज्जितशतां सूचयन्नागरिकः सुहृदमाह—

**अज्ञ मए गन्तव्यं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।**

**अज्ञा पिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥ ४९ ॥**

[ अद्य मशा गन्तव्यं घणन्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।

आर्थो निमीलिताक्षी पदपरिपार्टी गृहे करोति ॥ ]

अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेपि तस्य सुभगस्य ।  
आर्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटीं गृहे कुरुते ॥ ४९ ॥

तस्य सुभगस्य सविधे इत्यर्थः । पदपरिपाटीं पादपरिचारणम् । अद्य मया गन्तव्य-  
मिल्यनेन अनभ्यस्ततमः संचारा भाविकृष्णाभिसारिका सेयम् । अदैव निशि गन्तव्यं  
यतः स ‘सुभगः’, प्रियाप्रणयावलम्बनतया सौभाग्यशालीति न विलम्बावसरः । अत एव  
खल्पसमय एवाभ्याससिद्ध्यर्थं गृहे पदपरिपाटीकरणम्, एवं च नाथिकाया मौरध्यमभिं-  
व्यज्यते । परिपाटीपदेन ‘तमसि गमने उच्चावचपदनिक्षेपेण भूषणध्वनिसंभवान्मा  
भूषयकटा’ इति पदन्यासपाटवाभ्यासे सावधानता ध्वन्यते । आर्या उत्तममहिला ।  
तथा च कौलीन्यभयेनाभिसारनिहवार्थमितिसर्कताभिव्यज्यते । स्मरणादिना उद्दीपका-  
माया नाथिकाया: प्रियतमानुरागसूचकोऽभिसरणचेष्टानुभावोयमिति स. कण्ठाभरणम् ।  
अयत्नोपलब्ध आर्याच्छन्दःसिद्धिकृतो सुद्रालङ्कारोपि नात्र विस्मार्यः । ‘नाथिकानुरागं  
प्रकाशयन्त्या दूत्याः कामुकं प्रत्युक्तिरियमिति केचित्’ इति गङ्गाधरटीका ।

कुपिताज्ञायकाद्वयलीकशङ्क्या तमनभिसरन्तीं नाथिकां काचिद्विदधा दूती सुजन-  
चर्यामाह—

सुअणो ण कुप्पइ च्विअ अह कुप्पइ विपिअं ण चिन्तेइ ।  
अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ ॥ ५० ॥

[ सुजनो न कुप्यत्येव अथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति ।

अथ चिन्तयति न जल्पति अथ जल्पति लज्जितो भवति ॥ ]

कुप्यत्येव न सुजनो यदि कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति ।

यदि चिन्तयति न जल्पति यदि जल्पति लज्जितो भवति ॥ ५० ॥

यदि विप्रियं चिन्तयति तथापि मुखान्न कथयति, अहमस्यैवमेवं करिष्याभीति विक-  
थनस्य सुजनचर्याविप्रतीपत्वात्, फलोदयात्पूर्वं कार्यप्रकटनस्य नीतिवाह्यत्वाच्च । अथवा  
'कृते प्रतिकृतन्यायेन विप्रियमस्य शिक्षार्थं कर्तव्यमेव, पुनर्जनसमक्षं किमिल्येनमानम-  
यामीति चिन्तयत्वा जल्पतीति भावः । तेन सुजनस्य विचारागम्भीर्यमभिव्यज्यते ।  
यदि जल्पति रोषावेशावशान्मुखान्निःसारयति, तर्हि रोषापगमे निजस्खलितमनुसंधाय  
'खयमपि तु जिह्वेति विबुधः' । “कृतविप्रियं प्रति प्रतिकूलाचरणप्रवृत्तस्य कस्यचिच्छि-  
वारणाय कथित्सुजनचरित्रं वर्णयति” इति गङ्गाधरः ।

‘रूपमात्रसारां तां किं बहु मन्यसे’ इति सप्तलीमभिभूय निजगुणगणगौरवमस्त्रिय-  
ज्ञयन्ती काचित्कान्तमाह—

सो अत्थो जो हृत्ये तं मित्रं जं पिरन्तरं वसप्ते ।  
तं रुद्रं जत्थ गुणा तं विष्णाणं जहिं धम्मो ॥ ५१ ॥

[ सोऽथो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।  
तद्वूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥ ]

सोऽथो यो निजहस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।  
तद्वूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं च यत्र धर्मः स्यात् ॥ ५१ ॥

अथो धनम् । व्यसने विपदि यन्निरन्तरम् आन्तर्येण व्यवधानेन शून्यं स्यात् । तच्च शरीरद्वारा मनोद्वारैति द्विधा । तथा च अव्यवधानेन सहचरं मनसा प्रवणं च यत्तन्मित्रमित्यर्थः । विज्ञानं लोकशास्त्रादिषु बहुज्ञता । एवं च केवलं बाह्यसौन्दर्यशालिनीमत एव रूपगर्वेण तथि तथा नानुरज्यन्तीं तां किं मुधाऽनुवर्तते हृदयेन त्वदनुवर्तनादिगुणसंपन्नां बहु मन्यस्य मासित्यभिव्यज्यते । अन्योक्तिविधया एतदनुहारि रुचिरमाह आचार्यगोवर्द्धनः—

‘इह रूपमात्रसारे वित्रहृते कनककहारे । न रसो नापि च गन्धो मधुकरबन्धो मुधा भ्रमसि ॥’ “भाविधनप्रस्तावशया भुजज्ञे कृतानुरागां द्वितिरं वारस्यन्ती वेद्यामाता धनादीनामुपादेयताप्रयोजकमाह” इति गङ्गाधरटीकावतरणम् ।

‘प्रवासे कथमिव व्यत्येति स्त्र रजनिः’ इति निश्चि विश्रमभालपेषु प्रिययाऽनुयुक्त-विव्रप्रवासादागतः प्रियतमस्तामाह—

चन्द्रमुहि चन्द्रध्वला दीर्घा दीर्घच्छि तुह विओअम्मि ।  
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि बोलीणा ॥ ५१ ॥

[ चन्द्रमुखि चन्द्रध्वला दीर्घा दीर्घच्छि तव वियोगे ।  
चतुर्यामा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥ ]

चन्द्रमुखि चन्द्रध्वला दीर्घा दीर्घच्छि तव विरहे ।  
कथमपि गमिता रजनी शतयामेव हि चतुर्यामा ॥ ५२ ॥

चन्द्रमुखीति संबोधनेन चन्द्रेणावदातायां रात्रौ चन्द्रमालोक्य तन्मुखं स्मृतमिति विरहे शतशुणितवेदनाधिक्यमित्यज्यते । पूर्वार्द्धे दीर्घेति कथितेषि पुनः ‘चतुर्यामा यामिनी शतयामेव कथमपि गमिता’ इत्यनेन ‘अधिकादधिकं रात्रेश्वत्वाः प्रहरा भवन्ति परमद्य कि शतं प्रहरा जाताः?’ इत्येवमविनिद्रं रात्र्यवसानप्रतीक्षया रजनीदैर्यातिशयप्रतीतेर्नायकस्य वेदनातिशयो ध्वन्यते । कथमपीत्यनेन ‘जीवितविरामात्पूर्वं नासीचिशावासानसंभावना, परं यथाकथंचिच्छीता’ इति कष्टाति-शयो ध्वन्यते । अतिकान्तेति परिवर्ते गमितेति ष्यन्तप्रयोगेण ‘क्षणदापि मदर्थमक्षणदा वैरिणी रात्रिः कि स्वेच्छया गता? बलान्मया कथंचिद् गमितेति विरहिणोऽसहनतातिशयो व्यज्यते । यदि तु प्रकृतिनियमानुसारं रात्रिः कथमपि गतेति मूलानुरोधस्त्रहि ‘याता’ इति पाठो बोध्यः । चतुर्यामा शतयामेव गतेत्युत्प्रेक्षया ‘त्वद्विग्रहे गतेश्वलासो यामाः शतं जाताः’ इति विरोधालङ्कारात्वनिरपि स्त उपतिष्ठते ।

चन्द्रमुखि चन्द्रधवला, दीर्घा दीर्घाक्षील्यादिरुप्रासस्तु स्वयं वाचमनुधावतीति किं तत्र समीक्षापेक्ष्या ।

यथेष्टधनालामेनापरितुष्टयाः कस्याश्वन दूस्याः परिवादपैश्चन्यमभिव्यज्ञयन्ती सखी खलचरितमाह—

अउलीणो दोषुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।

मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ ॥ ५३ ॥

[ अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।

मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥ ]

अकुलीनोऽथ द्विमुखस्तावन्मधुरोऽन्नमानने यावत् ।

जीर्णेऽन्ने तु मुरज इव पिशुनो वत विरसमारसति ॥ ५३ ॥

अकुलीनः असत्कुलजातः । समक्षपरोक्षयोवैचनमेदेन द्विजिहतया द्विमुखः ।

पिशुनः खलो मुरज इव मृदङ्ग इव तावन्मधुरो यावन्मुखे अन्नं भोजनं भवति ।

मृदङ्गसाद्येन-चूर्णलिप्समुखत्वे मृदङ्गो हान्यवादान्यमिभूयापि यथा मधुरं रसति, तथैव भोजनादिसंतुष्टः खलस्तदवस्थायामन्यलोकापेक्षयाऽधिकप्रशंसाचाढुक्षद्वतीति स्वार्थमात्रमैत्रीरुपा क्षुद्रता व्यज्यते । भोजने जीर्णे तु विरसमप्रियम् आरसति

मूति, निन्दतीर्थर्थः । एवम्, अकुलीनः कौ पृथिव्यां न लीनः, मृदङ्गस्य बन्धुरत्वेन चालीकृतवस्त्रोपर्यवस्थापनात् । द्विमुख उभयमुखः, उभयतो वादकासत्त्वात् ।

घो मुरजोपि यावन्मुखेऽन्नं पिष्टलेपो भवति तावदेव मधुरो नादेन क्षुतिसुखावहो त । पिष्टलेपे जीर्णे शुष्कतया समाहरणोचिते तु विरसं नीरसं रुक्षं यथा

तथा आरसतीर्थर्थः । आनने यावदन्नं तावन्मधुर इत्यन्न आनने इति सप्तम्या अवाननसंबन्धे सत्येव अर्थात् भुजानदशायामेव स चादृनि कुरुते' इत्यर्थसूचनेन

मुरजोपमानस्य पिशुनस्य अस्यन्तं स्वार्थपरताभिव्यज्यते । अकुलीन इति पदेन 'सत्कु-

लजाताः न स्वार्थमात्रैकमित्राणि भवन्ति' इति सूच्यते । मत्कृतच्छायायामन्नपदं मुरज-

पक्षेषपि भोजनपदापेक्षया कियदर्थसमर्पकमिति सहदयहृदयमेव परीक्षकम् । 'दुर्जन-

मैत्री न चिरकालस्थायिनीति सखी नायिकां शिक्षयति' इति गङ्गाधरः किं वा दुर्जनमु-

खपिण्डदानार्थं कुलटां शिक्षयन्त्याः कुट्टन्या इयमुक्तिरिति दुर्जनार्थं पिण्डदानव्यवस्थां

कुर्वन्नवसरोचितमाह गङ्गाधर इति हृदयेन ब्रूमः ।

तटस्थाः पथिका अपि तत्कटाक्षशारविद्वा: परिताम्यन्तीति कस्याश्रिदुपवर्णनया नायकमनः समाकर्षन्ती दूती आह—

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअन्तद्वतारअं पहिओ ।

जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥

[ तथा सुषया प्रलोकितो द्रवलितार्घतारकं पथिकः ।  
यथा वारितोऽपि गृहस्थामिना अलिन्दके सुसः ॥ ]

सुषया तथाऽवलोकित ईषद्वलितार्घतारकं पथिकः ।  
सुसो निभृतमलिन्दे गृहपतिना वारितोपि यथा ॥ ५४ ॥

ईषद्वलितार्घतारकं विभ्रमवशेन किञ्चिदुच्चलितम् अर्घतारकं यस्मिन्दर्शने यथा भवति तथा । तारकाया अक्षिकनीनिकाया अर्घमर्घतारकम् । कटाक्षपुरस्सरमवलोकनेन नायिकाया अभिलाषो व्यज्यते । अलिन्दे वहिर्द्वारपार्श्वये प्रकोष्ठे । गृहस्थामिनेल्यनेन गृहाधिकारिणो नायिकाश्वशुरस्य सत्तायामपि पथिको नयनशरविद्धतया न निशि निवासलोभं ल्युँ प्राभवदिति सुषावलोकनस्यात्यन्तमाकर्षकता सूच्यते । निभृतमिल्यनेन निवारणद्विर्हिन्द्विकान्तोपि सुषावलोकनेनाऽनुस्मिततदभिलाषस्तस्मागमलालस्या पुनर्विज्ञातमागस्य सुस इति पथिकस्यौत्सुक्यातिशयो व्यन्यत इति मच्छायायामाधिक्यम् । सुस इत्यत्र गृहाच्चिर्गत्य संगमाशया पुनः परावृत्तस्य शयनं बोधयितुसिष्टमिति शयनेन सकलाविज्ञातं तूष्णीं संवेशमात्रं ( न तु निदा ) लक्ष्यते, तेन च नायिकासंगमाभिलाषो व्यन्यत इति विज्ञातमेव विज्ञानाम् । अलिन्दस्य शून्यतासत्तायामपि पथिलङ्घनपरिश्रान्तस्य पान्थस्य निवासवारणाद्बुभविना श्वशुरेण प्रतिषिद्धस्य पथिकस्य तरुणत्वं दोलते । अत एव पूर्वमपि कदाचिद्वलोकितपरसंगमां सुषां सकटाक्षस्यागमलोकयन्तीं वीक्ष्य स वारित इति नायिकायाः सुसाध्यत्वं व्यन्यते । तथा चैवंविधविभ्रमवर्तीं सामिलाषां च किं नानुसरसीति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते दूल्या । ‘दर्शनमात्रैवै विद्वधा भावमाविष्कुर्वन्ति लक्षयन्ति चेति दर्शयच्चागरिकः सहचरमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

न किल सुजनाः स्वसुखेन स्वगुणकीर्तनं प्रशंसन्तीति निजश्लाघनपरं कद्यन शिक्षणितुं कश्चिद्विद्वधवर्चर्यानिष्णात आह—

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कजाइं ।  
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरणम् ॥ ५५ ॥

[ लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये ।  
निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥ ]

शैलोन्नतमपि पुरुषं लघु विलघयतश्चिराय कार्ये द्वे ।  
निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥ ५५ ॥

अनिर्व्यूढे अकृते कार्ये निर्वरणं निवेदनम्, आत्मगुणप्रकाशनार्थमिति भावः । निर्व्यूढे कृते च कार्ये आत्मश्लाघार्थं यन्निवेदनम्, एते द्वे अपि कार्ये शैलोन्नतमपि अत्यन्त-पुरुषमपि पुरुषं लघु शीत्रं चिराय चिरकालार्थं लघयतो लघुकूरुतः । लघुशब्दात्तक्षरोति तदान्त इति पित्र । अकृतकार्यस्य व्यर्थमेव निवेदनम्, कृते च कार्ये स्वसुखेन

नोचितं श्यावाहेतुकं तत्कथनमित्युभयोः कार्ययोर्लघवकरत्वमुचितमैवेत्यर्थः । चद्वा असम्पादितनाथकसमागमामपि निजकार्यं वर्णयन्तीं दूरीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् ।

केनचन यूना सह बद्धभावापि त्वं मत्तस्तदपलापमकार्षीरेतावत्कालम्, परमद्य भया लक्षितासीति सूचयन्ती वयःस्था कान्चित्काङ्क्षन सुन्दरीमाह—

**कं तुङ्गथणुकिखत्तेण पुत्ति दारडिआ पलोएसि ।**

**उणामिअकलसणिवेसिअग्वकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥**

[ कं तुङ्गत्तनोदिक्षेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि ।

उच्चमितकलशनिवेशिताव॒धकमलेनेव मुखेन ॥ ]

**द्वारगता कं पश्यसि तुङ्गकुचोत्सङ्गसङ्गिना पुत्रि !**

**उच्चमितकलशनिवित्ताव॒धवारिजेनेव वदनेन ॥ ५६ ॥**

दूराद्वलोकनार्थं पूर्वकायस्योच्चामितत्वात् लोकेभ्यो दर्शनव्यग्रतागोपनार्थं मुखस्य क्षण-मवनामितत्वाच्च तुङ्गस्तानोपरि स्थितेन । अत एव उच्चमितयोः कलशयोरस्पर निवेशितेन अर्धवारिजेनेव अर्धकमलेनेव मुखेन हे पुत्रि द्वारस्थिता सती कं प्रलोकयसि । यदि न तत्र केनापि सह मैत्री तहि उत्कण्ठाधिक्यवर्द्धितप्रधासतया दूरविलोकनतत्परतया चोचतकु-च—पूर्वकाया लोकेभ्यो मार्गदर्शनव्यग्रतानिहवार्थमवनमितमुखी च द्वारि स्थिता कं वीक्ष-से ? द्वारस्थित्या च त्वं सुखसाध्यतया प्राप्तासि कामुकेन । तथा चोक्तमनज्ञरङ्गे—‘निर्लज्जा विधवा कलासु कुशला०’ इत्यादि । अत एव विदितरहस्याया मत्तस्तव गोपनं व्यथमैवेति भावः । पुत्रियामन्त्रिणेन ‘त्वमिदानीमेव प्रबुद्धासि, अहं तु बहोः कालादेतत्परिज्ञायात्तु-भूय च परित्यक्षती’ इत्यात्मनोऽभिज्ञतातिशयो द्योत्यते । अत एव मा परिज्ञातमप्यर्थ-मपलप । त्वं मम वात्सल्यपात्रमसीति मत्तः साहाय्यमेव ते भावीति भूयानर्थो ध्वन्यते । ‘द्वारस्थितिकलितशीलखण्डनां कुलजां कुट्टीं विश्वासयितुमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

स्थानेस्मिन् रूपगुणंपन्नाप्यनविकारिकरपतिता कान्चित्तुस्तनी सुलभेति नागरिकं काचिहूती सूचयति—

**वद्विवरणिग्नादलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणम् ।**

**एत्थ घरे हलिअवहू एद्वमेत्तथणी वसइ ॥ ५७ ॥**

[ वृत्तिविवरनिर्गतदल पूरण्डः साधयतीव तस्मेभ्यः ।

अत्र गृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥ ]

**वृत्तिविवरनिर्गतच्छद् एरण्डः शंसतीव तरुणेभ्यः ।**

**हलिकवधूर्भवनेसिद्धेतावन्मात्रसुस्तनी वसति ॥ ५७ ॥**

ग्रामे गृहवृत्तिरन्वीकरणार्थमेरण्डो रोप्यत इति ग्राम्याणां पद्धतिः । ततश्च गृहवृत्ति-विवरात् निर्गतो बहिर्निष्कान्तच्छदः पल्लवो यस्य, ईदृशा एरण्डवृक्षः । प्रयोधरातिपरिण-

हसुचकोत्तानप्रसारिताङ्गुलेहस्तस्याभिनयसंनिभेन स्वसंनिवेशेन—एतावन्मात्रौ सुन्दरै स्तनौ यथा ईदशीति तस्येभ्यो हालिकवधूस्तनपरिणाहं शंसति कथयतीलर्थः । हलिक-वधूरित्यनेन लाबण्यवलास्तस्या अनुबुरुपस्तपतिर्हलवाहनादिकर्मणा प्रायो वहिरेव तिष्ठतीति तत्सौलभ्यं योत्यते । तस्येभ्य इति साधारणिदेशेन ‘तस्यास्तलाभलालस्या तदवसरप्रतीक्षायां भ्राम्यन्त्येव न पुनरधावधि केवापि सा संगतेति यावज्ञासौ केनचिद्यूनाचशीकियते तावत्त्वरितमेनामनुसर’ इति नागरिकं प्रत्यभिव्यज्यते । उत्तानप्रसारिताङ्गुलिहस्तसंनिवेशेन वस्त्वन्तरपरिणाहप्रतिबिम्बनं लोकप्रसिद्धं तदिहाप्यभिनयहृषेण जातमित्यभिनय एवालङ्घार इति स० कण्ठाभरणम् । “गुरुर्थ्यं निवेशितोपि खलः प्रत्युत रहस्यमेव प्रकाशयतीति प्रदर्शयन्नागरिकः सहचरमाह” इति गङ्गाधरः ।

धनिकभुजङ्गं सामिलाषीकर्तुं व्याजेन दुहिरुर्धनस्तनभारं प्रशंसन्ती, शीघ्रानयनार्थं भुजङ्गेनोक्ता कुड्डनी तमाह—

**गजकलहकुम्भसंणिहघणपीणपिरन्तरेहि तुङ्गेहि ।**

**उस्ससिउं पि ण तीरइ किं उण गन्तुं हअथणेहि ॥ ५८ ॥**

[ गजकलभकुम्भसंनिभघनपीनिरन्तराभ्यां तुङ्गाभ्याम् । ]

उच्छ्वसितुमपि न तीरयति किं पुनर्गन्तुं हतस्तनाभ्याम् ॥ ]

**गजकलभकुम्भसंनिभघनपीनिरन्तराभितुङ्गाभ्याम् ।**

**तीरयति नोच्छ्वसितुमपि हतस्तनाभ्यां पुनस्तु गन्तुं किम् ॥ ५९ ॥**

गज इव प्रौढः कलभो गजकलभस्तकुम्भसंनिभौ अत एव धनपीनौ निविडस्थूलौ, एवं निरन्तरौ पीनतया परस्परव्यवधानशून्यौ च अभितुङ्गौ च कठोरतया अग्रोत्थितौ च यौ ताभ्याम् । हतस्तनाभ्यां स्तनहतकाभ्यामित्यर्थः । उच्छ्वसितुमपि न तीरयति न पारयति ( शक्तोति ), पुनर्गन्तुं तु किं पारयेदिल्यर्थः । अत्र तुङ्गपदेवैव स्तनस्थूलाप्रतीतौ सत्यां पुनः ‘गजकुम्भसंनिभ—पीन—निरन्तरादिपदैर्विशेषो योत्यते । प्रौढकरिचाव-ककुम्भसादश्येन न केवलं पीनतैव किन्तु ताढकलभस्य यथा कुम्भः संहतावयवतया कठिनो भवति तथा कठिनौ । अत एव समासे ‘गजकलभकुम्भसंनिभौ अत एव धन-पीनौ’ इति पूर्वं विग्रहो दर्शितः । यौ किल अतिपीनतया निरन्तरौ भवतस्तौ गौरवेण कदाचित्तौ स्यातामिति तज्जिवारणार्थं पुनर्विशेषणम् ‘अभितुङ्गौ’ इति । एतादृशवनपीन-तायामपि अभितुङ्गौ अभिमुखं तुङ्गतया स्थिताविति गाथाकर्तुः प्रतिपदमाकृतं बोद्धम् । अनया च व्याजस्तुत्या ‘धनयौवनेन मदालसा करिकुम्भस्तनी सौभाग्येन त्वयोपलब्धा न किल सरभसमवहेल्या सामान्यवदाकारणीया, प्रत्युत सौन्दर्याविदेवतेव त्वयैव संमुखमुपसर्पणीयेति वृद्धयाभिव्यन्यते । क्वचिद्गुणोपि दोषता यातीति निर्दर्शयन्नाग-रिकोभिसारिकायाः सत्वराभिसारागमनविरोधित्यनभारं प्रत्युद्गेनेदमाहेति केचित् ।

बहौः कालात्पणेवनदानेन तोषयन्तं धनिकभुजङ्गं प्रति कामशास्त्ररहस्योपदेशेन

निजनिर्मायतां सूचयन्ती सहैव नर्तनकर्मणां खडुहितरं प्रति तं साभिलाषं कुर्वती च  
वृद्धा वेश्यामाता आह—

**मासप्रसूतां छम्मासगभिर्णि एकादिअहजरिअं च ।  
रङ्गुचिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि ॥ ५९ ॥**

[ मासप्रसूतां षण्मासगर्भिणीमेकदिवसउरितां च ।  
रङ्गोत्तीर्णां च प्रियां पुत्रक कामयमानो भव ॥ ]

**मासकसूतां दिवसज्वरिणीं षण्मासगर्भिणीं चापि ।  
रङ्गोत्तीर्णां पुत्रक कामयमानः प्रियामेधि ॥ ५९ ॥**

एकमासप्रसूताम्, एकदिवसज्वरिताम्, षण्मासिकगर्भधारिणीम्, नर्तनं कृत्वा रङ्गशालात आंगतां च प्रियां कामयमानो भव । पुत्रकेत्याभन्नेन स्वेहभाजनतया गुह्यमपि त्वतो न गोपनीयस्मित्यभिव्यज्यते । अथवा नववयस्को बहुधोपदेशसापेक्षो भवानत एव त्वां किञ्चिद् गुह्यासुपदिशामीति वा । एवंविधा: सुरतकर्मणि सुखसाध्या भवन्ति, प्रसन्नाः सुभृत्यमगुरज्यन्ति, आनन्दविहलाश्च महत्सुरतसुखं प्रसुवत इति वेश्याभिरथिकं निघ्ननीयमप्यहं ते प्रकाशयामीति पक्षपातो च्वन्यते । ‘चृत्यादिव्यामेनां किञ्चित्प्रतीक्षयागोपि विलम्बेन नोत्ताम्य, यतस्वत्सुखायैवेदम्’ इति स्वप्रयोजनसाधन-ध्वनिमपि वृद्धा न व्यसार्णोदिति सहृदयैर्बोध्यम् । मासप्रसूतादीनां स्वत्प्रसाध्यत्वं प्रोक्तं कामशास्त्रे । यथा ह्यनङ्गरङ्गम्—

‘रङ्गाद्विश्रान्तदेहां चिरविरहवती मासमात्रप्रसूता  
गर्भालस्या च नवयप्रिययुततनुका ल्यक्तमानप्रसङ्गा ।

स्त्राता पुष्पावसाने नवरतिसमये मेघकाले वसन्ते  
प्रायः संपञ्चरागा मृगशिशुनयना स्वत्प्रसाध्या रते स्यात् ॥’

‘रम्याणां तत्तद्विशेषप्राप्या रम्यतातिशयो भवतीति प्रतिपादयन्ती कुट्टनी भुजर्हं नर्तकीं स्वडुहितरं प्रति साभिलाषं कर्तुमाह’ इति गङ्गाधरः ।

उत्तुङ्गपीनपयोधरां काढन नायिकां प्रति निजाभिलाषं प्रकाशयन्कश्चित्सहृदय आह—

**पडिवक्ष्वमण्णपुज्जे लावण्णउडे अणङ्गगअकुम्भे ।**

**पुरिससअहिअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥**

[ प्रतिपक्षमन्युपुज्जौ लावण्णकुटावनङ्गगजकुम्भौ ।

पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥ ]

प्रतिपक्षमन्युपुज्जौ लावण्णघटावनङ्गगजकुम्भौ ।

पुरुषशतहृदयधृतौ स्तनौ स्तनन्ती ( सगर्वा ) किमिति वहसि ॥

प्रतिपक्षस्य सपलीजनस्य क्रोधजनितोपतापपुज्जौ, प्रियप्रणयेर्षावशानां सपलीनां

चित्तक्षेभजननात् । अनेन सपलीबाहुल्येऽपि ‘एतत्सनसौन्दर्यमहिना त्वमेव सर्वाति-शायिनी स्याः, तत्सन्तु काममन्याः कान्तास्त्वं किमिति नानुकम्पसे’ इत्यात्माभिप्रायो व्यज्यते । लावण्यस्य घटौ, सौन्दर्यातिशयात् । अनङ्गरूपगजस्य कुम्भौ मूर्द्धशौ । गज-कुम्भस्थलं यथा निबिं भवति तदभेदेन स्तनयोः काठिन्यं व्यज्यते । किञ्च कामोपि त्वकुचसौन्दर्यं मूर्द्धा वहति कि पुनरन्य इत्यनयोर्महिमातिशयो व्यज्यते । मन्युपुञ्जौ, लावण्यघटौ, गजकुम्भौ, एमिक्षिभी रूपणैः कमशाः कुचयोरुक्तत्वं महत्त्वं काठिन्यं च द्योल्यते । पुरुषशर्तेन हृदये भनसि विधृतौ अभिलषितौ । अनेन सर्वकामुकजनाकर्ष-कत्वं सूच्यते । तथा चाहमेतौ द्विष्टा यदि एतलाभायाभिलाषं प्रकाशयामि तर्हि न मे दोष इत्यभिव्यज्यते । एवंविधौ स्तनौ सगर्वा त्वं किमिति वहसि । यावदनयोरनुरूपे जने नोपयोगस्तावत्तव गर्वो वृथेति भावः । तथा च एतयोर्महत्त्ववेदिनि मयि किमिति नानुकम्पस इति ध्वन्यते । पूर्वादेष मन्युपुञ्जादीनां विशेष्यानाकलनदशायां रूपकत्वेषि ‘स्तनौ’ इति विशेष्यावबोधे सति गम्योत्प्रेक्षैवेति मन्मतम् । अत्र ‘थणन्ती’ इति मूलं ‘स्तनन्ती’ति तच्छाया गङ्गाधरेणोपवर्णिता विचारणीयैव । एष वन शब्दे, स्तन गदी देवशब्दे, अनयोद्वयोरपि धात्वोरत्र नोपयोगः । ‘शब्दं कुर्वती त्वं किमिति स्तनौ वहसि’ अत्र शब्दायमानत्वं स्तनवहनं च द्वे अपि अख्यरसे एवेति न परोक्षं परीक्षकाणाम् । तसात् गर्वार्थकप्राकृतशुणघातोर्निष्पत्तोत्र ‘थुणन्ती’ शब्द एवेति भद्रभिप्रायः । ‘थुणः द्वसः’ इति तद्वातुनिष्पत्तः शब्दो देशीनामभालायामालोक्यते ।

कस्यचित्कृते प्रतिकूलमपि किञ्चित् कस्यचित्कृतेऽनुकूलं भवतीति निर्दर्शयन्सहृदय आह—

घरिणिधणत्थणपेष्ठणसुहेल्पिडिअस्स होन्तपहिअस्स ।  
अवसउणङ्गारअवारविद्विदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥

[ गृहिणीघनस्तनप्रेरणसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्यथिकस्य ।

अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥ ]

गृहिणीघनकुचपीडनसुखकेलिगतस्य भाविपथिकस्य ।  
सुखयन्ति चापशकुनाङ्गारकवारान्यविष्टिदिवसाश्च ॥ ६१ ॥

गृहिण्याः कठिनकुचयोर्निष्पीडनसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्यथिकस्य यात्रां करिष्यत इत्यर्थः । अपशकुनानि अङ्गारकवाराणि अन्ये विष्टिदिवसाश्च सुखयन्ति । विष्टिर्मद्रा । अपशकुनादिप्रतिवन्धेन प्रियतमाविरहकारिणी यात्रा न भवतीति भावः । विस्फङ्गात्कार्य-संपत्तिसिद्धा पञ्चमी विभावना, अयत्नं वाञ्छितसिद्ध्या प्रहर्षेण च । आभ्यामलङ्गारभ्यां प्रियासङ्गसुखवश्यस्य नायकस्य प्रवासरूपकियायामालस्यं व्यज्यते । उक्तं च स० कण्ठ-भरणे—‘क्रियनिष्ट्रेष आलस्यं सुखसंविन्मदादिभिः’ । अनेन चालस्यव्यभिचारिणा तत्सामिकिचेष्टरूपानुभावसहकारेण गृहिणीरूपालभ्यनगताया रतेः परिपुष्टिरिति कण्ठभरणे स्पष्टम् । तत्र हि ‘पेष्ठणसुखे णिविअस्स’ इति पाठः ।

नायकं गमनायोत्कण्ठयितुं दूती नायिकाया अनुरागातिशयमाह—

**सा तुह कण्ठ बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।**

**ओससई वन्दणमालिअ वव दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥**

[ सा तव कृतेन बालकालिशं गृहद्वारतोरणणिषण्णा ।

अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥ ]

**सा तव कृतेन बालक सततगृहद्वारतोरणनिषण्णा ।**

**अवशुष्यति हि वराकी वन्दनमालेव दिवसमेव बत ॥ ६२ ॥**

विरहवेदनानभिज्ञत्वाद् हे बालककरप । वन्दनमालेव सततं निरन्तरं गृहद्वारस्य तोरणे उपरिदेशे निषण्णा । सततसिलनेन 'न जाने कसिन्क्षणे स आयात्' इति उत्कण्ठातिशयो योख्यते । सा वराकी तव कृतेन बत दिवसमेव समस्तं दिनमिव्याप्तैव शुष्यति । दिवसमिव्यत्यन्तसंयोगेन शोषस्य दिनावसानपर्यन्तभावितयाऽतिशयो श्यज्यते । शुष्यतीति वर्तमानार्थकलटा 'त्वत्प्रतीक्षाहेतुकः शोषो न तस्या पूर्यते' इति सूचनया प्रतिदिनं समस्तदिनव्यापी प्रतीक्षाहेतुशो ध्वन्यते । अत एव यदि 'अवशुष्यत्यनुदिवसं वन्दनमालेव बत वराकीयम्' इति पाठोभिष्यत्यत्तर्हि वरम् । वन्दनमालेव शुष्यतीत्युपमया तोरणे यथा वन्दनमाला अविचलभावेन परेच्छया आगन्तुकस्यागमनं प्रतीक्षमाणा तिष्ठति, तदनागमने च मुधा शुष्यति, तथा सापि त्वद्वत्चित्ता निश्चेष्टम-वतिष्ठत इति नायिकाया अनुरागातिशयो योख्यते । तथा चैवं त्वय्यनुरक्षामपि तां तत्प्रणयगम्भीर्यापरज्ञानात्र बहु मन्यसे, इत्युपालम्भोपबृंहितं द्रुतगमनाय नायकयो-त्तेजनं ध्वन्यते ।

कपटानुरागशालिनं त्वामासाद्याहं विक्षितासीति नायकसुपालभमानाऽन्यापदेशेन काचिदाह—

**हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिं पहिएहिं ।**

**पत्तफलाणं सरिसे उड्हीणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥**

[ हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।

पत्रफलानां सद्वशे उड्हीने शुकवृन्दे ॥ ]

**हसितं सहस्ततालं विशुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।**

**पत्रफलानां सद्वशे शुकवृन्दे सभयमुड्हीने ॥ ६३ ॥**

पत्रफलाब्योर्यं वृक्ष इति बुद्ध्या विश्रमार्थं शुष्कवटवृक्षमुपगतैः पथिकैः पत्रफलानां सद्वशे शुकवृन्दे मनुष्यागमने सभयमुड्हीने सति सहस्ततालं यथा स्यात्तथा तालिकाः प्रदाय सार्थर्थकौतुकं इसितसिलर्थः । शुकानां पक्षावृतं हरितशरीरं पत्रसद्वर्णं रक्ताश्वच-वश्च फलसद्वश्य इति भावः । तथा च तव कृत्रिममनुरागं वीक्ष्य त्वयि विश्वासमकरव-मिदानीं स तवानुरागो द्रोगेव व्यपगत इति नायिकोपालम्भो ध्वन्यते । “सहजशुणही-

नानामाहार्युणाधानं न चिरकालस्थायीति काचिदन्यापदेशोनाह्” इत्यवतरणं ‘संकेत-स्थाने जनावस्थितिसूचनेनाभिसारिकां निवारयन्त्या दूत्या इयमुक्तिरिति केचित्’ इत्युप-संहारश्च गङ्गाधरटीकायाम् ।

‘सखि अल्याकृष्णेन मानेन दथितो विरज्येदत एव परिहर सांप्रतं मानम्, अलमेतावता’ इति सखीभिर्बहुबोधिताया अप्याग्रहिलाया नायिकाया रात्रिवृत्तान्तं निभृतमनु-संधायागता सखी रहस्यप्रविष्ट्या मातुलान्या पृष्ठा मानकलहे सख्या विजयमाह—

**अञ्ज म्मि हासिआ मामि तेण पाएसु तह पडन्तेण ।**

**तीए वि जलन्ति दीववत्तिमब्मुण्णन्तीए ॥ ६४ ॥**

[ अद्यास्मि हासिता मातुलानि तेन पादयोस्था पतता ।

तथापि ज्वलन्तीं दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या ॥ ]

**मातुलि तथा निपतता पद्योरद्यास्मि हासिता तेन ।**

**दीपकदशां ज्वलन्तीं तथा किलाभ्युत्तेजयन्त्या च ॥ ६४ ॥**

हे मातुलानि ! अद्य तथा तावकप्रकारेण तस्याः पादयोः पतता तेन, ‘उज्ज्वलप्रकाशे सम्यक्पश्याद्युना मत्सौभाग्यम्’ इति गर्वेण मतप्रदर्शनार्थं प्रज्वलन्तीभिपि दीपदशां दीपक-वर्तिमुत्तेजयन्त्या तथा च हासितास्मीस्यर्थः । तथेति पादप्रणामप्रकारं प्रतीज्ञितम्, ततश्च नायकस्य तत्समयेऽपराधस्तीकारसंकोचसूचिका पुनः संगमोत्कण्ठलौल्येन परवशतया अनुनयप्रवृत्तिपिण्डिना च विलक्षणा भावमङ्गी सूच्यते । तेनानुनये नायकस्य दैन्यातिशयो ध्वन्यते । दिवा तथादृढां प्रदर्शयतस्य रात्रौ तावशं विचित्रं दैन्यं तस्याश्च तदर्थ-नाय तावशीं दीपोत्तेजनचेष्टां च दृष्टा मम हासो जात इत्यर्थः । अत्र ‘अन्येपि मम सौभाग्यं पश्यन्तु’ इति बुद्ध्या दीपोत्तेजनं कुर्वत्या इति गङ्गाधरोक्तिर्विचारणीयैव । निश्चि विश्रब्धं शयनगृहमविवसतोरनयोः कथं नामान्यजनसंभवः ? तस्मात्कपाटरन्द्रादिद्वारेण निभृतं पश्यन्तीं सखीमनुसंधायैव दीपोत्तेजनसिति बोध्यम् । किञ्च ‘पतिं प्रस्तनादरं दृष्टा हासो जातः’ इत्यपि नोचिता तदुक्तिः । दीपोत्तेजनेन ‘पश्य मयि कियद्जुरक्तो वल्लभः’ इति स्वसौभाग्यप्रदर्शने आग्रहो न पत्यनादरसूचने । मान-पतिकृतपादप्रणा-मादिषु अनुरागस्यैव विजृम्भणेनाऽनादरकथाया एवानुदयात् ।

पूर्वसुभगामनुवर्तमानं प्रियं दृष्टा निजसौभाग्यमबहुमन्यमानां नवसुभगां सान्त्वयितुं सखी सुजनस्वभावमाह—

**अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराओ ।**

**अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिआईए ॥ ६५ ॥**

[ अनुवर्तनं कुर्वन्देष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।

आत्मवज्रोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनतायाः ॥ ]

अनुवर्तनमिह कुर्वन्देष्येषि जने ह्यभिज्ञमुखरागः ।

आत्मवशोपि च सुजनः कुलीनतायाः परवशोलम् ॥ ६५ ॥

द्वेष्येषि जने अभिज्ञमुखरागः सन्, न भिजः परिवर्तितः स्त्रेहदाक्षिण्यजनितो मुख-प्रसादो वैनैवभूतः सन् । मुखरागे किञ्चिदपि परिवर्तनं न जानीयादसुवर्तनीयो जन-स्तथा अनुवर्तनं कुर्वन् । अभिज्ञमुखराग इत्यनेन द्वेष्यतया तं प्रति स्त्रेहभावेषि वाहा मुखवर्णपरावृत्तिर्न भवेदिति सूच्यते । आत्मवशोपि उच्चाशयतया पारवद्यमवधीरय-न्स्तत्त्रोपि सुजनः कुलीनतायाः सत्कुलप्रसूतायाः, अभिजात्यस्येष्यर्थः । अलं भूय-स्तरां परवशः । आत्मवशोपि परवश इति विरोधालङ्करणं ‘पूर्वसुभगानुवर्तनमनभीष्ट, मपि दाक्षिण्यानुगतया कुलीनतया करोति न स्त्रेहेन अतएव न त्वया विमनायितव्यम्’ इति नवीनं प्रति व्यन्यते ।

अभिजात्येन कोपेषि ग्रियं प्रत्यादरं प्रदर्शयन्त्या नायिकाया मानमज्ञात्वा नेयं विजानातीति आन्तिवशादन्यवनितासु प्रसज्यन्तं दुर्विदर्शं शिक्षयन्ती काचिजर-द्वूराह—

अपुदिअहवडुआअरविणाणगुणेहि॒ जणिअमाहपो ।

पुत्तअ अहिआअजणो विरज्यमाणो वि दुल्कम्बो ॥ ६६ ॥

[ अनुदिवसवर्धितादरविज्ञानगुणैर्जनितमाहात्म्यः ।

पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥ ]

अनुदिवसवर्धितादरविज्ञानगुणैर्जनितमाहात्म्यः ।

अभिजातजनः पुत्रक विरज्यमानोपि दुर्लक्ष्यः ॥ ६६ ॥

हे पुत्रक ! अनेन—नाधुना जानासि विद्यवनिताव्यवहारान्, विक्षत्वेदानीमिति स्त्रसानुभवित्वं योत्यते । अनुदिवसं वर्दित आदरो वैरेवंभूतैर्विज्ञानप्रमुखैर्गुणैः । जनितं माहात्म्यं महत्त्वं यस्यैतादशः । प्रतिदिनमादरं प्रदर्शयद्विविज्ञतादिगुणैः स्थापितनिज-महत्त्वं इत्थर्थः । एवंभूतः कुलीनजनो विरज्यमानोपि दुर्लक्ष्यः । तथा च—परमविदरधा सेयं तवान्यवनितासु प्रसक्तिं ज्ञात्वा विरज्यमानोपि कुलजातवेन प्रत्यहमादरातिशयं प्रदर्शयति, त्वं च नेदं विजानासि । अहो तेऽपाटवमिति पुत्रकपदसहकारेण व्यन्यते । दुर्लक्ष्य इत्यनेन कठिनतया प्रत्येवत्वं सूच्यते । तेन च—सूक्ष्मतयावलोकनेन लक्षणीय-मपि अविदरघतया न त्वमज्ञासीरिति व्यज्यते । विरज्यमान इति वर्तमानार्थकशानचा ‘तव प्रणयवैमुख्येन जनिता अस्या विरक्तिर्नाधुनापि पूर्णतया दृढीभूता’ इति सूच्यते । एवं च अद्यावधि कृतमपराधं प्रणिपातादिना प्रसाद्य प्रमार्जयेति व्यन्यते ।

लोकापवादभाजने कस्मिंश्चिन्ने बलदनुरागप्रदर्शनार्थमागृह्णतीं दूरीं काचिदाह—

विणाणगुणमहग्वे पुरिसे वेसत्तरां पि रमणिज्ञम् ।

जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥

[ विज्ञानगुणमहार्थे पुरुषे द्वेष्टत्वमपि रमणीयम् ।

जननिन्दिते पुनर्जने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥ ]

विज्ञानगुणमहार्थे पुरुषे द्वेष्टत्वमपि हि रमणीयम् ।

लज्जामहे प्रियत्वेनापि जने जनविनिन्दिते नूनम् ॥ ६७ ॥

विज्ञानगुणमहार्थे विज्ञतागुणेन परमादरणीये । जनविनिन्दिते जने प्रियत्वेनापि अनुकूलत्वेनापि लज्जामहे । आनुकूल्यप्रदर्शनेनापि लज्जामहे किं पुनरनुरागस्थापनेनेति विरागतिशयो व्यन्यते । ‘विदर्घं प्रति साभिलाषा क्षापि स्वभर्तरे वैराग्यं सूचयन्ती आह’ इति गङ्गाधारावतरणम् ।

पीनोनुज्जुक्तुचां कामपि कामिनीमचिरेणैव कालेन पतितकुचामालोक्य कथितस-हृदयो वयस्यमाह—

कहँ णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ ।

अथवा महिलाणँ चिरं को वि ण हिअअम्मि संठाइ ॥ ६८ ॥

[ कथं नाम तस्यास्था स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभरः पतितः ।

अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्ठते ॥ ]

कथसिव तस्याः स तथा स्वभावगुरुकोपि कुचभरः पतितः ।

अथवा महिलानां हृदि न चिरं संतिष्ठते कोपि ॥ ६८ ॥

स्वभावेन गुरुकः उक्तुङ्गः, पक्षे निसर्गेण गौरवभाजनम् । खयं विचार्य उत्तरहृपेण स्वयमेवाह—‘अथवा महिलानां हृदि कोपि चिरं न संतिष्ठते’ इति । अनेन सामान्येन विशेषसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासेन ‘निसर्गगौरवशालयपि पुरुषः खीणां हृदि स्वल्पकाल-मेवावकाशं लभते किं पुनः साधारणः’ इति खीणामस्थिरप्रेमता अभिव्यज्यते । तथा स्वभावगुरुक इत्यत्र तथेतिनिर्देशेन स्तनयोरनन्यसाधारणो निबिडतोच्चतादिगुणः परामृश्यते, तेन तयोः पूर्वमतितुङ्गता निबिडता चासीदिति व्यन्यते ।

वसनाञ्चलेन बालातपं वारयन्तीं प्रियतमां प्रति प्रियश्चाद्वक्तिविधया आह—

सुअणु वअणं छिवन्तं स्त्रं मा साउलीअ वारेहि ।

एतस्स पङ्क्त्यस्स अ जाणउ कअरं सुहप्फंसम् ॥ ६९ ॥

[ सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय ।

एतस्य पङ्क्तजस्य च जानानु कतरसुखस्पर्शम् ॥ ]

सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं वसनाञ्चलेन वारय मा ।

एतस्य पङ्क्तजस्य च स वेत्तु कतरत्सुखस्पर्शम् ॥ ६९ ॥

‘साउली’ति वस्त्राञ्चलवाचको देशी । ‘साउली’ इत्यस्य साकुलीति च्छाया, साकुलीति च पल्लविकाविषये वर्तते । तथा च ‘पल्लवच्छिक्रिया वदनं मा वारय’ इत्यर्थ

इति कुलबालदेवटीका । एतस्य वदनस्य पङ्कजस्य च मध्ये कतरत्सुखस्पर्शमस्ति इति स वैतु जानातु । प्रत्यहं पङ्कजं करेण स्पृशन्नायमेवादोभयोः स्पर्शसुखतारतम्यं निषेष्यतीति भावः । अनेन—तव वदनं कमलमिव मृदु सुरभि सुन्दरमस्तीत्युपमालंकारो व्यन्यते । स वैतु कतरत्सुखस्पर्शमित्यनेन तव सुखमेव स्पर्शे समविकासुखकारकमिति वकुराकृतेन व्यतिरेकव्यनिरेव वा । अत्र पङ्कजपदेन पङ्कोत्पञ्चसास्य कियत्स्पर्शसौरभादि भविष्यतीति जानविति अथंगामभीर्य व्यन्यते । ततश्च व्यतिरेकव्यनिरेव कवेरभिग्रेत इति स्फुटीभवति । ‘स वैतु कतरत्सुखस्पर्शम्’ अनेन भवतीरक्षणं चाटक्किरिति कदाचन न विद्वास्यं परमयं तटस्य उभयोः करस्पर्शेन तारतम्यं परीक्षमाणो निषेष्यतीति ‘सः’ पदोद्भवितेन व्यन्यते इति मार्मिकेवाकलनीयम् । ‘नायकप्रलोभनाय सर्वी नायिका-सुखं वर्णयतीति’ गङ्गाधरः । तत्र ‘सुतनु’ इत्यामच्छ्रणसमन्वये कस्योक्तिरचितेति मार्मिकैर्विमृद्धयम् ।

सीधुपानेनोपाहृष्टमदा प्रमदा मानेषि मृदुभवतीति मानिनीमानापनोद्दोपायं नाम-रिकः सांसुहृदमाह—

**माणोसहं व पिञ्जाइ पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स ।**

**करसंपुडवलिउद्धाणणाइ महाराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥**

[ मानौषधमिव पीयते प्रियथा मनस्तिन्या दयितस्य ।

करसंपुटवलितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥ ]

**करसंपुटवलितोर्ध्वाननया प्रियथा मनस्तिन्या ।**

**मानौषधमिव मदिरागण्डूषः पीयते प्रियतमस्य ॥ ७० ॥**

प्रियस्य करसंपुटेन वलितं ग्रहणपुरस्सरमुच्चमितम्, अत एव ऊर्ध्वमाननं यस्याः । अनेन अनिच्छन्न्या अपि सीधुपानार्थं प्रस्त्वाभिमुखीकरणं सूच्यते, तेन नायिकामान-वैसुख्यं व्यज्यते । मनस्तिन्या मानदाढ्बेनोक्तमनसा मानिन्येत्यर्थः । प्रियथा प्रियत-मस्य मदिरागण्डूषः ( आकुचितवदने पूरीता मदिरा ) मानापनयनौषधमिव पीयत इत्यर्थः । औषधं यथा मृदुप्रकृतिभिर्बलात्कर्थंचित्पीयते तथा मानवैशुख्येन अनि-च्छन्न्या, अतएव प्रियस्य करसंपुटेन बलादृष्टीकृताननया दयितया मुखसमीपानीतद-यितमुखेनावर्जितः सीधुगण्डूषः पीयत इति भावः । तथा च—तत्समये बलादावर्जितापि मदिरा शीघ्रमेव मानिनीमावर्जयतीति सिद्धयोगेयमिति नागरिकेण सुहर्दं प्रत्यभिव्यज्यते ।

नायकोक्तपठासंवर्द्धनार्थं दूती नायिकायाः सौन्दर्यतिशयमाह—

**कहँ सा णिव्यणिज्जइ जीआ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि ।**

**दिढ्ठी दुव्वलगाई व्व पङ्कपडिआ ण उत्तरह ॥ ७१ ॥**

[ कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे ।

दृष्टिर्दुर्बला गौरिव पङ्कपतिता नोच्चरति ॥ ]

निर्वर्ण्यतां कथं सा यस्या अङ्गे यथा हृषे ।

रुद्भलगवीव दृष्टिः पङ्कनिपतिता हि नोच्चरति ॥ ७१ ॥

निर्वर्ण्यतां विलोक्यताम्, सा सर्वाङ्गेषु कथं दृश्यतामिल्यर्थः । यस्या नाथिकाया अङ्गे न यथा येन प्रकारे रणवलोकिते सति दृष्टिः पङ्कपतिता दुर्बला गौरिव नोच्चरति, अये न चलति तदज्जलावण्यवशीभूता तत्रैवावतिष्ठत इति भावः । अनेन नाथिकालावण्यस्य आसेचनकत्वं ध्वन्यते । यदास्मामिर्लावण्यवशीभूतया दृश्या संपूर्णा साऽवलोकितैव न तदा कथमस्माकं तत्सुन्दरता वचनगोचरा भवतु । एवंविधामसामान्यसुन्दरीमनुपदमेव वशयेति दूत्या व्यज्यते । एतदर्थं संवादिनी पूर्वमपि गाथा वर्णिता—‘जस्स जहौ विअ०’ ३४ ।

कस्मिन्नपि स्नेहवन्धमास्थापयितुं वदन्तीं दूर्तीं नाथिका आह—

कीरन्ती विअ णासइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती ।

सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

[ क्रियमाणैव न इश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।

सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाणरेखेव ॥ ]

क्रियमाणैव विनश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।

सुजने कृता तु सा पुनरनघा पाषाणरेखेव ॥ ७२ ॥

क्रियमाणैवेति वर्तमानार्थकशानचा मैत्रीस्थापनव्यापारस्यापूर्णता सूच्यते । तेन यावतपर्यन्तं पूर्णा मैत्रयिनि न सिद्धति, ततः पूर्वमेव खलस्य दौरात्म्येन सा भज्यते इति व्यञ्यते । अनघा निरपाया, कालान्तरे पि नाशायोग्येत्यर्थः । तथा च—अस्थिर-  
क्लेहे तस्मिन्प्रणयबन्धो सुधैवेति दूर्तीं प्रति द्योल्यते । अत्र पाषाणरेखेति लौकिकनिद-  
शनस्य क्रियन्माधुर्येण निर्वाह इति सहदयैरालोच्यम् ।

चिरप्रवासादागत्या पुनः प्रवासाय विचारयन्तं काननं काचित्सदैन्योपालम्भमाह—

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।

अङ्ग वि ण होन्ति सरला वेणीआ तरङ्गिणो चिउरा ॥ ७३ ॥

[ अव्वो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करेषि गमनस्य ।

अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥ ]

हंहो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करेषि गमनस्य ।

नाद्यापि हन्ति सरला भवन्ति वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥ ७३ ॥

हंहो दुष्करकारकेत्यत्र ‘हंहो’ इति सार्थर्यचमल्कारे । एवं च ‘प्रवासे तवानुस्मरणेन  
भूयान्मया केऽग्रोऽनुभूतः’ इत्यादि विश्रब्धमालपितवानपि पुनः प्रवासे विचारयसीला-

थर्यमेवेति नाथिकयाऽभिव्यज्यते । पुनरपि चिन्तां करोषीत्यनेन प्रवासेनुभूतानि दुःखानि संसार्य, तानि पुनरुपस्थापयितुं विचारयसीति पूर्वदुःखानुभवं प्रतीक्षितं द्योत्यते । चिन्तां करोषीत्यनेन ‘गमनस्य का कथा, तच्चिन्तामात्रमपि मम प्रवाससमदुःखानुभावकतया वेदनादायीति’ ग्लानिसंचारी द्योत्यते । करोषीति परस्मैपदेन ‘एतचिन्ता-करणस्य फलमात्मने न स्यात्ताद्वग्भयावहं परं परस्मै तदैकान्तिकवेदनापदं भवेदित्युपालम्भो व्यज्यते । त्वद्विरहे केशानामप्रसाधनाद्वीपसमवासा अत एव तरङ्गिणः कुटिलीभूताः केशा हन्त अद्यापि सरला न भवन्ति । तव विरहे केशानां ताहरवेणी बद्धा यदेषु दिनेषु प्रतिदिनं प्रसाधनेपि कौटिल्यभाजां केशानां सरलता न जातेति भावः । अनेन प्रवासादागमनस्य खल्पकालता सूच्यते । तथा च—केशपर्यन्तेष्वपि त्वत्प्रवास-चिह्नमयापि वर्तते, एतावत्वरितं पुनर्गन्तुं चिन्तयसीति नाथकं प्रति गमनशीघ्रताजनितवेदनातिशयो द्योत्यते । एवं च—सर्वन्तां प्रवासे यानि दुःखानि भवता भया च पूर्वमनुभूतानि, तानि पुनः संनिधापयितुं विचारमपि हृदि आनयसीति दुष्करं करोषीति नायकस्य कठिनहृदयतां सूचयन्तीं सा दैन्येन सह दुष्करकारकपदोपोद्विलितमुपालम्भं ध्वनयतीति सहृदयैर्विभावनीयम् । प्रवासोद्भूतभृशोत्कण्ठादिभिर्वित्तवासना प्रवासानन्तरेपि तस्या नोपशास्यतीति वैणीवर्णनादिना सूच्यते, एतदुदाहरणे दत्ता सेवं गाथा स० कण्ठाभैरणे ।

१ यतद्वार्थसुपजीव्य ब्रजभाषाकविमूर्द्धन्येन परममार्मिकेण विहारिणा दोहाछन्द उपनिवद्धम्—

‘अउयौं न आये सहजरङ्ग विरह दूबे गात ।

अबही कहा चलाइयत ललन चलनकी बात ॥’

‘विरहकृशान्यङ्गानि नाथापि शरीरस्वारथ्यसुचिका सहजामवस्थामवासानि ‘हे ललन’ अध्यैनैव गमनस्य वार्ता किमिति प्रवर्तयसि’ इदानीं विचार्यतां कस्यातिशायि वर्णनसिति । ‘अबही कहा चलाइयत’ पदेन ज्ञायते यद् गमनशीघ्रतानिवारणमत्राप्यभिप्रेतम् । शरीरे कृशतानिवृत्तिपूर्वक सहजशोभागमः पूर्वभावी, उत प्रलाहं प्रसाधनेन सरलीक्रियमाणानां केशानां पूर्ववस्था ? रसरक्ताद्युपचयद्वारा भाविनी प्रायो नात्महस्तगता शरीरपुष्टिरवश्यं बहुभिर्दिनैः स्यात् । उन्मार्जन-प्रसाधनादिद्वारा आत्मायता केशानां पूर्ववस्था ततः शीघ्रभाविष्येव । ततश्च केशपर्यन्तादपि पूर्वविरहचिह्नं ह न निवृत्तं भवांश्च पुनर्गन्तुं चिन्तयतीति गमनशीघ्रताप्रदर्शनकृतं नायकस्य कठिनहृदयत्वं गाथैवाधिकं सूचितवतीति निविवादम् । किञ्च गमनस्य वार्ता प्रवर्तयसीत्यपेक्ष्या ‘गमनस्य चिन्तामपि करोषीति’ चिन्तामात्रस्य विरहवेदनादायकत्वं सूचयन्नाथाकर एवाधिकं मार्मिक इति सूक्ष्मं विचार्यताम् । किञ्चैवं विरहवेदनासमये हृदयावेगप्रकाशनकृत-प्रणयजिह्वताप्रदर्शनावसरैपि ‘ललन’ इति ज्ञिथिलसंवोधनं न च्छायां तथा पुष्ट्यति, यथा ‘हंहो ! दुष्करकारक’ इत्यत्र चिन्तामपि करोषि तदुष्करं करोषीति कठिनहृदयताचित्रोपस्थापकं दुष्करकारकेति संबोधनम् । किञ्च ‘पुनरपि’ पदेन यत्पूर्वदुःखानुभवं प्रतीक्षितं तदपि दोहाछन्दसि लुप्तप्रायम् । परस्मैपदव्यञ्जनं तु भाषायामसंभवमेव । एवं स्थितेपि गाथात आधिक्यस्थापनं कैवांचित्पक्षपात एव । विहारिणः सुक्ते: संकृतपदेनुवादस्तद्विमर्शनं च ‘कवितानिकुञ्जा’न्तर्गत-मत्संकलित-‘साहित्यवैभव’ तोड्गवन्तव्यम् ।

निखुवनेऽतथाव्युत्तमत्वादिच्छासत्त्वेषि अकौशलप्रकटनभयेनाप्रवर्तमानस्य धनिकनव-  
युवकस्य वैलक्ष्यव्यपगमनपूर्वकं तत्कर्मणि प्रवृत्तिपाटवार्थं धूर्ता कान्वित्सद्भावस्तेहरतप्रशं-  
सामाह—

ण वि तह छेअरआइँ वि हरन्ति पुणरुचराअरसिआइँ ।

जह जस्थ व तत्थ व जह व तह व सब्मावणेहरमिआइँ ॥७४॥

[ नापि तथा छेकरतान्यपि हरन्ति मुनरुक्तरागरसिकानि ।

यथा यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा सद्भावस्तेहरमितानि ॥ ]

न तथा छेकरतान्यपि हरन्ति पुनरुक्तरागरसिकानि ।

सद्भावस्तेहरतानि यथेच्छविधानि यत्र तत्र यथा ॥ ७५ ॥

पुनरुक्ते पुनःपुनः परिशीलिते रागे रङ्गे रतन्यापारे रसिकानि रसानुभवशालीनि ।  
छेकानां कामशास्त्रप्रसिद्धरतशिल्पकुशलानां रतान्यपि तथा न हरन्ति यथा यत्र तत्र  
अवसरलाभानुसारं यस्मिन्कस्मिन्बित्स्थाने प्रवृत्तानि, यथेच्छं विधा येषां तानि यथेच्छ-  
विधानि । येन केनापि प्रकारेण कल्पितानीत्यर्थः । एवंविधानि सद्भावस्तेहेन यानि  
रतानि तानि हरन्ति मनो वशीकृत्वंनिति । विदधजनरतानि कामशास्त्रप्रसिद्धबन्धा-  
लिङ्गानादिपूर्वक्षुण्णमार्गानुसारित्वेन पुनरुक्तिपरिशीलकत्वाच्चर्वितचर्वणोपमानि । अनेन  
बहुविदधजनैर्बहुधा रमणेऽहमुरीकृता, तथा च भवतोपि मत्समागमेन तत्कौशलमु-  
दयेदिति युवकोत्साहनं व्यज्यते । एवंविधेषु विदधरतेषु स्तेहापैक्षया कौशलप्रदर्शन-  
स्पर्द्धाऽधिका भवति, नवजनरते तु सद्भावस्तेह एव निर्भरं भवतीति भावः । तथा च  
'मा संकोचं कार्षीरहं त्वत्स्तेहनिर्भराणि रतानि भृशमभिरोचयामि' इति तत्प्रवृत्तौ तस्य  
ग्रोत्साहनमभिव्यज्यते । स० कण्ठाभरणे 'उपचारानपेक्षो विस्ममजः प्रेमप्रकारो यथा'  
इति प्रसङ्गे उदाहृता सेयं गाथा ।

नवविनितासत्कं सामिनं तत्प्रणयवञ्चिता पूर्वसुभगा प्रश्नसोत्तरे आह—

उज्ज्ञसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति ।

उवरिभरेण अ अणुअ मुअइ बझ्लो वि अङ्गाइँ ॥ ७५ ॥

[ उहासे प्रियया समं तथापि खलु रे भणसि किसिति कृशेति ।

उपरि(भरेण) च हे अज्ज मुञ्चति बलीवदोऽप्यज्ञानि ॥ ]

सममुञ्चसे द्यितया तथापि कृशितासि किसिति रे भणसि ।

अनभिज्ञोपरिभरतो मुञ्चति बलदोपि चाङ्गानि ॥ ७५ ॥

प्रियया सह उहासे उरसि धार्यसे । तथापि 'किसिति कृशिता कृशेव जातासि' इति  
रे भणसि । 'रे' इति अवस्कन्दितवित्तया प्रणयवाढ्येन प्रयुक्तमिति बोध्यम् । हे अन-  
मिज्ज । उपरिभरतो उपरिनिहितभारवशाद् बलीवदोऽप्यज्ञानि मुञ्चति, सोऽप्यज्ञः क्षीयत  
इत्यर्थः । अपिना बलीवर्दस्यापीयं दशा, तदा किं ममाऽबलाया वाच्यमिति सूच्यते ।

दयितया सममुद्द्यस इत्यनेन नवाङ्गतायां तत्र प्रेमसंक्रमणोपि सम तथैव त्वयि प्रणयः, प्रत्युत त्वप्रियेति त्वप्रणयबहुमानेन तामपि हृदये करोमील्यात्मनः प्रेमातिशयः प्रकाश्यते । किं वा—त्वद्रूतचित्ततया सम हृदयात्ताऽप्सरणमसंभवमेव, त्वं चैषु दिनेषु नवीनया तथा तत्र प्रियया विना क्षणं न तिष्ठस्येव । अत एव त्वन्मूर्त्या सह सप्तलीरूपेण सापि सम हृदये प्रतिक्षणमुदयतीत्युपालम्भोभिव्यज्यते । तथापि भणसील्यनेन 'प्रणयभ-ज्ञेन महैन्यं जानतस्वत्र 'किमिति इथं कृशास्ति' इति विचारानयनमप्यनुचितं तथापि त्वं सुखेन प्रलक्ष्यं मां प्रति कथयसील्यहो ते वै नैर्वृण्यम्' इत्युपालम्भोभिव्यज्यते । स० कण्ठाभरणानुसारं वैसादृश्यवती सेयं सहोक्तिः । कृशतायामुपरिभारस्य कारणत्वमुक्तमिति काव्यलिङ्गम् । आभ्यामलंकाराभ्यां 'नवत्रियासंक्रान्तप्रणयस्य ते वैसुख्यत एव सम सेयं दद्या । त्वं दुर्बलतामेव पृच्छलिः परं कदाचित्प्रेमभज्ञदुःखान्ममान्तोपि भवेत् ( अङ्गानि सुखतीति अङ्गमोचनार्थोपन्यासात् ), परं परगतदुःखाननुभवात्र च त्वमिदं वेत्सि' इति सोपालम्भं प्रणयावेदनं ध्वन्यते ।

चिरप्रवासादागतस्य दयितस्य रमणवृत्तान्तं सख्याऽनुयुक्ता नायिका सानुरागमाह—

**दिद्मूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।**

**अम्हेहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ ॥ ७६ ॥**

[ दृढमूलबन्धगण्ठी इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू । ]

अस्साभिरपि तस्सोरसि निखाताविव समुख्यातौ स्तनौ ॥ ]

**हृढगृढग्रन्थी इव कथमपि मे तेन मोचितौ बाहू ।**

**अस्साभिरपि तदुरसि स्तनौ निखाताविवोत्खातौ ॥ ७६ ॥**

हृढं गूढा ग्रन्थयोः, अनुरागनिर्भरपरिरम्भवशादन्योन्यं निबिडावसत्तो मे बाहू तेन कथमपि मोचितौ । ग्रन्थपदेन, अनर्घमभिलषितधनं यथा हृढग्रन्थ्या निबध्यते तथा वहोः कालादुपलब्धः प्रेयात्र पुनरपसरेदिति दृढभुजबन्धेन बध्यत इति सूच्यते । तेन दयितं ग्रस्युरागम उत्कण्ठातिशयश्च ध्वनितः । कथमपीति पदेन सुखविह्लाया मे नासीद्यितं मोक्षमवबोधः, परं दयितेन कष्टाद्वाहुवन्धो मोचित इति जडता ध्वन्यते । अस्साभिरपि तदुरसि निखाताविव भूमिनिहितन्यासाविव अन्तरवरोपितौ स्तनौ कथमपि उत्खातौ उद्धृतौ । तदुरसि निखाताविल्यनेन स्तनयोः काठिन्यमुत्तुङ्गता चाभिव्यज्यते । निखाताविल्यनेन—निविकुम्भौ यथा भूमौ निखन्येते तथा हृढमाश्चित्या प्रियतमेन स्तनौ निजोरसि निखाताविति स्तनयोर्बहुमानेनानुरागातिशयो ध्वनितः । हृढग्रन्थी इव, निखाताविवेति, उपमाभ्यां नायकयोः परस्परमसूल्यधनुरुद्या मिथः प्रणयपरिपाकातिशयो व्यञ्यते ।

मुग्धां कलहान्तरितामनुनीयागता सखी तत्कान्तमाह—

**अणुणअपसाइआए तुज्ज्व वराहे चिरं गणन्तीए ।**

**अपहुत्तोहअहृथङ्गुरीअ तीए चिरं रुणम् ॥ ७७ ॥**

[ अनुनयप्रसादितया तवापराधांश्चिरं गणयन्त्या ।

अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तथा चिरं रुदितम् ॥ ]

अनुनयपरितोषितया तवापराधांश्चिरेण गणयन्त्या ।

अप्रभवत्करयुग्माङ्गुल्या च तथा चिरं रुदितम् ॥ ७७ ॥

चिरेण बहुकालपर्यन्तम्, अनेनापराधानां बहुत्वं व्यज्यते । गणनावसरे अपराधानां बहुत्वादप्रभवन्त्यः ( गणनां कर्तुमशाङ्गुल्यः ) करयुग्मस्य उभयोः करयोरङ्गुल्यो यस्यास्तथा । इथतोपराधान् कथं गणयामीत्याकुल्या तथा बहुकालं रुदितम् । ननु अपराध-गणनायामपि कथमियं मुग्धेति चेत् मुग्धाया अपि तथाचेष्टा वर्ण्यते । उक्तं स्थं कोषकारेण—‘हत्थेसु अ पाएसु अ’ ( ४१७ ), किञ्च सख्यनुनयेनैव प्रसादः, तदग्र एवाप-राधगणनापि मुग्धात्वे साधिका । तथा च ‘मुग्धाया तथा बहवस्तवापराधा इदानीं मदनु-नयेन सोढाः, न पुनरेवमधे करिष्यसि’ इति नायकं प्रलयभिव्यज्यते ।

प्रियतमसकाशादगतां प्रस्तिज्ञाङ्गीं नायिकामुहित्य सखी सखीः प्रति सपरिहासमाह—

सेअच्छलेण पेच्छाह तणुए अङ्गम्मि से अमाअन्तम् ।

लावण्यं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए ॥ ७८ ॥

[ स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेङ्गे तस्या अमात् ।

लावण्यमपसरतीव त्रिवलीसोपानपङ्गिभिः ॥ ]

स्वेदच्छलेन पश्यत तनुनि तदङ्गे विमातुमसमर्थम् ।

लावण्यं सरतीव त्रिवलीसोपानपङ्गिथेदम् ॥ ७८ ॥

तनुनि तस्या अङ्गे विमातुमसमर्थम् ( अमात् ) इदं लावण्यं त्रिवलीरूपसोपानपङ्गया स्वेदच्छलेन सरति बहिनिःसरतीति पश्यत । तथा च—दयितेन सह यौवनसुखमुपभुज्य समागतेयसिति सखीः प्रति सरसपरिहासो व्यज्यते । ‘नर्तनश्रमप्रस्तिज्ञाल्या दुहितुः सौन्दर्यातिशयं कामुकचित्तप्रलोभनाय कुट्टनी वर्णयति’ इति गङ्गाधरावतरणम् । चौर्य-रतगोपनार्थं सख्या उक्तिरियसिति केचित् ।

कस्याश्चित्प्रभूतधनाप्राप्तिरुपं दोषं परिहर्तु भुजङ्गजनोत्कण्ठां संवर्धयन्ती कुट्टनी सौन्द-र्यप्रशस्तिमन्यापदेशोनाह—

देव्वाअच्चम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो ।

कङ्गेल्लिपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा ॥ ७९ ॥

[ देवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भेणामः ।

कङ्गेल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः ॥ ]

दैवायत्ते तु फले किं क्रियतां पुनरियद् ब्रूमः ।

कङ्गेल्लिपल्लवानां न पल्लवाः सन्ति सदृशोऽन्ये ॥ ७९ ॥

कङ्गेल्लिपल्लवानां न पल्लवाः इति त्रिकाण्डशेषो राजनिघण्टश्च । अन्ये पल्लवा अशोकपल्लवानां न सन्ति सदृशाः इत्यवश्यं भणामः । फलमाप्रादिवचास्ति एतच्चु दैवाधीनमत्र किं क्रिय-

ताम्, इत्यभिधया वाच्यार्थबोधे पर्यवसिते फलपदेन शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यज्ञहरौपैण  
 ‘सर्वातिशायिनोपि जनस्य फलं संपलक्षणं दैवाधीनतया कदाचिन्न भवति’ इति सामा-  
 न्यरूपं विशेषस्य समर्थकं प्रतीयत इत्थर्थान्तरन्यासस्य व्यनिः । संपूर्णवाक्यार्थेन तु  
 “दैवाधीनौ लाभसत्कारौ मा भवतां नाम, परमेतत्सदृशी परःशतेष्वपि सुन्दरी न  
 प्राप्यते, तत्किं विचारयसि, निजसौभाग्यं बहु मन्यस्त” इति भुजङ्गं प्रति ध्वन्यते ।  
 अप्रस्तुतेनाशोकवृत्तान्तेन प्रस्तुतस्य नाथिकावृत्तान्तस्य प्रतीतिरिखप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिरिति  
 सेयं गाथा ध्वन्यालोक उदाहृता ।

कलहान्तरितां नाथिकामानुनेतुमागतः कान्तः स्वसौभाग्यरूपापनाय निजसुहृदं प्रति  
 तां प्रदर्शयचाह—

**धुअइ व्व मअकलङ्कं कपोलपडिअस्स माणिणी उअह ।**

**अणवरअवाहजलभरिअणअणकरसेहि॑ चन्द्रस्स ॥ ८० ॥**

[ धावतीच मृगकलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी पश्यत ।

अनवरतवाष्पजलभृतनयनघटाभ्यां चन्द्रस्य ॥ ]

**क्षालयतीच कलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी शशिनः ।**

**अनवरतवाष्पजलभृतनयनघटाभ्यां विलोकयत ॥ ८० ॥**

मानिनी कपोले प्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्य कलङ्कमनवरतवाष्पजलेन भृताभ्यां नयन-  
 कलशाभ्यां क्षालयतीच इति पश्यत । चन्द्रप्रतिबिम्बसंकमणेन कपोलयोर्मेसुणता—सच्छ-  
 तातिशयश्च सूच्यते, तेन च नाथिकायाः सौन्दर्यतिशयश्चो द्योत्यते । शशिनः कलङ्कं  
 क्षालयतीचेलुत्रेक्षया ‘त्वन्मुखस्याग्रे कलङ्कीति प्रस्तरं चन्द्रोवधीरित एव, परमिदार्दीं  
 मानेनाप्रसन्नं मुखं दथती त्वं चन्द्रापमानकलङ्कं स्वयं प्रक्षालय मुखसाम्ये तं स्थापयितुमि-  
 च्छसीति मुखाप्रसादनकरं मानहतकं लघु परिलज्जं इत्यनुनयो ध्वन्यते । अथवा वाष्प-  
 जलैः कपोलक्षालेन कजलश्यामिकासङ्गेन चन्द्रमध्ये निष्कलङ्कस्य तवाननस्य सादृश्यप्रतिब-  
 न्धको यो मृगकलङ्क आसीतं क्षालयसि, तवापि कजलकालिन्नाऽङ्कसंबन्धानमुखेन सह  
 चन्द्रसादृश्ये प्रतिबन्धाभावाच्चन्द्रकलङ्कक्षालनमेवेति पश्य विरोधिनो जयम्, ततश्चालं  
 मानप्रसङ्गेनेति नायकाकूतं ध्वन्यते । किञ्च कपोले कजलेन कलङ्कं कुर्वत्वपि कलङ्कं क्षाल-  
 यसीति विरोधधनिरपि सहदयैरनुभवनीयः । एवं च—असामान्यसुन्दर्या अपि मदियोगे  
 कियदस्या दुःखम्, अत एव पश्य मे सौभाग्यमित्यनवरतवाष्पेत्युत्तया सूचयचायकः  
 स्वसौभाग्यगर्वं सुहृदं प्रत्यभिव्यनक्ति ।

बहुपनीकस्य र्भुर्नेयमत्यन्तवलभा भविष्यति, ततश्च त्वद्रतमानसा सेयं पुनराग-  
 मिष्यत्येवात्र, ततः किमेतावद्विक्षेपोसीति वयस्येनाश्वास्यमानः पितृगृहात्पतिगृहं प्रयान्त्याः  
 कस्याच्चिदुपनायकरत्तं प्रत्यन्यापदेशेनाह—

**गन्धेण अपणो मालिआणं णोमालिआ ण फुटिहृ ।**

**अपणो को वि हआसाइ मंसलो परिमलुग्गारो ॥ ८१ ॥**

[ गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका न च्युता भविष्यति ।

अन्यः कोऽपि हताशाया मांसलः परिमलोद्धारः ॥ ]

अन्यकुसुममालासु च्यवेत नवमालिका न गन्धेन ।

कोऽप्यन्यः किल मांसलपरिमलपटलो हताशायाः ॥ ८१ ॥

अन्यपुष्पग्रथितमालिकानां मध्ये नवमालिका (पुष्पम्) आत्मनो गन्धेन न च्युता भवेत्, न न्यूना भविष्यतीत्यर्थः । यतः किल हताशाया अस्या मांसलो बहलः परिमलुज्जः कोप्यन्य एव अन्यपुष्पेभ्यो विलक्षण एव । हताशाया इति प्रेमभर्त्सेनयोक्तिः । अथवा हता आशा अन्यासां सपलीनां यथा तस्या इत्यर्थः । तथा च—खलावप्येन अन्य-सपलीनामियं परिभवप्रदा स्यादिति व्यञ्जयते । कोऽपीत्यनेन परिमलस्यानिर्वचनीयता सूच्यते । तथा च—ये किलायाः सौन्दर्यसौकुमार्यादयो गुणाः सन्ति तानहमेव जानामि, न त्वां वचनेन प्रत्याययितुं प्रभवामीति सुहृदं प्रत्यभिव्यञ्जयते । मांसल इत्यनेन बहलमस्याः सौन्दर्यं तथा चोपभोगादिना मन्दीभूतलावप्यच्छायतया चिथिलितभर्तुप्रण-याया अस्या: कदाचिलाभः स्यात्साप्याशा नेति द्योत्यते । एवं च—सर्वसपलीजनमूर्धन्या सेयं भर्तुः परमबहलभा स्याद्गोऽस्याः पुनःसमागमाय सुमृशं विमनाये इत्यात्मनोभि-प्रायः सुहृदं प्रतिव्यञ्जयते ।

नष्ठनं भुजज्ञमुत्साहयितुं कुट्टनी सत्पुरुषप्रशंसामाह—

फलसंपत्तीअ समोणआइ तुङ्गाइ फलविपत्तीए ।

हिअआइ सुपुरिसाणं महातरुणं व सिहराइ ॥ ८२ ॥

[ फलसंपत्या समवनतालि तुङ्गालि फलविपत्या ।

हृदयानि सुपुरुषाणां महातरुणामिव शिखराणि ॥ ]

तुङ्गानि फलविपत्या फलसंपत्या नितान्तनन्धाणि ।

हृदयानि सुपुरुषाणां महातरुणामिव॒ शिखराणि ॥ ८२ ॥

दैवदत्तैभवसम्पदा अत्यन्तमवनतालि, गर्वशून्यत्वात् । वैभवक्षये तु दैन्यजनितहृ-दयाधोगतिराहित्येन सुपुरुषाणां हृदयानि महाशयत्वादुच्चतानीति भावः । शिखराणि अग्राणि । फलशब्दस्य लिष्टत्वेन श्लेषानुप्राप्तिता सेवमुपमा । अनया च ‘धनापगमेपि उच्चतहृदयेन न त्वया विमनायितव्यम्’ इति भुजज्ञं प्रत्यभिव्यञ्जयते ।

प्रोक्षितभर्तृकायाः सखी तत्कान्तस्य सत्वरं गृहागमनार्थं तत्समीपगमेन पान्थमाह—

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए ।

णित्थाणुवत्तणे वलिअहत्थमुहलो वलअसदो ॥ ८३ ॥

[ आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः ।

निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः ॥ ]

आश्वासयति परिजनं विलुठन्या हन्त पथिकजायायाः ।

निःस्थामवर्तने किल वलयरचो वलितकरमुखरः ॥ ८३ ॥

विलुठन्द्या: शयनीयतर्ले विरहवेदनया इतस्तः परिवर्तमानायाः पथिकजायाया निःस्थाम निःसहं यद्वर्तनं पार्श्वपरिवर्तनं तस्मिन् । बलिते चलिते करे, सुखरोऽनुबद्धज्ञ-गत्कारो वलयशब्दः परिजनमाध्यासयति सान्त्वयति । कङ्गणशब्दं श्रुत्वा जीवतीति ज्ञानेन परिजनस्याध्यासो भवतीति भावः । चंकमणादिकस्य तु का कथा, शयनीयेषि सा यदा वेदनया पार्श्वपरिवर्तनं करोति तदैव जीवतीति ज्ञायते, तेन च विरहक्षेत्रातिशयो व्यज्यते । निःस्थामेत्यनेन पार्श्वपरिवर्तनमपि वेदनातिशयेन निःसहतयैव करोति, अन्यथा तु पार्श्वपरिवर्तनायासमपि सा न सहते इति सूच्यते । बलित एव करे सुखर इत्यनेन-अशक्तया किञ्चिद्दस्तस्पन्दन एव वलयशब्दो भवति, एवं च वलयानां समधिकशैथित्येन कृशतातिशयो ध्वन्यते । जीवतीतेवावन्मात्रेणापि सान्त्वनया विरहवेदनातिशयात्तस्या जीवनं परिजनस्य संदिग्धमेवेति ध्वन्यते । परिजनमाध्यासयति न पुनरन्यजनस्मित्यनेन समीपस्थितया परिजनेनैव कङ्गणशब्दो विरहुर्बलायाः श्रूयत इति शयोपान्तस्थितपरिजना संदिग्धजीवना सा कथंचिचाद्यापि दशर्मी दशामुपगतेति सत्वरं गृहसुपगच्छेति प्रवासिनं प्रत्यभिव्यज्यते ।

क्षीणविभवेषि स न कदाचिद्दुदाराशयः स्यादिति नायिकामनुकूलयितुं दृती नायकोदार्यमाह—

**तुङ्गो चिअ होइ मणो मणांसिणो अन्तिमासु वि दशासु ।**

**अत्थमणमिमि वि रङ्गो किरणा उद्दं चिअ फुरन्ति ॥ ८४ ॥**

[ तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु ।

अत्थमनेऽपि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव फुरन्ति ॥ ]

**उच्चतमेव मनः स्यान्मनस्विनो ह्यन्तिमास्वपि दशासु ।**

**किरणाः स्फुरन्ति संततमस्तमनेष्यूर्ध्वमेव रवेः ॥ ८५ ॥**

अत्थमनेषि रवेः किरणाः संततं निल्यसूर्ध्वमेव स्फुरन्ति प्रसरन्ति । अनेन दृष्टान्तेन उच्चतमनाः स त्वामेव कामयते न कदाचिदधमां स्पृहयेत्वा स्य वदान्यतायां विशङ्क्षेति नायिकायाः प्रोत्साहनं व्यज्यते ।

अतीवोदाराशयः कारुणिकश्च स इति नायकगुणसूचनेन काञ्चिदुच्चतहृदयां नायिकामनुरक्षयन्ती दृती सुजनप्रशंसामाह—

**पोइं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुविग्गा ।**

**विहुलद्वरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सप्पुरिसा ॥ ८५ ॥**

[ उदरं बिग्रति शकुना अपि हे मातर आत्मनोऽनुद्विष्टाः ।

विहुलोद्वरणस्यभावा भवन्ति यदि केऽपि सप्तुरुषाः ॥ ]

**उदरं भरन्ति मातः शकुना अप्यात्मनो हानुद्विष्टाः ।**

**विकलोद्वरणनिसर्गां भवन्ति यदि केपि सप्तुरुषाः ॥ ८५ ॥**

परोदरपूरणचिन्ताशून्यतया अनुद्विष्टाः शकुनाः पक्षिणोपि आत्मन उदरं पूरयन्ति ।

यदि केपि महान्तः पुरुषा भवन्ति ते विकलस्य दुर्गतस्य उद्धरण आपचिवारको निसर्गः स्वभावो येषां तादृशा भवन्तीत्यर्थः । केपीत्यनेन तादृशा महापुरुषा दुर्लभा भवन्तीत्यभिव्यञ्यते । तथा चैतादृशमसुलभमुदाराशयं सत्वरमुपगच्छेति दूस्या ध्वन्यते । अत्र ‘भरन्तीत्यस्य विभ्रती’ति गङ्गाधरकृतच्छाया तु विच्छायैव, धारणार्थकस्य पूरणोऽवाचकत्वात् । ‘पोहं भरन्ती’ति सूलस्य उदरभरण एव तात्पर्याद्वारणार्थस्याऽसङ्गतेः ।

कृत्रिमेणापि भावेन सोऽनुरक्षनीय इति वारं वारमनभिरुचितपुरुषानुरागार्थमागृहतीं दूर्तीं काचिद्विदध्वध्वधूराह—

**ण विणा सब्भावेण ग्वेष्पह परमत्थजाणुओ लोओ ।**

**को जुणमङ्गरं काज्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ ८६ ॥**

[ न विना सद्भावेन गृह्णते परमार्थज्ञो लोकः ।

को जीर्णमार्जारं काज्जिकया प्रतारयितुं शक्नोति ॥ ]

**लोकः परमार्थज्ञः सद्भावमृते न गृह्णते जातु ।**

**वञ्चयितुं काज्जिकया को वा शक्नोति जीर्णमार्जारम् ॥ ८६ ॥**

परमार्थज्ञो वस्तुतत्त्वज्ञो लोकः सद्भावं विना कदाचिदपि न गृह्णते न वशीक्रियते । जीर्णमार्जारं वृद्धविडालं दध्यादिस्थाने काज्जिकां प्रदाय को वा प्रतारयितुं शक्नोति । काज्जिकयेत्यनेन-कृत्रिमभावः खेहाग्रेऽतिलघुः सत्वरपरिचेयश्चेति सूच्यते । एतेन-वहु-वनितासु कृतासक्तितया अनुभवशाली स न कृत्रिमभावेन प्रतारयितुं सुशक्त इति दूर्तीं प्रति ध्वन्यते ।

अलंकाराद्याभेनापरितुष्टां नायिकामवबोधयितुमकारणस्तेहमहिमानमन्यापदेशेन दूस्याह—

**रण्णाउ तरणं रण्णाउ पाणिअं सववअं सअंगाहम् ।**

**तह वि मआणं मईणं अ आमरणन्ताइँ पेम्माइँ ॥ ८७ ॥**

[ अरण्यात्तृणमरण्यात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राहम् ।

तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्तासि प्रेमाणि ॥ ]

**विपिनात्तृणमथ विपिनात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राहम् ।**

**हरिणानां हरिणीनां तथापि च प्रेम मरणान्तम् ॥ ८७ ॥**

खयं ग्राह्यमित्यनेन भोजनादिभारोपि न पुरुषसात्थापि मृगीणामपरेषितः प्रेमेति तां प्रत्यभिव्यञ्यते । तथा च-केवलमलंकाराद्यप्राप्यैव प्रणयशिथिलीकरणं नोन्वितं प्रत्युत निरपाधिकं प्रेमैव श्लाघमिति ध्वन्यते ।

श्रीष्वेषि कामिनोः परिरम्भणादि यथा सुखकरं न तथान्यदिति कश्चित्सहृदयः सुहृदमाह—

**तावमवणेह ण तहा चन्दणपङ्को वि कामिमिहुणाणम् ।**

**जह दूसहे वि गिम्हे अणोणालिङ्गासुहेढी ॥ ८८ ॥**

[ तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोपि कामिमिथुनानाम् ।

यथा दुःसहेऽपि ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गनसुखकेलिः ॥ ]

न तथापनयति तापं चन्दनपङ्कोपि कामिमिथुनानाम् ।

ग्रीष्मे यथा सुविषमेपि मिथः परिरम्भसुखकेलिः ॥ ८८ ॥

चन्दनपङ्को ग्रीष्मे बाह्यं तापमपनयति नाभ्यन्तरम्, अन्योन्यालिङ्गनकेलिक्ष पुनरुभयविधमिति भावः । ऊप्तोत्पादकस्यापि तापापनोदकत्वेन विरोधः, ततश्च ग्रीष्मेपि सर्वापेक्षया प्रियायामेवानन्दमधिकमुपलमे इति शोलते । अत्र ‘संतापातिशयस्वर्णजनाय चन्दनलेपपाद्युपचारं कुर्वाणां वारयन्ती विरहिणी काचिदाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । संभोगचेष्टास्यालिङ्गनं यथेति प्रघटके उदाहृता सेर्वं गाथा कण्ठाभरणे ।

कुलयुवतीनां सलज्जत्वेपि भावसूचनचारुर्यं प्रियतमेषु क्रियतसुखावहमिति कस्यात्थ-  
न वृत्तान्तं नागरिकः सुहृदमाह—

तुप्याणणा किणो चिङ्गसि चि पडिपुच्छिआए वहुआए ।

गिउणावेडिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअम् ॥ ८९ ॥

[ घृतलिप्सानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्ठया वध्वा ।

द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥ ]

किमिति घृतलिप्सवदना तिष्ठसि परिपृष्ठयेति कुलवध्वा ।

द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जानतं हसितम् ॥ ८९ ॥

घृतलिप्सवदना किमिति तिष्ठसीति खीष्वनधिकं प्रवृत्तेन प्रियतमेन परिपृष्ठया वध्वा द्विगुणावेष्टितं पूर्वतोप्यधिकं प्रच्छादितं जघनस्थलं यथा एतादृश्या सत्या त्रपया लज्जावनतं यथा स्यातथा हसितम् । जघनस्थलप्रच्छादनसहकृतेन सलज्जहसितेनात्मनो रजो-दर्शनमाविष्कृतमिति भावः । रजोदर्शनसमये घृतलिप्साननया स्थीयत इति खीणामाचारः । ‘सपल्या दुश्चारित्रयद्युपानार्थं मुरुधवद्वृत्तविसद्दां प्रथमरजोयोगसूचनव्युत्पत्तिं तस्या: सूचयन्ती कापि सेर्वभावः’ इति गङ्गाधरः ।

कुलयुवतीनां कठिनं किल चारित्र्यमिति शिक्षयन्ती पुरन्द्री कुलवधुमाह—

हिअअ चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारम् ।

बान्धवदुव्वयणं विअ दोहलओ दुग्गअवहूए ॥ ९० ॥

[ हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम् ।

बान्धवदुर्बचनमिव दोहदो दुर्गतवध्वा ॥ ]

स्वहृदय एव विलीनो नोको ज्ञात्वा तु गृहसारम् ।

बान्धवकुठिलवचनमिव दुर्गतवध्वा स्वदोहदो हन्त ॥ ९० ॥

दरिद्रस्य पल्या आत्मनो गृहस्य सामर्थ्यं ज्ञात्वा बन्धुजनानां संतापजनकं वचनमिव स्वदोहदो गर्भिणीत्वाक्ले संजातः स्वमनोमिलाषः पतिश्वश्वादीनामग्रे न कथितः किन्तु हन्त स हृदय एव विलीनः । ‘प्रसवोत्सवे एवमिव धनवितरणादिकं भविष्यति’ इति

संतापनार्थं बान्धवैर्यक्रोक्त्या कथितं वचनं गृहजनानां केवलं क्लेशकरमेव भवेत् पुनः सामर्थ्यभावात्तप्रतीकारः क्षम इति बुद्धा यथा न कथितं तथा तप्तपूरणसामर्थ्यभावं ज्ञात्वा स्वदोहदोऽपि नोक्त इति भावः । दोहदस्योत्पत्तिमनुकृत्वा ‘स्वहृदय एव विलीनः’ इति केवलं तद्विलयस्यैव कथनेन उत्पन्नोपि दोहदः सुशीलतया न हृदये क्षणमपि स्थाप्यते किन्तु उत्पत्तिक्षणं एव विलीयते इति सूच्यते, तथा च सोयमतिशयोक्तिव्यन्ति: । अथवा-हृदय एव विलीन इत्यनेन इच्छायाः प्रबलत्वेन वारं वारं सा हृदय एव आम्यन्ती विलीयते न वहिः प्रकाशयत इति सूच्यते । एवं च गृहजनस्य मनःक्लेशनिवारणार्थं स्वयं मनःक्लेशं सहन्ते कुलनार्थं इति तां प्रसमिव्यज्यते ।

मनःक्लेशं सहन्ते कुलनार्थं इति तां प्रसमिव्यज्यते ।  
मनःक्लेशं सहन्ते कुलनार्थं इति तां प्रसमिव्यज्यते ।

**धावइ विअलिअधमिल्लसिचअसंजमणवावडकरण्णा ।**  
**चन्दिलभअविवलाअन्तडिभ्मपरिमगिणी घरिणी ॥ ९१ ॥**

[ धावति विगलितधमिल्लसिचयसंयमनव्यापृतकराया ।

चन्दिलभयविपलायमानडिभ्मपरिमार्गिणी गृहिणी ॥ ]

**धावति विगलितकचभरसिचयनियमनावरुद्धकरकमला ।**  
**चन्दिलभयविपलायितवालकपरिमार्गिणी गृहिणी ॥ ९२ ॥**

विगलितयोः कचभरसिचययोः ( केशपाण्ड-पटयोः ) नियमने संयमने अवरुद्धे च्यापृते करकमले यस्याः सा । चन्दिलो नापितस्तस्य भयेन विपलायितस्य बालकस्यान्वेणिणी गृहिणी धावति । संसद्रमगमनेन विलुलितकेशवसनाब्लाया भुजमूलशोभां पश्येति भावः । शौरकष्टाशङ्क्या बालका नापिताद्विभ्यतीति लोकः । ‘चन्दिलः पुंसि वास्तुकशाके गर्भे च नापिते’ इति मेदिनी । तथा च चन्दिलेति देशीशब्दः प्राकृतपर्यय-सायीति यैरुक्तं तदपास्तम् । अत एव अन्यालोके ‘अर्थान्तररगतिः काका या चैषा परिहृदयते’ इत्यत्र काका अर्थान्तरप्रतीतेरुदाहरणस्य ‘आम असइओ लोरम्’ (५।१७) गाथाया व्याख्याने ‘चन्दिलं नापितमेव पामरप्रकृतिं न कामयामहे’ इति लोचनकारेण नापितवचनश्चन्दिलशब्दः संस्कृतभाषायासुपात्तः । ‘कुलवीचरितविरुद्धं सपल्या धार्ष्णी रुद्यापयन्ती कपि बन्धुवधूजनमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । अत्र पलायमानेति मूलमुरोधे तु ‘चन्दिलभयपरिधावद्वालक’ इति पाठो वोध्यः ।

नायिकाया वयः सन्धि सौभाग्यं च भुजङ्गजनमनोहरणार्थं दूती आह—

**जह जह उच्चहइ वहू णवजोन्वणमणहराहैं अङ्गाहैं ।**

**तह तह से तणुआअइ मञ्जो दृइओ अ पडिवकखो ॥ ९२ ॥**

[ यथा यथोद्वहते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गाति ।

तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्षः ॥ ]

**बहति वधूर्नवयौवनमनोहराणि हि यथा यथाङ्गानि ।**

**कृद्यति तु तथा तथास्या मध्यो दयितः सपल्यश्च ॥ ९२ ॥**

यथा यथा येन येन क्रमेण । सपलः प्रतिपक्षः । कृशति कृशो भवति, आचारार्थे क्रिप् । यौवनस्वभावान्मध्यः कटिदेशः, अल्यासत्तया दयितः, ईर्ष्यासंतापाच्च सपलीप्रमृतिः प्रतिपक्षः कृशो भवतीति भावः । यौवनरूपकारणस्य मध्यादिकृशतारूपकार्यस्य च समानकालिकतावर्णनेनाकमातिशयोक्तिः । मध्यो दयितः सपलश्च कृशतीत्येकदेशे तु दयिते सपले च तुल्यव्यापारवर्णनात्सरस्वतीकण्ठाभरणोक्ता द्वितीया तुल्ययोगिता हेया । एताभ्यामलंकाराभ्यामलंकृतेन वस्तुना तु वयः सन्धिकृतेन नायिकायाः सौन्दर्येण सह दयितस्यात्यन्तं वल्लभा सा प्रचुरप्रयत्नेन साध्येति दूत्याकृतं ध्वन्यते ।

कुलवधूनां निजदयिते निरुपाधिकः प्रेमा भवतीति वृद्धपतिद्वेषिणीं कांचन चञ्चल-शीलां शिक्षयन्ती काचिद्विदर्घवधूराह—

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरुओ वि ।

कुलवालिआण्ँ तह तह अहिअअरं बल्हहो होइ ॥ ९३ ॥

[ यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतो विरुपोऽपि ।

कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं बल्हभो भवति ॥ ]

भवति पतिः किल जीर्णो यथा यथा दुर्गतो विरुपोपि ।

कुलयुवतीनामधिकं तथा तथा बल्हभो भवति ॥ ९३ ॥

यौवनं धनं सौन्दर्यं वावलम्ब्य निरुपाधिकप्रेमवतीनां न प्रणयः । प्रत्युत वृद्धादिः किल नान्ययुवतीनां प्रेमभाजनं भविष्यतीति निरंशप्रेमलाभसंतोषेण निसर्गतः पतिप्रणयिनीनां कुलरमणीनामधिकाधिकं प्रीतिरिति भावः ।

कस्मिन्नपि युवके बद्रप्रणया काचित्पथि गच्छन्तं तं समानवयःशीलां मातुर्लीं दर्शयन्ती आह—

एसो मामि जुवाणो वारंवारेण जं अडअणाओ ।

गिम्हे गामेकवडोअअं व किच्छेण पावन्ति ॥ ९४ ॥

[ एष माटुलानि युवा वारंवारेण यमसत्यः ।

ग्रीष्मे ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्रामुखन्ति ॥ ]

मातुलि सोयं युवको वारंवारेण यमसत्यः ।

ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्रामुखन्ति घनघर्मे ॥ ९४ ॥

हे मातुलि, अयं स युवकोति यम् असत्यो घनघर्मे निर्भरग्रीष्मसमये ग्रामस्य एकं वटोदकमिव, वटवृक्षसमीपस्थस्य एकमात्रकूपस्य जलमिवेत्यर्थः । वारंवारेण वारंक्रमेण, पर्यायेणेति यावत्, कृच्छ्रेण प्रामुखन्ति । ग्रामैकवटोदकमिवेत्यनेन ग्रामे सर्वासामयमेव स्पृहणीय इति तस्यासाधारणसौन्दर्यं ध्वन्यते । घनघर्मे शीतलजलं विना जीवितं यथा दुर्वहं तथा सर्वासामयस्तीनामयमालम्बनमिति तस्य दुर्लभत्वं व्यज्यते । पर्यायेण प्रामुखन्तीत्यनेन एकस्या उत्तरमेका ग्रामोतीति तस्य स्वत्पकालाय लभ्यत्वं द्योलते । तथा च—यमन्याः स्वल्पकालार्थमपि महता कष्टेन प्रामुखन्ति स मयानायासेन

प्राप्त इति निजसौभाग्यमभिव्यज्यते । ‘अडअणाओ’ असल्यः, इति गङ्गाधरटीका ।  
कुलबालदेवस्तु ‘जं अडअणाओ’ इत्यस्य ‘यं च ललना’ इति च्छायामाह ।

पराङ्मनासच्छुर्लितिस्य निजदयितस्य संकेतस्थानभज्जेन परितुष्टा काचित्कुलवधूः  
पितृष्वसारमाह—

ग्रामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुखीण॑ पण्डुरच्छाअम् ।

हिअएण समं असईण॑ पडइ वाआहअं पत्रम् ॥ १५ ॥

[ ग्रामवडस्य पितृष्वस आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम् ।

हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहतं पत्रम् ॥ ]

ग्रामवटस्य पितृष्वस आपाण्डुरकान्ति पाण्डुरमुखीनाम् ।

सममसतीनां मनसा निपतति वाताहतं पत्रम् ॥ १५ ॥

हे पितृष्वसः ! ग्रामवटस्य ग्राममध्यस्थवटस्य । अनेन जटापत्रगहनतया रात्रौ चौर्य-  
सुरतसौकर्यं व्यज्यते । आपाण्डुरकान्ति परिणततया सर्वतः पाण्डुरच्छायं पत्रं वाता-  
हतं सद् संकेतस्थानभङ्गात् विवरितसुरतसौख्यतया पाण्डुरमुखीनामसतीनां हृदयेन  
समं पतति । पत्रमित्येकवचनेन एकैकपत्रपत्रने हृदयपतनसम्भुदुःखं भवतीति व्यन्यते ।  
संकेतस्थानभज्जेनोभयोर्दुःखसंभवेषि केवलमसतीनां दुःखवर्णनाद्यथितपचादं जिह्वीषन्त्या  
नायिकाया दक्षिण्यं पतिपरायणत्वं च द्योल्यते । अनया च सहोक्त्या ‘अहं दयिताभि-  
सारस्थानानि जानन्त्यपि तदनुवृत्तिकौशलेन सर्वं सहे’ इत्यात्मनो धैर्यं व्यज्यते ।

आत्मन इङ्गितज्ञातां सूचयन्नागरिकः स्वसुहृदमाह—

ऐच्छिइ अलद्धलक्ष्यं दीर्घं णीससइ सुणाअं हसइ ।

जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअट्ठिअं किं पि ॥ १६ ॥

[ पश्यत्यलङ्घलक्ष्यं दीर्घं निःशसिति शून्यं हसति ।

यथा जलपत्यस्फुटार्थं तथा तस्या हृदयस्थितं किमपि ॥ ]

पश्यत्यलङ्घलक्ष्यं विहसति शून्यं श्वसिति दीर्घम् ।

जलपति यथा अस्फुटार्थं तथा तु हृदयस्थितं किमप्यस्याः ॥ १६ ॥

यथा इयं अलङ्घलक्ष्यं यथा स्यात्तथा, लक्ष्यं विनैव पश्यतीर्थ्यर्थः । दीर्घं निश्चसिति,  
अनेन चिन्ता व्यज्यते । शून्यं हसति, विनैव लक्ष्यं हसतीर्थ्यर्थः । अस्फुटार्थं जलपति,  
प्रियं हृदये स्मृत्वा तेन सममसप्दार्थं यथा तथा संलापादिकं करोतीर्थ्यर्थः । अनेन  
स्मृतिर्थ्यर्थते—‘स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थं विषयं ज्ञानमुच्यते’ । तथा अस्याः किमपि हृदय-  
स्थितमस्ति । अलक्ष्यं वीक्षणादिभिर्ज्ञायते यदियं प्रियतमदत्तहृदयास्तीति भावः । एषा  
प्रथमानुरागे नायिकाया विप्रलम्भचेष्टेति स० कण्ठाभरणम् ।

प्रत्युत्पन्नमतयः कुलटाः पतिमपि प्रतारयन्तीति विक्षयन्नागरिकः सहचरमाह—

गहवह गओमह सररणं रक्खेसु एअं चि अडअणा भणिरी ।

सहसागअस्स तुरिअं पहणो न्विअ जारमप्येह ॥ १७ ॥

[ गृहपते गतोऽस्माकं शरणं रक्षैनसिल्पसती भणित्वा ।

सहस्रागतस्य त्वरितं पञ्चुरेव जारमर्पयति ॥ ]

अयि गृहपते गतो नः शरणं रक्षैनसिति भणन्त्यसती ।

सहस्रागतस्य दूर्णं स्वभर्तुरेव स्वजारमर्पयति ॥ १७ ॥

जारागमनोत्तरमेव सहस्रा अतर्कितमागतस्य स्वभर्तुरेव निर्मायताप्रदर्शनार्थं त्वरितं स्वस्य जारमर्पयति । गृहपते ! हल्यामच्छेष गृहस्य त्वं स्वामीति गौरवबुद्ध्या तुभ्यमेव सोयं समर्पणीय इति योखते । अथवा शरणागतोऽयमेतावत्कालं गृहस्यामिन्या मया रक्षितः, इदानीं त्वं साक्षात्स्वामी समागत इति तदुपरि गौरवभरविन्यसनं योखते । स्वभर्तुरेवेत्येकारणं स्वभर्तुरेव तासां प्रतारणं सुकरं किं पुनरन्यस्येततिशयो योखते । भर्तुपदेन स केवलं रक्षणभरणकर्तृव न पुनर्दियत इति योखते ।

न किल प्रणयो निहूयमानोपि निपुणैर्न लक्ष्यत इति प्रतिपाद्यन्ती काचित्सखीं प्रति कस्याश्विद्वृतनिदर्शनमाह—

**हिअअद्विअस्स दिज्जउ तणुआअनित ण पेचछह पिउच्छा ।**

**हिअअद्विओम्ह कंतो भणिउं मोहं गआ कुमरी ॥ १८ ॥**

[ हृदयेप्सितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमरी ॥ ]

हृदयस्थिताय वितरत कृशितां पश्यत पितृभ्वसनों किम् ।

हृदयस्थितः कुतो नो मोहमगादिति कुमारिका ब्रुचती ॥ १९ ॥

कौमारावस्थायमेव केनचन यूना सह कस्याश्वित्यप्णयमालक्ष्य विदाधया कायाचित्कु-  
मार्याः पितृभ्वसारं प्रलुब्धकम्—अनया यस्यै हृदये स्थानं दत्तं तस्मै अस्या हृदयेप्सिताय  
इयं दीयताम् । इसां पूर्वमकृशामपि निरन्तरानुध्यानवशास्तंप्रति कृशां किं न पश्यते ?  
ततः स्वप्रणयवृत्तप्रकाशनेन लज्जिता सा—‘कुमारीणां नः हृदयस्थितः कुतः ?’ इति  
श्रवती कुमारी ग्रियस्तरणावेगान्मोहं गतेति भावः । ‘हिअअद्विअस्स’ इसस्य ‘हृद-  
येप्सिताय’ इति गङ्गाधरच्छाया ।

सुरतावसानोपचारचारुर्यं शिक्षयन्ती सखी कस्याश्विद्वृतं नायिका प्रत्याह—

**खिण्णस्स उरे पइणो ठबेइ गिम्हावरणहरमिअस्स ।**

**ओलं गलन्तकुसुमं एहाणसुअन्धं चिउरभारम् ॥ १९ ॥**

[ खिण्णस्योरसि पञ्चुः स्थापयति ग्रीष्मापराहरमितस्य ।

आर्द्धं गलकुसुमं ज्ञानसुगन्धं चिङ्गरभारम् ॥ ]

**खिण्णस्योरसि वितरति पत्युग्रीष्मापराहरमितस्य ।**

**आर्द्धं विगलकुसुमं ज्ञानसुगन्धं चिङ्गरभारम् ॥ १९ ॥**

ग्रीष्मापराहे रमितस्य अत एव खिण्णस्य पत्युरसि चिङ्गरभारं वितरति स्थापय-  
तीति संबन्धः । सुगन्धिशीतलस्य ज्ञानसुदुलस्य केशपाशस्य स्थापनकौशलेन वल्लभस्य

तापपरिश्रमावपनयतीति भावः । वयःकौशलाभ्यां संपूर्णतया प्रगल्भा सेयं नाथिकेति  
स० कण्ठाभरणम् । ‘भुजङ्गप्रोभनाय द्रुती नाथिकायाः सुरतावसानोपचारचारुर्यमाह’  
इति गङ्गाधरावतरणम् ।

कलितकौमुद्यां केलिरसिकः कथन कोविदः कान्तायाः कपोलकान्ति कीर्तयति—

अह सरसदन्तमण्डलकपोलपटिमागां मञ्चल्लीए ।

अन्तो सिन्दूरिअसङ्ख्यवत्तकरणि वहड चन्दो ॥ १०० ॥

[ असौ सरसदन्तमण्डलकपोलपटिमागतो मृगाक्ष्याः ।

अन्तः सिन्दूरितशङ्ख्यपात्रसादृशं वहति चन्द्रः ॥ ]

सरसदशनमण्डलयुतकपोलविम्बागतोयमेणाक्ष्याः ।

अन्तर्दरसिन्दूरितशङ्ख्यसुभाजनतुलां वहति चन्द्रः ॥ १०० ॥

मृगाक्ष्याः सरसदशनमण्डलेन मण्डलाकारेण सरसदन्तक्षतेन मणिमालानामकेन  
तुतो यः कपोलसत्र विम्बेन प्रतिविम्बद्वारा आगतः अयं चन्द्रः, अन्तः मध्ये ईषत्सि-  
न्दूरयुक्तस्य शङ्ख्यभाजनस्य तुलां सादृशं वहति । मृगाक्ष्याः रक्तवर्ण—कान्तदन्तक्षत-  
त्युक्ते स्वच्छकपोले प्रतिफलितो गोलाकारक्षन्द्रविम्बो मध्ये सिन्दूरयुक्तस्य शङ्ख्यनिर्मित-  
पात्रस्य सादृशं वहतीत्यर्थः । शुभ्रकान्तित्वाच्चन्द्रविम्बस्य शङ्ख्यपात्रसादृश्यम् । इन्तक्ष-  
तमण्डलस्थारक्तवात्सिन्दूरसाम्यं बोध्यम् । मणिमालालक्षणं तु—‘इन्तौष्ट्रसंयोगाभ्यासानि-  
ष्पादनात्रवालमणिसिद्धिः’ । ‘सर्वस्येयं मणिमालायाश्च’ इति सूत्रयोर्वार्तात्स्यायनेनोक्तम् ।  
[ ‘उच्छ्वनकं प्रवालमणिश्च कपोले’ इति पूर्वसूत्रानुसारं कपोले उत्तरदन्ताधरोषाभ्यां  
स्थानस्य गृहीत्वा पीडनं तदभ्यासः ( पुनः पुनः करणम् ) प्रवालमणिसंपादकम्,  
मालाकारथेन्मणिमाला ] । एतद्वगाधाथाव्याख्याने ‘कपोलयोरिति द्विवचनम्, कपोल-  
योरेव च शङ्ख्यपात्रसादृशं गङ्गाधरेरेणोक्तमनन्वयि । शङ्ख्यपात्रसादृशं वहति चन्द्र इति  
स्पृश्येककपोलमुद्दितैव मूले प्रोक्तत्वात् । किञ्च चन्द्रमण्डलमिसुखकपोलायाः कान्ताया  
एकसिंचेव कपोले चन्द्रप्रतिविम्बः प्रतिफलेनोभयोः, अत एव ‘कपोलयोः प्रतिमागतः  
संकान्तप्रतिविम्बन्दः’ इत्यादि व्याख्यानं विचारणीयमेव ।

शतकमुपसंहरति—

रसिअजणहिअअदइए कहवच्छलपमुहसुकइणिम्मअए ।

सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअम् ॥

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविलिमिते ।

सप्तशतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलकुशलसुकविपरिरचिते ।

सप्तशतके समाप्तं गाथाशतकं तृतीयमिदम् ॥ १०१ ॥

कविवत्सलः ( हालः ) कुशलः प्रमुखो येषु तादृशैः सुकविभिः परिरचिते ॥

चतुर्थ शतकम् ।

अविदग्धं भर्तारमासाद्य कुलदा नानाविधैश्छब्दभिर्जारनिहृतं कुर्वते इति विक्षार्थं  
नागरिक आह—

अह अम्ह आआदो अज कुलहराओ त्ति छेळ्छई जारम् ।

सहसागअस्स तुरिं पइणो कण्ठं मिलावेह ॥ १ ॥

[ असावस्साकमागतोऽय कुलगृहादिससती जारम् ।

सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे लगयति ॥ ]

अयमागतोद्य नः किल कुलगोहादिति हि जारमसती स्म॒ ।

सहसाऽगतस्य पत्युस्त्वरितं कण्ठे नियोजयति ॥ १ ॥

अस्ती ‘अयमद्य नः कुलगोहातिपृथग्नादागतः’ इति स्खमुपपतिम् । जारागमनोत्त-  
रमेव सहसा अतकिंतमागतस्य पत्युः कण्ठे तूर्णं नियोजयति संयोजयति लगयतीति  
यावत् । पत्युरित्युक्त्या केवलं पालनकर्तैव स न तु हृदयदयित इति सूच्यते । नः इति  
बहुत्वोक्त्या ‘केवलं ममैव परिचितो न किन्तु अस्माकं पितृकौटुम्बिकानां सर्वेषामेवायं  
परिज्ञातः’ इति प्रथितपरिचयो योख्यते । कण्ठे योजनेन निकटसंबन्धीति प्रतीत्या शङ्का-  
नवसरात्खरहस्यप्रच्छादनमिल्याकृतं व्यज्यते । त्वरितमिल्यनेन विचाराऽनवसरभ्रदानाच्चिः-  
संदेहतया स्खस्य सल्यत्वं व्यज्यते । एवंविधाभिरसतीचेष्टाभिर्न व्यामोगधव्यमिति सहचरं  
प्रत्यमिव्यज्यते । ‘छेळ्छई’ इत्यसतीवाचको देशी ।

स्खाधीनोस्याः प्रियतम इति नायिकायाः सौभाग्यं ख्यापयन्ती सखीं सखीः प्रसाह—

पुसिआ अण्णाहरणेन्द्रीलकिरणाहआ ससिमऊहा ।

माणिणिवअणम्भि सकजलंसुशङ्काइ दइएण ॥ २ ॥

[ प्रोञ्चिताः कर्णभरणेन्द्रीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।

मानिनीवदने सकजलाशुशङ्कया दयितेन ॥ ]

मृष्टाः कर्णभरणेन्द्रीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।

दयितेनाञ्जनमलिनाशुशङ्कया मानिनीवदने ॥ २ ॥

मानिनीवदने कर्णभरणस्थस्य इन्द्रनीलमणेः किरणैराहताः संभिद्वाः शशिकिरणाः  
अञ्जनमलिनस्य कजलमिश्रस्य अशृणुः शङ्कया दयितेन मृष्टाः प्रोञ्चिताः । आहतपदेन  
इन्द्रनीलकिरणानां गाढत्वं योख्यते, अतएव तत्संभेदेन शशिकिरणानामपि नीलवर्णता-  
संपत्तिः । चन्द्रमयूखप्रतिफलनेन नायिकाकपोलयोः खच्छतातिशयो व्यज्यते । दयित-  
पदेन सोपि तस्याः परमप्रेयानिति सूच्यते, ततश्च द्रयोरेव मिथो गाढप्रणयो ध्वन्यते ।

अविषयेषि मानिनीमिमामुनेतुं प्रियतमो दर्शितादर इति कियदस्याः सौभाग्यमिति चरमं च्वन्यते ।

कस्याथन सौन्दर्यातिशयवर्णनेन नायकमधिकाधिकमुत्साहयन्ती दूखाह—

**एहमेत्तमिम जए सुन्दरमहिलासहस्रभरिए वि ।**

**अणुहरइ नगर तिस्सा वामदं दाहिणद्वस्स ॥ ३ ॥**

[ एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभृतेऽपि ।

अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥ ]

एतावति भुवनेस्सिन्सुन्दरमहिलासहस्रभरितेषि ।

**केवलमनुहरतेस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥ ३ ॥**

केवलम् अस्या वामार्धं दक्षिणार्द्धस्यानुहरते । वामार्धभागस्य साद्वद्यवाहि दक्षिणार्द्ध-  
मेव, नान्या काचन सुन्दरी अस्या अनुहारिणीति भावः । महिलासहस्रभरिते इत्यनेन  
बह्यः सुन्दर्यो भरिता: सन्ति, ततश्चान्यसुन्दरीः प्रति सौलभ्यकृतोऽनादरो च्वन्यते ।  
तस्या: शरीरार्द्धं तस्या: शरीरादेन समसित्यन्वयालंकारेण साऽद्वितीया सुन्दरी  
संप्रतमसिंच्छेके इति दूखाभिव्यज्यते । किञ्च वामार्धं दक्षिणार्द्धस्यानुहरते इत्यनेन  
यथा तस्या वामार्धं सर्वप्रकारेण सुन्दरं तथा दक्षिणार्द्धस्यपीति सर्वाङ्गं तस्या: सौन्द-  
र्यप्रसवि न त्वन्यासामिव कस्मिन्कसिद्धज्ञ इव काञ्चित्तुटिरीक्यत इत्यपि च्वन्यते । तथा  
चैवंविधामसामान्यसुन्दरीसुपलब्धं तरितमाचेष्टनीयमिति नायकग्रोत्साहनं द्योलते ।

कृतापराधमपि ददितं मानावलम्बनेन किमिति नावरुणतिः, किमेतावदायतासीति  
शिक्षयन्तीं सर्वां काञ्चिदात्मनोऽनुरागमाह—

**जह जह वाएह पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे ।**

**वह्ली वलेह अङ्गं सहावथद्वे वि रुक्खमिमि ॥ ४ ॥**

[ यथा यथा वादयति प्रियस्था तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेमिण ।

वह्ली वलयस्यङ्गं स्वभावस्थब्देऽपि वृक्षे ॥ ]

रणयति ददितो हि यथा तथा प्रनृत्यामि चञ्चले प्रेमिण ।

वह्ली वलयस्यङ्गं वृक्षे स्तव्येषि निजनिसर्गेण ॥ ४ ॥

प्रियतमो यथा यथा वाद्यं वादयति तथा तथाहं चञ्चले प्रेमिण दूखामि । नर्तको  
यथा वादकस्य वाद्यलयानुसारमेव पदनिष्ठेषं कर्तुं शकुयात्याहमपि प्रियस्याभिप्रायानु-  
सारमेव प्रेमवशांवदा समाचरामीति प्रियानुवर्तनं च्वन्यते । किञ्च नर्तकवादकयोर्लयस्य  
संवाद एव यथा संगीतकसौष्ठवं भवति तथैव दम्पत्योरभिप्रायसाम्ये एव प्रणयगार्हस्थयं  
शोभत इष्टि शहच्छन्दानुरोधेन मिथोनुवर्तनमपि गाशाकारेण सूच्यते । ‘दूखामि  
चञ्चले प्रेमिण’ इत्यनेन चाक्षत्यकरं प्रेम आत्मच्छन्देन सां नर्तयतीति लोकेत्यनु-

करणेन नाहमात्मवशंवदेति ध्वन्यते । वल्ली निजस्वभावेन स्तब्धेषि वृक्षे अङ्गं वलयति वैष्ट्यति, अनेन दृष्टान्तेन प्रियः काममस्तु स्वैरचेष्टितोऽहं तु तसै आत्मसमर्पणं कृतवतीखात्मनोनुरागातिशयो ध्वन्यते । किञ्च मत्कृतच्छायायां निजनिसर्गेणेति पृथक्यम-दस्थापनेन वृक्षस्य स्तब्धत्वं यथा निजस्वभावस्थात् लताया अपि वृक्षवैष्टनं निजः स्वभाव इति 'स्तब्धेषि वृक्षे वल्ली निजनिसर्गेणाङ्गं वलयति' इत्यर्थसंपत्त्या लियाः पतिच्छन्द्य-नुवर्तनं स्वभाव एवेति दयितानुवृत्तिदाक्षिण्यं ध्वन्यते । पूर्वाद्देव नाहमात्मवशरोगेत्यर्था-न्तररगभिताया लोकोक्तेरनुकरणाच्छेकोक्तिरलंकारः 'छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तिः स्यादर्थान्तर-रगभिता' । तथा च-प्रेमवशंवदा नाहमात्मनोपि प्रभवामि किं पुनर्दयिते मानमनुष्ठ-तुमिति नायिकया सखीं प्रत्यभिव्यज्यते । 'यद्वा निराश्रयतया स्थानुमशक्ता लता यथा स्तब्धं वृक्षमाश्रित्य तिष्ठति तथाहमपि नटप्रायमननुरक्तमधमप्याश्रित्य तिष्ठामि याव-दुत्तमं कमप्यासादयामीति दूरीं प्रति कुलटायाः कस्याश्रिदियमुक्तिः' इति गङ्गाधरटीका ।

महता प्रयत्नेन प्राप्तस्य दयितस्य हृदयेच्छानुवर्तनवैमुख्यं सूचयन्ती नायिका स्वस-खीमाह—

दुःखेहिं लम्भइ पिओ लद्वो दुःखेहिं होइ साहीणो ।  
लद्वो वि अलद्वो व्विअ जइ जह हिअअं तह ण होइ ॥ ५ ॥

[ दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधीनः ।

लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदयं तथा न भवति ॥ ]

दयितो दुःखैराप्यत आस्तो दुःखैर्हि भवति चाधीनः ।

आसोप्यनास एव तु न हि यदि हृदयानुकूलः स्याद् ॥ ५ ॥

स्वामी भर्ता वा सुखं प्राप्यः परं यः किल हृदयामीप्सितः प्रियः स हि दुःखैर्लभ्यत इति दयितपदस्याकृतम् । यदि प्रियो लब्धस्तर्हपि सौन्दर्यगुणाद्यभिमानेन दयिताया वशीभूतो न भवति प्रत्युत तामेवाभिभूय स्थं स्वैरचारी स्यादेवं च महता कष्टेन पुनः स्वाधीनो भवतीति भावः । यदि तु हृदयानुकूलो न भवति तर्हि लब्धोऽप्यलब्ध एव । 'महताऽप्यासेन प्राप्तोपि न मे हृदयानुवर्तनं करोति' इति नायिकया सनिवेदमात्माभि-प्रायो व्यज्यते ।

प्रियं प्रति सोत्कण्ठा कलहान्तरिता प्रियसखीमाह—

अब्बो अणुणअसुहकङ्गीरीअ अकअं कअं कुणन्तीए ।

सरलसहावो वि पिओ अविणअमग्मं बलण्णीओ ॥ ६ ॥

[ कष्टमनुनयसुखकाङ्गणशील्याकृतं कृतं कुर्वत्या ।

सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्वीतः ॥ ]

अनुनयसुखलोलुपया कष्टमकृतमपि कृतं प्रकुर्वत्या ।

दयितः सरलनिमग्नोप्यविनयमार्गं बलान्वीतः ॥ ६ ॥

अपराधे सिद्धे सति विलक्षः प्रियो मामनुनयेदिति प्रियसकाशाद्नुनयसुखं काङ्क्षन्या  
अत एव प्रियेण अकृतमध्यपराधं कृतं कुर्वत्या साधयन्त्या मया । सरलखभावोपि  
प्रियो बलादविनयमार्गं नीत इति कष्टम् । अब्बो इति कष्टसिलर्थे देशी । कष्टविनय-  
मार्गं नीत इति मतिप्राबल्येन कोपभावस्य शान्तिः । भर्त्रादिपदमनुच्चार्य दिग्यितपद-  
प्रयोगेण वल्लभं प्रति तत्प्रणयादिसरणेनोत्कण्ठाख्यभावस्योदयश्च व्यज्यत इति भाव-  
सन्धिः । ‘काङ्क्षिण्या’ इति संस्कृते दुःश्रवं स्यादिति ‘लोकुपया’ इति परिवर्तितं छाया-  
याम् । ये तु केवलं मूलपदाङ्कानुसारिणस्तेषां कृते ‘अनुनयसुखकाङ्क्षिण्या’ इति पाठः ।  
“करोतिरत्रोचारणे । अकृतमध्यपराधं कृतमिति समुच्चारयन्त्येत्यर्थः ।” इति गङ्गाधरः ।  
किञ्च जातानुतापा कलहान्तरितेत्यपि गङ्गाधरोक्तं व्यथमेव, अनुतापे सत्येव कलहान्त-  
रितात्वव्यपदेशसिद्धेः । “चाडुकारामपि प्राणनाथं कोपादपास्य या । पश्चात् तापम-  
वाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥” इति सरस्वतीकण्ठाभरणम् ।

प्रेषितपतिकाया विरहवेदनां मुग्धतां च संसूच्य तत्कान्तस्यागमनत्वर्य तत्सखी  
तत्सभीपगामिनं पान्थमाह—

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाऽ अङ्गआ दिअहा ।

एर्हिं उण केण गणिङ्गउ चि भणिऊ रुअऽ मुद्धा ॥ ७ ॥

[ हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणन्यातिगता दिवसाः ।

इदानीं पुनः केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥ ]

करयोः पदयोश्चाङ्गुलिसंगणनेनेह यापिता दिवसाः ।

कथमधुना गण्यन्तामित्युक्त्वा रोदिति हि मुग्धा ॥ ७ ॥

हस्तयोः पादयोश्चाङ्गुलिगणन्या दिवसा व्यतीताः । इदानीं अङ्गुलिसंख्यामतिकम्य  
व्यतीतानि दिनानि केन गण्यन्तामित्युक्त्वा मुग्धा रोदिति । एतावत्कालमङ्गुलिगणना-  
व्यापारेण अद्य श्व इत्याशामवलम्ब्य दिवसा यापिता इत्युत्कण्ठातिशयो व्यज्यते ।  
तथा च गणनासाधनानुपलम्ब्येन निर्विनोदा सेयं नाधुना कालविलम्बं सहेतेति त्वराति-  
शयो ध्वन्यते । मुग्धेत्यनेन मुग्धतया नेयं गणनायाः साधनान्तरं जानीयात्, तथा  
चैवंविधापि सेयं निर्दृष्णेन त्वया समधिकं पीड्यत इत्युपालम्भो व्यज्यते ।

प्रवासोदयतस्य नायकस्य गमनप्रतिरोधार्थं कान्चिदुन्मादकं वसन्तं सहैव यात्राप्रति-  
रोधकमपश्चकुनं च स्मारयति—

कीरमुहसच्छहेहिं रेहइ वसुहा पलाशकुसुमेहिं ।

बुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहिं व भिक्षुसंधेहिं ॥ ८ ॥

[ कीरमुहसद्धकै राजते वसुधा पलाशकुसुमैः ।

बुद्धस्स चरणवन्दनपतैरिव भिक्षुसंधैः ॥ ]

तक्षसखसच्छलायैः किल पलाशकस्मैर्विराजते वसुधा ।

अरुणवर्णैरत एव हुक्मुखसदृशैः । मध्ये आसीनस्य बुद्धेवस्य चरणवन्दनार्थं पर्यन्ततो दण्डवत्पतितैभिक्षुसंघैरिव । लोहितानि कुसुमपत्राणि वज्रस्थानीयानि तद्वन्तव्यं श्रिःस्यानीयमिति ग्रन्थतभिक्षुसाहश्यं बोद्धम् । तथा च विरहिजनदुरन्तोयं वसन्तः समागतस्ततोपि हन्त गन्तुमभिलघ्यसीति स्मारणं व्यङ्ग्यम् । कठिनहृदयतया ततोपि चेन्न निष्ठ्यसे अथापि यात्रासमयेऽपशकुनानि त्वचश्यं परिहेयानीत्यपशकुनार्थं भिक्षुसंघातस्मारणाकूतम् । उक्तं हि वसन्तराजशकुने—

‘वमद्विकेशो हतमानगर्वीः क्षिणाङ्गनन्मान्त्यजैलदिग्धाः ।

रजस्वला गर्भवती रुदन्ती मलान्वितोन्मत्तजराधवाश्च ॥

दीनो द्रिष्टक्षणाविमुक्तकेशाः क्रमेलकस्थाः खरसैरभस्याः ।

संन्यासिसांकन्दनपुंसकाया दुःखावहाः सर्वसमीहितेषु ॥’

किञ्च पतितैरिति पदमप्यपशकुनमेव । उक्तं हि तत्रैव—

‘स्थैर्यं स्थिरार्थाद् गमनं तदर्थाद्वाक्याच्छृत्तिविनिवर्तितार्थाद् ।

लाभं जयं भज्ञमभज्ञलं वा दुध्येत तत्तत्रतिपादनार्थात् ॥’

मानिनीमनुनेतुं प्रियतमः सदाक्षिण्यमाह—

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअं किसोअरि किसं ते ।

जं जं तणुअं तं तं पि णिहिअं किं त्थ माणेण ॥ ९ ॥

[ यद्यत्पृथुलमङ्गं तच्जातं कृशोदरि कृशं ते ।

यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥ ]

अङ्गं यद्यत्पृथुलं तच्जातं कृशोदरि कृशं ते ।

यद्यत्तनु तत्तदपि च तनुतरमभवत्किमत्र मानेन ॥ ९ ॥

मानजेन मन्युदुःखेन तव सेयं दशा, तत्शैवंविघ्नेशकरं मानं मुद्वेति भावः । मानसामयिकेन वियोगदुःखेन तनोस्तनुतरतावर्णनादतिशयोक्तिः । अनया च-तत्वेव ममापि समधिकवेदनावहं मानमिदानीमवसुद्वेति धन्वते । गाथायामसां ‘णिहिअम्’ इत्यस्य संस्कृतपदशय्यातुरोधेन तनुतरमित्यपनिबन्धः । मूलपदाङ्गात्मसरणे हु ‘यद्यत्तनु तत्तदपि च निष्ठितमिह किं तु मानेन’ इति पाद्धम् । निष्ठितं निष्ठां प्रकर्षं गतम् । अतिर्दुर्बलं जातमित्यर्थः । “अनुनयं ग्राहयितुं सखी मानवतीमाह” इति गङ्गाधरावतरणम् । गुणवतां तां विहाय कथमयमन्यस्यामनुरक्त इति सख्यात्मुक्ता नायिकासखी तामाह—

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण ।

मोन्हूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुञ्जाओँ गेलन्ति ॥ १० ॥

[ न गुणेण हियते जनो हियते यो येन भावितस्तेन ।

मुक्त्वा पुलिन्दा मौकिकालि गुञ्जा गृहन्ति ॥ ]

हियते गुणेन न जनो हियते यो येन भावितस्तेन ।

मक्ताफलानि मक्तवा गञ्जा गृहन्ति किल पलिन्दगणाः ॥ १० ॥

हिते वशीक्रियते । गुणकर्तृकहरणसानुपपत्त्या अभिमुखीकरणं लक्ष्यम् । तेन च वशीकरणं व्यङ्ग्यम् । गुणेन जनो न वशीक्रियते किं तु यो जनो येन भावितः प्रणय-वशादनुव्यातस्तेन अर्थात् प्रेमभाजेन जनेन वशीक्रियते । यस्य यत्र प्रेम भवति तत्र गुणाभावेषि सोऽनुरज्यतीति भावः । मौक्किकेषु महामूल्यबहुमानं लक्त्वा स्वाभाविक-प्रेमवशात्पुलिन्दा गुजारास्वनुरज्यन्तीत्याशयः । मुक्तागुजाइष्टान्तेन ‘परमादरणीयां मत्सखीं विहाय अन्यस्यामनुरक्ष्य तस्य वनेचरवन्न गुणपरिचयैद्वयम्’ इति धन्यते । ‘निजभर्तुरेव न सा वल्लभा तत्कथं तस्या गुणानस्तौषीरिलभियोज्येनोक्ता दूती तमाह’ इति गङ्गाधरः ।

गमनानुमतिं याचते मे किमिति किमप्युत्तरं न ददासीति प्रियतमेनोक्ताया नायि-कायाः संबन्धिनी काचिद्वद्धा तमाह—

**लङ्घालआणं पुत्रअ वसन्तमासैकलद्वपसराणम् ।**

**आपीअलोहिआणं वीहेह जणो पलाशाणम् ॥ ११ ॥**

[ लङ्घालयानां पुत्रक वसन्तमासैकलद्वपसराणाम् ।

आपीतलोहितानां विभेति जनः पलाशानाम् ॥ ]

**लङ्घानिलयानां सुत वसन्तमासैकलद्वधिभवानाम् ।**

[ वसाद्वमांसैकलद्वधिभवानाम् । ]

**आपीतलोहितानां विभेति लोकः पलाशानाम् ॥ ११ ॥**

हे पुत्र लङ्घा शाखा स्थानं येषां तेषाम् । वसन्तमासे ग्रासात्यन्तप्रसराणाम् । आ इष्टपीतवर्णानि च लोहितानि च तेषाम् । पलाशानां किञ्चुकपुष्पाणां लोकः प्रियविर-हवेदनाकातरो वधुजनो विभेति । पलाशकुसुमैर्विरहिजनदुरन्तं वसन्तमालक्ष्य प्रवास-विषये सेयमुत्तरं न प्रतिपद्यत इति भावः । पलाशानामिति शेषत्वविवक्षायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी । अत्र यात्रानुमतियाचनरूपप्रकरणेन पलाशादिपदानां किञ्चुकादिष्वर्थेषु वकृता-त्पर्यावगमात् शक्तेनियसने सति पूर्वोक्तार्थं संपत्तावपि ‘लङ्घालआणम्’ ‘वसन्तमासैक-लद्वपसराणम्’ इत्यादिषु पलाशादिशब्देरुरणनव्यङ्ग्यविधया—लङ्घापुरीवासिनाम्, वसा अन्नाणि मांसं च एभिः ग्रासात्यन्तप्रसराणां समन्तात्पीतस्वधिराणां पलाशानाम् (पलं मासमन्त्रित तेषाम्) राक्षसानां लोको विभेतीत्यर्थे धन्यते । तथा च पला-शकुसुमैः सह एकपदोपस्थितिवशाद्राक्षसरूपस्यार्थस्योपमानोपमेयभावप्रतीत्या शब्दश-किमूल उपमालंकारच्चनिः । एवं च विरहीणीजनधस्यराणि किञ्चुककुसुमानि राक्षसानिव वीक्षमाणा सेयं भवत्रवासानुमतौ नोत्तरं ददातीति नायकं प्रति चरममभिव्यज्यते । ‘जनः’ इति सामान्यनिर्देशेन ‘यः किल मानुषः स तु पलाशेभ्यो विभेति परं भवान-स्मित्प्रि समये प्रवासमभ्युपगच्छन् न जाने एत्यो विभेति न वा, हन्त भवतः कीदृशी क्रूरहृदयत्’ इत्युपालम्भोपि धन्यते । ‘लङ्घा रक्षःपुरी शाखाशाकिनीकुलटासु च’ इति भेदिनी । अत्र ‘राक्षसेभ्यो जातो विभेतीति श्लेषः’ इति गङ्गाधरव्याख्यानं तु विचा-

रणीयमेव । ख्यंग्रदर्शितेन गमनातुमतिथाचनप्रकरणेन किञ्चुकार्थे पलाशपदस्याभिधाया नियच्छेण राक्षसरूपार्थस्य व्यज्ञनां विनातुपपत्तेः । युगपद्यत्र द्वयोरर्थेयोक्तात्पर्यवगमस्तत्रैव श्लेष इति स्पष्टं प्रतिभावताम् । न च भयदायकराक्षसाथोपि सहैव ग्रतीयत इति वाच्यम् । यात्राप्रश्ने राक्षसार्थस्य असंबद्धत्वात् । किं च पलाशपदेन किञ्चुकरूपमर्थमवगत्य ततो विरहिणीजनधस्यरतया पलाशेषु (किञ्चुकेषु) पलाशता राक्षसता आरोप्यते । आलम्बनं विना राक्षसत्वरूपस्यारोपस्यात्तुपपत्तेः । अत एव पूर्वं पलाशपदस्य किञ्चुकरूपार्थं एव शक्तिः, अनन्तरं च राक्षसरूपार्थग्रतीतिः । सा च कांचिद्वृत्तिं विना दुरुपादा, वृत्तिं विना शब्दादर्थबोधखीकारेऽतिप्रसङ्गात् । लक्षणा तु मुख्यार्थेवाधायभावात्, ततस्तु व्यज्ञनाऽन्नावश्यं स्वीकार्या । सा चेयं पलाशादिपदानां परिवृत्यसहत्वाच्छब्दीति कृतं प्रसक्तात्प्रसक्तेन ।

दयितं प्रति नायिकायाः प्रणयातिशयं सखी सखीमाह—

**घेत्तूण चूणपुट्ठि हरिस्तसिआए वेपमाणाए ।**

**मिसिणेमिति पिअअमं हृथ्ये गन्धोदां जातम् ॥ १२ ॥**

[ गृहीत्वा चूर्णमुष्टि हृथैत्सुकिताया वेपमानायाः ।

अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥ ]

**आदाय चूर्णमुष्टि हृथैत्सुकयेन वेपमानायाः ।**

**प्रियमवकिरामि पुर इति हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥ १२ ॥**

पुरः प्रियतमवकिरामि विच्छुरयामीति चूर्णमुष्टि मुष्टौ कर्पूरादिगन्धद्रव्यकृतवर्णधूलिमादय हर्षजनितेनैत्युक्तयेन वेपमानाया नायिकाया हस्ते गन्धोदकं जातम् । प्रियतमदर्शनजनितसात्त्विकभावात्मकस्वेदेन चूर्णमुष्टिरेव गन्धोदकं जातमिति भावः । कान्तावलोकनमात्रेण तस्या एतावान् भावोदय इति नायकं प्रलयनुरागातिशयो व्यज्यते । औत्सुकयेनेत्यनेन प्रियतमर्दशनोत्तरं तदुपरि वर्णमुष्टिक्षेपकाळविलम्बाऽसहन्त्वं सूच्यते । तथा च चूर्णमुष्टिग्रहणोत्तरं कदा प्रियं विच्छुरयामीत्युक्तण्ठ्या खेदोद्गमह-पोऽनुभावोभिव्यजितः । उक्तं हि सरस्वतीकण्ठाभरणे—‘औत्सुकयं वाच्छितप्रातौ कालक्षेपसाहिष्णुता । चित्तापत्वरास्वेददीर्घनिश्चित्तादिकृत् ॥’ ‘मिसिणेमि’ इति विच्छुरयार्थं देशी ।

देवराभिसारस्ते मया ज्ञात इति सूचयन्ती सपलीमाह—

**पुट्ठि पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोळपत्तचित्तलिअम् ।**

**छेआहिँ दिअरजाआहिँ उञ्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥**

[ पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पश्चाद्ग्रहङ्कोटपत्तचित्तलिअम् ।

विदग्धाभिदेवरजायाभि क्रज्जुके मा कलिष्यसे ॥ ]

पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पृष्ठग्रहङ्कोटपत्तचित्तयुतम् ।

मा ज्ञास्यसेऽतिक्रज्जुके देवरजायाभिरतिविदग्धाभिः ॥ १३ ॥

हे कृशोदरि पृष्ठगृहे पश्चाद्धागवर्तिगृहे योऽक्षोटवृक्षस्तत्पैश्चित्रितं पृष्ठभागं श्रेष्ठम्  
मार्जय । अथि सरले ! क्वचुतयाऽभिसरणप्रच्छादनानभिज्ञे ! एवं सति अतिविदरधा-  
भिंदेवरजायाभिर्मा ज्ञात्यते । पृष्ठप्रोच्छनाभावे तु विदरधाभिस्ताभिर्निजदयिताभिसा-  
रिणीति त्वं लक्षयिष्यस इति भावः । तथा च-अक्षोटतस्तले देवरेण सह त्वं सांप्रत-  
मेव संगतवतीत्य हं जाने । नेदमधुना त्वयापलयितुं शक्यम्, उत्तानसंवेशनेन रमसा-  
णायास्त्रव पृष्ठस्य तत्पैश्चित्रितत्वादिति सपलीं प्रस्तुभिष्यज्यते । देवरजायाभिरिल्लनेन  
‘देवरपल्योपि दयिताभिसारेष्यथा त्वदन्वेषणपराः सन्ति, ततो नाहमेवैतदभिज्ञा ता  
अपि सन्वीति’ ध्वन्यते । अवसरालाभाचिरास्तरण एव तस्तले त्वया रतं ततोपि क्वचु-  
तया त्वं तद्गोपयितुं नाशक इति क्वचुके इत्यामच्छणेन घोखते । अतिविदरधा अपि  
देवरजायास्त्वया तदयितवशीकरणेन सम्यक् विजिता इत्युपालम्भगर्भाऽसूयापि क्वचुके  
इत्यामच्छणेन ध्वन्यते । कृशोदरीलाभामच्छणेन तु क्वशमध्यायास्त्रवोत्तानबन्ध एव सुखा-  
वहोभूदिति खस्य बन्धवातुर्यमभिष्यज्यते । ‘पडोहर’ शब्दः पश्चादगृहवाचको देशी ।  
‘अक्षोटकन्दरालौ द्वावङ्कोटे तु’ इत्यमरः ।

कृतापराधे दयिते मानावलम्बनेन क्षणमात्मगौरवं स्थापनीयसिति शिक्षयन्ती सखी-  
मात्मनोमुरागातिशयात्तत्राक्षमतां काचिदहाह—

अच्छीइँ ता थइसं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सि दिडे ।

अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलहङ्गं कहुँ णु दक्षिसम् ॥ १४ ॥

[ अक्षिणी तावत्स्थगयिष्याभिसि द्वाभ्यामपि हस्ताम्ब्यां तस्मिन्दृष्टे ।

अङ्गं कदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं तु च्छादयिष्याभिसि ॥ ]

स्थगयिष्याभिसि कराभ्यां नयने तस्मिन्विलोकिते द्वाभ्याम् ।

अपिधास्याभिसि कथं मम पुलकितमङ्गं कदम्बकुसुममिव ॥ १४ ॥

तस्मिन्दृष्टे सति द्वाभ्यां कराभ्यां नयने स्थगयिष्याभिसि आच्छादयिष्याभिसि, परं तद-  
शनेन पुलकितं रोमाश्चयुक्तमत एव कदम्बकुसुममिव स्थितं ममाङ्गं कथम् अपिधास्याभिसि  
आच्छादयिष्याभिसि । सर्वाङ्गव्यापित्वात्पुलकं गोपयितुमशक्यमिति भावः । स्थगयिष्या-  
भीखनेन ‘यत्किल मत्प्रयत्नेन साध्यं तदधीनं मम, यत्तु मम हृदयाधीनं तत्राहमवशा,  
हृदयस्य प्रियतमवशीभूतत्वात्’ इत्यभिष्यज्यते । कदम्बकुसुममिवेत्युपमया कदम्बकुसुमे  
यथा केसराः स्वभावतो भवन्ति तथा प्रियतमस्यावलोकनमात्रेण ममापि खतो रोमा-  
च्छोदगमो भवतीति प्रियं प्रति निर्सर्गतोऽतुरागो घोखते । तथा च प्रियतमे एवमनुर-  
क्षाया मम शारीरिकविकारगोपनमेव तस्मिन्नवसरे दुष्करं किं पुनर्मानावलम्बनमिति  
सखीं प्रति ध्वन्यते ।

नायकसभीपणाभिसि नायिने नायिकाया अवस्थां गृहस्यापि च दुर्दशां  
सूचयन्ति तस्य त्वयितामनार्थं संदिशति—

झञ्ज्ञावाउत्तणिए घरमिम रोङ्णण पीसहणिसण्णम् ।  
दावेइ व गअवइअं विजुज्जोओ जलहराणम् ॥ १५ ॥

[ झञ्ज्ञावातोचृणिते गृहे रुदित्वा निःसहनिषण्णम् ।

दर्शयतीव गतपतिकां विद्युद्द्योतो जलधराणम् ॥ ]

झञ्ज्ञावातोचृणिते गृहे रुदित्वा हि निःसहनिषण्णम् ।  
दर्शयतीव घनानां प्रोषितपतिकां तु विद्युद्द्योतः ॥ १५ ॥

झञ्ज्ञावातेन वर्षावायुना उच्चणिते तृणशून्यीकृते गृहे प्रियसरणोत्कण्ठया सुदित्वा निःसहं यथा स्यात्तथा निषण्णां प्रोषितपतिकां विद्युद्द्योतो घनानां घनान् प्रति दर्शयतीव । घनानामिति कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी । भवतामुदयादियमेतामवस्थां तु प्राप्ता, किमिदानीमबलामधिकं क्लेशयथ, प्रत्युत पत्युरेतस्याः कुरुतोत्कण्ठां येन इमां दुर्दशामवाप्ता सेयं जीवितुं शक्त्यादित्याशयेन मेघान् प्रदर्शयतीति भावः । ख्रीत्वान्मृदु-हृदयतया विद्युतः प्रोषितपतिकां प्रति पक्षपातः, अत एव दयमाना विद्युत्प्रोषितपतिकाया उपरि दयाप्रकाशनार्थं तां मेघेभ्यो दर्शयतीत्याशयः । यथा मृच्छकटिकेष्वुक्तम्—‘यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तत्त्वाम निष्ट्राः पुरुषाः । अयि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥’ अथवा प्रियविरहवेदनया समधिकङ्गिष्ठामत एव दुःखाधिक्य-संभवभिया मेघदर्शनमसहित्वा गृहे निलीय निषण्णां प्रोषितपतिकां विद्युत्प्रकाशो मेघान् प्रति क्लेशनार्थं तां प्रकाशयतीति भावः । किंवा उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदयतया मेघ-दर्शनात्पराजीय गृहे निलीनां प्रोषितपतिकां विद्युत्प्रकाशो घनानाम् (घनान् कर्मभूतान्) दर्शयतीव । विरहोदीपकान्मेघान्द्रष्टुमनिच्छन्तीमपि प्रोषितपतिकां विशीर्णगृह-प्रविष्टो विद्युत्प्रकाशस्तान्मेघान्बलाद्दर्शयतीत्यर्थः । ‘वैशेष्यलनेन प्रयोज्यकर्तुः प्रोषित-पतिकायाः कर्मत्वेन द्वितीया । मेघान् अपश्यन्तीमपि प्रयोज्यां प्रयोजको विद्युत्प्रकाशो बलात्पश्यन्तीं ज्ञात्वा प्रदर्शनकर्मणि प्रयोजयतीत्यहो वैयाकरणानामविषयो विषयः !! [ धातुवाच्यव्यापारस्य कर्तुरेव प्रयोज्यत्वमालम्ब्य प्रयोजकक्त्रा प्रेरणे कृते धातोर्णिच्च वैयाकरणैरुचिष्ठः; न तु धातुवाच्यव्यापाराद्वूरं पलायमानस्य कर्तुर्बलात्कारेण प्रयोज्यत्वं संस्थाप्य णिजर्थं प्रेरणं क्रियते । अत्र हि प्रोषितपतिका दशधातुवाच्यव्यापारादवलोकनाहूरं पलाय्य गृहे निलीना तथापि तां पश्यन्तीं प्रयोज्य बलात्कारप्रयोजकेन विद्युत्प्रकाशोन बलादेव णिजर्थं प्रेरणं कृत्वा दर्शयतीति प्रसेधितमेवेति विलोक्यतामाश्र्यम् !! ] तथा च त्वद्विरहवेदनया ङ्गिष्ठायां तस्यां वर्षकालिको मेघादम्बरो बलादत्याचरतीति ध्वन्यते । वातेनैव तृणानामुड्यनेन गलितमुञ्जबन्धनस्य च्छदिषो गृहस्थामिकर्तुं बहु-कालादप्रस्त्रवेक्षणं सूच्यते । तथा च बहोः कालाते विरहवेदनामेषा विसोढवतीति व्युजयते । निःसहमित्यनेन ‘त्वदनुध्यानेन उत्कण्ठितहृदयतया यावद्गुलं सा रोदिति, विरहकृतया तत्राप्यसमर्थत्वे तु निःसहतया निषीदति’ इति विरहदौर्बल्यातिशयो

व्यञ्जते । यहे निषणामिलनेन त्वद्गतचित्ततया न यहजनसंकथाख्यस्या मनो रमते, अत एव विजने यहे निषीदतीति ग्लान्या प्रियाञ्चुरागातिशयो ध्वन्यते । दर्शयतीवेत्सु-नेन 'नासौ विज्ञा मेघान्पश्यति परं साम्रतं त्रुटिगृहान्तरालान्मेघा इमां पश्यन्ति, इति दैन्यदूना सेयमचिराद्गुजीवनीया' इति ध्वन्यते । तथा चैवं यृदारिद्वयदशायामपि त्वद्गुरागवशात्केवलं त्वद्गुरागवशात्केवलं त्वरितं संभावय, अन्यथा संप्रति भेदरवेक्षिता सेवं नाथिककालमेवं तिषेदिति त्वरितागमनं ध्वन्यते । गतपतिकामिति मूलपाठो न सुन्दर इति श्रोषितपतिकामिति प्रयुक्तम् ।

अनुरक्तायामपि कस्यांचन ग्राम्यवेषादिना मन्दादरं नायकं प्रवर्तयितुं दृती साकूत-मन्यापदेशेनाह—

**भुज्ञसु जं साहीणं कुतो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।**

**सुहङ्ग सलवणेनापि किं तेण सिषेहो जहिं णत्थि ॥ १६ ॥**

[ भुज्ञश्व यत्स्वाधीनं कुतो लवणं कुगामरिद्धे ।

सुभग सलवणेनापि किं तेन स्तेहो यत्र नात्ति ॥ ]

**भुज्ञ यदायत्तं नो लवणं कुगामरन्धने तु कुतः ।**

**सुभग सलवणेनापि च किं तेन हि यत्र न स्तेहः ॥ १६ ॥**

यत् नः आयत्तम् अधीनं तद् भुज्ञः । रिद्धं रन्धनम् । सुलभलवणाप्रदेशात्सुदूरव-तितया कुत्सितस्यास्य ग्रामस्य रन्धने लवणं सामुदादि कुतः स्यात् । हे सुभग तेन सलवणेनापि किं यत्र स्तेहो धृतादिनं स्यात् । सुभगेत्यनेन त्वं तादृशसौभाग्यशाल्यसि, यद्वृष्टमात्र एव त्वयि सेवं स्तेहाहुवन्धमधिगतवतीति नैतत्याः स्तेहनिर्भरं मनो मन्दा-दरतप्रदर्शनेन कदर्थनीयमिति सौन्दर्यगर्वितं प्रत्यभिव्यज्यते । वाच्येनानेन वस्तुना 'कुगामे' (यत्र समयेऽपेक्षितस्यामीष्वस्तुनः कार्म नोपलम्भ एतादशे लघौ ग्रामे) यद्वच्छ्याऽऽगतस्य प्राणुणिकस्य यदि विवशतया यथामनोरथं परिचरणं न स्यात्तदा दक्षिणागनन्तुकेनापि यदेतेषां स्वाधीनं (यद्धि मनोरागाविवेदये) नेदं यत्र कुत्रिचि-स्तुलभास्मिति परिज्ञाय तत्खीकारेणैव संतोषब्यम् । लवणं हि अन्यान्यस्थलेषु सुलभम्, किञ्चिद्वयेनापि लब्ध्यं शक्यम् । स्तेहः (धृतादिकम्) तु शुद्धो भूरिव्ययेनापि कदाचिद-वोपलभ्येत नागरिकैर्भवादैरिति स्तेह एव बहुमानदशावलोकनीयो न तावदापातमञ्जुलं लवणम् । किं च लवणं यदि विशेषपरिमाणेन भुज्यते तर्हि त्वरितमेव वैरस्यमापाद-यति । स्तेहस्तु अधिकाविकमपि व्यामिश्रित आसेव्यते तर्हपि न प्रकृतरसस्य भज्ञः, ग्रत्युत शरीरस्वेव तस्य भूयान्परिपोष एव । तथा च-लवण्यमात्रलोकुपतया नासा: स्वाभाविकः स्तेहोवधीरणीय इति दूख्या कंविज्ञागरिकतादर्पशालिनं प्रति प्रतिबोधते । यत्खाधीनमित्यनेन सौन्दर्यं नासा अधीनं तद्विद्वैयत्तम् । यत्रास्याः स्ववशः स किल बहुत्र इक्ष्मः स्तेहो भाग्यवशात्सुलभस्ते जात इति त्वत्सौन्दर्यत्रे निजस्य सौन्दर्य-मकिञ्चिन्मन्वासतया विनयातिशयसामिक्षकवैर्यां सदत्यामसामवश्यं दद्यनीयमिति

व्यजयते । व्यजनादिपदभुपादाय रन्धनपदनिवन्धनेन-रन्धतमोदनादिकं यथाऽपर-  
स्यैव कार्ये समुपयुज्यते, न च वैरसोत्पादकं कालहरणमत्र प्रशस्यते । तथा च-नयेण  
केनचिदन्येन यावदभियुज्यते तावदेनामुपस्थितामनुकम्पस्वेति धन्यते । छायायां  
'नः' इति बहुत्वेन-नैकस्य कस्यवन वशः किं तु बहवोपि वयमस्मिन्कुस्थलेन्यं प्रबन्धं  
कर्तुं न प्रभवाम इति विवशतातिशयोभिव्यज्यते । भुज्जेति मूलानुरोधि पदम् ।  
अन्यथा तु 'स्वाद्य गत्वाधीनम्' इत्यपि बन्धवन्धुरं स्यात् । कुगमरिद्धमीति प्राकृ-  
तेन सह 'रिद्धम्' इत्येव छायामुपकल्पयन् गङ्गाधरस्तु विच्छाय एव, रिद्धस्यानि-  
ष्टतेः । प्राकृते तु रन्धतस्य संभवेद्रिद्धमिति ।

नीरसमपि स्नेहवशान्मनोनुकूलं भवतीति समीपोपस्थितं नायकं श्रावयितुं काचि-  
त्सर्वीं प्रत्यन्यापदेशेनाह—

**सुहपुच्छिआइ हलिओ मुहपङ्कजसुरहिपवणणिवविअम् ।**

तह पिअइ पअइकहुअं पि ओसहं जह ण पिड्हाइ ॥ १७ ॥

[ सुखपृच्छिकाया हलिको मुखपङ्कजसुरभिपवनलिर्वापितम् ।

तथा पिवति प्रकृतिकटुकमध्यौषधं यथा न तिष्ठति ॥ ]

**सुखपृच्छिकामुखाम्बुजसुरभिपवनशीतलीकृतं हलिकः ।**

प्रकृतिकटुकमपि निपिवति तथौषधं तिष्ठति हि न यथा ॥ १७ ॥

प्रकृत्या स्वामवैनव कटुकं तिकम् । औषधं तथा पिवति यथा न तिष्ठति, नावशि-  
ध्यत इत्यर्थः । अयमसिप्रायः—ज्वरार्तस्य नायकस्य सुखप्रश्नार्थमागतया नायिकया  
तत्समयप्रदेयमुष्णं क्वाथौषधं फूत्कारेण शीतलीकृतम् । स चानुरागानुप्राणितः कटुक-  
मपि तच्चिशेषं पीतवानिति । हलिक इत्यनेन हालिकोपि तावदेवमनुरागरमणीयां  
दाक्षिण्यवर्यमनुरुणद्वि । भवांस्तु नागरिकत्वाभिमानीति किं पुनर्भवति विशेषवचनेनेति  
साकूतं धन्यते । औषधमिल्यनेन भमायमनुरागस्तव भहान्तमपि मनोव्याधिमपनये-  
दतः किञ्चिद्दैर्येण नियमे स्थातव्यमित्यभिव्यज्यते । प्रकृतिकटुकमिल्यनेन 'न मेऽनुराग-  
स्तव हृदयावर्जकस्तथापि परिणामे सुखप्रद इत्यौषधधृपेणापि सोभ्युपगन्तव्यः' इति  
सूच्यते । "विरसमध्यनुरागात्सुरसं भवतीति कापि सखीमाह" इति गङ्गाधरावतरणम् ।

सा न समागता अहं तु निकुञ्जे चिरं स्थित्वा समागत इति वदन्तं नायकं पुनः  
संकेतस्याने नेतुं नायिकायास्तत्र गमनं समागमोत्कण्ठां च दृती निपुणतयाभिव्यनक्ति—

**अह सा तहिं तहिं चिविअ वाणीरवणमिमि चुकसंकेआ ।**

**तुह दंसणं विमग्गइ पबमदुणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥**

[ अथ सा तत्र तत्रैव वानीरवने विस्मृतसंकेता ।

तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्यानमिव ॥ ]

**सा विस्मृतसंकेता वानीरवनेऽथ तत्र तत्रैव ।**

**तव दर्शनं विमार्गति विभ्रष्टनिधानदेशमिव ॥ १८ ॥**

विस्मृतं संकेतस्थलं यथा एतादशी सा । तत्र तत्र तस्मिंस्तस्मिन्नेव वानीरवने वेत-  
सवने । विस्मृतं निधानदेशमिव निधिथलमिव तव दर्शनमन्वेषयतीति भावः । निधा-  
नस्थाने विस्मृते सति तत्संनिधानस्य यथा सर्वोपि देशः पुङ्गातुङ्गरूपेणान्विष्टते, तथा  
सापि सर्वत्रैव तस्मिन्वानीरवने भवन्तं विमार्गतीलाशयः । तत्र तत्रैवेत्यनेन मुनः पुन-  
स्तेष्वेवान्वेषणं करोतीत्युक्तकण्ठातिशयो ध्वन्यते । तां विमार्गतीलाशय स्थाने तव दर्शनं  
विमार्गतीलाशने विस्मृतसंकेततथा त्वामलभमानासौ त्वदर्शनमपि सांप्रतं वहु मन्यते किं  
पुनस्त्वत्समागमसुखमित्युनुरागातिशयो व्यज्यते । विमार्गतीति वर्तमानार्थं सूचयता लटा,  
अधुनापि सा त्वद्गतचित्ततया वानीरवनान्वेषणमेव करोति, न कथंचित्तो निर्वर्तितुं  
कामयत इति तामेतां त्वरितं संभावयेति नायकार्थं त्वरातिशयो व्यज्यते । गङ्गाधर-  
स्त्वेतदवतरणे ‘अहं तु गतः सा न गता’ इति वदन्तं नायकं प्रति नायिकायास्तत्र गमनं  
प्रतिपादयन्ती दूस्ताह् इति केवलं नायिका तत्र गताऽभूदित्येव सूचयति, न तु नाय-  
कस्य संग्राति गमनमन्यर्थयते । एतदभावे ‘विमार्गं चक्कार’ इत्येव वक्तव्यमासीत्  
‘विमार्गती’ति वर्तमानार्थस्य किं खारस्थमिति मार्मिकैविचार्यम् ।

रोषमुपगता सेयं रहस्यं प्रकाशयेदिति भयेन दूतीतो मनोगतं गोपयन्तीं कांचन  
सुजनचरितेन समाधासयन्ती काचिदाह—

दृढरोपकलुषितस्स वि सुअणस्स मुहाहि विपिअं कन्तो ।  
राहुमुहमिम वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥१९॥

[ दृढरोपकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखादप्रियं कुतः ।

राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥ ]

वदनात्सुजनस्य कुतोऽप्रियं सुदृढरोपकलुषितस्यापि ।

राहुमुखेपि हि शशिनः किरणाः पीयूषमेव मुञ्चन्ति ॥ १९ ॥

सुदृढरोपेण कलुषितस्य दुर्मनायितस्यापि सुजनस्य मुखात् । अग्रियं परममवेधकं  
वचनं कुतः ? नैवेति काक्षा सूचयते । राहुमुखेमील्यनेन-वैरिणा सुभृशमाक्षान्तोपि शीत-  
भार्यथाऽमृतमेव वर्षति न कालकूटं तथैव दुर्जनैः खेदितापि नेयं भवत्या रहस्यं प्रका-  
शयेदिति तस्या मनस्तितया समाधिसीहीति सान्त्वनमभिव्यज्यते । राहुदृष्टान्तेन-सर्वैर्था  
आसेपि नेयं प्रणयभङ्गं कुर्यादिति ध्वन्यते । ‘कृतापराधं नायकसहचरं भयान्नायकोपस-  
र्णणविमुखमभिमुखयितुं काचिदाह’ इति गङ्गाधरः ।

आत्मना श्रहितस्य प्रणयोपहारस्य परावर्तेनेन नायिकायाः प्रणयभङ्गमतुमाय विषी-  
दन्तं कान्तं सान्त्वयन्ती नायिकासखी सुजनचरितमाह—

अवमाणिओ वि प तहा दुमिञ्जइ सज्जणो विहवहीणो ।  
पडिकाडं असमत्थो माणिञ्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥

[ अवमानितोऽपि न तथा दूयते सुजनो विभवहीनः ।  
प्रतिकर्तुं मसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ॥ ]

अवमानितोऽपि सुजनो विभवविहीनोपि दूयते न तथा ।  
अस्तमर्थः प्रतिकर्तुं यथा परैर्मान्यमानो हि ॥ २० ॥

धनादिवैभवरहितः सुजनस्तिरस्तोपि तथा न दूयते न व्यथते यथा प्रत्युपकारं कर्तुं मसमर्थः, अन्यैर्जनैर्धनदानादिना संमान्यमानः सन् व्यथते । प्रत्युपकारं विना अन्यैः कृतेन संमानेन महर्तीं मनोव्यथामनुभवतीति भावः । तथा च नेत्रं त्वयि विरक्ता किन्तु भवदभिलाषसंपादनस्य नास्ति तस्या वश इति मनस्तिथा भवदुपहारं स्तीकर्तुं संकुचतीति नायिकाया उदाराशयत्वं ध्वन्यते । अवमानित इत्यनेन त्वं यस्मिन्समये तां प्रति न तथातुरको भूस्तदापि नासीत्तस्यास्त्वां प्रति काञ्चिदीष्येति ध्वन्यते । परैर्मान्यमानो दूयत इत्यनेन न सा भवदुपायनलालसा प्रणातिशयं दर्शयति प्रत्युत खाभाविकानुरागशालिनी सा तस्यादपत्रपत इति नायिकाया नैसर्गिकस्तेहोभिव्यज्यते । परैरिति बहुवचनेन-अन्येषि बहव उपायनद्वारा तामनुकूलयितुं प्रभवेयुर्यदि सा उपायनलोभिनी भवेत्, परं सा त्वयि सत्यानुरागिणीति नायिकाया अनन्यलभ्योर्तुरागो ध्वन्यते । तथा च-एवमुक्तमानसा सा त्वयि सुदृढमनुरज्यतीत्यहो ते सौभाग्यभिति नायकं प्रति प्रोत्साहनं ध्वन्यते । “कापि जाराभिमतसंपादनासमर्थं तत्कृतोपहारं परिहरन्ती कोत्र दोष इति वदन्तीं दूतीमाह” इति गङ्गाधरटीका ।

मयि विश्रब्धं प्रकाशय रहस्यमिति प्रोत्साहयन्ती दूती नायिकामन्यापदेशेनाह—

कलहन्तरे वि अविणिग्गआइँ हिअअम्मि जरमुवगआइँ ।

सुअणकआइँ रहस्साइँ दहइ आउकस्खए अग्गी ॥ २१ ॥

[ कलहन्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये जरामुपगतानि ।

सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहलायुःक्षयेऽग्गिः ॥ ]

अविनिर्गतानि कलहन्तरेषि हृदये जरामुपेतानि ।

सुजनश्रुतानि दहनो दहति रहस्यानि चायुषः पूर्तौ ॥ २१ ॥

कलहन्तरेषि कलहमध्येषि अविनिर्गतानि मुखाद्विहरिनिःस्यानि । हृदये जरामुपेतानि बहुकालं स्थितानि । सुजनेन श्रुतानि रहस्यानि गोप्यवृत्तानि आयुषः क्षये अमिर्दहति, न पुनरन्यस्मिन्संक्षमन्तीति भावः । हृदये जरामुपेतानीत्यनेन सुजनः स्वयमपि न तानि पुनःस्मरणेनावर्तयति, किन्तु स्वयमेव तानि शनैः शनैर्मन्दीभूतानि भवन्तीति सौजन्यातिशयो ध्वन्यते । तथा च रोषमुपगतापि नाहं रहस्यं प्रकटयेयमिति विश्वस्यतां मरीति दूल्या स्वविश्वसनीयत्वं ध्वन्यते ।

वसन्तसमुद्भवेन समुज्ज्ञमभमाणां विरहवेदनामनुभवन्त्याः प्रोषितपतिकाया अवस्थां नायकसमीपगासिनं पान्थं प्रति सत्यी सवैदरध्यमाह—

लुम्बीओ अङ्गणमाहवीर्ण दारगलाउ जाआउ ।  
आसासो पन्थपलोअणे वि पिट्ठो गअवर्द्धेनम् ॥ २२ ॥

[ स्तबका अङ्गणमाधवीनां द्वारार्गला जाताः ।

आश्वासः पान्थप्रलोकेऽपि नष्टो गतपतिकानाम् ॥ ]

अङ्गणमाधविकानां स्तबका द्वारार्गला जाताः ।

विगतो गतपतिकानां पान्थविलोकेपि चाश्वासः ॥ २२ ॥

अङ्गणे प्रहृष्टा या माधविका वासन्त्यो लतास्तासाम् । स्तबका गुच्छकाः । तवानु-  
ध्याननिश्चला सा प्रायो निर्जने भवनमध्य एव तिष्ठति । सांप्रतं च वसन्तसमागमेन  
अङ्गणमाधविकानां स्तबकोद्भूमिः संजातः । तथाच समुद्दीपितविरहुतवहा चिन्तालीन-  
मानसतया नोत्थाय वहिरप्यागमन्तुं प्रभवतीति स्तबका द्वारस्यार्गलयिताः समभवचि-  
लाशयः । अत एव गतपतिकानां प्रोषितपतिकानाम् । पान्थानां विलोकेपि आश्वासो  
विगतः आशावलम्बनं नष्टम् । भवत्पथमवलोकयन्ती सा सम्भाजिवदेतावत्कालं तदपि  
माधविकागुच्छकैस्तिरोहितमिति वेदनातिशयो ध्वन्यते । पान्थविलोकेपि चाश्वासो विगत  
इत्यनेन—न सा अन्यं प्रति दृष्टिमपि निष्क्रियति, तदेवं त्वदेकमात्रजीवितामेतां नाधिकं  
क्लेशयेत्यपि ध्वन्यते । द्वारार्गला जाता इत्यनेन न कश्चनान्यः पुरुषो द्वारमात्रमपि  
प्रवेष्टुं लभत इति धोत्यते, किं वहुना मनोविनोदाय पान्थान्प्रति दृष्टिक्षेपोपि नास्याः सुलभ  
इति परिरक्षितचारित्रैव सेयमिति सूच्यते । गतपतिकानामिति वहुवचनेन विरहिजन-  
दुरन्तेसिन्वसन्ते सर्वासामेव प्रोषितपतिकानां सामान्येनेयं दशा, तत्रापि सेयं त्वदेक-  
मात्रावलम्बना, त्वन्मार्गावलोकनविनोदमप्यलभमाना दुःखातिशयमनुभवतीति न याव-  
दियं शोचनीयां दशामधिगच्छति तावत्परितमेव संजीवनीयेति तत्कानां प्रति ध्वन्यते ।  
छुम्बीति स्तबकवाचको देशी । ‘दूरीं प्रोषितभर्तुकाङ्गणस्य माधवीलताकुञ्जगहनत्वेन  
दिवैवाभिसरणयोग्यताम्, नायिकायाश्व वसन्तकालप्राप्योत्कण्ठातिशयेन सुसाध्यतां  
प्रतिपादयन्ती नायकमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

प्रियतमं प्रति नायिकायाः प्रणयातिशयं नयनयोः सौन्दर्यं च प्रकटयितुं सखी आह—

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइँ ।

ता केण कणणरहूँ लक्षिखउइ कुबलअं तिस्सा ॥ २३ ॥

[ प्रियदर्शनसुखरसमुकुलिते यदि तस्या न भवतो नयने ।

तदा केन कर्णरचितं लक्ष्यते कुबलयं तस्याः ॥ ]

यदि नयने न हि भवतः प्रियदर्शनसुखनिमीलिते तस्याः ।

कर्णरचितं तदा कैः कुबलयमालक्ष्यते तस्याः ॥ २३ ॥

तस्या नयने प्रियदर्शनसुखस्य रसेन सुकुलिते यदि न भवतः, तदा कर्णयो रचितं  
निवेदित तस्याः कुबलयं कैर्जनैरालक्ष्यते । आयतस्यचिरयोस्तस्या नयनयोः कर्णकुबलय-

योश्च परस्परं न विशेषः । कैवलं नयनमुकुलीभावेनैव विशेषेदः परिज्ञायत इत्यर्थः । नयनकुवलययोः सादृश्याद्विशेषाप्रतीतौ प्राप्तायां मुकुलीभावेन विशेषस्कृतिवशाद्विशेष-कालङ्कारः । “भेदवैश्चिष्ठयोः स्फूर्तावृन्मीलितविशेषकौ” इति पीयूषवर्षलक्षणम् । [ सामान्यरीत्या विशेषास्फुरणे प्राप्ते कुतश्चित्कारणाद्विशेषस्फूर्तौ तत्प्रतिद्वन्द्वी ( सामान्य-प्रतिद्वन्द्वी ) विशेषकः ] इति कुवलयानन्दः । अनेन च नयनयोः शोभातिशयो व्यज्यते । प्रियतमस्य दर्शनमात्रेणैवतादशं सुखं तदा समागमादिना किञ्चत्यादिति प्रियं प्रति सख्याः प्रणयातिशयो व्यन्यते । मूलोपातेन दर्शनसुखरसेति रसपदेन न विशेषार्थपरिपोष इत्य-नुपादानमत्र । ‘आद्यस्य नयनपदेन द्वितीयस्य च कुवलयपदेनान्वयात्तस्या इति पद-द्वयस्य न वैर्यर्थ्यमिति ध्येयम् ।’ इति गङ्गाधरटीका ।

जलधरोऽलासमयः प्रावृद्धसमयः सर्वानेवानन्दयतीति घनसमयमभिस्तुवन्तं सहचरं प्रति नागरिको निजनैपुण्यमभिनयत्वाह—

**चिकिखल्लखुचहलमुहकहृणसिठिले पडम्भि पासुत्ते ।**

**अप्पत्तमोहणसुहा घणसमयं पामरी सवइ ॥ २४ ॥**

[ कर्दममभृहलमुखर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुते ।

अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपति ॥ ]

**कर्दममश्वलाग्रोत्कर्षणशिथिलेऽथ निद्रिते पत्यौ ।**

**अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपते ॥ २४ ॥**

कर्दमे मम यत् हलात्रं हलमुखं तस्योत्कर्षणेन शिथिले पत्यौ अनिच्छायामपि श्रम-वशात् ज्ञाटिति सुप्ते सति, न प्राप्तं मोहनसुखं सुरतसुखं यथा एतादशी पामरी कृषीबल-भृत्यस्त्री घनसमयं शपति आकुश्यति । अन्यसमये यावानानन्द आसीत्पोष्यनेन लोपित इति वर्षासमयं निन्दतीत्यर्थः । वर्षासमये भवेद्यानानन्द इति प्रतीक्षमाणायाः पूर्वानन्दस्याप्यभावाद्विषादनमलंकारः—“इद्यमाणविरुद्धार्थं संप्राप्तिस्तु विषादनम्” । एतेन वर्षासमये अन्येषामृतदूनामपेक्षया अधिकसुखस्य परिवर्तेऽधिकदुःखमेव पामरगेहिन्या उपलभ्यत इति नागरिकेण सूच्यते । वास्तवे तु पत्युर्गृहवर्तित्वेषि हालिकवच्चाः सुलभत्वं साध्यन्त्या दूत्या विटं ग्रस्तुक्तिः । कर्दममभृत्युक्त्या हलवाहनसमये मध्ये मध्ये उपवेशानविश्रामोपि कर्दममभृत्युक्त्ये स्थले दुर्लभ इति सूच्यते । ततश्च संपूर्णं दिनं यावदुपवेशानमात्रविश्राममप्यलभमानस्य हालिकस्य रात्रौ दिवसानुभूतपरित्रमाधिक्येन गाढनिद्राकान्तत्वं व्यन्यते । मोहनसुखेत्यनेन सुरतसुखं सा सम्यक्तया वैतीति सुखापेक्षिष्यास्तस्या अभिसरणीयत्वं व्यन्यते । घनसमयमिति नागरपदविन्यासादस्ति तस्या अपि घनघटाविच्छुरितात्मु वर्षासु प्रवृद्धा भूयसी समुक्षण्ठेति तस्याः सुसाध्यत्वमभिव्यज्यते । कृषकस्य गृहे यो भृत्या कार्यं करोति स एवात्रं प्रायः पामरपदेन व्यवहितये । तथाच पामरीपदेन-अन्यसेवावश्यस्य तत्पत्तरेन स्वातङ्गयं यद्भलवाहनकार्यं शैथिल्यं कुर्यादिति सुखसाध्यत्वं तद्गेहिन्याः सूच्यते । शपतीत्यनेन आक्रोशं विहाय

न तस्या अन्यो वश इति भेदान्प्रत्यसूयोदयेनोत्कण्ठातिशयोभिव्यज्यते । असिन्पक्षे पूर्वे-  
प्रतिपादितेन विशादनालंकारेण उत्कण्ठारूपे व्यसिचारी ध्वन्यत इति भावध्वनिः ।  
पर्यन्ततस्तु पामरीनिष्टा रतिरेव परिपुष्ट्यतीति रसध्वनिः । “अभ्युदयहेतुरपि कार्यवशा-  
द्वैगं जनयतीति प्रतिपादयज्ञागरिकः सहचरमाह” इति गजाधरावतरणम् ।

प्रवासार्थसुवृतस्य दयितस्य गमननिवारणेच्छया विरहे भाविनं वेदनातिशयं सूच-  
यितुं काचित्कामशरनमस्कारापदेशेनाह—

**दुन्वन्ति देन्ति सौख्यं कुणन्ति अणुराअअं रमावेन्ति ।**

**अरहरहन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणम् ॥ २५ ॥**

[ दुन्वन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति ।

अरतिरतिबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥ ]

**दुन्वन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागमथ च रमयन्ति ।**

**अरतिरतिबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥ २५ ॥**

कामबाणा दुन्वन्ति उपतापयन्ति, उत्कण्ठां संवर्ध्य मनोवेदनां जनयन्तीलयर्थः । नैक-  
मात्रं परिहरणीया एवेत्याह—सौख्यं ददति, दयितसानिध्ये रतेरभिवर्द्धनेन सुखं परि-  
पोषयन्तीति भावः । ननु शनैःशनैःस्तकण्ठाशान्त्या स्यादुपरम इत्याह—अनुरागं कुर्वन्ति रते:  
प्रवर्द्धनेन प्रेमाणं प्रकर्षयन्तीलयर्थः । अत एव रमयन्ति, सौमनस्यमेव संपादयन्ति ।  
तथा च विरहे दुःखदात्रुत्वात् संगमे च सुखकारकत्वात् अरतेव्यकुलतायाः रतेश्चित्त-  
रज्जनस्यापि कारकेभ्यो मदनबाणेभ्यो नमः । अरतिबान्धवानामपि रतिबान्धवत्वेन विरो-  
धालंकारः । तथा च तव विरहे उत्कण्ठाभिवर्द्धनात्कियर्तीं पीडां जनयेयुरिमे, त्वत्सत्तायां  
तु अनुरागसंवर्द्धनान्मनोरमा एवेति त्वमेव विचारयेति प्रियं प्रति प्रवासस्थगनमभिव्य-  
न्ते । दुन्वन्ति अरति इत्यनयोः प्रथमोक्त्या विरहे दुःसहवेदनाधिक्यं सूच्यते । तथा  
च सुखापेक्षया विरहे दुःखमेवाधिकमुत्पाद्यते स्मरशारैरिति गमनस्थगन एव तात्पर्यम् ।  
वाणेभ्य इति बहुवचनेन पञ्चापि मयि युगपत्तीडां संचारयेयुरिति पीडातिशयो ध्वन्यते ।

शृण्वन्तं कञ्चन कासुकं प्रत्यात्मनो मनोव्यथां सूचयन्ती काचन मनसिजशरवर्णना-  
व्यपदेशेनाह—

**कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।**

**भिन्दन्ता वि रहअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥**

[ कुसुममया अप्यतिखरा अलद्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः ।

भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्स शरा बहुविकल्पाः ॥ ]

**कुसुममया अपि निशिता अकृतस्पर्शा अपि प्रतापाढ्याः ।**

**भिन्दन्तोपि च रतिदाः कामशराः किल बहुविकल्पाः ॥ २६ ॥**

निशिताः अतिखराः अतितीक्ष्णा इति यावत् । प्रतापाढ्याः दुःसहपरितापकारकाः ।

हृदयं छिन्दन्तोपि रतिकराः, पूर्वोक्तकेशदायकाः सन्तोपि प्रियं प्रत्युत्कण्ठासंवर्द्धनेन रति  
पोष्यन्तीति भावः । एवं च कामस्य गुणा बहुविकल्पा बहुप्रकाराः । कुसुममया अपि  
निश्चिता इत्यादिविरोधालंकारेण ‘पिण्डधर्माश्रयतया ते स्पष्टं बहुप्रकाराः’ इति सूच्यते ।  
तथा च ‘तवावलोकेन भूर्यांसं परितापमहमनुभवामि, वितर भयि करुणाहृशसिति’  
कामुकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

काचन ग्रोषितपतिका प्रियगुणस्मरणेनोत्कण्ठां विनोदयन्ती सखीमाह—

ईसं जपेन्ति दावेन्ति मम्महं विष्पिअं सहावेन्ति ।

विरहे ण देन्ति मरिउं अहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥ २७ ॥

[ ईर्ष्यां जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।

विरहे न ददति मर्तुमहो गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥ ]

जनयन्तीर्ष्यां मदनं प्रदीपयन्ति प्रसाहयन्त्यसुखम् ।

विरहे न ददति मर्तुं हन्त गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥ २७ ॥

अन्या महिला अपि तं कामयन्त इति मनसि ईर्ष्यासुत्पादयन्ति । अनेन रमणीमो-  
हकः प्रियस्य सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते । चन्द्रकलादिस्थानवेदित्वात्संगमे मदनं प्रदीप-  
यन्ति, काममङ्गेष्टृतेजनासुत्पादयन्तीर्ष्यर्थः । अनेन दयितस्य सुरतकलाकौशलमभिव्य-  
ज्यते । असुखम् अननुकूलमपि प्रसाहयन्ति बलात्सद्वां संपादयन्ति, अतिशयविप्रियक-  
रणेषि मानं जनयितुमवकाशं न प्रददतीर्ष्यर्थः । अनेन वशमस्याज्ञनयचारुर्थं ध्वन्यते ।  
विरहे मर्तुं न ददति, समागमाशां जनयित्वा मरणायावकाशं न प्रयच्छन्तीर्ष्यर्थः । अनेन  
प्रेयसो नैसर्गिकप्रेमभाजनत्वं ध्वन्यते । अत एव तस्य दयितस्य गुणा बहुमार्गा बहुप्र-  
काराः । एकेन प्रकारेण चेन्मनो न बध्येत तर्हि प्रकारान्तरेण ते मानसं वशयेयुरिति  
गुणानां बहुप्रकारशालित्वं सूच्यते । एवंविधगुणशालिनः प्रियतमस्य विप्रयोग इत्यात्मनो  
वेदनातिशयश्वरम् ध्वन्यते । “तस्य कामशरस्य गुणा बहुमार्गा इत्यर्थं इति कथित्”  
इति गङ्गाधरः ।

वायनकदानव्यपदेशेन प्रतिगृहं अमन्ती त्वद्वर्णनलालसया भवद्वहमपि प्रययौ सा ।  
तत्रापि भवतोवलोकनं न तस्याः समघटतेति नायिकायाः प्रेमातिशयं सूचयन्ती दूती  
कान्विदाह—

णीआइँ अज्ज णिकिव पिण्ड्रणवरङ्गओँइ वराईए ।

घरपरिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥

[ नीतान्यद निष्कृप पिण्डनवरङ्गक्या वराक्या ।

गृहपरिपाक्या प्रहेणकानि तव दर्शनाक्यामा ॥ ]

नीतानि निविडनिर्दय पिण्डनवरङ्गक्या वराक्याद्य ।

गृहपरिपाक्या वायनकानि तवालोकलालसया ॥ २८ ॥

अवि भूरिर्तिर्य ! पिनद्वनवरङ्गया पिनदं धारितं नूतनरक्तवस्त्रं यथा, वराक्या दय-  
तीयया तथा शृहपरिपात्या शृहाद् शृहसित्यनुक्रमेण । वायनकानि प्रहेणकानि नीतानि ।  
‘प्रहेणकं वायनकम्’ इति हारावली । ‘वायन’ इति व्रजभाषा । वायनकप्रदाने वावन्तो  
शृहसमुद्या भवन्ति तावन्त्येव वायनानि प्रायीयन्त इति शृहान्तःप्रविष्टाया विलम्बसंभ-  
वेषि पणनाव्याजेन तच्चिंगृहनसिति नायिकायाश्चातुर्यमपि सूच्यते । पिनद्वनवरङ्गयेति  
खस्य प्रसाधनेच्छया प्रियदर्शने उत्साहः, तं प्रत्यनुरागश्चाभिव्यज्यते । ‘अनलङ्गुता दर्श-  
नपथं परिहरते’ इति वात्स्यायनः । ‘भूषाविहीना न ददाति दर्शनम्’ इत्यादि इच्छाशा-  
लिन्या लक्षणसिति चानङ्गरङ्गम् । तथा च—पश्य तव सौभाग्यं यत्तव दर्शनमात्रार्थं सा  
शृहशृहभ्रमणायासमक्षिं चिंडू गणयन्ती परिताम्यति । अत एवंविधप्रणयशालिन्यां तस्यां  
त्वरितमनुकम्पितव्यसिति दूर्या नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

धनशालिनं कंचिदनादत्य दरिद्रनायकेऽनुरक्तां कांचन निचारयन्ती सखी दुर्गतानां  
लक्षणानि सूचयितुमाह—

**सृहङ्गह हेमन्तस्मि दुर्गओ पुष्कुआसुअन्येण ।**

**धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥**

[ सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाम्बिसुगन्धेन ।

धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन । ]

**सूच्यत इह हेमन्ते करीषाम्बिखिगनिधनातिदुर्गतकः ।**

**परिविरलतन्तुना बत जीर्णपटेनैव धूमकपिलेन ॥ २९ ॥**

करीषाम्बर्गन्धो विद्यते यस्मिन्देवंविधेन । करीषाणां पशुविचरणस्थानेभ्यो निर्मूलं सुल-  
भत्वात्, वहुकालस्थायित्वाच्च तदभेतः, तत्संग्राहकस्य दरिद्रस्य दीनतातिशयः सूच्यते ।  
करीषाम्बिधूसात् कपिलेन धूम्रवर्णेन । करीषाम्बिः शनैर्मन्दो भवति चेदतिसमीपस्थित्या  
तापोनुभूयत इति तस्यामवस्थयां वहुकालं धूमानुभवेन वस्त्रस्य कपिशवर्णत्वं जायत एवेति  
सूच्यते । परिविरलतन्तुना वहोः कालादेकस्यैव धारणेन बहवस्तन्त्रो विशीर्णा इति  
असान्द्रसूत्रेण । जीर्णपटेनैवातिदुर्गतकः अतिदिद्रिः सूच्यते परिचीयत इत्यर्थः । इह  
हेमन्त इत्यनेन अस्मिन्देव समये त्वं परिचिनुहीति सर्वया परिबोधपाटवं द्योत्यते । एवं-  
विधं वस्त्रादिदार्गलमनुभवन्तं तं किमिति वहुमन्यस इति सर्वया समवबोध्यते । पुष्कुआ  
इति करीषाम्बिवाचको देशी ।

बहवः क्लेशाः किल हेमन्तकालप्रवास इति प्रवासोदयतं नायकं प्रवासादुपरमयिर्तु  
कांचन शिशिरकालप्रवासिनोऽवस्थां वर्णयति—

**खरसिप्पिरउल्लिहिआइँ कुणइ पहिओ हिमागमपहाए ।**

**आअमणजलोल्लिअहथफंसमसिणाइँ अङ्गाइँ ॥ ३० ॥**

[ तीक्ष्णपलालोल्लिखितानि करोति पथिको हिमागमप्रभाते ।

आचमनजलादिं तहस्सपर्शमस्त्रान्यज्ञानि ॥ ]

तीक्ष्णपलालोळिखितानि वहति पथिको हिमागमविभाते ।  
अङ्गान्याचमनास्मःस्तिसितकरस्पर्शमसृणानि ॥ ३० ॥

पथिको हिमागमस्य विभाते प्रभाते 'व्युष्टं विभातं द्वे क्लीबे पुंसि गोसर्ग इष्यते' इत्यमरः । तीक्ष्णाः ये पलालाः क्षेत्रेषु छिन्नधान्याग्रगुच्छकास्तृणकाण्डास्तैः उल्लिखितानि अवघृष्टानि अङ्गानि । आचमनस्य प्रातर्सुखगण्डूषकरणस्य यत् अस्मः जलं तेन स्तिसितः आर्द्रः यः करस्तस्य स्पर्शेन मसृणानि चिक्कणानि वहति धारयति । पूर्वदिने छिन्नधान्य-कणिशेषु क्षेत्रेषु चलनेन तृणकाण्डोळिखितान्यङ्गानि प्रातःकाले आचमनजलार्द्रकरेण मसृणानि कृत्वा तानि विगतवेदनानि करोतीत्यर्थः । 'नाडी नालं च काण्डोस्य पलालोऽस्मी स निष्फलः' इत्यमरः । सिपिरं पलालः, ओळिओ आर्द्रितः, इति देशीद्वयम् । तथा च, निर्भरानङ्गसङ्गररमणीयेऽस्मिन् समये यदि भवानपि प्रवासमङ्गीकरिष्यति तर्हि भवेद्ग्रुवतोपि सेयमवस्था, तत्थगय गमनविचारमिति नायिकया कान्तं प्रत्यभिव्यज्यते ।

स्वस्मादतिशयितरूपगुणशालिनीमुत्तमस्त्रियमाग्रहेण परिगृहीतवतः कस्यचिदधमस्य वरवर्णिनीलाभलालसयाऽनुसरणं कुर्वन्तं कामुकजनं प्रदर्शय, उत्कृष्टनायिकापरिग्रह-प्रयतं कंचिदधमं स्वाध्यवसायाचिवारयितुं कथिदन्यापदेशोनाह—

णक्खक्खुडिअं सहआरमञ्जरिं पामरस्स सीसम्मि ।  
बन्दिमिव हीरन्तीं भमरजुआणा अणुसरन्ति ॥ ३१ ॥

[ नखोत्खण्डितां सहकारमञ्जरीं पामरस्य शीर्षे ।

बन्दीमिव हियमाणां भ्रमरयुवानोऽनुसरन्ति ॥ ]

सहकारमञ्जरीं किल पामरशीर्षे नखरलूनाम् ।

हियमाणां बन्दीमिव मधुपयुवानोऽनुधावन्ति ॥ ३१ ॥

बलात् हियमाणां बन्दीकृतां छियं यथा तद्विमोचनकामनया युवानोऽनुसरन्ति तथा नखैरुत्खण्डितां पामरशीर्षस्थां सहकारमञ्जरीं भ्रमरयुवानोऽनुसरन्तीति भावः । पामर-शीर्षे इत्यनेन अलभ्यलाभां तामाकल्य्य सोत्यादरेण तस्यां व्यवहरतीति व्यज्यते । नखरैर्लूनामिलनेन 'न खयमुपलब्धा प्रत्युत बलात् सा आकर्षितेति' तस्या अधमेऽनु-रागो ध्वन्यते । तथा च—यदेवं त्वमप्युत्तमां छियं बलात्परिग्रहीष्यसि तर्हि तवापि युव-भिरभिधावनं भविष्यतीति तं प्रत्यभिव्यज्यते । वस्तुतस्तु—अधमेन केनचिद्वलादपहृत्य विपदमवापितां नायिकामुपेक्षमाणस्य नायकस्य शिक्षायै नायिकासखी तदुद्धरणाय त्वर-यितुमन्यापदेशोनाह—भ्रमरैर्यस्याः सहकारमञ्जर्याः पूर्वं रसोनुभूतस्तां नखखण्डनखेद-खिनां पामरजनसङ्घपतितां चालोक्य तदुद्धारकामनया अवशत्वेपि तस्या अनुसरणं क्रियते । भवांश्च समर्थोपि नागरिकतामनभिवीक्ष्य तामुपेक्षत इत्यहो ते स्वार्थपराय-णता, तदुद्धर तां द्रुतमिति नायकं प्रत्यावेद्यते ।

कांचन सुन्दरीमभिलक्ष्य त्वं प्रणत्यादिचेष्टां करोषीति त्वं मयाभिलक्षितोसीति सूच-यन्ती कान्चित्प्रौढा दूती नायकमाह—

सूरच्छलेण पुत्रअ कस्स तुमं अज्ञालिं पणामेसि ।  
हासकडमखुम्मिस्साण होन्नित देवाण्ण जेकारा ॥ ३२ ॥

[ सूर्यच्छलेण पुत्रक कसै त्वमज्ञालिं प्रणामयसि ।  
हास्यकटाक्षोन्निमश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥ ]

सूर्यच्छलेण कसै त्वमज्ञालिं पुत्रक प्रणामयसि ।  
हास्यकटाक्षोन्निमश्रा देवानां नो भवन्ति जयकाराः ॥ ३२ ॥

अज्ञालिं प्रणामयसि अज्ञालिं वधा प्रणामं करोषीत्यर्थः । देवानां जयकाराः जय जये-  
लादिकाः स्तुतयः । हास्येन, कटाक्षेण नेत्रप्रान्तावलोकनेन च संपुटिता न भवन्ती-  
ल्यर्थः । पुत्रकेति सम्बोधनेन प्रणयभाजनत्वं लक्ष्यते । तेन “त्वयि सम भूयान्नेहः,  
अत एव रहस्यवेदिन्यां मयि सूर्यप्रणामादि कपटमपहाय सत्यं वद, कसामनुरक्तोसि,  
अहं ते कार्यं साधयिष्यामि, न पुनस्तवापवादं प्रवारयिष्यामि” इति नायकं प्रति विश्वा-  
सोत्पादनमभिव्यज्यते ।

निजदयितरासक्तां नायिकां चौर्यसुरतप्रशंसया उत्कण्ठयितुं दूती कान्चिदाह—

मुहविज्ञविअपईवं णिरुद्धसासं सशङ्किओह्नावम् ।  
सवहसअरक्षिवोहुं चोरिआरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥

[ मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशङ्कितोलापम् ।  
शपथशतरक्षितोहुं चोरिकारमितं सुखयति ॥ ]

मुखविध्मापितप्रदीपं रुद्धश्वासं सशङ्कितोलापम् ।  
शपथशतरक्षितोहुं सुखयति किल चोरिकारमितम् ॥ ३३ ॥

हस्तादिवायुना शब्दो विलम्बश्च सादिति मुखेन मुखवातेन विध्मापितो निर्वापितः  
प्रदीपो यत्र तत् । मा कथन श्रौषीदिति निरुद्धः श्वासो यत्र, शङ्कितेग शङ्क्या सह  
उल्लापः संलापश्च यज्ञ तत् । अथर्वशतेन गृहजनो मा ज्ञासीदिति शपथशतेन शपथ-  
शतं कारयित्वा रक्षितो दंशनाद् गोपितः ओष्ठोऽधरो यत्र तत् । चोरिकश्च चौर्येण  
रमितं रमणम् । तथा चैताद्वारं सुखं सानुभवेनैव त्वं ज्ञास्यसीति दूतीकृतमुत्कण्टासंव-  
र्द्धनमभिव्यज्यते ।

गानव्याजेन त्वं कंचन प्रणयिनं दोत्कण्टमनुध्याय रोदिषीति अहं जाने इति नायि-  
कायाः स्वसिन्वश्वासमास्थापयन्ती दूती नायिकामाह—

गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं रुअसि णिडभरुकण्ठम् ।  
मणुपडिरुद्धकण्ठदृणिन्तखलिअकखरुलावम् ॥ ३४ ॥

[ गेयच्छलेण स्मृत्वा कस्स त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम् ।  
मन्तुयतेस्वदकण्ठार्धनिर्यत्स्वलिताक्षरोलापम् ॥ ]

गेयच्छलेन कस्य स्मृत्वा रोदिषि सुनिर्भरोत्कण्ठम् ।  
मन्युनिरुद्धगलाद्वैन्निर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥ ३४ ॥

गेयच्छलेन गानव्याजेन । कस्य स्मृत्वा कं स्मृत्वा, कर्मणः शेषत्वविक्षया बष्टी । सुनिर्भरा उत्कण्ठा यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा । मन्युना शोकेन रुद्धो यो गलः कण्ठस्तसात् अर्द्धम् उच्चिर्यन् निःसरन्, अतएव स्खलिताक्षरः स्खलितान्यक्षराणि यस्मिन्नीदृश उल्लापो वाक्यविन्यासो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा । त्वं रोदिषीति स्वरहस्यं महामावेदयेत्यर्थः । मन्युरुद्धकण्ठं स्खलिताक्षरमिति क्रियाविशेषणाभ्यां हृदये भावानां भृशमावेशोभिव्यज्यते । तेन त्वं कंचित्स्मृत्वैवोत्कण्ठया रोदिषि न पुतर्गानमेवं भवतीति विदितं मया । तन्मयि विश्वस्य रहस्यं प्रकाशयतां येनाहमेवं खेदमनुभवन्त्यास्ते साहाय्यं संपादयामीति दूख्या नायिकां प्रत्यभिव्यज्यते ।

स्वयंदूती प्रतिवेशिनमुपर्पति प्रति संकेतसमयं सूचयितुमाह—

बहलतमा हअराई अञ्ज पउत्थो पई घरं सुण्णम् ।  
तह जगेसु सअञ्जिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[ बहलतमा हतरात्रिरद्य प्रोषितः पतिर्गृहं शून्यम् ।

तथा जागृहि प्रतिवेशिन्न यथा वयं सुध्यामहे ॥ ]

बहलतमा हतरात्रिः पतिरद्य प्रोषितो गृहं शून्यम् ।  
प्रतिवेशिन्नयि जागृहि तथा; विमुष्यामहे न यथा ॥ ३५ ॥

बहलं निबिडं तमः अन्धकारो यसाम् । अनेन अन्धकारवशाश्चागच्छन्तं कोपे विलोकयिष्यतीति योख्यते । अद्यैव प्रोषित इत्यनेन अद्यैव प्रवासं गतस्य तस्यागमनशङ्का नास्तीति विश्रब्धत्वं व्यज्यते । गृहं शून्यमित्यनेन, अन्यजनशङ्कारहितेस्मिन्नेव गृहे आगम्यतां नान्यदिवसवत् भवद्गृहं इति संकेतो ध्वन्यते । तथा जागृहि यथा न विमुष्यामहे इत्यनेन त्वं सञ्चद्धो भूत्वा इममवसरं प्रतिपालय, अन्यथा भाग्यवशादुपलब्धस्यास्यावसरस्यावधीरणे विन्निता एव वयमिति सतकीकरणमभिव्यज्यते । एवंविधवाक्वातुर्येण नायिकायाः प्रौढिः प्रागलभ्यं च ध्वन्यते ।

पूर्ववयसि आत्मनाऽनुभूतं दुःखमनुसन्धाय गृहिणीपदप्राप्तौ लुपादिष्वपि सदयमेव व्यवहरन्ति कुदुम्बिन्य इत्यात्मनो व्यवहारपाठवमभिव्यज्यनागरिकः सहचरमाह—

संजीवणोसहिमिव सुअस्स रक्खइ अणण्णवावारा ।  
सासू णवब्मदंसणकण्ठागअजीविअं सोल्लापम् ॥ ३६ ॥

[ संजीवनौषधिमिव सुतस्य रक्षत्वनन्यव्यापारा ।

श्वश्रूनवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां लुपाम् ॥ ]

संजीवनौषधीमिव सुतस्य रक्षत्वनन्यकर्मेव ।

श्वश्रूनवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां लुपामेताम् ॥ ३६ ॥

श्वश्रुः नवाब्राणां नवीनमेघानां दर्शनेन कण्ठागतजीवितामेतां छुषाम् । सुतस्य निज-  
पुत्रस्य पुनरुज्जीवनमहौषधिमिव अनन्यकमैव त्यक्तान्यव्यापारैव सती रक्षति । विरहवेद-  
नया संस्थितायामस्यां भम् पुत्रोपि न भवेदित्याशङ्कया तां सतर्कमुपचरतीत्यर्थः ।  
सुतस्य संजीवनौषधिमिवेत्यनेन पुत्रोस्यामेकान्ततो बद्धप्रणय इति अनुभवमार्मिकत्वं  
श्वश्रा द्योल्यते । नवाभ्रेत्यनेन पूर्वमनुभूतस्य सहसैव सजलजलदावलोकनसुहीपितस्य  
विरहस्य दुःसहत्वं ध्वन्यते । अनन्यकमैवेत्यनेन सर्वसिद्धेव काले छुषायाधिन्तासंताप-  
स्ततो विरहदुःखस्यातिशयः सूच्यते । पुत्रप्रेमवशात् सतवधानं विहितेन श्वश्रुकृतोपचा-  
रेण निजवल्लभालम्बनाया नायिकानिष्टरतेरतिशयः, पर्यन्ततो ध्वन्यत इति सुधीभिरनु-  
सन्वेयम् । “प्रोषितभर्तृकाया: सखी तत्कान्तस्यागमनत्वरार्थं तत्समीपगामिनं पथिक-  
माह” इति गंगाधरावतरणम् ।

केवलं वल्लभायैवोक्तं सुगुप्तं निजमनोभिलाषं सपब्या मुखादाकर्षणं रहस्यभजात्कोपमुप-  
गता नायिका प्रियतमसुपालभमाना सर्वेदग्धयमाह—

**णूणं हिअअणिहिताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि ।**

अण्णह मणोरहा मे सुहअ कहं तीअ विणाथा ॥ ३७ ॥

[ नूनं हृदयनिहितया वससि जायथासाकं हृदये । ]

अन्यथा मनोरथा मे सुभग कथं तथा विज्ञाताः ॥ ]

निवससि हृदयनिहितया हृदयेऽसाकं खजायथा साकम् ।

कथमन्यथा तथा मे मनोरथाः सुभग विज्ञाताः ॥ ३७ ॥

हैं सुभग हृदयनिहितया खजायथा सह असाकं हृदये निवससि । अन्यथा एतदभावे  
तथा मे मनोरथाः कथं विज्ञाताः ? मनोगतपरिज्ञानहृपस्य हेतोर्विन्यासात्काव्यलिङ्गम् ।  
तेन च अहर्निशं त्वामेव हृदयेऽनुचिन्तयाम्यहम्, परं त्वं मां विहाय तस्यां सपब्या-  
ममुरक्तः । अत एव गोपनीयमपि रहस्यं तथाः प्रकाशयसीति गूढोपालम्भो ध्वन्यते ।  
खजायेत्यनेन ‘सैव ते साम्रप्तं पल्ली यस्यास्त्वं मद्विश्रम्भजलित्यतमपि प्रकाशयसि । अहं  
तु ‘ब्रीसामान्यमिती’र्ष्याऽभिव्यञ्जयते । सुभगेत्यनेनापि “अहमन्यस्यामनुरक्तस्थापीयं  
मामेवानुध्यायतीत्यात्मनः सौभाग्येनैवाविलितोसि” इति गूढसुपालम्भो द्योल्यते ।  
“खण्डिता प्रातरागतं नखदन्तक्षताङ्कितं कानं सेर्ध्यमाहेति” गंगाधरावतरणम् ।

नायिकायाः प्रणयातिशयं प्रकाशयन्ती दूती नायकमाह—

**तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहैं कण्णलग्गेहिं ।**

दिण्णं घोलिरवाहैहैं पाणिअं दंसणसुहाणम् ॥ ३८ ॥

[ त्वयि सुभग अदृश्यमाने तथा अक्षिभ्यां कर्णेलझाभ्याम् । ]

दत्तं वृष्णनशीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्यः ॥ ]

अयि सुभग त्वयि गतवत्ति तत्रयनाभ्यां नु कर्णेलझाभ्याम् ।

दत्तं स्फुरदस्त्राभ्यां पानीयं हन्त दर्शनसुखेभ्यः ॥ ३८ ॥

त्वयि गतवति दर्शनपथमतिकम्य अदृश्यमाने सति त्वदृशनकौदुकात् विकसिताभ्यामत एव कर्णपर्यन्तविस्तृताभ्यां स्फुरत् प्रसरत् अष्टम् अश्रु यथोः सकाशादेतादशाभ्यां तस्याः ( नायिकायाः ) नयनाभ्यां कर्तुभ्यां दर्शनसुखेभ्यः पानीयं दत्तम्, न पुनरेवं-विधानि दर्शनसुखानि स्युरिति ते भ्यो विसर्जनजो जलाञ्जलिर्दत्त इत्यर्थः । सुखेभ्यः पानीयं दत्तमिति छेकोक्तिः । ‘छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तिः स्यादर्थान्तरगमिता’ । त्वदागमनविरहदुःखान्न तथा सदितं किन्तु स सुखेभ्यो जलाञ्जलिर्दत्त इत्यपहुतिव्यञ्जयते । किं वा ‘न पुनरेवं-विधस्य दर्शनसुखस्याशेति तस्मै जलाञ्जलिरिव प्रतः’ इत्युत्प्रेक्षा । अन्ततस्तु त्वदृशनसुखस्याप्ने सा न किञ्चित्सुखं गणयति इति सुखेभ्य इति बहुवचनसहकारेण नायिकानिष्ठोऽनुरागातिशयो ध्वन्यते । सुभगेत्यामत्त्रणेन ‘पश्य ते सौभाग्यं यत्सा त्वच्येवं दृढानुरागा’ इति नायकप्रोत्साहनं ध्वन्यते । नयनयोः कर्णलग्नतायां तु—“श्रवणादृशनाद्वापि मिथः संरूपरागयोरित्यनुसारं शुणश्रवणेनैव पूर्वं नायिकाया नायकेऽनुरागोऽभवत् । ततश्च रूपगुणकीर्ति श्रावयन्नां कर्णाभ्यामेव स्वल्पसमागमसुखोत्तरं सेयं विरहवेदना दत्तति, उपालम्भदानार्थमिव नयनयोर्गमनम्” इति‘नु’पदोत्प्रेक्षितं तात्पर्यं ध्वन्यते ।

काचित्प्रोषितभर्तृका प्रियतमं प्रति संदेशं प्रहिणवती आह—

उप्पेक्खागअतुअमुहदंसणपडिरुद्धजीविआसाइ ।

दुहिआइ मए कालो कित्तिअमेत्तो व णेअब्बो ॥ ३९ ॥

[ उत्प्रेक्षागतत्वसुखदर्शनप्रतिरुद्धजीविताशया ।

दुःखितया मया कालः कियन्मात्रो वा नेतव्यः ॥ ]

ध्यानागतभवदाननदर्शनविनिरुद्धजीवितैषणया ।

दुःखितया हि मया किल कालो नेयः कियन्मात्रः ॥ ३९ ॥

ध्यानेन भावनया आगतं यत् त्वन्मुखं तस्य दर्शनेन विनिरुद्धा स्थापिता जीवितैषणा जीविताशा यया एतादश्या दुःखाकुलया मया कियत्परिमाणः कालो यापनीयः । अहं तवानुध्यानादेव जीवामि नान्यन्मेऽवलम्बनसिल्यात्मनोऽनुरागो ध्वन्यते । जीविताशयेत्यनेन विरहदुःखान्मम जीवने निर्वेद एव जातः परं भावनया आगतं त्वन्मुखं दृष्ट्वा तत्सुखमनुभूय “भावनयैव एतावत्सुखम्, प्रलक्ष्यदर्शनं तु न जाने कियन्मात्रं स्यादिति त्वदृशनप्रत्याशयैव मे जीवितस्थितिरिति” प्रियतमं प्रति सूच्यते । कियन्मात्रो नेतव्य इत्यनेन नायिककालमेवं जीवेयमिति आगमनत्वरार्थं सूचयति । ‘निरुद्ध’ पदेन ‘जीविताशा तु दुःखनिर्विणा वेगेन गच्छन्त्यासीद्, परं बलपूर्वकं त्वन्मुखध्यानेन सा वारिता’ इति विरहातिशयो ध्वन्यते ।

पूर्वं रूपयौवनसम्पन्नामपि बहूपभोगेन संप्रति विगतरूपयौवनां कांचन कुलटामालोक्य कुट्टन्याह—

वोलीणालक्ष्मिरुअरुओवणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।

दिङ्गा पणदुपोराणजणवआ जम्मभूमि व ॥ ४० ॥

[ व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।

दृष्टा प्रणष्टपौराणजनपदा जन्मभूमिरिव ॥ ]

कं नहि दुनोषि विगतानालक्षितरूपयौवना पुत्रि ।

दृष्टा नष्टपुरातनजनपदपटला हि जन्मभूमिरिव ॥ ४० ॥

हे पुत्रि ! विगतं व्यतिक्रान्तमत एव अनालक्षितम् अवीक्षितं रूपं यौवनं च यस्या एतादशी त्वम् । न एष पुरातनं जनपदपटलं जनसमूहो यस्याः सा । वहोः कालाद् दृष्टा जन्मभूमिरिव त्वं कं वा न दुनोषि परिताप्यसि । गलितपूर्वरूपयौवनां त्वामालोक्य विनष्टजनसमूहाया आत्मनो निवासभूमेरालोकनेन यथा दुःखं भवति तथा सर्वेसाप्यालोकयितुं भवतीत्याशयः । अनालक्षितमिलाङ्गपर्णेण समन्तादपि तवाङ्गे रूपयौवनचिह्नं नास्ति, एवंविधस्ते भोगोपमर्द इति घोलते । जनपद-जन्मभूमिपदभ्यां बहव एव जनाः पूर्वकाले त्वयौवनसुपभुक्तवन्तस्ते सांप्रतं त्वामेवंविधामालोक्य दूयन्त इति व्यज्यते । पुत्रीत्यनेन त्वयि मम निष्कपटवात्सल्यमिति विश्वसनीयत्वं घोलते ।

इसौ द्वावपि परस्परमनुरक्तविलात्मनो गृहेज्ञितपरिज्ञानपाठवमभिव्यञ्जयज्ञागरिकः सहचरमाह—

परिओसविअसिएहि भणिअं अच्छीहिं तेण जणमज्ज्ञे ।

पडिवण्णं तीअ वि उद्वमन्तसेएहि अङ्गेहि ॥ ४१ ॥

[ परितोषविकसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।

प्रतिपञ्चं तथाप्युद्धमत्स्वेदैरङ्गैः ॥ ]

परितोषविकसिताभ्यां जनमध्ये तेन भणितमक्षिभ्याम् ।

तदभिमतं प्रतिपञ्चं तथाऽङ्गकैरुद्धमत्स्वेदैः ॥ ४१ ॥

तेन नायकेन । परितोषेण अनुरागजनितेन हर्षेण विकसिताभ्याम् । अक्षिभ्यां ( करणम् ) जनमध्ये अभिमतं भणितम् । नायिकया उद्धमत्स्वेदैः निष्पतदूर्ध्वमज्जैरङ्गैः तस्याभिमतं वाञ्छितं प्रतिपञ्चं स्वीकृतम् । नयनविकासेन औत्सुक्यं घोलते । तथा च त्वया मे मानसं वशीकृतमिति नायकेन नेत्रद्वारैवात्मनोभिमतं प्रकाशितम् । अङ्गेषु स्वेदरूपस्य सात्विकभावस्योदयात्, तथापि तं प्रत्यात्मनोनुरागं प्रकाश्य नायकस्याभिमतमङ्गीकृतमिति गूढमप्यनयोरनुरागमहं विदितवानिति नायगरिकेण सूच्यते । निष्पतदिति स्याने उद्धमदिति कथनेन स्वेदाद्यिक्यं लक्ष्यते, तथा च सात्विकभावप्रकर्षेण रस्यतिशयो ध्वन्यते । अक्षिभ्यां भणितमिति अर्धान्तरसंकसितवाच्यम् । तेन च, स्पष्टमात्माभिमायः प्रकाशित इति निवेदनेऽप्तिशयो व्यज्यते । “वयस्याभिमतं संपत्स्यत इति नायकसहचरेण पृष्ठा दूती तमाह” इति गङ्गाधरावतरणम् ।

परस्परमावदानुरागावपि समुचितावसराप्राप्या समागमसौख्यं नाशुभवितुं शकुत इति कथोश्चिदवस्थां सूचयन्नागरिकः सहचरमाह—

एककमसंदेसाणुरायवहुन्तकोउहलाइ ।

दुःखं असमचमणोरहाइ अच्छन्ति मिहुणाइ ॥ ४२ ॥

[ अन्योन्यसंदेशानुरागवर्धमानकौतूहलानि ।

दुःखमसमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥ ]

अन्योन्यं संदेशानुरागसंवर्द्धमानकुतुकानि ।

दुःखं द्वासमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥ ४२ ॥

परस्परं यः संदेशो दूतीद्वारानुरागावेदनम्, तेन ( संजनितः ) योनुरागस्तेन वर्धमानं कौतूहलं समागमौत्सुक्यं येषां तानि । न समाप्तो मनोरथः समागमाभिलाषो येषां तानि । मिथुनानि युगलानि दुःखं यथा स्यातथा तिष्ठन्तील्यर्थः । परस्परदर्शनं विना दूतीद्वारा संदेशप्रेषणेन दर्शनेषि कौतुकं द्योत्यते, तेनोत्कण्ठातिशयो व्यञ्यते । असमाप्तमनोरथानीत्यनेन यावदभिलिखितपूर्तिर्न जायते तावदुक्तण्याधिक्यमिति नागरिकः स्वमार्मिकत्वं सूचयति । मिथुनं तिष्ठतीत्येव वक्तव्येषि बहुत्वं प्राङ्गतानुरोधेन ।

प्रियतमं प्रति संजनितमात्मानुरागं गोपयन्तीं नायिकां सखीं सवैदग्ध्यमाह—

जइ सो ण वल्लहो विअ गोक्तम्गाहणेण तस्स सहि कीस ।

होइ मुहं ते रविअरफंसविसदं व तामरसम् ॥ ४३ ॥

[ यदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।

भवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम् ॥ ]

वल्लभ एव स न हि यदि गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।

भवति मुखं तव रविकरसंसेदोऽद्विन्नमिव नलिनम् ॥ ४३ ॥

तस्य गोत्रग्रहणेन नामग्रहणेन । ‘गोत्रं तु नान्नि च’ इत्यमरः । रविकराणां समेदेन स्पर्शेन उद्दिश्यं विकसितं कमलसिव तव मुखं किमिति भवतीति सम्बन्धः । रविकरयो-गविकसितस्य कमलस्य साम्येन स्वभावसुन्दरस्यापि पद्मस्य रविकरान् विना यथा न विकासलक्ष्मीस्तथा तवापि सहजमनोहरमपि मुखं तस्य नामश्रवणेनैव लज्जानुरागजनित-मपूर्वमुलासमनुभवतीति सूच्यते । तथा च नामश्रवणमात्रेण तवेदशमौत्सुक्यं किं पुनर्दर्श-नादिषु सत्सु, एवं च तवानुरागमभिजानत्यां मयि नैतद् गोपनीयमिति सख्याभिव्यञ्यते ।

गाढं गृहीतमानापि कथंकारमनुनीता दयितेन भवतीति रहस्याभिज्ञया मातुलान्त्या पृष्ठा काचिदाह—

माणदुमपरुसपवणस्स माभि सव्वज्ञणिव्युद्भरस्स ।

अवउहणस्स भदं रहणाडुपुव्वरङ्गस्स ॥ ४४ ॥

[ माणदुमपरुषपवनस्य मातुलानि सर्वाङ्गनिर्वृत्तिकरस्य ।

अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥ ]

मानतरुपरुषमरुतो मातुलि सर्वाङ्गनिर्वृत्तिकरस्य ।

अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥ ४४ ॥

मानदुमार्थं परुषपवनस्थानीयस्य । मानजनितवियोगकाले उपतस्तानां सर्वाङ्गाणाम-

निर्वचनीयसुखकारकस्य । सुरतस्यनाटके पूर्वरङ्गभूतस्य, अवगृहनस्यालिङ्गनस्य भद्रम् । भवतिविति शेषः । पूर्वरङ्गरूपणेन नाव्यविम्बशान्तये यथा पूर्वरङ्गे नान्दीपाठाद्युपायः कियते येन नाव्यं निर्विम्बसानन्दप्रसु भवेत्तथात्रापि निष्कष्टकं निधुवनसिद्धये पूर्वं मानादिविम्ब-विध्वंसकमवगृहनं कियत इति सूच्यते । पूर्वरङ्गविषये उक्तं दर्पणे—“यच्चाव्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविम्बोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥” एतत्प्रसङ्गे भाव-प्रकाशिकापि मनोहरमाह—“सभापतिः सभासभ्या गायका वादका अपि । नटीनटाथ मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरंजनात् ॥ अतो रङ्ग इति हेयः पूर्वं यत्स प्रकल्पते । तसादवं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्विद्वच्यते ॥” तीव्रपवनेन महतोपि वृक्षस्य भज्ञो यथा भवति, तथा आलिङ्गनेन दृढोपि मे मानो भग्न इति भावः ।

कस्मिन्नपि युवके जातानुरागा काचित्स्मिन् शृण्वति सति हृदयामन्त्रणच्छलेनात्मनः समागमोत्कण्ठमेवमाह—

**णिअआणुमाणणीशङ्क हिअअ दे विरम एत्ताहे ।**

**अमुणिअपरमत्थजणाणुलग कीस म्ह लहुएसि ॥ ४५ ॥**

[ निजकानुमाननिःशङ्क हृदय हे प्रसीद विरमेदानीम् ।

अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न किमित्यसांल्घयसि ॥ ]

**विरमाधुना हृदय हे नूनं निजकानुमाननिःशङ्क ।**

**अविदितपरमार्थजनानुलग्न लघयसि किमित्यस्मान् ॥ ४५ ॥**

मम यथा विरहदुखं तथान्यस्यापि स्यादिति निजानुमानेन मनोरथभङ्गशङ्कारहित हे हृदय । अतएव ( निःशङ्कतया ) न विदितः परमार्थः अन्यदीयविरहवेदनारूपं रहस्यं येन ईद्दशे जने अनुलग्न ! भृशमासक्त ! ( हृदय ) अस्थाने प्रार्थनारूपेण कार्येण अस्मान् किमिति लघूकरोपि । विरमाधुनासात्कर्मण इत्यर्थः । निजकानुमानेत्यादिविशेषणेन अहं त्वयि बद्धदानुरागा समागमार्थं भृशमुक्तपिठेति व्यञ्जयते ( यथाहमुक्तपिठात तथान्योपि स्यादिति सम्बोधनेन सूचनात् ) । अस्मान् लघयसीत्युक्तया न वयमेवंविधा लघवो यदसाकं प्रार्थना उपेक्षणीया भवेदिति सूचनेन स्वस्यासुलभत्वं व्यनयति । विरमेत्यनेन अहं पूर्वानुरागस्य चरमसीमामुपगतास्मि, न मे इतोप्रे कथनं वश इति योख्यते । तथा च सामान्यतोऽसुलभाप्यहं त्वत्सौभाग्येन भवन्तं कामयमानास्मि, त्वं च न मेऽनुरागं यथावद्वेत्सीति नायिकयाभिव्यज्यते ।

समीपस्थितमुपपतिं श्रावयितुं नायिकायाः सौन्दर्यप्रशंसां काचित्सखी तां प्रस्त्रेवमवतारयति—

**ओसहिअजणो पडणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ ।**

**चन्दो च्चि तुज्ञ वअणे विडण्णकुसुमञ्जलिविलक्षो ॥ ४६ ॥**

[ आवस्थिकज्ञः पत्या श्लावमानेनातिचिरं हसितः ।

चन्द्र इति तव वदने विरीर्णकुसुमञ्जलिविलक्षः ॥ ]

**हसितः प्रशंसता सखि चिरमावसथिकजनः पत्या ।**

**विधुरिति तव किल वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः ॥ ४६ ॥**

हे सखि ! 'अहो पत्य ते रूपमहिमानमिति' प्रशंसता श्लाघमानेन पत्या । विधुः चन्द्रोयमिति शुद्धा तव वदने वितीर्णः कुसुमाञ्जलियेन, अतएव विलक्षो लज्जितः, आवसथिकजनः—चन्द्रार्घदानादित्रिनियमस्यो जनथिरं हसितः । अथवा अहो एषां वस्तुपरिचयपाटवमिति आवसथिकजनं साकूतं प्रशंसता पत्या विलक्ष आवसथिकजनो हसित इत्यर्थः । दिग्यितादिपदमनादृत्य पत्या इत्युक्त्या सम्बन्धानुरोधेन पतिमात्रं सोऽस्या न वल्लभ इति जारं प्रति सुसाध्यत्वमस्या व्यन्यते । तथा चैवमसामान्यलवण्यशालिनीमिमां कामयमानस्याहो ते सौभाग्यमिति शृण्वन्तमुपपतिं प्रति प्ररोचनमभिव्यज्यते । 'जारव्यामोहनाय दूती नायिकायाः सौन्दर्यार्तिशयं ख्यापयितुमाह' इति गङ्गाधरः ।

तब दुर्बलतामालोक्य तत्कारणं पृच्छन्तीभ्यः सखीभ्यः किं त्वया प्रत्युत्तरं दीयत इति शाठनायकेनोक्ता नायिका तमाह—

**छिञ्जन्तेहि॑ अणुदिणं पचक्खमिमि॒ वि॒ तुमम्मि॒ अङ्गेहि॑ ।**

**बालअ॑ पुच्छिञ्जन्ती॒ ण॑ आणिमो॑ कस्स किं॑ भणिमो॑ ॥ ४७ ॥**

[ क्षीयमाणैरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वयद्वङ्गः ।

बालक पृच्छयमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥ ]

**भवति॑ प्रत्यक्षेऽपि॑ प्रतिदिनमङ्गैर्तु॑ हीयमानैहि॑ ।**

**बालक नो॑ जानीमः॑ कस्य॑ भणामोत्र॑ पृच्छयमानाः॑ किम् ॥ ४७ ॥**

हे बालक ! भवति त्वयि प्रलक्षेऽपि संनिहितेपि, प्रतिदिनं क्षीयमाणैरङ्गैरुपलक्षिताः । अत एव किमिति दुर्बलासीति जनैः पृच्छयमाना वयमत्र कस्य किं भणाम इति न जानीमः । पूर्वं तव विदेशगमनं दुर्बलतायां कारणमासीत्, इदानीं त्वयि संनिहितेपि, सप्तलीजनरमणादिभिस्त्व दुर्शेष्टिः संजातायाः कृशतायास्तद्विश्वासमकुर्वतीभ्यः सखीभ्यः किं कारणं वक्तव्यमिल्ह न जाने इति भावः । बालकेति संबोधनेन 'अहो त्वमुन्मुग्धः शिशुरसि यत्प्रत्यक्षव्यलीकानि कुर्वन्नपि तानि न जानासि' इति विपरीतलक्षणया आश्वेषो व्यन्यते । तथा च तवैव व्यलीकशतैः खिन्नामपि मां त्वेव किं प्रत्युत्तरं जिज्ञाससे, अहो ते धौर्ख्यमिति नायकं प्रत्याशयोभिव्यज्यते । प्राकृते वचनस्यानियमात् 'पुच्छिञ्जन्ती' ( पृच्छयमाना ) इत्येकवचनेन सह जानीमो भणाम इति बहुवचनस्य संबन्धे न विरोधं इति ज्ञेयम् । 'बालक उन्नितानभिज्ञ' इति गङ्गाधरटीका ।

पूर्वमनुरागप्रदर्शनेन कृतशीलखण्डनं ततो मन्दादर्दं नायकं नायिकायाः प्रणयातिशयं प्रदर्शयं तदुत्कूलं कर्तुं दूती सर्वैरध्योपालम्भमेवमाह—

**अङ्गाणं॑ तणुआरअ॑ सिक्खावअ॑ दीहरोइअव्वाणम् ।**

**विणआइकमआरअ॑ मा॑ मा॑ ण॑ पम्हसिज्ञासु॑ ॥ ४८ ॥**

[ अङ्गानां तनुकारक शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।  
विनयातिक्रमकारक मा मा एनां प्रसरिष्यति ॥ ]

अङ्गानां तनुकारक शिक्षक किल दीर्घरोदितव्यानान् ।  
विनयातिक्रमकारक मा मैनां प्रसरिष्यति हि ॥ ४८ ॥

तन्विति भावप्रधानो निदेशः । अङ्गानां तनुताकारकेत्यर्थः । विनयस्य गुरुजनानाभाज्ञा-  
पालनस्य अतिक्रमम् उल्लंघनं कारयति तच्छीलस्तस्तम्भुद्धौ । एनां पुनर्मा मा सरिष्यति ।  
सा किल तव विरहे अङ्गानि क्षपयति, दीर्घ रोदिति, गुरुणामाज्ञामपि त्वकृते न किञ्चिद्  
गणयति, एवंविधामनुरागशालिनीं मा सरिष्यति—मा भूयः स्मर । विपरीतलक्षणया  
त्वदेकावलम्बनां तां शीघ्रमेव जीवयेति दूस्याभिष्यज्यते । “विनयस्य शीलस्यातिक्रमः  
खण्डनं तत्कारकेति” गजाधरः । त्वदनुरागपरायणया तथा त्वकृते इयन्ति दुःखानि  
सोढानि, त्वं तु स्मरणमात्रमपि न करोषीत्युपालम्भः । तथा च यदि किञ्चिन्मात्रमपि  
तत्प्रणयानुरोधस्तर्हि तामनुसर सत्वरमिति दूस्या द्योत्सते ।

प्रवासेनमुखं नायकं प्रवासाचिवावरयितुं शृणुति तस्मिन्काचित्सखीमाह—

अण्णहण तीरइ चिअ परिवड्हन्तगरुओं पिअअमस्स ।

मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥ ४९ ॥

[ अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।

मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥ ]

अथ शक्यतेऽन्यथा नो प्रियस्य परिवर्द्धमानगुरु कामम् ।

मरणविनोदेन विना विरमयितुं बत विरहदुःखम् ॥ ५० ॥

अयि सखि कामं यथेच्छं परिवर्द्धमानं शनैःशनैर्द्विं गतमत एव गुरु महत, दुःसह-  
मिति यावत् । प्रियस्य विरहदुःखम् । मरणविनोदेन विना निजप्राणत्यागं विना अन्यथा  
अन्येन प्रकारेण विरमयितुं दूरीकर्तुं बत न शक्यत एवेत्यर्थः । विनोदपदेन विरहवेद-  
नाया अग्रे मरणमपि विनोदहृपमेव, येन तत्तादशाघोरदुःखनिवृत्तिर्भवतीति विरहदुःखस्य  
दुःसहस्रमभिष्यज्यते । तथा च—तव प्रस्थाने विरहदुःखं भया न शक्येत सोढम्, मरणं  
विना च तदुपसामस्य नास्त्युपायः, अत एव शनैः शनैस्पृचितं तन्मम जीवनमेव समा-  
पयेदतस्त्वमेव विदेशगमनौचित्यं विचारयेति नायकं प्रत्यभिष्यज्यते ।

अन्यासकं नायकं सवैदरध्यमुपालभमाना काचिदाह—

वण्णन्तीहिैं तुह गुणे वहुसो अम्हेहिैं छिञ्छर्द्दधुरओ ।

बालअ सअमेअ कओसि दुङ्गहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[ वण्णन्तीभिस्तव गुणान्बहुशोऽस्माभिरसतीयुरतः ।

बालक स्त्रयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्पामः ॥ ]

असतीपुरतोसाभिस्तव सुगुणान् भूरि वर्णयन्तीभिः ।

स्वयमेव बालक कृतोसि दुर्लभः कस्य कुप्यामः ॥ ५० ॥

असतीनामग्रतः । त्वद्गुणवर्णनेनानुरक्षास्त्वां कामयन्ते ताः । त्वं च पूर्ववल्लभां विहाय तास्वेवानुरज्यसि, अत एवासाकं दुर्लभोसि संवृत्त इति भावः । असतीपदेन ग्रष्ट-चारित्रास्वनुरज्यसि, यास्त्वानुरागवशात्सततं गुणवर्णनमुखरासाद्भु विरज्यसीत्याक्षेपे व्यज्यते । बालकपदेन—‘याः परपरिरम्भपरायणत्वेन प्रसिद्धा असत्यः सन्ति तासां पुरतोपि (इमा महायितं वशयेयुरिति परिज्ञानेपि) अनुरागप्रवणत्वेन तव गुणरणनिका मया उदारतया विहिता । त्वं च तासां मम चानुरागतारतम्यमविद्येव तास्वधिकमनुरज्यसि । अतएव एवमुचितानभिज्ञतया बालकल्पे त्वयि किं कोपेनैत्युपालम्भो ध्वन्यते । किंपदेन वाच्यं प्रति कोपाभावात् ‘कुधद्वृष्ट्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः’ इति न चतुर्थां, किं तु शेषत्वेन विवक्षया पष्ठी । तथा चास्तदनुरागमुपेक्षमाणं त्वां प्रलेव कोप इति व्यज्यते । कोपं कुर्वत्या अपि ‘कस्य कुप्यामः’ इति प्रतिषेधादक्षेपालङ्घारः । ‘निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते’ इति कुवलयानन्दः । तेन च नायकं प्रति कोपोभिव्यज्यते । छिड्युर्विष्ट असती । ‘काप्यात्मनोनुरागं तस्य चान्यासक्ति सूचयन्ती नायकमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

ग्रिथस्यात्मनश्च परस्परानुरागप्रकटनेन निजसौभाग्यमभिव्यज्यन्ती काचित्सखीमाह—

जाओ सो वि विलक्षो मए वि हसित्तण गाढमुवगूढो ।

पठमोसरिअस्स पिअंसणस्स गणिंठ विमग्नन्तो ॥ ५१ ॥

[ जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः ।

ग्रथमापस्तस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयमाणः ॥ ]

जातः सोऽपि विलक्षो विहस्य मयकापि गाढमुपगूढः ।

ग्रन्थिं मार्गयमाणः ग्रथमापस्तस्य वसनस्य ॥ ५१ ॥

विलक्षो लजितः । मयका मया । ग्रथमेति०-तत् करस्पर्शात्पूर्वमेव अनुरागनिर्भरत्वात्स्खलितस्याधोवसनस्य बन्धनग्रन्थिमन्विष्यन् । तस्य लजानुरागरमणीयं मुखमालोक्य समुद्भवदुक्तलिक्या मया तद्वैलक्ष्यमपनेतुं दयितो गाढमालिङ्गित इत्यर्थः । दर्शनमात्रादेव वसनविगलनेन औत्सुक्यातिशयो ध्वन्यते । तेन च दयितं प्रति एतावान्मेऽनुरागः, सोऽपि च मय्येवमनुरज्यतीति निजसौभाग्यमभिव्यज्यते ।

कलहान्तरिताया दूती नायकमनुनयाभिमुखं कर्तुं तद्विरहवैकल्यमाह—

कण्डुञ्जुआ वराई अञ्ज तए सा कआवराहेण ।

अलसाइअरुणविअम्भिआँ दिअहेण सिक्खविआ ॥ ५२ ॥

[ काण्डञ्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।

अलसायितरुदितविजुम्भितालि दिवसेन शिक्षिता ॥ ]

काण्डर्जुका वराकी त्वयाद्य सा किल कृतापराधेन ।  
दिवसेन शिक्षिता मुहुरलसायितरुदितजृभितान्यनिशम् ॥५२॥

शरकाण्डवत् कृजुका सरला । कृतः सपव्यभिसारादिरपराधो यैन, ईद्वेषन त्वया । अद्य दिवसेन दिवसमभिव्याप्य मुहुर्वार्णवारम् । अनिंशं भृत्यमलसायित-रुदित-जृभितानि शिक्षिता । अद्य दिवसमात्रेण त्वया तस्यै रुदितादीनां पूर्णा शिक्षा दत्तेत्यर्थः । काण्डव-दित्युत्त्या स्वभावसरलः शरकाण्डो यथा न पुनर्वैकीकर्तुं शक्येत तथैव निर्सर्गसरला सेव्यं सपव्यनुरोधरूपं कृत्रिमदाक्षिण्यं दर्शयितुं न समर्था । एवं च नायिकायाः शुद्धानुरागप्रवणत्वं द्योत्यते । दिवसेनेत्यन्तसंयोगे अपवर्गे तृतीयेति तृतीया । अनया च तृतीयया—‘दिवसमात्रेणैवानया विरहजनितानामलसायितरुदितादीनां शिक्षियाः फलं प्राप्तम्’ इति नायिकाया ग्लानिभावजनितो वेदनातिशयो व्यन्यते । त्वया शिक्षा दत्तेत्यनेन रोदनादिदुःखं यत्सानुभवति तत्र भवानेव निदानमित्युपालम्भो द्योत्यते । तथा च कृतापराधेन त्वया विहितमनुनयं कोपवशादगृहस्याः दिवसं यावदनुभूतविरहवेद्वनायात्स्याः साम्प्रतं ग्लानिवशाचाधिकं विरहसहनसामर्थ्यमित्यमेवानुनयावसर इति दूस्याभिव्यज्यते । ‘कण्णजुआ’ इति पाठे कण्णकृजुका कण्णदुर्बल्यर्थः । यथानया श्रुतं तथैवानया विश्वस्तमिति स्वभावतः सारल्यमस्या इति भावः । ‘कन्या कृजुका’ इत्यर्थः” इति तु केषांचिदाश्रह एव । ‘अन्यासकं नायकमनुकूलयितुं दूती नायिकाया विरहवैधुर्यमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

मन्दादरतया कृतापराधमथ सङ्घावशून्येन दाक्षिण्येनानुनयन्तं शठनायकं नायिकाह—

अवराहेहिं वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिं दुम्मेसि ।  
अवहत्थिअसब्भावेहिं सुहअ दक्खिण्यभणिएहिं ॥ ५३ ॥

[ अपराधैरपि न तथा प्रतीहि यथा मामेभिदुनोषि ।

अपहस्तितसङ्घावैः सुभग दाक्षिण्यभणितैः ॥ ]

अपराधैरपि न तथा प्रतीहि मामेभिरभिदुनोषि यथा ।

अपहस्तितसङ्घावैः सुभग सुदाक्षिण्यभणितैस्ते ॥ ५३ ॥

( वारं वारं विहैर्तैर्बहुसंख्यकैः ) एभिरपराधैरपि मां तथा न दुनोषि, यथा अपहस्तितसङ्घावैः अपहस्तितो हस्ताभ्यामपसारितः सङ्घावः न्नेहो यैः, एतादृशैस्ते तव समधिकदाक्षिण्यभाषितैस्त्वं मां दुनोषि, इति त्वं प्रतीहि विश्वसिहि । आन्तरिकस्तेहशून्येन तवानेन कृत्रिमदाक्षिण्येनापराधतोप्यधिकं मे दुःखं जायत इति भावः । मत्कृत-च्छायायां दाक्षिण्यस्य ‘सु’ इति विशेषणेन ‘अपराधं कृत्वापि कृत्रिमदाक्षिण्येन मां प्रसादयितुमिल्पसि, अहो सुषु ते दाक्षिण्यम्!’ इत्याक्षेपोभिव्यज्यते । सुभगेति संबोधनेन एवमुपेक्षणेपि अहं त्वयि कियदुरुक्ता, त्वं तु तथापि व्यलीकान्न विरमसील्यहो ते सौभाग्यमित्युपालम्भगर्भं प्रणयावेदनमभिव्यज्यते ।

मनसि शिथिलीभूतमानापि उपरितः कोपमौनेन मानमभिनयन्ती काचिन्मानिनी अनुनयार्थं नायकेन समालिङ्गिता । कोपस्य प्रशमेन, उत्कण्ठायाश्रोदयेन परिरम्भसमये अनुरागवशात्वत एव तस्या भुजभ्रमणविभ्रमोऽभवत् । अत एव ‘भावं प्रकटयज्ञामा-भ्यामहं विलक्षीकृतास्मि’ इति बाहुलतिकयोरुपरि सबाध्यमभिकुध्यन्तीं नायिकां सप्तण्य-दक्षिण्यं नायक आह—

**मा जूर पिआलिङ्गणसरहसभमिरीण बाहुलइआणम् ।  
तुल्निकपरुण्णेण अ इमिणा माणंसिणि मुहेण ॥ ५४ ॥**

[ मा कुध्यस्य प्रियालिङ्गनसरभसभ्रमणशीलाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम् ।  
तूष्णीकपरुदितेन चानेन मनस्विनि मुखेन ॥

**दथितालिङ्गनरभसभ्रमिताभ्यां कुप्य भुजलताभ्यां मा ।  
पतेन ननु मनस्विनि मुखेन तूष्णीकरुदितेन ॥ ५४ ॥**

हेतु मनस्विनि मानिनि तूष्णीकं यथा स्यात्तथा रुदितेन सबाध्येण अनेन मुखेन [ उप-लक्षिता ] त्वम् । दथितस्य अभीष्टस्य आलिङ्गने सरभसं भ्रमः कम्पाद्युद्गमः संजातो ययोः ईहशीभ्यां भुजलताभ्यां मा कुप्य मा कोपं कार्षीः । भुजलताभ्यामिति ‘कुधुक्षेष्वां-सूयार्थानां यं प्रति कोपः’ इति चतुर्थी । प्राकृतधातुघटितस्य ‘जूर’ इत्यस्य विभ्रमेण मृदुकोधप्रदर्शनमर्थः, यस्याविकलं हिन्दीभाषा ‘विजना’ । स्पृशेण सुखं प्राप्तमिति कारणात् मां प्रियमनुकूलं भावयज्ञां भुजाभ्यां विभ्रमभ्रमणं स्वीकृतमिति विवशयोर्नानयो-भुजलतिकयोर्देषः, किं तु परिरम्भणापराधी अयं ते जनो दोषीति भुजयोरुपरि मा क्रोधं कार्षीरिति भावः । दोषोदोषेषुरूपकारणस्याभावेषि कोपोदयात्प्रथमा विभावना । ‘विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्’ इति तत्त्वाणेषि पीयूषवर्षः । आलिङ्गनापराधं कृतवत्यपि वल्लभे कारणसत्त्वायामपि कोपस्यानुदयाद्विशेषोक्तिः । ‘कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे’ इति तत्त्वाणेषि । प्रशान्तकोपा त्वमिति कम्पविभ्रमेण परिज्ञातवानहं ततश्च माधुना सुधा मानं कार्षीरित्याशयः । त्वं यदि कोपवशान्मां प्रियं न गणयसि तर्हि तथा कुर्वत्वौ भुजलते अपि किं निवारयसीति नायकस्यानुनयचारुर्यमभिव्यज्यते । पर्यन्ततस्तु कोपस्य शान्तिः, उत्कण्ठायाश्रोदय इति भावसंधिरमिव्यज्यते । ‘प्रियाशय-जिज्ञासया अमन्तौ भुजौ निर्भर्त्स्यन्तीं नायिकां नायक आह’ इति गङ्गाधरावतरणं तु स्पष्टमस्पष्टार्थम् । नायक आत्मनः कृते प्रियपदं कथं व्यवहरेत्? ‘प्रिया’ पदं तु न संबध्येत, निद्राव्याजगतायास्तस्याः ‘प्रिया’ आशयजिज्ञासयेति विरुद्धार्थत्वादिति ।

कुसुमावचयव्याजेन गोदावरीतटनिकटनिकुञ्जे कामप्यमिसरसीति विदितं मया ते रहस्यमिति कंचन विलासिनं सूच्यन्तीं जरत्कृष्टनीं सपरिहासवैद्यम्यग्न्यमाह—

**मा वच पुष्पलाविर देवा उअअञ्जलीहिं तूसन्ति ।**

**गोआअरीअ पुत्तअ सीलम्मूलाइँ कूलाइँ ॥ ५५ ॥**

[ मा ब्रज पुष्पलवनशील देवा उदकाञ्जलिभिस्तुप्यन्ति ।

गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि ॥ ]

मा पुष्पलावक ब्रज तुष्ट्यन्त्युदकाञ्जलिभिरपि देवाः ।

पुत्रक गोदावर्याः शीलोन्मूलानि कूलानि ॥ ५५ ॥

मा ब्रज, गोदावरीकूलसिति यावत् । देवाः केवलेनार्थादानेनापि तुष्ट्यन्ति । गोदावर्याः कूलानि शीलं सच्चरितमुन्मूलयन्ति मूलतः अपनयन्ति एवंभूतानि ( उन्मूलयते: पचाद्यच् ) सन्ति । पुत्रकेति संबोधनेन 'भया बहुकालसेवंविधानि कौतुकानि दृष्टानीत्यात्मनः प्रागलभ्यम्, त्वं मे स्त्रेहपात्रमसीति' सान्त्वनं चाभिव्यज्यते । तथा च-परिज्ञात-रहस्यापि नाहं ते विरोधिनी, प्रत्युत स्त्रेहवशात्सहायैवेति परिहासपूर्वकमभिद्योत्यते । मा ब्रजेति वाच्ये निषेधे चमत्कारविश्रान्तेस्तात्पर्यस्य चाभावात्सूक्ष्म-पिहितादयो व्यङ्ग्य-सम्बन्धरसणीया अलंकारा नात्र, किन्तु 'कामं ब्रज परमहं ते जाने गोदावरीतीरनिष्ठत-विलासरसिक्तव्यम्' इति ध्वनिरेव । उदकाञ्जलिभिस्तुष्ट्यन्तीत्युत्त्या जलार्थमपि गोदावरीगमनसंभवात्, देवानामर्धाङ्गलौ पुष्पाणामावश्यकत्वाच्च गोदावरीगमनवारणे न तात्पर्यम् । ततश्च-देवताचर्चनकुसुमावचयसिषेण यदि त्वं गोदावरीनिकुञ्जभभित्रासि तर्हि कामं ब्रज, परमेवंविधैरेव कौतुकैः शुक्लीकृतकेशोष्वसादरेषु सोयं ते मिष्ठः स्थूल एव । निषुणमभिज्ञातमसामिर्यन्तिमष्पूर्वकं त्वं कांचिदभिसरसि । तत्सुखेन साधय समीहितम् । अहं तेऽनुकूलैव । किन्तु न मया सह कैतवलीला ते सफला समुचिता चेति विलासिनं ग्रन्थभिव्यज्यते ।

तस्यैव विरहे उन्मनायिता त्वमसि, माऽस्त्वा गोपयेति सखी नायिकामाह—

वअणे वअणमिम चलन्तसीससुण्णावहाणहुंकारम् ।

सहि देन्ती णीसासन्तरेषु कीस म्ह दुम्मेसि ॥ ५६ ॥

[ वचने वचने चलच्छीर्षशून्यावधानहुंकारम् ।

सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यसान्दुनोषि ॥ ]

वचने वचने प्रचलच्छीर्ष शून्यावधानहुंकारम् ।

सखि ददती निश्वासान्तरेषु किं तापयस्यसान् ॥ ५६ ॥

हे सखि वचने वचने मम प्रत्येकवचने, निश्वासानाम् अन्तरेषु मध्यावसरेषु, मध्ये मध्ये निश्वासं मुक्त्वेत्यर्थः । प्रचलच्छीर्ष प्रशस्योत्तरप्रदानकाले संमतिं सूचयितुं प्रचलत् शीर्ष यस्मिन्नेवं यथा स्यात्तथा । शून्यावधानहुंकारं प्रियानुध्यानमग्रतया प्रत्यक्षालम्बन-वस्तुनोऽभावात् शून्यं यदवधानं चित्तैकाग्र्यं तन्मध्ये हुंकारं 'शृणोमीति' सूचकं हुमिति शब्दं ददती उच्चारयन्ती त्वमसान् किमिति दुनोषि । एकाग्रचित्ता त्वमन्यदेव किञ्चिद-नुचिन्तयसि, मम वचनोत्तरे तु निरवधानमेव कम्पितशीर्षं हुंकारं ददासि । तथा चान्तरङ्गाया अपि भक्तः प्रियप्रणयं गोपयन्ती त्वं मम मनसि दुःखसुत्पादयसीति भावः ।

मानसिकध्यानमभ्रतायां चक्षुरादीनां किञ्चिदालम्बनं विनैव बद्धावधानता प्रायो भवत्य-  
नुरक्तवियुक्तानामिति । अन्यमनस्कजनस्वभाववर्णनात्समावोक्तिः । अनया च ‘वचनाना-  
मुत्तरस्थाने सनिश्चसितेनानेन ते शून्यावधानहुंकारेण ज्ञातोऽसामिस्तेऽनुरागः । तत्कि-  
मिति मुद्धा तदपहृतेनासान् प्रतापयसि । वयं त्वत्तेहेन लत्समानसंतापाः, तदसालु  
विश्वसिहि’ इति वस्तु व्यञ्यत इत्यलंकारेण वस्तुञ्चनिः ।

कुपितां नायिकां प्रसादयितुं ब्रेषिता काञ्चित्पौढा दूती नायकमाह—

**सब्भावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।**

**णत्थि विअ कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥ ५७ ॥**

[ सद्भावं पुच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियथा ।

नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥ ]

**सद्भावं पुच्छन्ती बालक तव रोदिता प्रियथा ।**

**नास्त्येवेति सशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या हि ॥ ५७ ॥**

सद्भावं तस्यां तव खेहं पुच्छन्ती अहम्, सद्भावो नास्त्येवेति सशपथं सहासं च  
तदुत्तरे भणन्त्या तव प्रियथा रोदितासील्यर्थः । शपथं कृत्वा कथनेन खेहाभावे  
सखता, हास्येन च तद्घोषने ग्रयासोऽभिव्यञ्यते । तथा च—तवापराधैस्तथा सा  
व्यथिता यथा तव निःखेतामेव निविनोति, परं दाक्षिण्येन तां व्यथां कृत्रिमहासेन  
निहोतुं यतत इत्येतादृशं तस्या हृदयदुःखं मौरध्यं च दृष्ट्वा मे बलादश्रूप्यागतानीति  
भावः । तव प्रिययेत्यनेन ‘सा तव प्रियेति त्वं प्रसेधयसि, तथापि तामेवं क्लेशयसि ।  
अहो ते प्रीतिः’ इत्युपालम्भो व्यञ्यते । बालकेत्यामच्छणेन एवमनुगतामपि तां खेद-  
यस्त्वमुचितानभिज्ञ एवेति ध्वन्यते ।

आभीणानामपि संकल्पमात्रादेव सात्त्विकभावाः प्रादुर्भवन्ति किं पुना रसिकानामिति  
निजमार्मिकतां ख्यापयितुं कथन नागरिकताभिमानी सहचरमाह—

**एथ मणि रमिअवं तीअ समं चिन्तिउण हिअएण ।**

**पामरकरसेओल्ला णिवअइ तुवरी वविज्ञन्ती ॥ ५८ ॥**

[ अत्र मया रन्तव्यं तथा समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।

पामरकरस्वेदाद्र्द्वा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥ ]

अत्र मया रन्तव्यं तथा सहेत्याकलय्य हृदयेन ।

कृषककरस्वेदाद्र्द्वा निपतति तुवरी समुप्यमानेयम् ॥ ५८ ॥

अत्र अस्मिन्नाडकीक्षेत्रे तथा सह मया रन्तव्यमिति हृदयेनाकलय्य चिन्तयित्वा  
समुप्यमाना क्षेत्रभूमौ सम्यग्विकीर्थयमाणा इथं तुवरी आडकी [ अरहर इति भाषायां  
प्रसिद्धा ] कृषककरयोः स्वेदेन आद्र्द्वा सती निपततीति योजना । तुवरीक्षेत्रस्य वसन्तेऽपि

निविडहरितत्वेन तत्सुरतसंकेतस्थानं भविता, ततश्च तत्र भावि सुरतसुखमनुस्मृत्य पाम-  
रकरयोः स्वैदरूपसात्त्विकभावोदयो जात इति भावः । ‘अथाढकी । काशी मृत्त्वा तुव-  
रिका मृत्तालकसुराष्ट्रजा’ इत्यमरः । ‘आढकी तु तुवर्या खी परिमाणान्तरे त्रिषु’ इति च  
मेदिनी । ‘संकल्पमात्रात्सात्त्विकभावा भवन्तीति कापि ख्वैदरध्यं ख्यापयितुं सखीमाह’  
इति गङ्गाधरः ।

कार्पासवृन्तावचयाय समागता सेयं मद्यितं प्रत्यनुरक्तेति आमणीक्षुषा निजसखी-  
माह—

**गृहवृहसुओचिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए ।  
मोहं भमइ पुलहओ विलग्गसेअङ्गुली हत्थो ॥ ५९ ॥**

[ गृहपतिसुतावचितेष्वपि कर्पासवृन्तेषु पश्यत वध्वा: ।

मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्गसेदाङ्गुलिः ॥ ]

**गृहपतिसुतोचितेष्वपि पश्यत कार्पासवृन्तेषु ।**

**मोघं भ्रमति पुलकितो लग्गसेदाङ्गुलिः करो वध्वा: ॥ ५९ ॥**

गृहपतेः सुतेन मम पलेति यावत् । एतेन वकन्याः सुषात्वसाधनाच्चववयस्कत्वं  
सूच्यते । उचितेष्वपि अवचितेष्वपि फुलकार्पाससुकेषु वृन्तेषु । पुलकितः विलग्गः  
खेदो यासु ईद्योऽहुलयो यस्मिन्नीहश्च । वध्वा हत्तो मोघं भ्रमति, अवचेयकार्पासा-  
भावेषि वलभप्रेम्णा भ्रमति, इति यूयं पश्यत । खेदोमाञ्छौ भ्रमतीत्यनेन सूचितो वेप-  
शुश्वेति सात्त्विकभावा आमणीसुते नायिकाया रतिमनुभावयन्ति । तथा च—किञ्चित्का-  
लार्थमुपागतापि सेयं मद्यितेऽनुरक्ताभूदिति ख्यपतेः कामनीयत्वम्, परं स च मद्वशी-  
भूत इत्यात्मनः सौभाग्यं च गृहपतिपदस्वारस्यसहकारेण ध्वन्यते ।

आमीणस्य मुग्धतां सूचयन्कश्चन नागरिकताभिमानी सहचरमाह—

**अजं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तू पलाइए हलिए ।**

**दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए ॥ ६० ॥**

[ आर्या मोहनसुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके ।

दरस्फुटिवृन्तभारावनतया हसितमिव कार्पास्या ॥ ]

**आर्या मोहनसुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके ।**

**दरविकचवृन्तभारादवनतया हसितमिव हि कार्पास्या ॥ ६० ॥**

आर्या श्रेष्ठां आमनेनुसुतामिल्यर्थः । मोहनेन सुरतेन सुखितां सुरतसुखनिमीलिता-  
क्षीमिति यावत् । मृतेति भयेन मुक्त्वा पलायिते सति । आर्यमित्युक्त्या आमनेतुः सुता  
कामान्धतश्च उपमुक्ता, दुर्देवान्मृता चेति भयातिशयः सूच्यते । अतएव पलायिते  
इत्युक्ते च तु गते इति । ईषद्विक्षितवृन्तभारद्वारा प्रकटितवेतवर्णहासा लज्या नम-

मुखीव कार्पासी जहारेत्युत्रेक्षा । आर्यामिति छन्दोनामसूचनान्मुद्रालंकारोप्यलभ्यो  
बोद्धव्यः । [ सूच्यार्थसूचन मुद्रा प्रकृतार्थपैः पदैः ] । पर्यन्ते तु 'प्रामीणस्यानभिज्ञता-  
मवलोक्य खीभावात्खीरहस्यवेदिनी जडापि कार्पासी जहास, कि पुनरन्य इति तन्मु-  
ग्वतातिशयप्रकटनेनात्मनो गौरवं दोखते ।

काचिदात्मनो निन्दाव्याजेन प्रियतमं प्रलघुरागातिशयं सौभाग्यं च सूचयन्ती  
सखीमाह—

णीसासुकम्पिअपुलइहिं जाणन्ति णच्चिउं धण्णा ।

अम्हारिसीहिं दिडे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ ॥ ६१ ॥

[ निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जनन्ति नर्तिं धन्याः ।

असादशीमिर्द्धे प्रिये आत्मापि विस्मृतः ॥ ]

नर्तिंतुमिह निःश्वासोत्कम्पपुलकितैर्हि जानते धन्याः ।

अवलोकितेपि दधिते विस्मृत आत्मापि मादशीमिस्तु ॥ ६१ ॥

नर्तनसमये दथितकरस्पृश्वशात् निःश्वासेन उत्कम्पेन पुलकितेन ( पुलकनमेव  
पुलकितं भावे कः ) उपलक्षिता या नर्तिं जानन्ति ता धन्याः । असादशीमिस्तु  
दथितस्यावलोकनेपि सति आत्मापि निजशरीरादिकमपि विस्मृतं कि पुनरन्यदि-  
त्यर्थः । 'अहमधन्या' इत्यात्मानं निन्दन्त्यपि दथितप्रणयसौभाग्यवलहमेवेति खुर्ति  
सूचयतीति व्याजस्तुतिः । पर्यन्ततस्तु 'नर्तनकलामञ्जुला अपि ता न धन्याः' प्रियप्रण-  
यपीयूषपायिन्यहमेव धन्येति व्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः । नर्तनप्रकरणाभावे तु नर्ति-  
द्धुमिल्यत्र 'दथितसमागमे निःश्वासादिमिश्रपलक्षिता या नानाविधान्गात्रविश्रमान्कर्तुं  
जानन्ति ता धन्याः' इत्यर्थान्तरसंक्षितवाच्यो व्यतिरोध्य, नर्तनस्य स्वार्थं बाधेन शारी-  
रिकविश्रमार्थं लाक्षणिकत्वात् । ततस्तु व्यतिरेकालंकारध्वनिना सह पूर्वोक्तव्यनेः संसु-  
ष्टिर्बोद्धव्यत्यर्थं साहित्यगहनपद्धत्या ।

सप्तनीषु त्वं नवयौवनेन उच्चविजयासीति काचित्पौढा सुरथां नायिकामाह—

तणुएण वि तणुइज्जाइ खीएण वि खिज्जाए बला इमिणा ।

मज्जत्थेण वि मज्जेण पुत्ति कहँ तुज्ज्ञ पठिवकखो ॥ ६२ ॥

[ तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते बलादनेन ।

मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि कथं तत्र प्रतिपक्षः ॥ ]

क्षीणेनापि क्षीयत एतेन तनूयतेथ तनुनापि ।

कथमिव ते प्रतिपक्षो मध्यस्थेनापि पुत्रि मध्येन ॥ ६२ ॥

हे पुत्रि ते प्रतिपक्षः सप्तनीजनः क्षीणेन अपचयं ग्रासेनापि मध्यस्थेन वपुर्मध्यभा-  
गस्थितेन ते मध्येन ( करणे तृतीया ) कथं क्षीयते अपचीयते । तनुना दुर्बलेनापि

( मध्येन ) कथं तनूयते दुर्बलायते [ आचारार्थे क्यद् ] । मध्यस्थ उभयोः पक्षमनालम्ब्य मध्यस्थत्वेन उदासीनतया स्थितः सन् यदि क्षयमविगतः कृशोपि भवेत्तर्हि प्रतिपक्षं न पीडयति, प्रबलादेव पीडासंभवात् । किं तु तवायं मध्यस्थत्वादिगुणयुक्तोपि मध्यः सपलीजनं पीडयतीत्यपिशब्दवाच्यो विरोधालङ्कारः । अनेन चालंकारेण ‘श्रोष्याद्यन्नपरिष्कारेणानेन ते नवयौवनेन सपलीजनोऽपचयमाप्य परां पीडामनुभवति, त्वं च सुधर्थतया न जानासि तासां रहस्यम् ।’ इत्यर्थो ध्वन्यते । ‘पुत्रिः’ इति संबोधनेन त्वं मे स्नेहपात्रमसीति निजपक्षपातो नायिकाया मौरध्यं च घोल्यते । ‘इष्टसिद्धये दूती नायिकाया व्याजस्तुतिमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

तत्र वियोगे मम ममवेधिनी पीडा जायत इति निजप्रणयिनं काचित्सवैदरध्यं सानुरागं चाह—

**वाहिव वेजरहिओ धणरहिओ सुअणमज्जवासो व ।**

**रिउरिद्विदंसणम्भिव दूसहणीओ तुह विओओ ॥ ६३ ॥**

[ व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव ।

रिपुक्रद्विदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥ ]

**व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव ।**

**दर्शनमिव रिपुलक्ष्म्या दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥ ६३ ॥**

रिपुलक्ष्म्या वैरिसम्मुद्दर्दर्शनमिव, तत्र वियोगो दुःसहः । स्वनेत्राभ्यां दर्शनस्य श्रवणाद्यपेक्षया समधिकक्षोभकारित्वादर्शनमिवेत्यनेन वैदनातिशयः सूच्यते । वैद्यरहितव्याध्यादेरेकैकस्य मरणान्तिकपीडाकारकत्वादुःसहनीयत्वं सर्वेषां साधारणो धर्मस्तथा च सेयमभिन्नधर्मा भालोपमा । एवं च तत्र वियोगे मम प्राणान्तिकपीडा जायत इत्यात्मनोनुरागातिशयो ध्वन्यते । प्रियं प्रति नायिकायाः संदेशगाथेयमिति केचित् ।

वृद्धवाराङ्गना निजदुहितुः पीनोन्नतपयोधरतामभिधाय विलासिनं राजानं चाद्वक्तिभिरनुकूलं कुर्वत्याह—

**कोत्थ जअम्मि समत्थो थइउं वितिथणणिम्मलुतुङ्गम् ।**

**हिअअं तुज्ज्ञ णराहिव गअणं च पओहरं मोतुम् ॥ ६४ ॥**

[ कोउत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोतुङ्गम् ।

हृदयं तत्र नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥ ]

**कः स्थगयितुं समर्थोऽत्र जगति विस्तीर्णनिर्मलोतुङ्गम् ।**

**हृदयं च तत्र नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥ ६४ ॥**

विस्तीर्ण गमीराशयतया महावकाशम्, निर्मलं कपटादिकाङ्गुधरहितम्, उत्तुङ्गम उच्चाभिलाषितया उन्नतम् इदृशं तत्र हृदयम्, व्यापकं रजोमालिन्यरहितमुच्चतं गगनं च । राजपक्षे पयोधरान् स्तनान्, गगनपक्षे मेघान् मुक्त्वा कः स्थगयितुमधिकर्तुं

समर्थः, न कोपीत्यर्थः । पयोधरानिति बहुत्वेन एकैव रमणी किं बहूथोषि सुन्दर्यो दैव-दत्तराजपदस्य तेऽनायासमेव मुलभा इति प्रोत्साहनं धन्यते । पयोधरान् मुक्त्वा कः समर्थ इत्यनेन ‘महावीरस्य तव विस्तीर्णत्वादिपूर्वोक्तगुणयुक्ते हृदि शौर्यादिद्वारा बलात्म-भावस्थापनं तु दुष्करम्, किं तु शौर्यद्वारा प्राप्त विभवं भोगद्वारा सकलयतस्त्वत् रसिकस्य हृदि नारीविलास एव स्थानं प्राप्तुं शक्त्यादिति तच्छौर्यस्तुतिर्विलासार्थं राजा उत्तेजनं च धन्यते । वर्णस्य हृदयस्य अप्रस्तुतस्य गगनस्य च स्थगनरूपकधर्मान्वयादीपकम् । ‘वदन्ति वर्णयवर्णनां धर्मैक्यं दीपकं त्रुधाः’ । पर्यन्ततस्तु उच्चाभिलाषी भवानन्याः सामान्या वारवधूर्विहाय बहुव्ययलभ्यामपि नवौवनामिमां मत्तनयासेव कामयिष्यते, यतो विस्तीर्णहृदयो रसिकश्च भवानिति वस्तु धन्यते ।

इयं निकुञ्जे दत्तसंकेतेति परिज्ञातमस्या रहस्यमिति निजमार्मिकतां सूचयन्नागरिकः सहचरमाह—

आअण्णैऽ अडअणा कुडङ्गहेडुम्मि दिण्णसंकेआ ।

अग्गपअपेल्लिआणं ममरअां जुण्णपत्ताणम् ॥ ६५ ॥

[ आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसंकेता ।

अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥ ]

आकर्णयते ह्यसती कुञ्जतले दत्तसंकेता ।

अग्रपदपीडितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥ ६५ ॥

अग्रपदेन निजपादाप्रभागेन पीडितानामवमदितानां पुराणपर्णानां मर्मरकं चूर्णनका-लिकं ‘मरमर’ इति शब्दम् । सहजचङ्गमणे पादतलपश्चाद्भागस्य भूमौ पूर्वमवस्थापन-ख्यभावात्सर्वशारीरभरस्य तत्रैव संक्रमणे शुष्कपत्राणामितिशयितचूर्णभावाच्च तथा शब्दो यथा शनैनिहिताद्यभागादर्धमर्दितानां पत्राणामिल्यग्रपदप्रयोगेणातिशयो व्यञ्यते । अथवा कुञ्जतले संकेतकरणात्तत्तलेऽवनमितपूर्वकायं शनैः शनैर्गमनसमये मा कश्चन श्रौषीदिति सतर्कताखाभाव्याच्चकितचकितमप्रदमेव विन्यस्यते, अतएव अग्रपदपीडितानामिति सतर्कतातिशयसूचनार्थमुक्तिः । तथा चैवमतिसतर्कं पदानि विन्यस्यन्त्यपि पत्रचूर्णनशब्दं सभयचकितमाकर्णयन्ती सेयं दत्तसंकेतेति मया ज्ञातमिति निजाभिज्ञता सुहृदं प्रत्येक्यज्यते । “संकेतस्थानगतं जारं कुट्टनी समाधासयितुमाह” इति गङ्गाध-रावतरणम् । ‘त्वत्पदशब्दमाकर्णयन्ती संकेतस्थिता सा वे दयिता तिष्ठति, मा व्याकुली भूः’ इति तद्वाराल्यातात्पर्यम् । अत्र अग्रपदं जारस्य परिगृह्यते । परं स्वयमेव प्रोत्सा-श्यानयन्ती कुट्टनी प्रणयिनमेव प्रति तामसतीति कथं व्यपदिशेदियेव विचार्यम् ।

नायकमुल्कण्ठयन्ती दूती कस्याश्विन्मुखसौरमं वर्णयति—

अहिलेन्ति सुरहिणीससिअपरिमलाबद्मण्डलं भमरा ।

अमुणिअचन्दपरिहवं अपुवकमलं मुहं तिस्सा ॥ ६६ ॥

[ अभिलीयन्ते सुरभिनिःश्चसितपरिमलाबद्धमण्डलं अमराः ।  
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥ ]

सुरभिसुखानिलपरिमलनिबद्धमण्डलमभिद्रवन्त्यलयः ।  
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥ ६६ ॥

अलयो अमराः । न ज्ञातश्चन्द्रपरिभवः चन्द्रसकाशान्मीलनं येन ईश्वरम् अत एवा-  
पूर्वकमलं तस्या मुखम् सुरभियैं सुखानिलस्तस्य परिमलेन विशिष्टसुगन्धेन ( हेतौ  
तृतीया ) निबद्धं मण्डलं मण्डलभ्रमणं यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा अभिद्रवन्ति  
तन्मुखपर्यन्ततो लीयन्त इत्यर्थः । अज्ञातचन्द्रपरिभवमिति व्यतिरेकः । अपूर्वकमल-  
मिति गम्योत्प्रेक्षा रूपकं वा । अलयोभिद्रवन्तील्यनेन बहवः कामुकास्तामनिशमनुबप्र-  
न्तीति कामनीयत्वातिशयो दोख्यते । अज्ञातचन्द्रपरिभवमिति उत्कृष्टादप्युत्कृष्टं  
मुखं न तन्मुखं पराजेतुमलमिति सौन्दर्यातिशयः सूच्यते । ततश्च ‘बहवः कामिनस्ता-  
महर्निशमनुसरन्ति, अत एव सौभाग्यवता भवता सा त्वरितमुपगन्तव्या, न च तस्या:  
समागमे कथितप्रतिबन्धः ( अज्ञातचन्द्रपरिभवमिति )’ इति नायकं प्रति चरमं व्यङ्ग्यम् ।  
अहिलेन्तील्यस्य अभिलषन्तीति च्छायेति कथित् ।

नायिकायाः प्रणयातिशयं सूचयन्ती दूती नायकमाह—

धीरावलम्बिरीअ वि गुरुअणपुरओ तुमभिम बोलीणे ।  
पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हटिओ वाहो ॥ ६७ ॥

[ धैर्यावलम्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।  
पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पक्षमस्थितो वाष्पः ॥ ]

धैर्यालम्बिन्या अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।  
पतितोऽक्षिनिमीलनतो वाष्पः पक्षमस्थितस्तस्याः ॥ ६७ ॥

गुरुजनानां पुरस्तात्, विकारगोपनार्थं धैर्यालम्बनशीलाया अपि तस्याः [ ताच्छील्ये  
णिनिः ] । त्वयि व्यतिक्रान्ते तामतिक्रम्य आगते सति । अक्षिनिमीलनतः विरहजनि-  
तविषयादेन नेत्रनिमीलनात्, तस्याः पक्षमस्थितः एतावत्कालं धैर्येणावरोद्यात्पक्षमस्थेव  
स्थापितो वाष्पः पतितः कपोलयोः ग्रावहत् । प्रयत्नवशाद् गुरुजनानुरोधादवरुद्धेपि  
दुःखावेगस्त्वदेकमात्रालम्बनया तया नायिकं सोऽुमपार्यत, अवशया तया पर्यन्ते गुरु-  
रुरोधोपि न बहु मानितः । एवं किल तस्याः सुदृढोगुराग इति नायकोत्कष्टायै दूल्या-  
भिव्यज्यते । पक्षमसु किञ्चित्कालं बाष्पस्थित्या नेत्रयोर्विशालता व्यज्यते । अत्र  
“गुरुजनलज्जया तया नाज्ञागमनं कृतं बाष्पेण पुनः कृतमेव” इत्यपदलभ्यमपि रम-  
णीयमाह गजाघरः ।

‘मानालभ्वनेपि गाढानुरागवशाज्ञाधिककालं मां व्यथयति सा’ इत्यात्मनः सौभाग्यं  
सूचयन्नागरिकः सहचरमाह—

**भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराइ ।**

**कहअवसुतुवत्तणथणकलसप्पेष्टणसुहेलिम् ॥ ६८ ॥**

[ सरामस्तस्याः शयनपराङ्गुरुत्या विगलन्मानप्रसरायाः ।

कैतवसुसोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥ ]

**विगलन्मानभरायाः शयनपराङ्ग्याः स्मरामोऽस्याः ।**

**कैतवसुसोद्वर्तनकुचकलशापीडसुखकेलिम् ॥ ६८ ॥**

मानवशात् शयने पराङ्ग्याः पार्श्वं परिवर्त्य पराङ्गुरुत्खं सुसायाः । पश्चात् अनुरागोत्क-  
ण्ठया विगलन् शाम्यन् मानभरो यस्यास्तस्याः । विगलदिति वर्तमानार्थकशतुप्रस्तयेन  
तस्मिंश्चैव क्षणे कोपशान्तिरारघ्वेति सूचनेन नाथिकाया नवीनोत्कण्ठोदयो व्यन्यते ।  
अतएव कैतवेन कपटेन यत्सुसोद्वर्तनं पार्श्वपरिवर्तनं कैतवेन सुते शयने यद्, उद्वर्तनं  
पार्श्वपरिवर्तनमिति वार्थः । तत्र कुचकलशाभ्यां य आपीडो निबिडावमर्दस्तसुखकेलि  
स्मरामः । औत्सुखयोदयेन पार्श्वपरिवर्तने कृते पीनोन्तुज्ञयोः कुचयोर्यः खयमेव गाढसं-  
मर्दस्तसुखं नाथापि विस्मराम इत्यर्थः । अनुनयं विनापि मद्रूतगाढानुरागवशात्सा  
विगलितमानाऽभवदित्यात्मनः सौभाग्यं व्यन्यते ।

यैन सह फाल्गुनोत्सवकेलिमन्वभूरस्ति तस्मिंस्तेऽनुराग इति सूचयन्ती सखी  
नाथिकां सपरिहासमाह—

**फाल्गुच्छणणिदोसं केण वि कहमपसाहणं दिण्म् ।**

**थणअलसमुहपलोडन्तसेअधोअं किणो धुअसि ॥ ६९ ॥**

[ फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम् ।

स्तनकलशसुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥ ]

**फाल्गुनमहनिर्दोषं दत्तं केनापि पङ्कमण्डनकम् ।**

**स्तनकलशाननविलुठत्स्वेदविधौतं हि किमिति धावयसि ॥ ६९ ॥**

फाल्गुनमहे फाल्गुनोत्सवे निर्दोषं निन्दनीयतारहितम् । ‘मह उद्धव उत्सवः’ अमरः ।  
केनापि दत्तम् । केनापीत्यनेन न वयं तं परिजानीमो मा लज्जस्वेति नाथिकाया आश्वा-  
सनं व्यन्यते । पङ्कमण्डनकं कर्दमरूपं प्रसाधनम् । कर्दमोपि निसर्गसुन्दरे त्वद्वपुषि भूष-  
णमिव जातमिति नाथिकाया: सौनदर्यं गूढमभिव्यज्यते । स्तनकलशयोर्मुखात् विलुठन्  
विगलन् यः स्वेदस्तेन धौतं क्षालितमपि पुनः किमिति धावयसि क्षालयसि । कर्दमप्रक्षो-  
पसमये प्रक्षेपसरि अनुरागवशात् स्वेदोद्मो वभूवेति लक्षितमसामिः । ततश्च त्वं किमि-  
त्यसत्तो गोपयसि । फाल्गुनोत्सवे न निन्दनीयमिदमिति सख्या व्यन्यते ।

त्वद्वचनादहमगमं तस्या निकटे, परं मामालोक्यापि न सा किञ्चिदुक्तवतीति वदन्तं  
नायकं प्रौढा दूती सुमधुरमाह—

**किं ण भणिओ सि बालअ गामणिधुआइ गुरुअणसमक्षम् ।**  
**अणिमिसमीसीसिवलन्तवअणणअणद्विड्वेहिं ॥ ७० ॥**

[ किं न भणितोऽसि बालक ग्रामणीषुञ्च्या गुरुजनसमक्षम् ।  
अणिमिसमीषदीषद्वलदनयनार्धद्वैः ॥ ]

**ग्रामणिसुतया बालक गुरुजननिकटेषि किं न भणितोसि ।**  
**अणिमिषमीषद्विवलद्वदनसुनयनार्धसंद्वैः ॥ ७० ॥**

ग्रामणिसुतया ग्रामनायकपुञ्च्या ‘इको हस्तोऽङ्गः’ इति हस्तः । अनेन पितृगृहस्थिता-  
यास्तस्याः सुलभत्वं नववयःशालित्वं च दोत्यते । अणिमिषं निमेषशून्यं यथा स्यात्तथा ।  
ईषद्विवलत् किञ्चित्परावर्तमानं वदनं मुखं येषु एवं भूतानि यानि सुन्दराणि नयनार्धदृष्टानि  
कटाक्षवीक्षितानि तैः ( करणे तृतीया ) । गुरुजनसविधेषि किं न भणितोऽसि, एतादृश-  
मावश्यकं किमस्ति यज्ञ भणितोसि, अपि तु सर्वं भणितोसीख्यर्थः । नयनार्धसंद्वैर्भणितो-  
सीख्यत्र वाच्यार्थतिरस्कारेण लक्षणा । तथा च तया गूढं सूचितोसीति व्यङ्ग्योर्थः । पर्यन्ते  
तु ‘गुरुजनसंनिधानेषि सा इङ्गितैः सर्वमात्मगतं प्रकाशयामास, त्वं तु न तत्तात्पर्यमज्ञा-  
सीरिख्यहो ते मौणध्यम्’ इति बालकेतिसंबोधनसहकारेणाभिव्यजयते । ‘ईषद्विवलितवदनं  
च नयनार्धदृष्टानि चेति कर्मधारयः’ इति गङ्गाधरटीका । ‘धूआए’ इत्यस्य ‘मुषायाः’ इति  
च्छायां केविद्वदन्ति, तेषां मते गुरुजनसमक्षमित्यस्य श्वशुरादिनिकटे इत्यर्थः स्यात् ।

एतमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह—

**णअणबमन्तरघोलन्तवाहभरमन्थराइ दिड्हीए ।**

**पुणरुत्तपेछिरीए बालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥**

[ नयनाभ्यन्तरघूर्णमानबाधपभरमन्थरया दृष्ट्या ।

पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यज्ञ भणितोऽसि ॥ ]

**नयनाभ्यन्तरविसरद्वाष्पभरोद्वन्धमन्दया दृष्ट्या ।**

**पुनरुक्तप्रेक्षितया बालक किं यज्ञ भणितोसि ॥ ७१ ॥**

• तवावलोकनजातेन हृषेण नयनाभ्यन्तरे विसरन् घूर्णमानो यो बाष्पभरस्तस्योद्वन्धेन  
आपूरणेन मन्दया मन्थरया दृष्ट्या । पुनरुक्तं प्रेक्षितं यस्याः, वारं वारं विलोकनशालि-  
न्येति यावत् । इदृश्या तया । उत्कण्ठावशात् मुहुर्विलोकनशालिन्या तया त्वदर्शन-  
जातहृषेण सबाष्पमन्थरया दृष्ट्या सर्वमात्मगतं भणितोसीति भावः । व्यङ्ग्यार्थसु पूर्व-  
वत् । अशुरुपेणानुभावेन रतेः प्रतीतिरत्रेति सरखतीक्ष्णभरणम् ।

घनतरुणवयसि रसाकुलया कयाचित्सुरतसमये गणपतिमूर्तिरुपधानीकृता । यौवना-  
वेगशान्तौ तामेव पूजयन्ती सा जरामुपालभते—

जो सीसम्भि विइणो मञ्ज्ञ जुआणेहि॒ गणवई॑ आसी ।  
तं चिअ एळि॒ पणमामि॒ हअजरे॒ होहि॒ संतुद्वा॑ ॥ ७२ ॥

[ यः शीर्षे वितीर्णे॒ मम युवभिर्गणपतिरासीत् ।

तमेवेदार्णे॒ प्रणमामि॒ हतजरे॒ भव संतुष्टा॑ ॥ ]

शिरसि॒ वितीर्णे॒ युवभिर्गणपतिरिह॒ मम पुरा॒ योऽभूत् ।

प्रणमामि॒ बत॒ तमधुना॒ तुष्टा॒ भव॒ हतजरे॒ कामम् ॥ ७२ ॥

एकं तद्विनामार्याद्यत्र निर्भर्यौवनाया॒ मम तावनावेगोऽभवत्, सर्वमेतद्यत् तिरोहि-  
तम् । हतायास्तवैव तदिदं कर्तव्यमिति जरां ग्रति सासूय उपालम्भः ।

पामरेणापि दुःसहं विरहद्वःखमिति कवित्साकृतमुपालभमाना॒ नायिकासखी॒ निर्दर्श-  
नविधया॒ आह—

अन्तोहुत्तं॒ डज्जइ॒ जाआसुणो॒ घरे॒ हलिअउत्तो॒ ।

उत्खाअणिहाणाहै॑ व रमिअट्टाणाहै॑ पेच्छन्तो॑ ॥ ७३ ॥

[ अन्तरभिमुखं॒ दद्यते॒ जायाशून्ये॒ गृहे॒ हालिकपुत्रः॑ ।

उत्खातनिधानानीव॒ रमितस्थानानि॒ पश्यन् ॥ ]

जायाशून्ये॒ भवने॒ हालिकतनयो॒ विद्द्यातेऽन्तरतः॑ ।

पश्यन्॒ रमितस्थानान्युत्खातनिधानकानीव॑ ॥ ७३ ॥

रमितस्थ जायया॒ सह॒ रमणस्य॒ स्थलानि॒, उत्खातं॒ भूमिसुखाय॒ गृहीतं॒ निधानं॒ निधि-  
द्वयं॒ येभ्यस्तानि॒, निधिशून्यानि॒ स्थानानीवेत्यर्थः॑ । पश्यन्॒ सन्॒ अन्तरतः॒॑ हृदयाभ्य-  
न्तरे॒ दद्यते॒ । निधानकानीवेत्यत्र उत्खातनिधानतया॒ शून्यानि॒ तानि॒ स्थानानि॒ निन्दायो-  
ग्यानीति॒ तेषां॒ निन्दायोतकः॒ कप्रत्ययः॑ । निधिलाभ॒ इव॒ प्रेयस्याः॒ समागमः॑, तया॒ विर-  
हितः॑ पामरेणि॑ अन्तः॒ पुष्टपाकं॒ दद्यते॒ किं॒ पुनः॒ सहृदयः॑ । त्वं॒ च॒ पुनरात्मानं॒ रसिक-  
चूडामणि॑ मन्यसे॑ । ततश्च॒ मतिप्रयसखी॒ विरहमुपेक्षकमाणस्य॒ किं॒ ते॒ वक्तव्यमिति॒ नायकं॒  
प्रत्युपालम्भो॒ ध्वन्यते॑ । गङ्गाधरस्तु॒ “मृतचौरिकामहिलां॒ शोचन्तं॒ कमप्यन्यापदेशोनाह॑”॒  
इत्यवतरणमुक्त्वा॒ ‘विज्ञोपि॒ त्वं॒ मृतचौरिकामहिलां॒ प्रतिशोचसीलयुक्तमिति॑’॒ भावमाह॑ ।  
विरहद्वःसहत्साधनेन॒ प्रणयसर्वस्वाविष्कर्वत्या॒ अस्या॒ गाथायाः॑ ‘मृतायाः॒ शोको॒ न  
कर्तव्यः॑’॒ इति॒ तात्पर्यकल्पने॒ कियत्खारस्यमिति॒ सहृदैर्विभाव्यम् ।

मानमझीकृत्या॒ दयितानुनयमुखमनुभवेति॒ सख्योपदिश्यमाना॒ काचित्तिजहृदयदशा-  
माह—

णिदाभज्जो॒ आवण्डुरत्तणं॒ दीहरा॒ अ॒ णीसासा॑ ।

जाअन्ति॒ जस्स विरहे॒ तेण॒ समं॒ कीरिसो॒ माणो॑ ॥ ७४ ॥

[ निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासाः ।

जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥ ]

आपाण्डुरता निद्राभङ्गो दीर्घाश्च निःश्वासाः ।

जायन्ते यद्विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥ ७४ ॥

यद्विरहे यस्य विरहे । विरहकार्येन आ-ईषत् पाण्डुरता, अधिकाया रोगरूपता-द्रस्त्रातिकृत्यम् । नाहं तस्य विरहं मनागपि सोऽुं क्षमेत्यात्मनोऽनुरागातिशयो वोत्यते । कथं कुपितासीति नायकेन पृष्ठाया धीरानाथिकाया उक्तिरियमिति केचित् ।

प्रियव्यलीकैः सुभृशसुपतसा काचन तं प्रति सप्रणयकोपोपालम्भमाह—

तेण ण मरामि मण्णौहि॑ पूरिआ अञ्ज जेण रे सुहअ ।

तोग्गअमणा मरन्ती मा तुज्ज्ञा पुणो वि लग्निस्सम् ॥ ७५ ॥

[ तेन न छिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग ।

त्वद्वत्मना छियमाणा मा तव पुनरपि लग्निष्यामि ॥ ]

विसृजामि तेन नासून् मन्युभिरभिपूरिता सुभग येन ।

छियमाणा मा पुनरपि लप्स्य त्वां त्वद्वत्सान्ता ॥ ७५ ॥

मन्युभिर्हृदयोपतापजातैः क्रीघैः पूरिता 'मन्युदैन्ये क्रतौ कुधि' इत्यमरः । बहुवचनेन 'भवता वारंवारमेव विप्रियमार्चर्यते येन मे मुहुः क्रीधः' इति वोत्यते । असून् प्राणान् । त्वद्वत्मनाः सती छियमाणा जन्मान्तरेपि पूर्वसंस्कारवशात्वामेव विप्रिय-कारिणं पतिं येन लभेत्र, तेन प्राणात्र त्यजामीत्यर्थः । तव दुश्चेष्टैर्भृशसुपतप्य दुःखान्वियमाणाप्यहं मरणसमयेपि भवदत्तुध्यानं न त्युङुं क्षमेत्यतावान्मेऽनुरागः । त्वं तु तथापि विप्रियकरणात्र विरमसि । अहो ते सुभगतागर्वे इति सुभगसंबोधनो-जृम्भित उपालम्भः प्रणयश्चामिव्यज्यते । लग्निष्यामीति प्राकृतशैलीसुभगमपि संस्कृ-तवन्ये न सुन्दरमिति 'लप्स्ये' इति परिवर्तितम् ।

प्रियापराधैः कुपिता काचिद्विदरघचयेन्वितं सुमधुरसुपालभते—

अवरज्ज्ञसु वीसद्दं सर्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे ।

गुणणिभरमिमि हिअए पचिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥

[ अपराध्यस्त्र विस्त्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम् ।

गुणनिर्भरे हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥ ]

विषहामहे सुभग ते सर्वम्, विश्रब्धमपराध्य ।

गुणनिर्भरे हि हृदये प्रतीहि दोषा न मान्त्येव ॥ ७६ ॥

सर्वं भवत्कृतमपराधजातं वर्य विषहामहे । विश्रब्धं विश्वासेन सहितं यथा स्यात्था अपराध्य अपराधान्कुर । त्वदीर्घर्गुणैर्निर्भरे पूर्णे मम हृदये दोषा मान्त्येव न, अव-काळमेव न लभन्ते हृति प्रतीहि विश्वसिहि । अहं त्वद्वत्चित्ततया बलात्सर्वं विप्रियं

सहे । अत एव लब्धसाहस्रस्वमपराधान् कर्तुं पारयसि । एवंगुणानुरक्तायां मयि नोचितं ते व्यलीकरणमित्युपालम्भो ध्वन्यते । दोषा न मान्त्येवेत्यनेन दोषाः प्रतिपदं ते जायन्ते, किन्तु त्वद्गुणानुरक्तहृदयथा मया न ते गृह्णन्ते इत्याकोशो व्यज्यते । विष-हामहे इति बहुत्वोक्त्या केवलमस्माभिरेव न अन्याभिरपि त्वयि कृतानुरागाभिर्भवद्य-राधाः सोढव्या भवन्तीति सूच्यते, आत्मगौरवं वा ध्वन्यते । मुहुर्मुहुरपराधेषु सत्स्वपि त्वद्गुणवशीकृताया न मे परिजानासि धैर्यमहो ते भुभगतादर्प इति भुभगपदसहकृतं वस्तु ध्वन्यते । अस्यां गाथायामपराध्यस्वेत्यात्मनेषदं गङ्गाधरकृतच्छायायां व्याकरण-विरुद्धत्वाद्विच्छायमेव ।

नायकसमीपगामिनं पान्थं प्रति नायिकाया विरहवेदनां प्रतिपादयन्ती सखी संदि-शति—

**भरितुच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए ।**

**परिवाहो विअ दुक्खसस्व वहइ णअणडिओ वाहो ॥ ७७ ॥**

[ भृतोच्चरत्प्रसूतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः ।

परीवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो बाष्पः ॥ ]

**भरितोच्चरत्प्रियसूतप्रियसंस्मरणाभिसूचको बाष्पः ।**

**नयनस्थितो वराक्या दुःखपरीवाह इव वहति ॥ ७७ ॥**

भरितः पूर्णः अतएव नयनमुक्तम्य निर्गच्छन्, प्रविसृतः प्रवृद्धः । तथा प्रियसंस्म-रणस्याभिसूचको वराक्या दीनायास्तस्या नयनस्थितो बाष्पो दुःखस्य प्रवाह इव वहति । दुःखप्रवाहोपि पूर्णत्वे सति आधारदेशमुल्लङ्घ्य गच्छन् प्रियसंस्मरणसूचको भवतीति द्वयो-रपि तदिदं विशेषणम् । नायमशुप्रवाहः किन्तु प्रवृद्धत्वाद्विर्निर्गच्छन्त्रियविरहजन्मा दुःखप्रवाहोयमिल्यपहुतिर्ध्वन्यते । पर्यन्ततस्तु ‘विरहवेदनया परिपूर्ण दुःखितामत एव द्वयनीयामिमां त्वरितं संभावयस्तु’ इति नायकं प्रति ध्वन्यते । ‘नायिकाया विरहार्ति अतिपादयन्ती दूती नायकं त्वरयितुमाह’ इति गङ्गाधरवतरणम् । अत्र प्रियमेवाभि-मुखीकृत्य कथनेपि पुनः ‘प्रियसंस्मरण’ इत्युक्ते खारस्यामिति मन्मतिः ।

नायिकायाः प्रणयातिशयं द्योतयन्ती दूती नायकमाह—

**जं जं करेसि जं जं जपसि जह तुम णिअच्छेसि ।**

**तं तमणुसिविसरीए दीहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥**

[ यद्यत्करोपि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे ।

तत्तदनुशिक्षणशीलाया दीर्घों दिवसो न संपदते ॥ ]

**यद्यत्करोपि यद्यज्जल्पसि यद्यन्निरीक्षसे त्वं हि ।**

**दीर्घों दिवसोपि भवति, न तत्तदनुशिक्षमाणायाः ॥ ७८ ॥**

अनुशिक्षमाणायाः तत्त्पूर्वोक्तं करणादिकमनुशिक्षमाणायाः, अनुकरणं कृत्वा शिक्षमाणायाः । त्वदाचरणस्य त्वद्भाषणस्य त्वद्विलोकनस्य चानुकरणेन विरहवेदनां विनोदयन्त्यास्तस्या दिवसोपि लघुर्भवतीत्यर्थः । अपिपदेन संपूर्णे दिवसोपि दीर्घो न प्रतीयते इति सूच्यते । तथाच—त्वन्मयत्वात्त्वद्विरहे त्वद्भावनयैव सा समस्तं दिवसं यापयति, न देहकार्यमपि करोति, एवं किल तस्यास्त्वयनुराग इति नायकं प्रति द्योत्यते । जल्प-जादेरनुकरणे—तत्र कृति—भाषणादिकं तस्या हृषि तथा मधुरं प्रतीयते यथा सा स्वयमपि तदनुकरणे विवशा भवतीति गुणमुखधत्वसूचनेन नायकप्रोत्साहनं ध्वन्यते । जं जं करेसीत्यादिवाक्यद्वये वीप्सायामपि, तृतीये ‘जह तुम’ इत्युपलब्धपाठे तद्भज्जः, परं मच्छायायां तत्रापि वीप्सानिर्वाह इति द्रष्टव्यम् । ‘जह तुम’ इत्यत्र यथा येन प्रकारेण त्वं पश्यसीति प्रकारनिर्देशाच्च वीप्साया आवश्यकतेति सिद्धस्य समाधानम् ।

रात्रौ निवासार्थं स्थानं शयनीयं च याचते पथिकाय कथाचित्साक्रोशं तुणान्येव दत्तानि । अनन्तरं तु तद्रूपलावण्यमुरधा सा तेन संसक्ताभूत् । अत एव तद्गुणमुखधत्या प्रभाते विरहकातरायास्तस्या अवस्थां स्वमार्मिकताप्रदर्शनाय नागरिकः सहचरमाह—

भण्डन्तीअ तणाइ सोतुं दिणाइ जाइ पहिअस्स  
ताइ चेअ पहाए अज्ञा आअइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥

[ भर्त्सयन्त्या तुणानि स्वसुं दत्तानि यानि पथिकस्य ।  
तान्येव प्रभाते आर्या आकर्षति रुदती ॥ ]

शयितुं हि भर्त्सयन्त्या तुणानि दत्तानि यानि पथिकस्य ।  
तान्येव हन्त रुदती वरतनुराकर्षति प्रातः ॥ ७९ ॥

भर्त्सयन्त्या नात्र स्थानमिति कलहं कुर्वाणया । शयितुं शयनार्थम् । वरतनुरार्या । तद्रुतवित्ततया तान्येव तुणानि रुदती सती आकर्षति । पूर्वं यानि तुणान्यवहेलया शयनार्थं दत्तानि, तान्येव पथिकगुणस्मरणाङ्गदल्या पथिकाङ्गसङ्गभावनया सगौरवमवचितानीत्यर्थः । पथिकासक्तहृदयतया तद्विरहे सा भृशमुक्तसाभूदिति स्वस्य प्रणयपरिज्ञानपाठवं सुहृदं प्रति सूच्यते वक्त्रा ।

गृहजनभयेन मनोभिलभितामपि नायिकां नोपसरन्तं नायकं सत्पुरुषस्वभाववर्णनच्छ्लेन दूती बोधयति—

वसणम्मि अणुविग्गा विहवम्मि अगच्चिआ भए धीरा ।  
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥

[ व्यसनेऽनुद्विशा विभवेऽगच्चिता भये धीरा ।

भवन्यभिन्नस्वभावाः समेषु विषमेषु सत्पुरुषाः ॥ ]

व्यसनेऽनुद्विशाः किल भयेषि धीरा अगच्चिता विभवे ।

अविषमशीलाः सन्ति हि समेषु विषमेषु सत्पुरुषाः ॥ ८० ॥

व्यसने दुःखे उद्गेगरहिताः । भये उपस्थितेषि अविचलनिताः । समेषु आत्मनोऽ-  
नुकूलेषु, विषमेषु आत्मनः प्रतिकूलेषु उभयविधेष्वपि स्थलेषु सत्पुरुषाः अविषमशीला  
अभिज्ञस्वभावा भवन्ति, स्वभाववैषम्यं न दर्शयन्तीत्यर्थः । भयं परिहाय धैर्येण कार्यं  
कर्तव्यमिति दूस्या नायकप्रोत्साहनमभिव्यज्यते । ‘कोषि सहचररस्य गाम्भीर्यशिक्षार्थं  
सत्पुरुषप्रशंसामाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

आतः प्रियतमास्मरणोत्कण्ठया गीतं पथिकजनगीतमाकर्णं समुद्दीपितविरहृतवहा-  
काचित्प्रोक्षितपतिका सखीमाह—

अज्ञ सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लुं भरन्तेण ।

अम्हं मअणसराहअहिअअवणफोटनं गीतम् ॥ ८१ ॥

[ अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता ।

अस्माकं मदनशराहतहृदयब्रणस्फोटनं गीतम् ॥ ]

अद्य सखि केन कल्ये कामपि मन्ये स्ववल्लभां स्मरता ।

अस्माकं स्मरविशिखाहतहृदयब्रणविघटनं गीतम् ॥ ८१ ॥

कल्ये प्रातः । ‘प्रत्यूषोद्दर्शुर्वं कल्यं’ इत्यमरः । खां वल्लभां स्मरता, रात्रौ मार्गगम-  
नश्मेण कथंचिदायाता निद्रा । अत एव अतिप्रत्यूषे निद्राभज्ञोत्तरं पुनः प्रियास्मरणम-  
नुवृत्तमिति विरहातिशयो व्यञ्यते । केन केनचित् । स्मरविशिखैराहतं यद् हृदयं तस्य  
ब्रणानां विघटनं स्फोटनं यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा गीतम् । कामवाणैविद्यस्य  
विरहिहृदयस्य पीडा प्रातःकाले कथंचित्स्वयवेदना जातापि, करुणकरणेन पथिकगीतेन  
स्फुटितब्रणवदधिकदुःस्थाभूदित्यर्थः । तद्वदयस्य चित्तात्सुक्यादिकं भावनया आत्मसं-  
बन्धि समभवदत एव प्रियतमविरहानलः समुद्दीप्यतेति भूतं प्रियचिन्तया नायिका-  
गतस्यानुरागस्यातिशयः प्रतीयते ।

भाविनः सपलीर्धादुःखस्य भावनामात्रमपि सपलीजनं पीडयतीति काचित्प्रौढा  
खवयस्यामाह—

उद्भन्तमहारम्भे थणए दद्वृण मुद्ववहुआए ।

ओसण्णकवोलाए णीसिअं पठमधरिणीए ॥ ८२ ॥

[ उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दद्वा मुग्धवव्धाः ।

अवसन्नकपोलया लिःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥ ]

आलोक्य मुग्धवव्धाः स्तनौ समुदयन्महारम्भौ ।

दीर्घं प्रथमगृहिण्या हावसन्नकपोलया श्वसितम् ॥ ८२ ॥

समुदयन् उत्तिष्ठन् महान् आरम्भः प्रारम्भदाया यथोस्तौ । अवसन्नौ शुष्कौ कपोलौ  
यस्यात्मया । आरम्भदशायामेव स्तनयोरियान् परिणाहस्तार्हि पूर्णयौवने परस्पराशिष्टपी-

नपयोधराया अस्याः सौन्दर्यं कीदृग्भावीति भावनीयमेवेति भावः । मुख्यवच्चा इत्यनेन ‘साम्प्रतमस्या मुख्यता, पूर्णैयौवनोपलङ्घौ प्रवर्धमानसौन्दर्यमिमामालक्ष्य पतितः कुञ्जायां मयि चिथिलानुरागो भविष्यति वलभः’ इति चिन्ताख्यसंचारभावेन दीर्घनिःश्वासरूपानुभावेन च ब्रथमपक्षीगतस्य नायकालम्बनस्यानुरागस्य परिपोषो भवतीति सहृदयैराख्यादनीयम् । गृहिणीपदेन—गृहब्रवन्धमात्रे तस्या अधिकारः स्याद्विषयस्य विषये तु मुख्याया एव ब्रह्मत्वं भवेदिति चिन्तातिशयो ध्वन्यते । दीर्घ श्वसितमित्यनेन भाविनों तामिमां हृदयवेदनां कस्मै प्रकाशयामीति निगृहो दुःखातिशयो ध्वन्यते । “आयतिखेद-करं तदात्वेषि खेदयतीति निर्दर्शयन्कोपि सहचरमाह” इति गङ्गाधरः ।

चिथिलानुरागं नायकं श्रावयितुं काचित्करिकरेष्वोरनुरागं व्यपदेशोनाह—

गृहअलुहाउलिअस्स वि वल्लहकरिणीमुखं भरन्तस्स ।

सरसो मृणालकवलो गअस्स हत्थे चिआ मिलाणो ॥ ८३ ॥

[ गुरुकक्षुधाकुलितस्यापि वल्लभकरिणीमुखं स्मरतः ।

सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव म्लानः ॥ ]

विकलस्यापि क्षुधया वल्लभकरिणीमुखं स्मरतः ।

सरसो मृणालकवलो गजस्य कर एव संम्लानः ॥ ८३ ॥

क्षुधया विकलस्यापि अत्यन्तं क्षुधातुरस्यापि । वल्लभायाः करिष्या मुखम् । कर एव संम्लान इत्यनेन क्षुधातिशयान्मृणालकवलं परित्यक्तुमपि न शक्नोति, प्रियास्मरणात्तं भोक्तुमपि न पारयतीति जडताख्यसंचारभावोऽभिव्यज्यते । तथा च—मदमत्तत्वेन जगति प्रसिद्धः पशुर्गजोपि निजग्रेयस्यामेवं स्त्रिव्यति, भवान्परमसहृदयोपि मामपहाय अन्यत्रानुरज्यसि, अहो भवतो दाक्षिण्यमिति गृहोपालम्भो ध्वन्यते । क्षुधाकुलसापीत्य-नेन क्षुधया भोजनस्यावश्यकतायां सत्यामपि गजो न तं भुजे, भवांस्तु मत्सत्तया उत्कण्ठापनयेन उत्कटावश्यकताऽभावेऽपि अन्याभिः संगच्छते इत्युपालम्भेऽतिशयः सूच्यते । करिणीमुखमित्यनेन पूर्वं तस्या मुखे कवलं समर्प्य पश्चान्मया भोक्तव्यमिति मत्या रतेरतिशयः प्रतीयते । खभावतः सरसस्यापि मृणालस्य सरसो म्लान इति सरसताविशेषणेन सद्यस्कत्वं जललबलाञ्छितत्वं च लक्ष्यते, ततश्च तथाविधस्यापि म्लनिवर्णनाद्विलम्बो व्यज्यते ।

मानावलम्बनेपि प्रियतमेन सह दाक्षिण्येन वर्तितव्यमित्युपदिशन्ती काचिद्वीराया नायिकायाः प्रियतमेन सह परस्परसंलापं वर्णयति—

पसिआ पिए का कुविआ मुअणु तुमं परअणम्मि को कोवे ।  
को हु परो नाथ तुमं कीस अपुण्णाण मे सत्ती ॥ ८४ ॥

[ प्रसीद प्रिये का कुपिता मुत्तु त्वं परजने कः कोपः ।

कः खल्प परो नाथ त्वं किमित्यपुण्णानां मे शक्तिः ॥ १ ।

दयिते प्रसीद, कुपिता का, सुतनु त्वम्, परेऽस्ति कः कोपः ।  
कोस्ति परो, नाथ त्वम्, किमिति हि, मम दुरितशक्तिरियम् ॥८४॥

परे अपरसिन ल्लेहसंबन्धरहिते इति यावत् । मम दुरितानामपुण्यानामियं शक्ति-  
र्यंत्वं खोपि परः संवृत्त इति भावः । मे अपुण्यानामिल्यनेन, ताः किल पुण्यवत्यो यासु  
त्वमनुरज्यसीति दयितश्चाधा चोपालम्भश्च सूच्यते । तथाच—सपनील्लेहसञ्जतया पर  
इव मयि व्यवहरसीत्युपालम्भेन नाथिकायाः सर्वयः प्रणयकोपोऽभिव्यज्यते । दयिते  
इति संबोधनेन ‘त्वं मे अत्यन्तं प्रेयसी, अत एव त्वत्सादं विना न मे मनस्तोषः’ इति  
प्रियतमेन यथा निजप्रणयातिशयः सूच्यते तथा ‘परः कोऽस्ति ?’ इति प्रश्नस्तोतरे  
‘नाथ त्वम्’ इति संबोधयन्त्या तयापि ‘प्रियपत्न्या मम नियमतः खामी सज्जपि मां  
मुखेन दयिते इति व्यपदिशक्षपि त्वं पर इवाविचारितसुखदुःखपरिणामं व्यवहरसि, यतः  
प्रत्यक्षमेव भत्सपलीषु स्थित्यसि, अहो तेऽलौकिकः प्रणयः ल्लेहसञ्ज्ञवहारञ्चेति गूढोपा-  
लम्भेऽतिशयो ध्वन्यते ।

विप्रलब्धाया विरहवेदनामनुरागातिशयं च सूचयन्ती दूती नायकमाह—

एहिसि तुमं चि णिमिसं व जगिगअं जामिणीअ पठमद्भम् ।  
सेसं संतावपरवसाइ वरिसं व वोलीणम् ॥ ८५ ॥

[ एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्याः प्रथमार्थम् ।  
शेषं संतावपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तम् ॥

निमिषमिव हि जागरितं रात्रेः प्रथमार्थमेष्यसि त्वमिति ।  
संतावपरवशाया वर्षमिव व्यतिगतं शेषम् ॥ ८५ ॥

त्वमेष्यसि इत्युत्साहेन रात्रेः प्रथमार्थ निमिषमिव निमेष इव जागरितम्, तयेति  
शेषः । रात्रेः प्रथमार्थमिल्यन्तसंयोगे द्वितीया । संपूर्णपर्यर्थरात्रे सा सोत्साहं जागरि-  
तवतीति भावः । शेषम् अवशिष्टमर्द्दं संतावायास्तस्या नाथिकाया वर्षमिव व्यतिक्रा-  
न्तम् । शेषोसास्तीत्यर्थं आवद्यु, अन्यथा छाँवतानुपपत्ते । संस्कृते हु पुस्त्वमेव साहु ।  
तब समागमस्य भावनामात्रेणापि कालहरणं न दुःखकरम्, वियोगे हु घटिका अपि  
वर्षायन्त इति नायकानुरागो ध्वन्यते । भावनामात्रेणापि तावान्सुखातिशयस्त्वत्समागमे  
तु किं वाच्यं तस्या इति तदतिशयो द्योत्यते ।

वैचित्येन आम्यन्तीं प्रोषितपतिकां भूतोन्मादभयात्परिहरन्तं जनं प्रति तत्सखी  
सदैन्यमाह—

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्गिआ परिभमम॒ ।

अत्थक्गज्जिउभन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥

[ अवलम्बधं मा शङ्कधं नैयं ग्रहलङ्गिता परिभमति ।

आकस्मिकगर्जितोऽन्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥ ]

अवलम्बध्वं भ्राम्यति नेयं ग्रहलङ्घिता न शङ्खध्वम् ।

आकस्मिकघनरसितोऽद्वान्तत्रस्तान्तरा पथिकजाया ॥ ८६ ॥

भूतादिग्रहैः लङ्घिता आकान्ता इयं न भ्राम्यति । इसामवलम्बध्वम् । अवलम्बन-द्वानेन गमनाचिवारयत । न शङ्खध्वम् उन्मादशङ्कया नोद्रिजत । आकस्मिकं यदू घन-रसितं मेघगर्जितं तेनोद्वान्तं त्रस्तं च अन्तरं मानसं यस्या: सा । सहसा मेघगर्जनदेव तावाञ्चुकण्ठोदयः, प्रावृष्णि निरन्तरं वर्षत्सु वारिदेषु तु न जाने किं भावीति प्रोषितपतिकाया विरहवेदनातिशयो योख्यते । ‘हित्यम्’ त्रस्तम् ।

नायिकाया गुणोत्कर्षं सूचयन्ती सखी बहुवलभाप्रणयिनं नायकं मधुकरव्यपदेशेनाह—

केसररआविच्छ्वङ्गे मकरन्दो होइ जेन्तिओ कमले ।

जह भमर तेन्तिओ अण्णहिंपि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७ ॥

[केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति यावान्कमले ।

यदि अमर तावानन्यत्रापि तदा शोभसे अमन् ॥]

केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति सरसिजे यावान् ।

अन्यत्रापि हि तावानस्तदा अमन् शोभसे अमर ॥ ८७ ॥

सरसिजे, केसररजसां किञ्जलकपरागाणां समूहे । ‘किञ्जलकः केसरोऽस्त्रियाम्’ इत्य-मरः । उभयत्राप्याधारतया सप्तमी । कमलगतकेसररजःसमूहे इति तात्पर्यम् । यावान् यकरन्दो रसो भवति, अन्यत्रापि पुष्पे तावानेव मकरन्दो भवेत्तदा अमन् शोभसे । अमरेतिसंबोधनेन रसिकतया नानापुष्पेषु अमरणं यथा तत्खभावस्तथा तवापि नानाविधलीलम्पटत्वमिलाक्षेपः । तथा च—न तावानन्यमहिलासु गुणोत्कर्षं यावान्मत्स-स्थ्याम्, तथापि त्वमन्यत्र ब्रजसि । अहो ते गुणपरिचयवैमुख्यमित्युपालम्भो ध्वन्यते । ‘स्वस्य गुणोत्कर्षं ख्यापयन्ती काचित्कान्तमाह’ इति गङ्गाधरः । स्वसुखेन स्वगुणवर्णने न दाक्षिण्यमिति मन्मतिः ।

स्वभावसुन्दराणां विकृतिरपि श्रियमेव तनोति न वैरूप्यमिति निर्दर्शयन्कोपि सह-चरमाह—

पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिण्डपण्डुरिअम् ।

धूअं दुद्धसमुद्दुचरन्तलच्छिंचि विअ सअह्ना ॥ ८८ ॥

[प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम् ।

दुहितरं दुर्घसमुद्रोत्तरलक्ष्मीसिव सतृष्णाः ॥]

प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम् ।

तनयां दुर्घसमुद्रोत्तरसुलक्ष्मीसिव सतृष्णाः ॥ ८८ ॥

अनिमिषनवना देवा दुर्घसमुद्रादुत्तरन्तीमत एव पाण्डुरितां लक्ष्मीं यथापश्यन् तथा सतृष्णाः सलालसा: पथिकाः पिष्टेन तण्डुल-गोधूमादिचूर्णेन पाण्डुरितां हालिकस्य

तनयामनिमिषाः सन्तः प्रेक्षन्ते । तथा च—अस्माकं मध्ये कस्य वा भवेण्टाभसौभाग्यमिति यथा तेऽचिन्तयं स्वयं ते ऽपीति पथिकौत्सुक्येन हालिकसुतायाः सौन्दर्यातिशयो व्यन्यते । ‘हलिकसुतामपि सतुर्णं पश्यतामेषां शुहे वासो न देशः’ इति शुहृदं प्रति नागरिकस्यो-क्षिरिति केचित् ।

कलहान्तरितायास्तस्याः शीघ्रमेव मनोवेदनाऽपनेयेति दूती नाथकमाह—

कस्स भरिसि चिभणिए को मे अतिथि चिजम्पमाणाए ।  
उविग्गरोइरीए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८९ ॥

[ कस्स सरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया ।  
उद्विग्गरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तस्या ॥ ]

कं सरसीति निगदिते कः किल मेऽस्तीति जल्पन्त्या ।  
उद्विग्गं च रुदत्या वयमपि वहु रोदिता हि तया ॥ ९० ॥

मम कः लेहानुवृत्तिपरोऽस्तीति जल्पन्त्या । प्रियतमो यदि ममाभविष्यत्तर्हि न मामे-  
वमखेदविष्यदिति भावः । सोद्वेगं रोदनेन प्रियतमप्रणयविच्छेदसरणाहुःखातिशयो  
जात इत्याकृतम् । तस्या रोदनेन अहमपि अरोदमिति भावः । तथा च निरन्तरमप-  
राधैस्तव प्रणयभज्ञानुमानानिरतिशयं खिच्चा सा त्वरितमनुनेयेति नाथकं प्रलयमिष्यज्यते ।

बहुविधेनाप्यनुनयेन मानमत्यजन्तीं नायिकां सखीं सरोषमाह—

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणि ण उडुवेसि भत्तारम् ।  
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९० ॥

[ पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम् ।  
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥ ]

पद्योः पतितमभव्ये नोत्थापयसि प्रियं तु किमिदानीम् ।  
अवसानमेतदेव प्रेम्णो दूरं गतस्यापि ॥ ९० ॥

अभव्ये इति सखीं प्रति सप्रणयरोषं संबोधनम् । दूरं गतस्यापि अतिप्रवृद्धस्यापि  
प्रणयस्य एतदेव पदप्रणामरूपमेव अवसानं चरमसीमा । एवं च, इदानीमपि यद्यु-  
नयं न अहीष्यसि तर्हि प्रियतमस्य द्रेष्या भविष्यसीति सूच्यते । दूरं गतस्यापीत्यपिना  
‘अतिमानं मानं कुर्वती त्वं प्रणयस्य चरमसीमानं परीक्षसे, ततश्च भवदभीष्ठा सेयं प्रेम्णः  
परा काष्ठेवेति’ नायिकायाः प्रेमातिशयकामना सूच्यते । इह भर्तारमितिस्थाने प्रियमि-  
तिपदं तु ‘एवं त्वप्रणयपरिपालनेनायमपि तेऽवश्यं प्रीतिपात्रतामर्हति, ततश्चैतादशं  
प्रियमपि प्रणमन्तं कि नोत्थापयसि’ इति भर्तुपदापेक्षयाधिकमेव स्वारस्यं पुष्णातीति  
सहृदयाः परीक्षेन् ।

आत्मनो विपरीतरतपाटवप्रकटनेन शृणवन्तं कान्तमुत्कण्ठयन्ती काचित्सखीमाह—

तदविणिहिअग्नहत्था वारितरङ्गेहि॒ घोलिरणिअम्बा ।

सालूरी पडिविम्बे पुरिसाअन्तिव पडिहाइ ॥ ११ ॥

[ तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैवृणनशीलनितम्बा ।

शालूरी प्रतिविम्बे पुरुषायमाणेव प्रतिभाति ॥ ]

तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैभ्रमन्नितम्बेयम् ।

शालूरी प्रतिविम्बे विभाति पुरुषायमाणेव ॥ ११ ॥

अभ्यन्नितस्तः प्रचलन्नितम्बो यस्याः सा । शालूरी मण्डकी, ‘मे के मण्डकवर्षा भूशा-  
द्धरहवदर्हुरा’ इत्यमरः । प्रतिविम्बे जलान्तः स्त्रीयप्रतिच्छायाया उपरि, विपरीतरतो-  
नितं पुरुषायितं कुर्वाणेव प्रतिभाति । ‘असिन्बन्धेहमपि नितम्बपरिचालनचतुरास्मि,  
येन भवेते मनस्तोषः’ इति शृणवन्तं कान्तं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘आत्मनो विपरीतरता-  
भिलाषं सूचयन्ती नायिका कान्तमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

कुसुम्भवाटिकाओऽकृतसुरता काचिदात्मनः भुरतचिह्नगोपनार्थमाह—

सिकरिअमणिअमुहवेविआँ धुअहत्थसिज्जिअवाइ ।

सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ १२ ॥

[ सीकृतमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिज्जितव्यानि ।

शिक्षन्तु कुमार्यः कुसुम्भ युध्मत्रसादेन ॥ ]

सीकृतमुखपरिवेपितमणितविधुतहस्तशिज्जितव्यानि ।

शिक्षन्तां कुलबालाः कुसुम्भ युध्मत्रसादेन ॥ १२ ॥

सीत्कृतं सीत्कारः, सुखपरिवेपितं ‘सुरितकादिषु’ त्रुम्बनविशेषेषु अधराद्यपसार-  
णार्थं मुखस्य परिचालनम् । ‘वदने प्रवेशितं चौष्टं मनागपत्रपावग्रहीतुमिच्छन्ती स्पन्द-  
यति खमोष्टं नोत्तरमुत्सहत इति स्फुरितकम्’ इति वात्स्यायनः । मणितं रते कूजित-  
विशेषः । विधुतहस्तं यथा स्यात्तथा शिज्जितव्यं भूषणज्ञाणत्कारः । एतानि सीत्कृतादीनि  
नखक्षताधरखण्डनमुच्छ्वाधातैरपि भवन्ति, कण्ठकवेधेनापि च भवन्ति । एवं च सीत्का-  
रादयो मम कुसुम्भकण्टकक्षताज्ञाताः, न तु सुरतेनेति नायिकाकृतं वृत्तसुरतगोपनं  
स्वन्यते । मूलस्थितस्य ‘बोडही’ शब्दस्य कुमारी तहणी वेति सदेहप्रस्तेव गङ्गाधरादि-  
कृता छाया । कुलबालापदेन तु तदुभयं संगृह्यते । स्वभावतो लज्जाशालिनीनां कुलल-  
ब्जाज्ञानां लज्जाप्रतिद्वन्द्वी सीत्कारादिकं को वा शिक्षयेदतो हे कुसुम्भ भवत एवायं  
अप्तादः । एवं च नाहं सुरतकाले जायमानमेवंविधं वैयात्यं जानामि, कुलजत्वादिति  
खल्ला शारुल्यं सूच्यते । ‘शिक्षन्तु’ इति गङ्गाधरटीकापुस्तकेषुपलभ्यमानः परस्पैपदपा-  
ठस्तु व्याकरणविरुद्ध एव ।

शृण्वन्तं निजमुपपतिं प्रोचयितुं काचितं प्रलज्जुरागातिशयं सूचयन्ती व्यपदेशोनाह—  
जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओसि ।  
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ९३ ॥

[ यावत्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावत्त जातोऽसि ।

येन स्मृश्यते गुरुजनलज्जापस्तोऽपि स सुभगः ॥ ]

यावन्मात्रा रथ्या नितम्ब तावान्कथं न जातोऽसि ।

यत्स्पृश्यते हि गुरुजनलज्जापस्तोऽपि सुभगोसौ ॥ ९३ ॥

यावत्परिमाणं यस्या इति यावन्मात्रा । प्रमाणे मात्रच् । यत् येन, गुरुजननां लज्जावशाद् रथ्यायाः प्रान्तभागेन अपस्तोप्यसौ स्मृश्यते । असान्परिह्याऽपस्त-सापि तव स्पर्शमात्रमपि अस्माभिः सबहुमानमाशास्यते, पश्य ते सौभाग्यमिति सुभग-पदसहकारेण ध्वन्यते । हस्तादिना स्पर्शे सति लोकानां परिज्ञानं स्यात्, जनसंबाधे नितम्बस्पर्शे तु न कस्यचित्संदेहः प्रत्युतानन्दावासिरित्याशयः ।

संकेतनिकेतनीकृते नास्मिस्तृणलतागृहे त्वमागतः इति कंचन कामुकं सूचयन्ती दूती तस्य जनसंचारशून्यतां वर्णयति—

मरगअसूर्विद्वं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ ।

मोरो पाउसआले तणगगलग्गं उअअबिन्दुम् ॥ ९४ ॥

[ मरकतसूचीविद्वसिव मौक्किकं पिवत्यायतग्रीवः ।

मयूरः प्रावृक्काले तृणाग्रलग्गमुदकविन्दुम् ॥ ]

मौक्किकमायतकण्ठो मरकतसूचीनिविद्वसिव पिवति ।

प्रावृक्काले वर्हीं तृणाग्रसंगतमुदकविन्दुम् ॥ ९४ ॥

वर्हीं मयूरः प्रावृद्दकाले मरकतसूचीनिविद्वं हरितवर्णस्य गारुतममणेः सूच्या तञ्ज-शलाकया निविद्वं कृतच्छिद्रतया ग्रोतं मौक्किकसिव स्थितं तृणाग्रसंगतं जलविन्दुम्, आयतकण्ठः सन् पिवति । पानसमये जलविन्दुपर्यन्तं चञ्जुसंचालनार्थं लम्बायमानश्रीवो भवतील्यर्थः । वर्षाकाले जलविन्दुसुन्दरतृणपटलशोभास्वभावस्य, पानकाले भयूरखमा-वस्य च वर्णानात्खभावोक्तिः । वृष्टेरनन्तरं तृणाग्रलग्गो जलविन्दुमेयूरेण पीयत इत्यनेन स्थानस्य जनसंचारशून्यता सूच्यते । [ जनसंचारे सति कम्पनेन तृणाग्रमागे जलविन्दो-रवस्थितिर्न स्यात् ] तेन त्वं संकेतस्थानेसिज्ञागत इति दूत्या ध्वन्यते । मरकतसूच्या मौक्किकवेधवत् दुष्प्रापया तथा नायिकया तव समागमोऽसंभावित एवेति दूती सूच-यतीति कैवित । 'तृणलतागृहं संकेतस्थानमिति जारं श्रावयन्ती काप्याह' इति गङ्गाधरः ।

अभिसारसमये कञ्जुकपरिधानोत्तरं जायमानां नायिकालावध्यशोभां कामुकमनस्तो-घाय दूती वर्णयति—

अज्ञाइ णीलकञ्जुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवड्म् ।

जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्द्रविम्ब व ॥ ९५ ॥

[ आर्थ्या नीलकञ्जुकभृतोवैरितं विभाति स्तनपृष्ठम् ।

जलभृतजलधरान्तरदरोद्रवं चन्द्रविम्बमिव ॥ ]

भाति सुतनुकुचपृष्ठं सुनीलकञ्जुकभृतोवैरितम् ।

जलभृतसलिलधरान्तरदरोद्रवं चन्द्रविम्बमिव ॥ १५ ॥

सुन्दरे नीलकञ्जुके भृतं च उर्वरितं च । नीलकञ्जुलिकामापूर्य महत्त्वादुर्वरितमित्यर्थः ।  
सुतनोः कुचमण्डलम्, जलभृतया सान्द्रशयामस्य सलिलधरस्य मेघस्य अन्तरात् दरो-  
द्रवम् ईषनिर्गतं चन्द्रमण्डलमिव भाति । अनया चन्द्रोपमया, परमाहादजनकगौर-  
मञ्जुलशरीरयष्टिः सा त्वामैवाभिसरिष्यति, पश्य ते भाग्यवैभवमिति वस्तु दूसा  
नायकं प्रलभिद्योलते ।

प्रवासाय कृतोदयम् वल्लभं निवारयितुं काचिद्वसन्तसमयस्य पथिकजनभयहेतुरां  
वर्णयति—

**राअविरुद्धं व कहं पहिओ पहिअस्स साहइ ससङ्कम् ।**

**जत्तो अम्बाण दलं तत्तो दरणिगाअं किं पि ॥ १६ ॥**

[ राजविरुद्धामपि कथां पथिकः पथिकस्य कथयति सशङ्कम् ।

यत आम्राणां दलं तत ईषनिर्गतं किमपि ॥ ]

**पथिकः पथिकस्य कथां राजविरुद्धामिवाह साशङ्कम् ।**

**यत आम्राणां पर्णं तत ईषनिर्गतं किमपि ॥ १६ ॥**

आम्रवृक्षाणां यतो यस्मात् स्थानात् पर्वं निर्गच्छति ततः । ईषतिकञ्चिद्विद्यमानं  
किमपि निर्गतमिति राजविरुद्धां कथामिव सभयशङ्कं पथिकः पथिकस्याह कथयति ।  
अङ्कुर इत्युक्त्वा किमपीति कथनेन नामग्रहणेषि भयोत्पादात्पथिकस्य भयाकुलता  
योलते । राजविरुद्धकथाजल्पने यथा वक्तुर्भवं भवति तथा पथिकस्यापि आम्राङ्कुरक-  
थाकथने भीतिरिति भावः । ईषनिर्गतमिल्लनेन वसन्तविजृम्भणसूचिका यावदाम्राणां  
मञ्जरी समग्रं न निर्गच्छति तावदेव प्रवासः समापनीय इति पथिकं प्रलभिन्यज्यते ।  
तथा च वसन्तसमये प्रवासं गतस्य तवापि सेयं दशा भाविनीति परिहर गमनमिति  
नायकं प्रति नायिकाभिव्यज्यते । अस्यां गाथायां ‘राअविरुद्धं व’ इत्यस्य ‘राजविरु-  
द्धामपि’ इति गङ्गाधरारथत्वाद्विच्छायैव ।

खग्ने श्रियसंदर्शनेन विनोदयन्ति विरहवेदनां वनिताः प्रायश इति विरहविनोदनप्र-  
स्तावे सखीभिरुक्ता काचिदात्मनोऽनुरागं प्रथयन्त्याह—

**धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए बि पेच्छन्ति ।**

**णिह विअ तेण विणा ण एह का पेच्छाए सिविणम् ॥ १७ ॥**

[ धन्यास्ता महिला या दयितं स्वमेऽपि ग्रेक्षन्ते ।

लिङ्गैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वमम् ॥ ]

धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्रेषि वीक्षन्ते ।

तेन विना मम निद्रैव नैति का प्रेक्षते स्वप्रम् ॥ ९७ ॥

नैति नागच्छति । दयितदर्शनं विनैव स्वस्थानां यासां निद्रा आयाति, प्रियप्रणयर-  
हितास्ता न धन्या इति स्तुतिव्याजेन निन्दाप्रदर्शनाद्वाजस्तुतिव्योऽलङ्कारः । तेन च  
ताः अधन्याः प्रियप्रणयशालिनी अहं तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारो धन्यते । पर्यन्ते  
तु तद्विरहिण्या मम स्वप्रेषि तदर्शनं सुदुर्लभमिति प्रियतमरतिपरिपोषाद्विप्रलम्भच्छनि-  
रित्यलम् ।

लावण्यशालिनीमपि सारल्याद्वन्यवेषभूषितां कांचन सुन्दरीमवधीरणदशा पश्यन्ते  
नायकं प्रतिबोधयितुं दूती अन्यापदेशेनाह—

**परिरद्धकणअकुण्डलगण्डत्थलमणहरेसु सवणेसु ।**

**अण्णअसमअवसेण अ पहिरजइ तालवेण्टजुअम् ॥ ९८ ॥**

[ परिरब्धकनककुण्डलगण्डत्थलमनोहरयोः श्रवणयोः ।

अन्यसमयवशेन [च] परिग्रियते तालवृन्तयुगम् ॥ ]

परिरब्धकनककुण्डलगण्डत्थलमञ्जुनोः श्रवसोः ।

अपि समयान्तरवशतो ग्रियते किल तालवृन्तयुगम् ॥ ९८ ॥

परिरब्धे चुम्बिते स्पृष्टे इति यावत् कनककुण्डले येन ईद्धशे गणहस्थले मञ्जुनोः  
शोभाशालिनोः । श्रवसोः कर्णयोरपि समयान्तरवशात् तालवृन्तयुगं तालपत्रकर्णभूष-  
णद्वयं ग्रियते । परिरब्धेलनेन कपोलयोर्निर्बिडः स्यां लक्ष्यते, तेन च उत्तमांसल-  
तथा नायिकाकपोलयोः सौन्दर्यं धन्यते । तथा च—कनककुण्डलमण्डितयोर्निर्सर्ग-  
सुन्दरीकपोलयोर्यथा समयान्तरे तालपत्रतटङ्कधारणेनापि न परिहीयते शोभा, तथैव  
नैवं सरलवेषभूषिता निसर्गसुन्दरी तिरस्कारदशा विलोकनीयेति दूत्याभियोत्पत्ते ।  
अस्यां गाथायां ‘तत्थवि’ इति पाठः, ‘तत्रापि’ इति च्छायाकरणं च केषांचि-  
दविचार एव । तत्रापि श्रवसोरिति विधेयाविमर्शात् [ याभ्यां कनककुण्डले परिरब्धे  
तयोः श्रवसोरिति व्यस्तपाठ एव तत्खारस्यात् ] । ‘पूर्वं समृद्धस्य कालवशेन गलितवि-  
भवस्य कस्यापि मनःसमाधानाय दूत्यन्यापदेशेनाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

प्रियतमासमागमसमुत्कठमानानां प्रवासिनामुत्साहोत्कण्ठावशान्मध्याह्नतापोपि न  
प्रतिबन्धको भवतीति निजसहृदयतां सूचयन्कश्चिन्नागरिकः सहचरमाह—

**मज्जाहपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावम् ।**

**हिअट्टिअजाआमुहमअङ्कोङ्काजलप्पवहो ॥ ९९ ॥**

[ मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति संतापम् ।

हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥ ]

पथिकस्य हरति तापं श्रीष्मे मध्याहनिर्गतस्यापि ।  
हृदयस्थितजायायामुखचन्द्रन्योत्साजलप्रवाहोऽयम् ॥ १९ ॥

अहर्निशं ध्यानवशात् हृदये स्थितो यो जायामुखचन्द्रः, तस्य ज्योत्साजलप्रवाहः ।  
मुघांशुकिरणेभ्यो यदिदं चन्द्रकान्तमणिषु रसप्रस्त्रवर्णं भवति तदभिषेकाद् श्रीष्मे यथा न  
भवति संतापः, प्रत्युत काचिदनिर्वैचनीया निर्वृतिः संपद्यते, तथैव मध्याहे गृहगमनार्थं  
पथि चलतां पथिकानामपि प्रियतमामुखस्मरणादित्याशयः । जायापदेन दम्पत्योः खाभा-  
विकः प्रेमवन्धः परामृश्यते, तेन च नायिकालम्बनाया रतेरतिशयो ध्वन्यते । ‘कथमेता-  
द्वये श्रीष्मे मम प्रिय आगमिष्यतीति चिन्तयन्तीं नायिकां सख्याह’ इति गङ्गाधरः ।

अनवसरे प्रार्थिताया नायिकाया श्रूभङ्गामभिवीक्ष्य विमनायमानं नायकं विनोदयन्ती  
दूती मधुरमाह—

भण कोण रुसइ जणो पत्थिजन्तो अएसकालम्मि ।  
रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्रं सवइ माआ ॥ १०० ॥

[ भण को न रुख्यति जनः प्रार्थयमानोऽदेशकाले ।

रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥ ]

बद को न कुप्यति जनो निवेद्यमानो ह्यदेशकाले तु ।  
रतिसंगता रुदन्तं प्रियमपि शपते सुतं माता ॥ १०० ॥

देशयुक्तः कालो देशकालः न देशकालोऽदेशकालस्तस्मिन्निति मध्यमपदलोपिसमासो  
मूलैकवचनानुरोधात् । अस्थाने असमये चेत्यर्थः । शपते कोपेनाकुश्यति । प्रियमपील्य-  
नेन अनवसरमालोक्यैव तया प्रत्याख्यातोसि न पुनरनुरागभङ्गादिति नायकं प्रति सूच्यते ।

उपर्युक्तं—

एत्थ चउर्थं विरमइ गाहाणँ सअं सहावरमणिञ्जम् ।  
सोऊण जं ण लग्गइ हिअए महुरत्तणेण अमअं पि ॥ १०१ ॥

[ अत्र चतुर्थं विरमति गाथानां शतं स्वभावरमणीयम् ।

श्रुत्वा यज्ञ लगति हृदये मधुरत्वेनामृतमपि ॥ ]

अत्र चतुर्थं विरमति निसर्गरम्यं शतं हि गाथानाम् ।

मधुरत्वेनामृतमपि यच्छ्रुत्वा नो लगति हृदये ॥ १०१ ॥

शतं चतकम् । यच्छ्रुत्वा अमृतमपि मधुरत्वेन हृदये स्थानं न लभत इसर्थः ।

पञ्चमं शतकम् ।

प्रियतमापरावैर्मुदुर्सुहुः खेदिता मानिनी हृदयामच्छ्रव्याजेन प्रियतमसुपालभवे—

डज्जसि डज्जसु कद्गसि कद्गसु अह फुडसि हिअथ ता फुडसु ।

तह वि परिसेसिओ चिअ सोहु मए गलिअसद्भावो ॥ १ ॥

[ दह्यसे दह्यस्व कथ्यसे कथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।

तथापि परिशेषित एव स खलु मया गलितसद्भावः ॥ ]

दह्यस्व दह्यसे चेत्स्फुटसि स्फुट पच्यसेथ पच्यस्व ।

हृदय गलितसद्भावः परिशेषित एव स खलु मया ॥ १ ॥

हे हृदय ! विरहे यदि त्वं दह्यसे अनलज्जालामिवानुभवसि तर्हि दह्यस्व । पच्यसे पुष्टपाकस्येव वेदनामनुभवसि तर्हि पच्यस्व । दाहकाथोत्तरमथ स्फुटसि विदीर्यसे तर्हि स्फुट । दाह-क्वाथ-स्फोटानां क्रमिकत्वमन्वयेन योजनीयम् । दह्यसे इत्यादिषु कर्मणः कर्तृतया यगात्मनेष्ठे । यः खलु तादृशमनिर्वचनीयं क्लेशं साहयामास स किल गलितः सद्भावः ज्ञेहहतको मया परिशेषित एव परिसमापित एव । प्रियतमस्त्रहवशाद् हृदय-दाहमनुभवन्त्या अपि ज्ञेहपरित्यागोक्तेबाधितत्वात्सेहाभावस्याभासरूपतया आक्षेप-लङ्घारः । ‘निषेधाभासमाक्षेपं त्रुधाः केचन मन्वते’ । तथा च त्वद्रुतज्ञेहैनैवाहं हृदय-दाहादिदारुणदुर्घमनुभवामि, अत एव स ज्ञेहो निःशेषयितुमिष्ठेपि मया न तथा पार्थते, त्वं तु तथापि विश्यकरणात् निवर्तसे इति प्रियतमं प्रति सरोषातिशयसुपाल-म्भोभिव्यजयते । ‘प्रणामकाङ्क्षिणी मानिनी नायकानुरक्तं स्वहृदयमाह’ इति गङ्गाधरा-वतरणम् । अत्र परिशेषित इत्यस्य ‘परिच्छङ्गो निर्णीतः’ इत्यर्थंस्तु गङ्गाधराभ्युहितोऽ-क्षरैरनवसेय एव । तन्मते गलितः सद्भावो यस्य, स दयितो मया निर्णीत इत्यर्थः परि-कल्पनीयो भवेत् ।

शृण्वन्तमुपयति प्रति ‘यवक्षेत्रं संकेतस्थानम्’ इति सूचयन्ती काचिदन्येषां तत्र गमने अथप्रदर्शनार्थमाह—

दद्वृण रुन्दतुण्डगणिगगअं पिअमुअस्स दाढगम् ।

भोण्डी विणावि कज्जेण गामणिअडे जवे चरइ ॥ २ ॥

[ दह्या विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंश्याग्रम् ।

सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥ ]

दह्या विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंश्याग्रम् ।

क्रोडी विनापि कार्यं चरति यवान्नामसंनिधानेपि ॥ २ ॥

विशालं यन्तुण्डं मुखं तदग्रे निर्गतम् । क्रोडी सूकरी । ‘क्रोडो भूदार इत्यपि’ इत्य-मरः । कार्यं विनापि आवश्यकतां विनापि । सुतस्य विशालदंश्याग्राद्यभीता न केचिद-

निष्ठं कर्तुं प्रभवेयुरित्याशयेन ग्रामनिकटेपि यवान् भक्षयतीत्यर्थः । कोडी सुतेन सह अग्रमतीत्यनेन द्वयोः सूकरयोर्मेध्ये गमनं सिंहस्यापि भयावहं किं पुनरन्वस्येति सूचना-ल्लोकानां गमननिवारणे तात्पर्यं ध्वन्यते । विनापि कार्यमित्यनेन तृप्तापि सा यवक्षेत्रे आप्यति, अत एव न तस्या आगमने समयनियमो नापि च निवृत्तेः संभावनेति आत्म-नित्यको जनसंचाराभावः सूच्यते । कोडीति ख्रीत्वद्योतकप्रत्ययेन पशुषु मातर्येव प्रेमाधिक्यात् ‘द्वादशपुत्रायास्तस्याः कियन्तो वा सुता मातुः लेहेन तस्या: सहायतायै आगच्छेयुरिति न निश्चयः’ इति भयप्रदर्शनातिशयो व्यज्यते । तथा च ‘ग्रामनिकटवर्त्तन्यपि अवक्षेत्रे न भवद्दिग्नन्तव्यम्’ इति अन्यान्प्रति, ‘जनसंचारश्चन्ये तस्मिन्निर्भयं संगतव्यम्’ इति चोपपतिं प्रति ध्वन्यते ।

सर्वसमर्थे ग्रामनायके तस्मिन्कृतप्रणयायास्तव तदभिसारादिषु न किञ्चिद्भयसिति नायिकां सान्त्वयन्ती दूती अन्यापदेशेनाह—

**हेलाकरगगअद्विअजलरिकं सागरं पआसन्तो ।**

**जअइ अणिगगअवडवगिगभरिअगगणो गणाहिवई ॥ ३ ॥**

[ हेलाकराग्राकृष्णजलरिकं सागरं प्रकाशयन् ।

जयत्यनिग्रहबडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥ ]

**हेलाकराग्रकर्षितजलरिकं सागरं कलयन् ।**

**जयतादविहतबडवाग्निभरितगगनो गणाधिपतिः ॥ ३ ॥**

हेलापुरस्सरं कराग्रेणाकर्षितं यजलं तेन रिक्तं सागरं कलयन् प्रकाशयन् सन् । जल-निग्रहात् अविहतेन निष्प्रतिबन्धं प्रवृद्धेन बडवाग्निना भरितं गगनं येन ईदशो गणाधिपतिविनायको जयतात् इति वाच्योर्थः । अनन्तरं तु गणस्य ग्राममण्डलस्याधिपतिरिति शब्दशत्त्युद्धवेनानुरणनेन “हेलयैव करेण ग्रामात्संग्राहेण शुल्केन अग्रे प्रथममेव संपूर्णस्य द्रव्यसामर्थ्यस्यायत्तीकृतत्वाद् ग्रामे न कथित्तप्रतिद्वन्द्वी, अत एव अविहतं स ग्रामे व्याप्तप्रभावः” इति वक्र्या दूस्या वैशिष्ट्यात् ग्रामनायके तस्मिन्नाहितलेहाया न ते लोकेभ्यो भयमित्यर्थान्तरं ध्वन्यते । जयतादिति आशीर्वयेन तातडा ‘अहं तस्या: प्रत्यहं शुभाशंसिनी’ इत्यात्मपक्षपातोभिव्यज्यते ।

शृण्वन्तीं काश्चन सुन्दरीमनुरजयितुं स्वरसिकताप्रदर्शनाय चादूक्तिविधया नायिका-करकोमलताप्रशंसामन्यापदेशेनाह कथित्—

**एण चिअ कङ्गेल्लि तुज्ज्ञ तं णत्थि जं ण पञ्चत्तम् ।**

**उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणीहत्थो ॥ ४ ॥**

[ एतेनैव कङ्गेल्ले तव तच्चास्ति यज्ञ पर्यासम् ।

उपभीयते यत्त्वं पल्लवेण वरकामिणीहस्तः ॥ ]

कङ्गेलु तव मन्येऽमुनैव तत्रास्ति यच्च पर्याप्तम् ।  
उपमीयते हि यत्त्व दलेन वरकामिनीहस्तः ॥ ४ ॥

कङ्गेलु हे अशोक तव यत्पर्याप्तं न भवेत् तत्किञ्चित्तास्ति, अपि तु सर्वमेव पर्याप्तम्, इत्यहममुनैव मन्ये यत्त्व पल्लवेन वरवर्णीनीहस्त उपमीयते । अधिकगुणशाल्यपि कामिनीहस्तस्त्वत्पल्लवेन सह साम्यमानीयते इत्यनेन उपमानस्य पल्लवस्यापेक्षया उपमेये हस्ते गुणाधिक्यवर्णनाद्वितिरेकः । मन्ये इत्यनेन पर्याप्तगुणानामुत्प्रेक्षणादुप्रेक्षा चेति संकरः । वरकामिनीकरे तावन्तो गुणः सन्ति यैरसौ निरूपमान एव लोके । परमशो-कपलवास्त्वच्छायाभनुहरन्ति, अत एवाहमशोकं धन्यं मन्ये, इति कामिनीष्वतिशयवहु-मानप्रदर्शनेन शृणवन्त्या नायिकाया अनुरज्जनप्रयत्नोभिव्यज्यते । मूलोक्तस्याथेस्य स्पष्टप्रतिपत्तये अलंकारसंपत्तयेऽत्र मन्ये इति मत्कृतच्छायायामधिकमुपात्तम् । अमु-नैवेत्येवकारेण-पल्लवद्वारा कामिनीहस्तोपमालाभमात्रैव स्थालीपुलाकन्यायेन भया सर्वे तव पर्याप्ता गुणा अनुमिता इति श्रद्धातिशयो धन्यते । तत्र तत्रास्ति यच्च पर्याप्तमिति सर्वनामनिर्देशेन तव गुणानाहं शब्दतः प्रकाशयितुं शकोभीति गुणानां पर्याप्ततातिशयो व्यञ्जयते ।

मन्दखेहं नायकमुत्साहयितुं शृण्वति तस्मिन्बायिकासखीं अशोकामच्छ्रणव्याजेन सुमधुरमाह—

रसिअ विअडु विलासिअ समअण्णअ सज्जअं असोओ सि ।  
वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सएलम् ॥ ५ ॥

[ रसिक विदग्ध विलासिन्समयज्ञ सत्यमशोकोऽसि ।

वरयुवतिचरणकमलाहतोऽपि यद्विकससि सतृष्णम् ॥ ]

रसिक विदग्ध विलासिन्सत्यमशोकोसि समयज्ञ ।  
वरयुवतिचरणकमलाहतोपि यद्विकससि सतृष्णम् ॥ ५ ॥

रसिको रसानुभवशीलः । विदग्धश्चतुरः । समयं दोहदकालं जानातीति समयज्ञः । धन्यर्थपक्षे तु समयं रसिकानामाचारं जानातीति । सतृष्णं सलालसम् । वरयुवति-चरणकमलेनाहतोपि यद्विकासं गच्छसि तेन त्वं सत्यमेव अशोकोसि । आधातेनापि तत्र न दुःखं प्रत्युत विकास एवेति तत्स्तवाऽशोकेति नाम सत्यमस्तीलर्थः । पर्यन्ते तु शब्दशक्तिसमुथेनानुरणनेन-वैदरघ्यशालिनो रसिकाः प्रियतमाचरणाऽहतिमपि प्राप्य आचारं विदन्तो न कुप्यन्ति, प्रत्युत साभिलाषं विकासं लभन्ते । इथं किल विदग्धानां सरणिस्त्वं तु प्रणयादपि तां वज्रयसीति अहो ते असमयज्ञतेति शृणवन्तं नायकं प्रति साकूतं धन्यते । ‘पूर्वगाथार्थमेव भज्ज्यन्तरेणाह’ इति गङ्गाधरः । नायिकाचरणधातः प्रसाद एव मन्तव्य इति नायकं क्षिक्षयितुं कुट्ठन्या उक्तिरियमिति केचित् ।

‘त्वदाहरणसमये वाक्चातुर्येण सर्वं संकटसुलङ्घितवान् स ते कासुकः’ इति नायिकां सूचयितुं दूती वामनहरेरेष्पश्चोकनव्यपदेशेनाह—

**बलिणो वाआवन्धे चोङ्गं णिउअत्तणं च पअडन्तो ।  
सुरसत्थकआणन्दो वामणरूपो हरी जअह ॥ ६ ॥**

[ बलेर्वाचाबन्धे आश्र्यं नैपुणत्वं च प्रकटयन् ।

सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥ ]

अपि बलिवाचाबन्धे नैपुणमाश्र्यमुच्चयन्प्रकटम् ।  
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥ ६ ॥

बलेदैवराजस्य वाचया वचनेन बन्धे नियमने । वाचेल्याबन्तम् । नैपुण्यमाश्र्यमयि च प्रकटं यथा स्यात्तथा उच्चयन् प्रकाशयन् । अत एव सुरसार्थस्य देवसमूहस्य जनितानन्दो वामनरूपधारी हरिर्जयति । वाङ्मिन्यमनमात्रेण स्वर्गराज्यं बलेराहृतवानेवं किल तत्पुण्यमिल्यन्यावतारापेक्षया स एव सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाच्योर्थः । अनुरणनेन तु-बलिनो बलवतो गृहजनस्य वाचया वचनेन निहत्तरीकरणे नैपुण्यं प्रकटयन् , सुषु रसार्थवद्भिर्वैचर्जनिताखिलप्रीतिः वामनरूपो न्यग्रभावितात्मा अवसरमभिलक्ष्य विनयमुपगत इतर्थः । एतादशो हरिः परदारपहारी स ते कासुको जयतीति ध्वन्यमानोर्थः । अवसराहुसारं मधुरवचनचातुर्येण विनयेन च स निजगौरवं रक्षितवानिति नायिका प्रति निभृतं सूच्यते । ‘चोज्जम्’ इति चोद्यपदस्याश्र्यमर्थः । ‘चोद्यं स्यादद्वृते प्रश्ने चोदनाहैं तु वाच्यवत्’ इति मेदिनी । अत्र गाथायां ‘बलेः’ इति व्यस्तां छायां कृत्वा तस्य ‘दैवराजो बलवान्श्च’ इत्यर्थद्वयोपपादनं गङ्गाधरस्य दुःशकमेव, बलवदर्थकस्य बलिशब्दस्य षष्ठ्यां बलिन इति रूपापत्तेः । बलिन इति छायाकल्पने तु दैत्यार्थानुपपत्तिः । मम तूभयं संगतमिति सहृदैरालोचनीयम् । अत्र ‘दौःसाधिकाभिशास्तस्य जारस्य परिहासकौशलं दूती तत्प्रियामानन्दयितुमाह’ इति दुर्घटार्थमिवावतरणं गङ्गाधरटीकायाम् ।

प्रियतमस्यावसानेपि प्रणयं न मुच्चन्ति कुलललना इति हि नारीणां दृढप्रणयतां प्रतिपाद्यन्ती काचित् प्रियतमे शृण्वति सखीं प्रस्याह—

**विजाविज्जह जलणो गहवइधूआइ वित्थअसिहो वि ।  
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिजिरङ्गीए ॥ ७ ॥**

[ निर्वाप्त्वे ज्वलनो गृहपतिद्विन्ना विस्तृतशिखोऽपि ।

अनुमरणघनालिङ्गनप्रियतमसुखस्वेदशीताङ्ग्या ॥ ]

निर्वाप्त्वे हि दहनो गृहपतिसुतयातिविस्तृतशिखोपि ।  
अनुमरणघनालिङ्गितदयितसुखस्वेदशिराङ्ग्या ॥ ७ ॥

अतिविस्तृताः शिखा ज्वाला यस्य सः । दहनो दाहकखभावोपि ज्वलनोग्निः । अनु-  
भरणसमये धनमालिङ्गितस्य दियतस्य सम्बन्धिं यत्सुखं तज्जनितेन खेदेन शिशिरीभूत-  
शरीरया गृहपतिसुतया निर्वाप्यते शान्तीक्रियते । खेदजलेन प्रज्वलितोपि वहिः  
शास्त्रात्मात्मित्यर्थः । प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् ‘धणालिङ्गणपिअभमसुह’ इत्यस्य प्रियतस्म-  
घनालिङ्गनसुखमित्यर्थोजनम् । मत्कृतच्छायायां तु न तत्क्रेशः । प्राकृतपदाङ्गानुसरण-  
श्रद्धायां तु आलिङ्गितमिति भावे केन तत्पूर्तिविधेया । आलिङ्गनजातेन खेदोद्घमसा-  
त्त्विकभावेन तस्मिन्पि समये तासामनुरागातिशयो न न्यूनीभवतीति व्यञ्यते ।  
तथा च—कुलयुवत्यो वयसेवं ददानुरागा इति निजसौभाग्यं बहु मन्यस्येति शृण्वन्तं  
दियतं प्रत्यभिद्योत्यते ।

एनमेवार्थमुपपतिमनोरज्जनार्थं प्रकारान्तरेण सर्वां प्रति काचिदाह—

जारमसाणसमुद्भवभूहसुहप्कंससिज्जिरङ्गीए ।

ण समप्यइ णवकावालिआइ उद्भूलणारम्भो ॥ ८ ॥

[ जारमशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशीलाङ्ग्याः ।  
न समाप्यते नवकापालिक्या उद्भूलनारम्भः ॥ ]

उपपतिचितासमुद्भवभूतिसुखस्वेदसलिलसिक्ताङ्ग्याः ।

अभिनवकापालिक्या उद्भूलनमेव पूर्यते न किल ॥ ८ ॥

उपपतिचितासमुद्भवाया भूतेर्भस्मनः स्पर्शजनितेन सुखेन जातं यत्खेदजलं तेव  
सिक्तं स्नातमङ्गं यस्याः । अभिनवकापालिक्याः गृहीताभिनवकापालिकव्रताया वियो-  
गिन्याः उद्भूलनमेव शरीरे भस्मालेपनमेव न समाप्यते । उद्भूलनसमये उपपतिचिता-  
भस्मनः स्पर्शसुखेन खेदोद्घमो भवति, तच्छोषणाय पुनर्भस्मना विच्छुरयति सा, ततश्च  
पुनरपि उपपतिचिताभस्मस्पर्शात्स्वेदोद्घमो भवतीत्येवमुद्भूलनावसानमेव न भवतीति  
भावः । उद्भूलनमेवेत्येवकारेण कापालिकव्रतालम्बनेपि न निर्वाहो यतः प्रारम्भसम्पाद्यं  
भस्मधारणमेव न तत्र संपूर्यते किमत्रै संपत्स्यत इति विवशतातिशयेन प्रेमातिरेको  
व्यञ्यते । आरम्भपदाभावेषि तदर्थोत्र प्रतीयत इति हेयं सुधीभिः । ‘जार-इमशान’  
पदयोरश्लीलतया संस्कृतबन्धशय्यायां न गुम्फः समुचित इति तत्परिवर्तनं बोध्यम् ।

प्रसवानन्तरं भहिलानां प्रणयबन्धनमन्यादशं भवतीति निर्दर्शयन्ती काचित्सर्वां  
प्रस्याह—

एको पहुआइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।

पुत्तस्स पिअमस्स अ मज्जणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥

[ एकः प्रस्त्रौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखालिखितः ।  
पुत्रस्य प्रियतस्मय च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥ ]

प्रस्त्रौति स्तन एकः परः पुलकितोस्ति नखमुखालिखितः ।

पुत्रस्य च प्रियस्य च मध्यगताया हि दयितायाः ॥ ९ ॥

प्रस्त्रौति सुतप्रेमणा स्तन्यं प्रस्त्रवति । परो द्वितीयः स्तनः प्रियतमकृतनखालेखनेन रोमाद्ययुक्तो भवति । सुतं प्रति वास्तस्त्वस्य प्रियं प्रति चानुरागस्य युग्मपद्मदेवेन भावद्यसमावेशो बोच्छः । तथा च प्रियसमागममहित्रैव समवाप्तसुतस्तेहसुखाः सुदृशः प्रसन्नान्तःकरणाः सत्यः प्रियतमे सुबहुलमनुरज्यन्ति, त्वयापि तथैव समनुष्ठेयमिति नायिकां प्रति सख्याभिव्यज्यते । ‘तत्तक्तारणसांनिध्यादेकसिद्धनेके भावा भवन्तीति निर्दर्शयन्कोपि सहचरमाह’ इति गङ्गाधरः । जारं प्रत्यनवसरप्रकटनपरं दूस्या वचन-मिदमिति केचित् ।

बालायां ग्रामनायकतनयायां बद्धसाभिलाषदृष्टिः कथनं सहचरमाह—

एत्ताइच्चिअ मोहं जग्नेइ बालत्तणे वि बहुन्ती ।

ग्रामणिधूआ विसकन्दलिव बड्डीओं काहिइ अणत्थम् ॥ १० ॥

[ एतावत्येव मोहं जनयति बालत्तेऽपि वर्तमाना ।

ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥ ]

एतावत्यपि मोहं जनयति बाल्येपि वर्तमानेयम् ।

विषकन्दलीव कुर्याद् ग्रामणिदुहिता हि वर्दितानर्थम् ॥ १० ॥

एतावत्यपि एतावन्मात्रवयस्कैव । अपिरेवार्थं । मोहं जनयति चित्तं मोहयति । अग्रे वर्धिता वृद्धिं गता इयं ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव विषाङ्कुर इवानर्थं कुर्यात् । विषकन्दली पूर्वं लघ्ययिति अग्रे यथानर्थं करोति तथेयमपि यौवने कामुकानां विषमविषमशरविवर्धितं वेदनातिशयमुत्पादयेदित्यर्थं । ग्रामणिदुहितेत्यत्र इको हस्तो व्य इति हस्तः पूर्वमप्युक्त एव । यौवने जनिष्यमाणं ग्रामणीसुतायाः शोभातिशयं भावनाद्वाराधुनैवानुमाय बद्धाभिलाषस्यास्य रसिकशिरोमणेरुक्तौ रसाभासता कथंचित्समाधेया । ‘ग्रामणीपुञ्चर्यां साभिलाषः कोपि प्रहसनमाह’ इत्यवतरणमात्रेणैव गङ्गाधरस्तु संकटगङ्गामुहूर्हितवान् ।

कामकलाकुशलेन तेन सह कथमिव रात्रौ सुरतमभूदिति रहस्यान्तर्मुक्त्या वयस्यायष्टा काचिद्वरिनमस्त्कारापदेशेन सपरिहासमाह—

अपहुप्पन्तं महिमण्डलमिमि णहसंठिअं चिरं हरिणो ।

तारापुष्पप्ररक्षिअं व तइअं पअं णमह ॥ ११ ॥

[ अप्रभवन्महीमण्डले नभःसंस्थितं चिरं हरे: ।

तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥ ]

अप्रभवञ्चमितले हरेनभःसंस्थितं सुचिरम् ।

ताराकुसुमप्रकराञ्चितमिव चरणं तृतीयमानमत ॥ ११ ॥

भूमितले अप्रभवत् असंमात् (शत्रन्तम्) । तारारूपेण पुष्पप्रकरेणाञ्चितम् । हरे-चित्रिकमस्य । भूतलं पातालं च परिमाय गगनपरिमाणाय नभसि उच्छ्रृतं तृतीयं

चरणम् आनमत । पर्यन्ते तु—हरे: परदारापहारिणस्तसोपपते: स्कन्धोपरि गत्वा नभः—  
स्थितम् । ऊर्ध्वमुच्छ्रितं तारा—( नेत्रकनीनिका— )—रूपेण पुष्पप्रकरेणाच्चितं तृतीयं चर-  
णमानमत संमानेन वहु मानयते व्यज्ञयोर्थः । तथा च त्रैविकमबन्धेन सुरतमभू-  
दिति सख्या: प्रश्नयोत्तरं ध्वनितमभूत् । त्रैविकमबन्धस्तु—“ज्ञियोऽग्निमेकं विनिधाय  
भूमावन्यं खमौलौ, निजपाणियुग्मम् । पृष्ठे समाधाय रमेत भर्ता त्रैविकमास्यं  
करणं तदा स्यात् ॥” इत्यनङ्गरङ्गे । सुचिरमित्यनेन बहुकालं यावत्स रमितवानिति  
तत्सामर्थ्यमभिव्यज्यते ।

रात्रेस्तृतीययामं यावज्जागरेण खेदमनुभवन्तीं विरहोत्कणिठतां प्रति खपिहीति  
सखीमिः प्रोक्ते सा सखीः प्रति तदुत्तरमाह—

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहीओं कीस मं भणह ।  
सेहालिआणं गन्धो ण देइ सोतुं सुअह तुह्वे ॥ १२ ॥

[ सुप्पउतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ ।  
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वसुं स्वपित यूयम् ॥ ]

स्वपिहि तृतीयोपि गतो याम इति हि मां तु किमिति किल भणथ ।  
शेफालिकासुगन्धः स्वसुं न ददाति मे, स्वपित यूयम् ॥ १२ ॥

शेफालिकानां नीलनिर्गुणीनां सुगन्धो मम शयितुं न ददाति, मद्यं शयनावसरं न  
ददाति । एवं च अर्धात्रो जातस्तथापि दथितो नायात इति चिन्तोत्कण्ठाभ्यां नायि-  
कानिष्ठरेतरितश्यो ध्वन्यते । प्रसिद्धं किलार्धात्रोत्तरं शेफालिकानां विकसनम्—  
“शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी, प्राणान्कर्यंचिदपि धारयितुं प्रभूता । आकर्ष्य  
संप्रति रुतं चरणायुधानां किं वा भविष्यति न वेद्यि तपस्त्विनी सा ॥” साहित्यर्थणे ।  
‘शेफालिका तु सुवहा निर्गुणी नीलिका च सा’ इत्यमरः ।

एवं निरतुकोशमपि तं कथं सरसीति सख्या प्रोक्ता विरहोत्कणिठता सखीमाह—

कहं सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआँ अङ्गाँ ।  
णिवत्तिए वि सुरए णिज्जाअइ सुरअरसिओव ॥ १३ ॥

[ कथं स न संसर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि ।  
लिवर्तितेऽपि सुरते लिध्यायति सुरतरसिक इव ॥ ]

संसर्यते स न कथं तथास्थितान्यङ्गकानि सखि यो मे ।  
सुरतरसिक इव निर्वर्तितेषि लिध्यायति हि सुरते ॥ १३ ॥

सुरते निर्वर्तितेषि परिसमापितेषि सुरतासक्तो यो ममाङ्गकानि तथास्थितानीव सुर-  
तकालिकसंनिवेशयुक्तानीव निध्यायति पश्यति । सुरतसमाप्तावपि मध्यासक्तिवशा-  
न्मानसिकमावनया तथासंस्थितानीव सुरतसंलग्नानीव पश्यतीत्यर्थः । तथासंस्थितानी-

त्वनेन अनुभवैकमात्रसंवेदोऽग्नानां संनिवेशविशेषो ध्वन्यते । एवं च मयि एतावदाहि-  
तानुरागः स किल प्रियतमः कथं वा स्मृतिपथे नोदयेदिल्याशयः ।

उपपतिं प्रति काचिदन्यापदेशेन संकेतस्थलं निर्दिशति—

**सुक्खन्तवहलकद्मधम्मविस्तरन्तकमठपाठीणम् ।**

**दिङ्गं अदिङ्गुर्बं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥**

[ शृष्ट्यद्वहलकर्दमधर्मलुठन्मीनकमठपाठीनम् ।

दृष्ट्यद्वष्ट्यपूर्वं कालेण तलं तडागस्य ॥ ]

**शृष्ट्यद्वहलितकर्दमधर्मलुठन्मीनकमठपाठीनम् ।**

**दृष्ट्यद्वष्ट्यपूर्वं कालेण तलं तडागस्य ॥ १४ ॥**

शृष्ट्यन् बहलितः कर्दमो यस्मिस्तत्, धर्मेण ऊर्मणा छुठन्तः परिखिद्यमानाः सीनाः  
कमठाः पाठीनाश्च यस्मिस्तत्त्वेति बहुवीर्हं कृत्वा कर्दमान्तस्य पाठीनान्वेन सह कर्मधा-  
रयः । बहलितेत्यत्र बहल इवाचारित इति आचारकिवन्तात्कर्तरि क्तः । पाठीनो वृह-  
न्मत्स्यः ‘सहस्रदंशः पाठीन उल्लपी शिशुकः समौ’ इत्यमरः । कालवशाद्वष्ट्यपूर्वं तडा-  
गस्य तलं दृष्ट्यम् । पूर्वं जलाद्याहरणार्थमासीलोकानां यातायातसंभवः, इदानीं न तद्भय-  
मिति निःशब्दमागम्यताभित्युपपतिं प्रति ध्वन्यते । पूर्वमतिसमृद्धस्य पश्चात्कालेन दरि-  
द्रतामापञ्चस्य कस्यन्विदन्यापदेशविधया काचिदनुशोचनं करोत्यनया गाथयेति केचित् ।  
‘अहं तत्र गता त्वं तु नागतः’ इति जारं प्रति कस्याश्चिद्गुक्तिरित्यन्ये । चिररमणार्थं  
सुरतश्रान्तं कान्तमन्यमनस्कं करोतीति वा ।

निमृतमभिसारे गच्छन्तीं काश्चित्सचादुपरिहासमाह काचित्प्रौढा—

**चोरिअरअसद्गालुइ मा पुत्रि धममसु अन्धआरम्भि ।**

**अहिअअरं लक्षिखज्जसि तमभरिए दीवसीहव ॥ १५ ॥**

[ चौर्यरतश्रद्धाशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे ।

अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभृते दीपशिखेव ॥ ]

**मा पुत्रि चौर्यसुरतश्रद्धाशीले भ्रमान्धकारेसिन् ।**

**दीपकशिखेव निविडे तमसि निकामं निरीक्ष्यसे नूनम् ॥ १५ ॥**

चौर्यसुरतश्रद्धालुके ! इति विशेषणेन गृहे तव सुरतसौकर्यं सत्यपि आग्रहेण  
त्वमभिसारपरासीति नायिकां प्रति सूच्यते । अन्धकारे यथा दीपशिखा तथा  
त्वमपि स्पष्टतरं संलक्ष्यसे । त्वमात्मानं निरूहितुमन्धकारे प्रयासि परं शरीरला-  
वण्येनान्धकारे द्विगुणं प्रकाशस इत्यर्थः । पुत्रीतिसंबोधनेन—त्वमन्धकारे भूरितरं  
गुप्ता भूत्वाभिसरसि, परमेतावत्कालं दृष्टबहुव्यतिकराया मम तु पुरस्तादेतद् गोपनम-  
संभवमेव, परमन्यपि संलक्षणितुमलमिल्यात्मगौरवम्, मा भैषीनीहं ते रहस्यमेदिनीति  
पक्षपातथ ध्वन्यते । ‘तमभरिए’ इत्यत्र तमोभृते (प्रदेशे) इति विशेष्याक्षेपक्षेशो  
माल्यतच्छायायामेवमपसित इति सुर्धीभिरालोच्यम् ।

इयं संकेतस्थानदाहाहुःखितेति निजमार्भिंकतां प्रकटयितुं कश्चित्सहचरमाह—  
वाहिता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एकमेकस्स ।  
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे ॥ १६ ॥

[ व्याहता प्रतिवचनं न ददाति रुध्यत्येकैकस्य ।

असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥ ]

कुप्यत्येकैकस्य प्रतिवचनं नो ददाति संलपिता ।

असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥ १६ ॥

नदीकच्छे नदीतटिनिकटवर्तिनि सजलदेशे प्रदीप्यमाने दावाभिना दद्यमाने । ‘जल-  
प्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः’ इत्यमरः । असती कुलटा कार्येण विना आवद्य-  
कतां विनापि । प्रत्येकपुरुषस्य रुध्यति । संकेतस्थानभङ्गादेतस्या इयं दशेत्यहमिङ्गितेनैव  
ज्ञातवानिति सहचरं प्रत्यभिव्यज्यते । मर्मान्तिकवेदनायास्त्वन्या कथा, परं भनोविनो-  
दनोपायविघटनाजायमानेन दुःखेन व्याकुलचेतसो जनस्य किञ्चिन्मात्रैणैव विचारलीन-  
ताभज्ञे सति कोधोदयो भवति, सेयमेव स्वाभाविकी मानसी दशा गाथयानया सूच्यते ।  
ततश्च प्रत्येकपुरुषं प्रति कोपस्य सूचकं चात्र वचनाऽप्रदानमेवेति कोपोत्तरमेव भद्र-  
गाथायां तञ्जिवन्धनम् । मर्मान्तिकदुःखग्रस्तस्य तु उन्माद-प्रलय-लिंगेदादीनायुद्य  
इति गूढमनुसंधेयम् ।

गुप्तमसतीव्यवहारमाचरन्त्या कथाचिन्निजप्रतिवेशिनी कुलटेल्याक्षिता । तत्रत्युत्तरं  
स्वभावोक्तिविलक्षणस्पैणावतारयति गाथाकारः—

आम असइ ह्य ओसर पइबए ण तुह मइलिअं गोत्तम् ।  
किं उण जणस्स जाअब्ब चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १७ ॥

[ आम असल्यो वयमपसर पतिव्रते न तव भलिनितं गोत्रम् ।

किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावज्ञ कामयामहे ॥ ]

आम्, कुलटा वयमपसर पतिव्रते ते न मलिनितं गोत्रम् ।  
न च कामयामहे किल जनस्य जायेव चन्दिलं तु पुनः ॥ १७ ॥

आम् इति सकोपमीर्धपुरस्सरं स्त्रीकारे । वयं कुलटा एवेति तुष्ट्यतु दुर्जनन्यायेन  
साधिक्षेपं स्त्रीकारः । त्वं तु पतिव्रतासि ! इति साकूतमाक्षेपः । अत एव हे पतिव्रते !  
अपसर असत्तो दूरे तिष्ठ । तव गोत्रमर्थात् नाम न मलिनितम्, तव नामनि न  
कश्चित्कलङ्कः ( भवेत् ! ) । वयं कुलटा: अत एव असत्सविधे समागमेन तव गोत्रे  
मालिन्यं भवेदिति । अथवा तव गोत्रमसाभिने मलिनितम्, अस्माभिरसाकमेव  
नामनि कलङ्क आपादितस्तव तु गोत्रं न मलिनितम् ! अत एव त्वमपसरेत्याक्रोशोक्तिः ।  
इदानीम् आक्षिपन्त्या उपर्यक्षेपमाक्षिपति—पुनर्वयं जनस्य सामान्यनरस्य स्त्रीव,  
अथवा जनसामान्यस्य जायेव वारवधूरिव । चन्दिलं तु नापितं तु न कामयामहे !

वयं कुलदास्तथाप्युत्तमनाथकासक्तस्त्वं तु नापितद्वारा सतीत्वं हारितवती । अत्र कुल-  
दाकलहस्यभावेचिरलंकारो वाच्यसेनापि च—‘असामिः केवलं निजनामैव कलङ्कितं  
त्वया तु ‘गोत्रम्’ कुलमेव कलङ्कितम्’ इति गोत्रपदशक्तिसमुत्थेनानुरणनेन वक्रीं प्रति  
भूयानाक्षेप ईर्ष्या चाभिव्यज्यते । चन्दिदशब्दो नापितार्थवाचको देशीति कुलबाल-  
देवः । प्राप्तार्थचन्द्रः सर्वनिर्वास्यो दुर्देवो नीच इत्यर्थः । कदाचन न भवेत् । यस्य जय-  
पुरीयभाषायां ‘चांदडा’ ‘करमचांदडा’ इति हि सुमधुरो व्यपदेशः !! ध्वनिकारस्तु—  
‘आम् असल्यो वयम्’ इत्यत्र काका ‘न वयमसल्यः’ इति व्यज्ञयार्थप्रतीतिः, सा किल  
वाच्यार्थसहभावेनैव स्थिता । अयं भावः—यावत्किल काका प्रतीयमानस्य व्यज्ञयार्थस्य  
न बोधो भवेत्तावद्वाच्यार्थस्यैव संगतिर्न भवेदत एव व्यज्ञयस्य वाच्याश्रयतया स्वातन्त्र्या-  
भावात् ध्वनित्वव्यपदेशः । किं तु गुणीभूतव्यज्ञयत्वव्यपदेशः । तत्परिगृहीतोत्र पाठः—  
अपसरेति स्थाने उपरमेति । ‘गोत्रम्’ इति स्थाने ‘शीलम्’ इति ।

नायकं प्रति स्वानुरागं परमदाक्षिण्येन प्रकटयन्ती काचिदाह—

णिदं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअखरं ण जम्पन्ति ।  
जाहिं ण दिढ्ठो सि तुमं ताओ चिअ सुहय सुहिआओ ॥१८॥

[ लिङ्गां लभन्ते कथितं शृणवन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति ।  
यासिन्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग सुखिताः ॥ ]

निङ्गां भजन्ति, कथितं शृणवन्ति च गद्ददं न जल्पन्ति ।  
न विलोकितोसि यामिः सुखितास्ता एव ननु सुभग ॥ १८ ॥

यास्त्वां न विलोकितवस्त्वासामनिद्रा, अन्यमनस्कता जडताद्यो व्याधयो वा न  
भवन्ति, अतएव ताः सुखिताः । अस्माकं तु त्वद्विलोकनादारभैव निद्राभङ्गादयो जाताः ।  
विलोकनमात्रादेव मादृशीनां मनो हरस्यहो ते सुभगते ति नायकचाढः सुभगेत्यामच्छ्रण-  
सहकारेण धन्यते । तव विलोकनमात्रादेव त्वदासक्तचेतसो वयमभूम, तत्फलम-  
यावध्यसमाभिरौचिद्वं विनित्ततादिखेदजनकमेव लब्धं न किञ्चिन्निर्वृतिजनकमत एव  
संप्रति सुखयास्मानिति भावावेदनं चरमं व्यज्ञयम् ।

दूती कस्याश्चिरिस्पाधिकमनुरागमतिवैदग्ध्येन नायकं प्रति सोपालम्भमेवमाह—

बालअ तुमाइ दिणं कणो काऊण बोरसंधाडिम् ।  
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥ १९ ॥

[ बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बद्रसंधारीम् ।  
लज्जालुरपि वधूर्गृहं गता ग्रामरथया ॥ ]

बालक भवता दत्तां कर्णे कृत्वा तु बद्रसंधारीम् ।  
लज्जालुरपि वधूः सा प्रतियाता ग्रामरथया भवनम् ॥ १९ ॥

बदरसंघार्थीं बदरयोः संधातम्, एकवृन्ते बदरफलद्वयमिल्यर्थः । कर्णे कृत्वा भूषण-  
रूपेण कर्णे संधार्य । लज्जाशीलापि सा, प्रामरथ्यया यस्यां सर्वेषि प्रामजना यातायातं  
कुर्वन्ति तथा रथया भवनं गता । त्वद्दत्तेन बदरसंघातमण्डनेन मणिङ्डताया अस्यास्तथा  
हयों जातो यथेयमात्मानं धन्यमन्यमानतया सर्वे जना एनां पद्येयुस्तकृते प्रामरथ्यया  
भूत्वा गृहं जगामेति नायिकायाः प्रणयवहुमानातिशयो धन्यते । वधूपदेन-स्त्रियापदम-  
विष्टिताया अस्या बहुलजनाकीर्णयां प्रामरथ्यायेवं गमनमनुचितं तथापि हृदयावेगं  
सोङ्गमशक्तुवर्तीयं स्वतो जगामेति आवेगातिशयो धन्यते । लज्जाभृतिं विशेषणेन  
साधारणदशायां स्वभावतो लज्जाशीलापि सेर्वं भवदर्थे एवमाविष्टुतभावास्तीति तदति-  
शयो व्यज्यते । ‘बालक’ इत्यामत्रणेन तु-सा त्वय्येवमनुरक्ता जाता यत्त्वलक्रप्रदत्त-  
मसारं वस्त्वपि सबहुमानमलङ्काररूपेण कर्णयोर्धते । त्वं तु पिशुनजनवचनजातं कर्णयोः  
कृत्वा तथा निरपेक्षोस्ति यदेनां न वहु मन्यस इत्यहो ते उचितानभिज्ञतेत्युपालम्भो  
धन्यते । याभ्यां कर्णाभ्यां हृदयनिर्वृतिकरी पूर्वं त्वद्गुणसंकथा उपस्थापिता तयोः  
कर्णयोः कृत एव पूर्वं पुरस्कारो दत्त एतत्सूचनाय ‘कर्णे कृत्वा’ इति, एतदाद्यपरिसीमं  
व्यङ्ग्यजातं सुधीभिरनुसंधेयमिल्यलम् ।

कलहृन्तरितादशामनुभूय श्रियानुनयसंरणेन गलितमाना कान्चिदनुशयाना सखीः  
ग्रति सकोपानुतापमाह—

अह सो विलक्ष्महिअओ मए अहव्वाएँ अगहिआणुणओ ।

परवज्जणच्चरीहिं तुह्वेहिं उवेक्षिखओ येन्तो ॥ २० ॥

[ अथ स विलक्ष्महृदयो मया अभव्यया अगृहीतानुनयः ।

परवायनर्तनशीलभिर्युष्माभिरूपेक्षितो निर्यन् ॥ ]

अगृहीतानुनयोसौ विलक्ष्महृदयो ह्यभव्यया तु मया ।

परवायनर्तिनीभिर्युष्माभिरूपेक्षितो निर्यन् ॥ २० ॥

बहुतरमनुनीतवतोपि दयितस्यानुनयाऽग्रहणात् अभव्यया अभव्यया मया अगृही-  
तानुनयः न गृहीतः अनुनयः पदप्रणामादर्थस्य, अत एव विलक्ष्महृदयो लज्जाकोपाकान्त-  
हृदयः स दयितः । परम् अन्यं पुरुषं वायपूर्वकं नर्तयन्तीभिर्युष्माभिः, निर्यन् भवना-  
क्षिर्गच्छन् उपेक्षितः वहिंमनतो न निवारितः । यूयं तथाविवाः स्थ यद् वायं वाद-  
यित्वा अपरस्य नर्तनकौतुकं पश्यथ । अत एव भवतीभिः पूर्वं मह्यं मानशिक्षा दत्ता,  
इदानीं त्वावयोरिमां कलहकेलिं कौतुकरूपेणावलोकयथ । एतस्मादेव कारणाऽब्रुवना-  
क्षिर्गच्छन्त्यसौ युष्माभिर्वारित इत्याशयः । नर्तिनीभिरिलत्र नर्तयन्तीति गिजन्ता-  
त्ताच्छील्ये गिनिर्बोध्यः । परस्य वायपूर्वकं नर्तनमिति लोकोक्तेरनुसरणम्, अत एव  
छेकोत्तर्यलंकारस्य विषयः । उक्तमप्ययदीक्षितेन—‘छेकोक्तिर्थदि लोकोक्तिः स्यादर्थान्  
न्तरणभिता’ । एवमनुनयेन ग्रकाचित्तेहोपि वल्लभोऽवधीरितो मयक्षा, अहो मे दौर्भास्य-  
मिति अभव्यापदसहकारसूचितोऽनुतापस्तु चरमं व्यङ्ग्यम् । अभव्यया मया त्वये-

क्षित एव परं युज्माभिरप्युपेक्षित इति सूचयितुं पूर्वार्थे 'तु' पदनिवन्धनं मच्छायायाम् । उत्तरार्थे 'अपि' पदस्य तु नापेक्षा 'यूयं कलहं कारयित्वा कौतुकदर्शिन्यः स्य अतएवो-पेक्षित इत्यर्थोपरि दार्ढ्र्यप्रकाशनार्थं तस्यानावश्यत्वात् ।

विद्यधतागर्वशालिनी काचिदात्मादुगुणं कान्तमलभमाना तत्प्राप्युत्कण्ठासूचनाय सखीमाह—

**दीसन्तो णअणसुहो पिच्चुइजणओ करेहिं वि छिवन्तो ।**

**अबमत्थिओ ण लब्भइ चन्दो व्व पिओ कलाणिलओ ॥२१॥**

[ दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यां [ अपि ] स्पृशन् ।

अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्रं इव श्रियः कलानिलयः ॥ ]

दृष्टोपि नयनसुखदः करसंस्पर्शेन निर्वृतिं जनयन् ।

**न प्राप्यते ऽर्थितोऽपि हि दयितो विधुरिव कलानिलयः ॥ २१ ॥**

विधुरिव चन्द्रं इव दृष्टोपि दृश्यमानोपि नयनयोः सुखकर-कर्त्वं दयिते चन्द्रे चोभयत्र समानम् । करयोर्हस्तयोः संस्पर्शेन निर्वृतिमलौकिकं सुख-सुत्पादयन् दयितः । चन्द्रस्तु कराणां किरणानां संस्पर्शेन निर्वृतिं शैखसुखं जनयन् । कलानां चतुःषष्ठिकलानामालय आश्रयश्चतुःषष्ठिकलासम्पन्न इत्यर्थः । चन्द्रपक्षे तु षोडशकलाश्रयः पूर्ण इति यावत् । एवंविधो दयितोभ्यर्थितोपि न प्राप्यते । तथा च—अहं यावद्वैदर्घ्यशालिन्यस्मि तदनुरूपस्य सकलकलाप्रवीणस्य दयितस्य लाभो मदये हस्ताभ्यां चन्द्रप्राप्तिरिवास्तीत्यात्मनः परमवैदर्घ्याभिमानः, ग्राप्यमाने दयिते सकलकलासंपत्तेरावश्यकता चाभिव्यज्यते । ततोपि च, पूर्णचन्द्रस्य यथा प्रार्थनेपि सर्वदा न लाभस्तथा तादृशो मदनुगुणो दयितोपि यदा कदाचिल्पस्ते, न प्रार्थनासम-कालमेवेति निजगुणगौरवरुद्यापनमेव प्रधानं व्यङ्ग्यमिति सुधीभिरालोच्यम् ।

कालस्य सर्वकषतां प्रतिपादयन्ती काचिद्वियतसंकेतस्थानस्य विघटनसुपपतिं प्रति सूचयति—

**जे णीलब्भमरभरगगोछआ आसि णइअदुच्छङ्गे ।**

**कालेन वञ्जुला पिअवअस्स ते थण्णुआ जाआ ॥ २२ ॥**

[ ये नीलअमरभरभग्नगुच्छका आसन्नदीतटोत्सङ्गे ।

कालेन वञ्जुलाः प्रियवयस्य ते स्थाणवो जाताः ॥ ]

ये किल नदीतटेसिन् मधुकरभरभग्नगुच्छका आसन् ।

**कालेन वञ्जुलास्ते प्रियसख हे स्थाणवो जाताः ॥ २२ ॥**

मधुकरभरेण भग्ना गुच्छका येषाम् । वञ्जुला अशोका: 'वञ्जुलोऽशोके' इत्यमरः । वैतसास्तु न ग्राहा अपुष्टलात् । स्थाणवो निष्पत्रिविटपा जाताः । मधुकरनिकरनिपा-तद्वारा गुच्छकभङ्गेन वृक्षाणां घनच्छायत्वं भ्रमरकदम्बसंपत्तेनान्धकारित्वं च सूच्यते । एवंविधा: सुष्पृफलनिविता अपि तरवः स्थूलावशेषा अभवनित्यहो कालमाहात्म्यमिति

भावः । पर्यन्ते तु-नदीतटे वङ्गुलनिकुञ्जो योस्माकं संकेतस्थानमभूत्य शुष्कीभूतत्वेन लोकानां दृष्टिपातमयोश्चदार्नीं तत्र समागमः साधयितुं शक्यत इति शृण्वन्तमुपपर्ति प्रति व्यन्यते ।

अस्थिरस्तेहाशायकादुद्विषा काचिच्छृष्टवन्तं कञ्चन मनोहरं जनमवसरप्रदानेनोत्कण्ठ-यन्ती रहस्यान्तर्भुक्ताया मातृष्वसुः संलापव्यजेनाह—

खणभङ्गुरेण पेम्णेण माउआ दुम्मिअद्वा एत्ताहे ।

सिविणअणिहिलम्भेण व दिङ्पणदेण लोअम्मि ॥ २३ ॥

[ क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृष्वसः दूनाः स्म इदानीम् ।

स्वप्ननिधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोकेस्मिन् ॥ ]

हे मातृष्वसरधुना प्रेम्णा क्षणभङ्गुरेण दूनाः स्मः ।

स्वप्ने निधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोकेस्मिन् ॥ २३ ॥

स्वप्ने निधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन, दृष्टिपथमागत्य लुप्तेन । क्षणभङ्गुरेण प्रणयेनाधु-नाऽस्मिन्नोके दूना व्यथिताः स्मः । अहं त्वप्रणयं निधिलाभमिव परमवहुमानभाजनं मस्ये परं स स्थिरो भवेदन्यथा तु पूर्ववन्मे मानसोद्वेगकर एव भविष्यतीति शृण्वन्तं कान्तं प्रलयमिवज्यते । अधुनेत्यनेन पूर्वं नासीन्मे तावान्प्रणयस्थैर्यपरिचयः, इदानीं तु क्षणभङ्गुरादहसुद्विजामीति प्रणयपरिचयचतुरायां मयि सांप्रतं प्रतारणप्रयत्नो विफल एव भवेदिति व्यज्यते ।

धूतेन नायकेन नातिन्विरेणैव खण्डितप्रणयां नायिकां प्रतिबोधयन्ती सखी अन्यापदेशेनाह—

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तम् ।

वङ्गसस्तु उज्जुअस्स अ संबन्धो किं चिरं होइ ॥ २४ ॥

[ चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।

वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥ ]

चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपतन्तम् ।

ऋजुकस्य च वक्रस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥ २४ ॥

चापो धनुः स्वभावेन सरलमृजुकम्, गुणे प्रलयायां निपतन्तमपि संबन्धमानमपि शरं बाणं क्षिपति दूरं परिचालयति । एतत्समर्थनायार्थान्तरन्यासमाह—ऋजुकस्य कुटिलस्य च संबन्धः किं चिरकालं यावद्वृत्ति, नेत्रार्थः । प्रस्तुतेऽर्थे तु-स्वभावेन सरलं निष्कपटम्, गुणे सौन्दर्यादौ निपतन्तमनुरागेणामिसुखीभवन्तमपि ऋजुकं जनं कुटिलः परिहरतीत्यर्थः । तथा च-पूर्वं बहुतरं प्रतिबोधितापि त्वं कुटिलहृदये तस्मिन्प्रणयमा-हितवती, तदिदानीमुभव तत्परिभवफलमिति सख्या सूचते ।

घनपीनपयोथराया: कस्याद्वित्तुचकलशदेशविश्रान्तां रोमावलिवल्लीमालोक्य जाता-  
मिलाषः कथितच्छोभातिशयमेवमाह सहचरम्—

**पठमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।**

**थणजुअलेण इमीए महुमहेण व वलिवन्धो ॥ २५ ॥**

[ प्रथमं वामनविधिना पश्चात्खलु कृतो विजृम्भमाणेण ।

स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव वलिवन्धः ॥ ]

प्रथमं वामनविधिना पश्चाद्विहितो विजृम्भमाणेण ।

स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव वलिवन्धः ॥ २५ ॥

प्रथमं वामनो लघुर्विधिः प्रसरप्रकारो यस्य तेन । पश्चाद्विजृम्भमाणेण वृद्धि गतेन  
एतस्याः स्तनयुगलेन मधुमथनेनेव विष्णुनेव बलेन्निवन्या वन्धः संबन्धः कृतः । प्रवृ-  
द्धयोरस्याः स्तनयोः परिसरपर्यन्तं त्रिवली विश्रान्तेत्यर्थः । मधुमथनेनापि पूर्व खर्वहृप-  
धारिणा पश्चादल्यन्तं प्रवृद्धेन सता बलेस्तद्वामकस्य दैत्यराजस्य वन्धो विहित इत्यर्थो-  
नुसंधेयः । श्लेषोत्थापितयानयोपमया—मधुमथनेन यथा त्रैलोक्यमायत्तीकृतमेवमियमपि  
सर्वान् वशीकरिष्यतीति नायिकासौन्दर्यातिशयो ध्वन्यते ।

गुणगणशालिनीमपि नायिकामन्यस्याः कृते व्यथयन्तं धूर्तनायकमुपालभमाना  
नायिकासखी निजसखीमन्यापदेशेनाह—

**मालइकुसुमाइँ कुलुच्छिञ मा जाणि णिवुओ सिसिरो ।**

**काअद्वा अज्जवि णिगुणाणँ कुन्दाणँ वि समिङ्गी ॥ २६ ॥**

[ मालतीकुसुमानि दग्ध्वा मा जानीहि निर्वृतः शिशिरः ।

कर्तव्याद्यापि निर्गुणानां कुन्दानामपि समृद्धिः ॥ ]

कुसुमानि मालतीनां दग्ध्वा मावेहि निर्वृतः शिशिरः ।

कर्तव्या विगुणानां कुन्दानामपि समृद्धिरथ ॥ २६ ॥

मालतीनां मालतीवृक्षाणाम् । शिशिरः शीतरुः । निर्वृतः सुखित इति मा अवेहि  
जानीहि । अथ अद्यापि । गन्धगुणरहितानां कुन्दानाम् । अनेन च—सौन्दर्यानुरागादि-  
गुणशालिनीमिमां हित्वा वाद्यरूपमात्रसारायामन्यस्यां तवासक्तिर्नोचितेति शृण्वन्तं  
नायकं प्रत्यभिव्यजयते । मालतीनामिति बहुवचनेन—इयं मत्सख्येव त्वया व्यलीकचे-  
ष्टितैर्नोपताप्यते, किन्तु पूर्वमन्या अपि त्वया एवमेव हेशमनुभाविता इति गूढोपा-  
लम्भो ध्वन्यते । कुन्दानामिति बहुत्वेन मत्सखीसपद्म्यामेकस्यामेव ते संप्रति नामुरा-  
णोऽन्यत्रापि बहुत्र व्रजसील्याक्षिप्यते । ‘दुष्टो न केवलं साधूनामपकारमात्रं करोति, किं  
त्वसाधूनामुपकारमपीति कोप्यन्यापदेशेनाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । ‘न केवलं तव  
दौर्भाग्यं मया कृतं किं तु तत्पत्नीनां सौभाग्यमपि मया विधेयमित्यप्रियवादिनीं  
नायिकां प्रति कुपितनायकेन ध्वनितमिति केचित् ।

गलितयौवनायाः स्तनाववलोक्य निजवाकचातुर्यं तां प्रति कौतुकं च प्रकटयितुं  
सपरिहासवैदग्ध्यं कश्चित्सहचरमाह—

**तुङ्गाणं विसेसनिरन्तराणं [सरस]वणलद्वसोहाणम् ।**

**कअकज्जाणं भडाणं व थणाणं पडणं वि रमणिज्जम् ॥ २७ ॥**

[ तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयोः [सरस]वणलब्धशोभयोः ।

कृतकार्ययोर्भट्टयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम् ॥ ]

**निबिडनिरन्तरयोरुच्चतयौर्वणलब्धशोभयोः सरसम् ।**

**कृतकार्ययोः पतनमपि रम्यं भट्टयोरिव स्तनयोः ॥ २७ ॥**

निबिडनिरन्तरयोः विशेषेण अन्योन्यलभयोः पीनत्वात्, उचतयोरुत्तुङ्गयोः काठि-  
न्यात्, सरसं सुरतकेलौ सप्रमोदं वृण्णेनखक्षतजातैर्लब्धशोभयोः, अत एव कृतकार्ययोः  
स्तनयोः, परस्परं बलादिसाम्यात्रिविशेषयोः, मानोन्नतयोः समरवणशोभितयोरत एव  
कृतकार्ययोः कृतवैरिपराजययोर्भट्टयोरिव योधपुष्पयोरिव पतनमपि रम्यं श्रेष्ठम् ।  
तथा यौवने भूरिसुखान्युभूतानि, कृतकार्यासीति गलितयौवनां प्रस्तुतिव्यञ्जयते ।

शुण्वतीं नायिकां प्रति निजसहदयतां परिहासं च प्रकटयितुं कश्चित्प्रगतमः कुच-  
वर्णनाप्रस्तावमेवमाह—

**परिमलणसुहा गुरुआ अलद्वविवरा सलक्षणाहरणा ।**

**थणआ क्वालाव व कस्स हिअए ण लगन्ति ॥ २८ ॥**

[ परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।

स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति ॥ ]

**गुरवः परिमलनसुखा अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।**

**न लगन्ति कस्य हृदये काव्यालापा इव स्तना एते ॥ २८ ॥**

गुरवः पीनोक्ताः, परिमलनसुखा मर्दनसुखकारकाः, अलब्धविवराः परस्परमिलित-  
तथा नीरन्द्राः, लक्षणैः श्रीफलादिसादृश्य-तिलचिह्नादिभिः आभरणैर्हारदिभूषणैश्च  
सहिताः, इमे स्तनाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति, सर्वेस्यापि हृदयं श्रीण-  
यन्तीलयं । काव्यालापा अपि गमीरार्थाः, परिमलनेन पुनः पुनर्विचारेणान-  
न्दजनकाः, अलब्धविवरा दूषणावकाशरहिताः, शाळीयलक्षणैरूपमाद्यालंकारैश्च सहिता  
भवन्ति । त्वत्कुचकलशशोभामालोक्यानुरक्षहृदयोसीति शुण्वतीं नायिकां प्रस्तुतिभि-  
व्यञ्जयते । सर्वानेव रमयसीति तां प्रति परिहासोपि च योख्यते । परिमलनमिलत्र ‘मल  
मल्ल’ धारणे इति मलधातुः । धातूनामनेकार्थत्वादर्थसङ्केतः, चुलम्पतीस्त्रादिसंग्रहीतं  
धात्वन्तरं वा । कुचपक्षे-परिमलनेन सुगन्धसंबन्धेन सुखाः इत्यप्यर्थः संभवेत्,  
परिमलशब्दाणिंचा तद्रूपसिद्धेः । यद्वा धारणमेवार्थः, हृदये धारणेन सुखकारका इति  
पक्षद्वयेपि तदर्थोपपत्तेरित्यलं रसकथासु शुष्कविचारेण ।

शुण्वतीं कांचन नायिकासुपलश्य निजसहदयतां प्रकटयन्कश्चित्सहचरमाह—

**खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे ।**

**अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तरं काले ॥ २९ ॥**

[ खिप्पते हारः स्तनमण्डलात्तरुणीभी रमणपरिरम्भे ।

अर्चितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं कालेन ॥ ]

**स्तनमण्डलात्तरुण्यो हारमपास्यन्ति रमणपरिरम्भे ।**

**गुणिनो महितगुणा अपि लाघवंमुपयान्ति कालेन ॥ २९ ॥**

रमणपरिरम्भे दग्धितालिङ्गनसमये । अपास्यन्ति दूरमपनयन्ति । महितः प्रशस्तो गुणो येषामीदृशा गुणिनः । कालवशालाघवं पराभवमुपयान्ति । गुणिपदं शिष्टम्, गुणः सूत्रं शौर्यादिकं च । ‘उपादेयोर्थः कदाचिदनुपादेयतां यातीति निदर्शयन्कश्चिदाह’ इति गज्ञाधरः । ‘शिप्पते’ इति शुज्ञारे न मनोहराण्यक्षराणीति कर्तुवाच्येन परिवर्तितम् । यदि तु मूलपदाङ्कानुसरण एवाग्रहस्तर्हि ‘स्तनमण्डलाद्युवतिभिर्हारः शिप्पते’ इति पाठ्यम् ।

मनोभिलषिते नायके आत्मनोनुरागं मन्मथव्यथां चाभिव्यज्यन्ती काचित्सखीमाह—

**अण्णो को वि सुहावो मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।**

**विज्ञाइ णीरसाणं हिअए सरसाणं झति पञ्जलइ ॥ ३० ॥**

[ अन्यः कोडपि स्वभावो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।

निर्वाति नीरसानां हृदये सरसानां झटिति प्रज्वलति ॥ ]

अन्यः कोपि निसर्गो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।

**निर्वाति नीरसानां हृदि सरसानां ज्वलति झटिति ॥ ३० ॥**

निसर्गः स्वभावः । हला हे सखि, ‘हण्डे हज्जे हलाहाने’ इत्यमरः । हताशस्येति कामाञ्जि प्रतीर्ष्यासूचनार्थम् । मन्मथशिखिनः कामाञ्जेः । नीरसानामनुरागरहितानां शुष्काणां च । निर्वाति प्रशान्तो भवति । सरसानामनुरागिणामार्दीणां च । अग्निः किल शुष्के ज्वलति, आँद्रे च निर्वाति । कामानलस्य तु तद्विपरीत एव स्वभाव इत्यर्थः । विरोधो वाच्योऽलंकारः । नीरसानां हृदि शुष्कतारूपकारणसत्त्वेषि ज्वलनकार्यानुदयाद्विशेषोक्तः । सरसानां हृदि शुष्कतारूपस्य ज्वलनकारणस्याभावेषि कार्योदयाद्विभवना वा । बद्धानुरागाहं मनोभिलषितेन तेन नायकेन विना बाढमान्तरव्यथामनुभवामीति व्यञ्जयम् ।

अन्यत्रासक्तस्य मन्दस्त्रेहस्य नायकस्य प्रणयभङ्गं सूचयन्ती काचिद्दहस्यान्तर्भुक्तां मातुलानीमाह—

**तह तस्स माणपरिवड्हिअस्स चिरपणअवद्वमूलस्स ।**

**मामि पडन्तस्स सुओ सहो वि ण पेममरुक्खस्स ॥ ३१ ॥**

[ तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।

मातुलानि पततः श्रुतः शब्दोऽपि न प्रेमवृक्षस्य ॥ ]

मानपरिवर्धितस्य हि चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।

मातुलि रचोपि पततः श्रुतोऽन्य न प्रेमवृक्षस्य ॥ ३१ ॥

मानेन प्रणयबहुमानेन परिवर्धितस्य । चिरप्रणय एव बद्धं दृढं मूलस्य । प्रेमरूपस्य वृक्षस्य पततः रचोपि न श्रुतः । मानपरिवर्धितस्य प्रकाण्डपरिमाणानुसारं वर्धितस्य दृढमूलस्य वृक्षस्य प्रायः पतनमेव दुर्घटम्, दैवाद्यदि पतनं भवेत्यापि शब्दस्त्ववश्यं भवेत् । सोप्यत्र नास्तीति भावः । तथा च-चिरान्मयि दृढसक्तोपि बलभोन्यत्रासत्त्वा प्रेम-भज्जं कृतवान्, न चैतद्विषयिणी काञ्चिचर्चाप्यश्रूयते ति मातुलानां प्रति सूच्यते । ‘कापि मानप्रहिलायाः सख्याः खण्डितं सौभाग्यं मातुलान्यां सविस्यमाह’ इति गङ्गाधारः ।

अगृहीतानुनयां मानिनीं सखीं सखेदमाह—

पाअपदिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अधिअं भणिओ ।

वचन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ३२ ॥

[ पादपतितो न गणितः प्रियं भणज्ञप्यग्रियं भणितः ।

ब्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः ॥ ]

गणितो न पादपतितो भणितो विग्रियमयि ग्रियं जल्पन् ।

न निरुद्धो निर्यन्नपि वद कस्य कृते कृतो मानः ॥ ३२ ॥

पादयोः पतितोपि न गणितो नावेक्षितः । ( प्रियं इत्यर्थत आक्षिप्यते ) । प्रियं जल्पन्नप्यग्रियं भणितः । केलिभवनानिर्गच्छन्नपि न निरुद्धः । कस्य कृते कस्यार्थे । त्वया मानः कृत इति वद । दम्पत्योः प्रणयपरिपाकजनितो मानः पादपतनादिकं फल-मुखलभ्य परिसमाप्यते । ततश्च पादप्रणामोत्तरमयि तवाय मानः किनिमित्त इति भावः । ‘कस्य कृते’ इत्यनेन पादपतनोत्तरमयि यद्यधिकं मानप्रहिला भविष्यति तर्हि ग्रियस्त्वयि विरक्तो भवेत् । तथा च प्रियप्रणयभज्जे सति कीदर्शोर्यं ते मानः, अनुचित-मेव ते मानप्रहिलत्वमिति सख्यामिव्यज्यते । अथवा-कस्य कृते कं वा युवानं रसयितुं त्वया मानप्रहिलतयाऽयमवसरः संपादित इति सकोपोपालम्भं सख्या वचनमिति केनिदाहुः । मानिनीमनुनेतुमेतावदनुधावनमनौचित्यं जनयेदतः पूर्वोक्ताशय एव सम्यगिति साम्प्रदायिकाः ।

कस्याश्वन मुख्याया निभृतचेष्टिं कस्माच्चन स्थानात्पद्यन्नागरिकः सहचरमाह—

पुसइ खण्णं धुवइ खण्णं पप्फोडइ तक्षण्णं अआणन्ती ।

मुद्रवहू थणवद्वे दिण्णं दहृण णहरवअम् ॥ ३३ ॥

[ प्रोब्ल्चति क्षणं क्षालयति क्षणं प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती ।

मुरुधवधः स्तनपदे दृतं दयितेन नखरपदम् ॥ ]

क्षणमुच्छति मार्जयति क्षणमुद्धवति क्षणं न तद्विदती ।  
मुग्धवधूः स्तनपृष्ठे दत्तं दयितेन नखरपदम् ॥ ३३ ॥

सुधा वधूः । नखरपदं नखक्षतम् । तत् न विदती, तस्य नखक्षतस्य याथार्थ्यं न जानतील्यर्थः । क्षणम् उच्छति प्रोच्छति वद्वादिनापमार्णव्यर्थः । क्षणं मार्जयति जलेन क्षालयति । क्षणमुद्धवति वद्वादिना प्रस्फोटयति (‘फटकारना’ ‘झडकारना’ हिन्दीभाषायाम्) ‘स्वेनेभाजिनपल्लवेन रभसात्मास्फोटयद्गूर्जितः’ इत्यनर्घराघवे मुरारिः । स्तनपृष्ठे नखक्षतं दृढ़ा किमिदमिति हस्तेन पूर्वं प्रोच्छति इत्यहेतु तदपनयनाभावे क्षालयति । ततोपि नापयाते तस्मिन् वद्वादिना प्रस्फोटयतीति मुग्धवचेष्टिर्नायिकायाः सारल्यातिशयो व्यज्यते । स्तनपृष्ठ इति पृष्ठपदेन कन्दुकाकारयोः स्तनयोः कठोरता व्यज्यते । ‘सपल्या दुश्चरितं सूचयितुं कापि सोपालम्भमाह’ इति गङ्गाधरः । नायकमुक्षणयितुं नायिकाया नवयौवनं प्रतिपादयन्त्या दूस्या इथमुक्तिरित्यपि केवित् ।

निविडघनघटाञ्छश्चतयाऽन्धकारितदशिगन्तरासु वर्षाणि नियतसंकेतनिकुञ्जेऽभिसारसुखमनुभूतवती काचित्प्रावृद्धसमाप्तौ तस्यासौकर्यं बोधयन्ती शरद्वर्णनप्रस्तावमवतारयति—

वासारते उण्णअपओहरे जोवणे व वोलीणे ।

पठमेककाशकुसुमं दीसइ पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥

[ वर्षाकाले उच्चतपयोधरे यौवन इव व्यतिक्रान्ते ।

प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरण्याः ॥ ]

यौवन इव नववर्षाकाले प्रोक्षतपयोधरे याते ।

प्रथमैककाशकुसुमं पलितमिवालोक्यते भूमेः ॥ ३४ ॥

प्रोक्षताः पयोधरा भेदा यस्मिन् ईद्वशे वर्षाकाले । प्रोक्षतौ पयोधरौ स्तनौ यस्मिन्नेवं विषे नवयौवन इव व्यतिक्रान्ते सति । प्रथममेकं काशपुष्पं भूमेः पलितमिव वार्धक्यजातं केशशौक्षयमिवालोक्यते । तथा च, वर्षाकाले यावती शङ्खाररसोपकरणसामग्री न तावती शरत्समये इति वर्षाणां प्रियकरत्वं व्यज्यते । जरल्याः संसुखे शङ्खारचेष्टाप्रकाशनानोन्नित्येन वनभूमौ नेदानीमभिसरणं भविष्यतीति वक्ष्या धन्त्यते । ‘आत्मनः संकेतस्थानगमनं जारं प्रति श्रावयन्ती कापि शरद्वर्णनमाह’ इति गङ्गाधरः । यद्वा-न केवलं मामेव वार्धकं ग्रसते, पश्य धरण्या अपीमामेवावस्थामिति हसन्तं विटं प्रति जरद्वयायाः कस्याधिदिग्मुक्तिः ।

एवंविषे समये तव विदेशगमनमनुचितमिति नायकं सूचयन्ती काचिद्वर्षासमयं वर्णयति—

कथं गअं रहबिम्बं कथं पण्डाओं चन्द्रताराओ ।

गअणे वलाअपन्ति कालो होरं व कहेइ ॥ ३५ ॥

[ कुत्र गतं रविविम्बं कुत्र प्रणष्टाश्रन्दतारकाः ।  
गगने बलाकापाङ्कि कालो होरामिवाकर्षति ॥ ]

कुत्र गतं रविविम्बं नथ्याः किल चन्द्रतारकाः कुत्र ।  
नभसि बलाकापाङ्कि होरामिव कर्षति हि कालः ॥ ३५ ॥

घनघटाच्छब्दात्म्यचन्द्रतारका दृष्टिं छुपाः । अत एव कालस्तेषां सूर्यादीनां  
प्रतिसाधनार्थं नभसि आकाशे बलाकापाङ्कि बक्खीराजिं होरामिव कठिनी—(खटिका  
'खडिआ')—रेखामिवाकर्षति विद्याति । अन्येषि ज्योतिर्वित् सूर्यादिग्रहत्रिसाध-  
नार्थं (स्पष्टीकरणार्थम्) रजआच्छादितायामवनौ कठिनीरेखामाकर्षति । यथा हि  
गणिताध्याये भास्कराचार्यः—“समायामवनौ आद्यार्धप्रमाणेन सूत्रेणेष्टस्थानकलिपत-  
विन्दोर्वृत्तं लिखित्वा तस्मादेव विन्दोर्मानैवयखण्डप्रमाणेन सूत्रेणान्यद्वृत्तं छुत्वा तस्य  
विन्दोरुपरि प्राच्यपरं याम्योत्तरं च सूत्रं खटिकया रजसा च रेखे कार्ये” इति ।  
आकाशे दृश्यमानेत्रं बलाकापाङ्किर्नास्ति, किन्तु नष्टानां सूर्यादीनां प्रतिसाधनार्थं ज्योति-  
विदा इव कालेन कठिनीरेखेयमङ्कितास्तीति भावः । ‘होरा लम्बेषि राश्यर्थे रेखाशाखिभि-  
दोरपि’ इति मेदिनी । एवं च कालोप्यस्मिन् घनघटाच्छब्दतयाऽनुपलब्धपरये कामोन्मादसये समये  
कुत्र गमिष्यतीति कान्तं धन्यते । वर्षासु पङ्किवन्धेन गगने बलाकानामवस्थानं प्रसि-  
द्धम् । यथा—‘गर्भाधानक्षणपरिचयाज्ञानमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभर्गं खे भवन्तं  
बलाकाः’ इति कालिदासः । बलाका अपि वर्षास्त्रेवं सज्जास्तिष्ठन्ति, अहं तु त्वय-  
स्थाने सर्वमिदं विसर्जयिष्यामीत्येतदिप्य यदि बुद्धौ स्फुरति तर्हि व्यञ्येत ।

शङ्काकुलसोपपते: शङ्कापनयनाय प्रबलवर्षाशङ्कारमेवं वर्णयति कान्चित्—

अविरलपडन्तणवजलधारारज्जुघडिअं पअन्तेण ।

अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह ॥ ३६ ॥

[ अविरलपत्तवजलधारारज्जुघटिर्तां ग्रथत्वेन ।

अप्रभवक्षुद्देसुं रसतीव मेघो महीं पश्यत ॥ ]

अविरलनिपत्तवजलधाराघनरज्जुनिघडिसंघटिताम् ।

अप्रभवक्षुद्देसुं रसतीव महीं धनो विलोकयत ॥ ३६ ॥

धनो मेघः । अविरलं निपतन्त्यो नवजलधारा एव धनाः सान्द्रा रजवस्तामिनिबिडं  
संघटितां बद्धां महीम् उत्क्षेमुम् ऊर्ध्वमाकष्टम् अप्रभवन् अशकुवन् सचिव रसति  
शब्दायते इति विलोकयत । इमा निरन्तरासारा जलधारा न सन्ति किंतु पृथिवी-  
मूर्धमाकर्षु बद्धा निविडा रजवः सन्ति । तद्वारा महीमुत्क्षेमशकुवन्निवायं जलधरः  
श्रमविनोदार्थं शब्दायत इत्युप्रेक्षा । अन्येषि बृहत्पाषाणादिकं रज्जुभिर्वचा ऊर्ध्वमुत्क्षि-  
पन्तो भारवाहाः शब्दं कुर्वन्तीति भावः । तथा च—एवं मुशलधारावर्षं वर्षति वारे-

धरे न कस्यापि जनस्यात्र संचारशङ्का, तच्चिःशङ्के रथ्यतामित्युपपतिं प्रत्यभिव्यज्यते । घनो रसतील्यनेन मेघर्गजनशब्दाद्रमणसमये कंकणादिशब्देष्वपि न कस्यापि कर्णगोचरो भवेदिति ध्वन्यते । नवजलधारा इल्यनेन प्रथमवर्षाजिलस्य खास्थ्यविधातकत्वाद् वर्षा-भिरनुद्विजन्नपि पुरुषो न बहिर्निर्गमिष्यतीति द्योल्यते । बद्धामिलयनुक्त्वा संघटिता-मिल्यनेन संघरथनं सूच्यते, तेन रञ्जुद्वारा परितः संग्रथ्योर्ध्वकर्षणोत्प्रेक्षणाजलधाराणां सान्द्रत्वातिशयो ध्वन्यते । 'रसतीव' इति रसतील्यनेन सह इवशब्दसंबन्धस्तु गङ्गाध-रादिप्रदर्शितो न मनोरमः । गर्जनस्य स्वतो जायमानत्वेनोत्प्रेक्षणाभावात्, किन्तु तत्रो-त्क्षेमुमप्रभवनमेव हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यसिति सुधीभिरनुसंधेयम् ।

कान्तवियोगस्य संप्रति दुःसहत्वं सूच्यन्ती कान्तिप्रियाऽनन्यनत्वरार्थं हृदयोपाल-म्भव्याजेनात्मपीडां श्रावयति—

**ओ हिअअ ओहिदिअहं तइआ पडिबजिउण दइअस्स ।**

**अथेकाउल वीसम्भधाइ किं तइ समारद्धम् ॥ ३७ ॥**

[ हे हृदय अवधिदिवसं तदा प्रतिपद्य दयितस्य । ]

अकस्मादाकुल विश्वमध्यातिन् किं त्वया समारव्यधम् ॥ ]

**अयि हृदयावधिदिवसं प्रतिपद्य तदा हि दयितस्य ।**

**विश्वमध्यातकाकुल किमिदमकसात्वया समारव्यधम् ॥ ३७ ॥**

अयि हृदय ! तदा प्रवासगमनसमये अवधिदिवसं दयितस्य प्रतिपद्य दयितसमक्षं खीकृत्य । अकस्मादाकुल सहसैव व्याकुलतामनुभवत् ! अत एव हे विश्वमध्यातिन् विश्वासधातिन् ! त्वया इदं किं समारव्यधम् । यदा प्रियतमसविष्वे अवधिदिनं नियमितं तदा तावत्पर्यन्तं विश्वासः कर्तव्य आसीत्वया तु मध्य एव व्याकुलताङ्गीकृता, सोयं ते विश्वासधात इति भावः । अहं तावत्पर्यन्तं प्राणान्धारयितुं न प्रभविष्याम्येवं मे व्याकुल-तेति दयितानन्यनत्वरार्थं सर्वों प्रति ध्वन्यते । किमिदमारव्यमिल्यनेन-सम हृदये तावती वेदना यामहं सम्यक्तया न परिच्छिन्ननीति विकलतातिशयो ध्वन्यते । हृद-यामच्छ्रणेन 'न मे वशः, अकस्मादेव हृदये तादशी पीडाभूदि'ति निजपारतङ्गं सूच्यते । आरव्यमिति भूतकालिकप्रत्ययेन 'सेयं व्याकुलता बहोः कालाद्वारव्यैव, इदानीमेतस्या अपनयनमेव चिन्त्यतां नान्यः प्रत्युपायः' इति द्योल्यते ।

सुरतव्यतिकरेण भमवल्यायाः कस्याश्वन सुदशो रहस्यगोपनाऽपाठवं सर्वतः सूच-यन्ती कान्तिस्कूतमाह—

**जो वि ण आणइ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण बलआइँ ।**

**अइउज्जुआ वराई अह व पिओ से हआसाए ॥ ३८ ॥**

[ योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्गानि तेन बलयानि । ]

अतिक्रमुका वराकी अथवा प्रियतस्या इताशायाः ॥ ]

नावैति योपि तस्यापि वदति भग्नानि तेन वलयानि ।  
ऋजुकाधिकं वराकी, दधितो वास्या हताशायाः ॥ ३८ ॥

भग्नकरवलयैव प्रकटं स्थिता सेयम्—योपि नावैति न जानाति, तस्यापि तेन मे वल-यानि भग्नानीति वदति । भग्नवलयौ करौ वहन्ती सेयं स्वमुखेनेव जारकृतकङ्गणभङ्गं वदतीत्यर्थः । अत एव सेयं वराकी अतिक्रज्जुका, रहस्यसागोपनात् । अथवा हताशाया अस्या दधितः अतिक्रज्जुकः, यो गोपनीयसुरतप्रसङ्गेपि वलयभङ्गादि रतप्रकाश-ककार्यमविचारात्कृतवानिति भावः । वराकीपदेन वलयपदगोपनरूपं सामान्यकार्यमपि कर्तुमशकुवृत्ती ग्रति दयनीयतया पक्षपातो ध्वन्यते । येन वलयानि भग्नानि तं दधितं प्रति आक्रोशमप्रयुज्य ‘अस्या हताशायाः’ इत्यत्र हताशापदेन तां वराकीं प्रत्येवाक्षोश-प्रदर्शनात् ‘अनया दधित एवैतादगुपलब्धो यो रहस्यगोपनं न वेति, एतेन चास्या एव लजा गच्छति न तस्य’ इत्युपालम्भो ध्वन्यते । ‘रतप्रवृत्तजारभग्नवलयायाः सपल्याश्चारित्रखण्डनं प्रकाशयन्ती काचिदाह’ इति गङ्गाधरः । ग्राहृतवृत् संस्कृतेपि अतिक्रज्जुकेति निःसन्धिकः प्रयोगस्तु गङ्गाधरस्याप्रयुक्त एवेति मच्छायायाम् ‘ऋजुका-विकम्’ इति निरवर्त्यत ।

कस्याश्चन कपोललावण्यलक्ष्मीं वर्णयन्कश्चिदात्मनश्चम्बनाभिलाषं प्रकाशयति—

सामाइ गरुअजोवणविसेसभरिए कपोलमूलमिमि ।

पिञ्जइ अहोमुहेण व कण्ठवर्तंसेण लावण्यम् ॥ ३९ ॥

[ इयामाया गुरुक्योवनविशेषभृते कपोलमूले ।

पीयतेऽघोमुखेनेव कर्णावर्तंसेन लावण्यम् ॥ ]

इयामाया गुरुक्योवनविशेषभरिते कपोलमूलेऽसिन् ।

पीयत इव लावण्यं न्यङ्गमुखकर्णावितंसेन ॥ ३९ ॥

इयामाया उत्तमनायिकायाः । षोडशवार्षिक्या इति केचित् । गुरुणा पूर्णेन यौवनेन विशेषतो भरिते ( मांसले ) कपोलमूले न्यङ्गमुखेन अघोमुखेन कर्णावर्तंसेन लावण्यरसः पीयत इव । अन्योपि कपोलाभिमुखं न्यश्चितमुखः सन्कपोलं चुम्बति, एवमेवाधोमुखोसौ कर्णावर्तंसो यौवनेन मांसलतया समीपागते कपोलमूले लावण्यरसं पिबतीति भावः । अहमप्यनेन प्रकारेण चेदिमं रसं गृहीयां तर्हि भाग्यमभिनन्देयसिति नायकेनाभिव्यज्यते । अत्रापि इवकारस्य पीयते अनेन साक्षेव संबन्धः, पानस्यैवोत्प्रेक्ष्यमाणत्वात् । पीयते अत्र लावण्यकर्मकस्य पानस्य बाधितत्वाद् ग्रहणे लक्षणा । तेन लावण्यरसस्य निरतिशयमुभवं करोतीति बहुमानातिशयो ध्वन्यते ।

अतिशयितेनानुरागेण वायज्ञानशृत्यायाः कस्याश्चिदवस्थाविशेषं सखीं प्रति काचिदाह-

सेडलिङ्गसवङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्य सुहअस्स ।

दूँ पट्टाएन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ४० ॥

[ स्वेदाद्रिंकृतसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य ।  
दूर्तीं प्रस्थापयन्ती ( संदिशन्ती च ) तस्यैव गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥ ]

**स्वेदाद्रिंतसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य ।  
तस्यैव भवनमाप्ता दूर्तीं प्रस्थापयन्ती सा ॥ ४० ॥**

दूर्तीं प्रस्थापयन्तीं प्रेषयन्तीं सा । गोत्रग्रहणेन नामग्रहणेन । स्वेदाद्रिंतसर्वाङ्गी स्वेद-  
नाद्रिंकृतानि सर्वाण्यज्ञानि यस्याः एवंविधा सतीं तस्य भवनमेव गृहाङ्गणमेव प्राप्ता ।  
नामनिर्देशसमये तज्जन्मा तदङ्गसंस्थानस्य भावनावशात्सात्त्विकभावस्य स्वेदसोद्भूमो  
जात इत्यर्थः । अनेन सततं तद्रूपतचित्तायात्सत्या औत्सुक्यातिशयो व्यज्यते । दूर्तीं  
प्रेषयन्त्याः स्थायं गृहाङ्गणस्यैव प्राप्त्या वेदान्तरशून्यता सूच्यते । तथा च मोहानुगुणा  
दशा व्यज्यते । सर्वाङ्गस्वेदवर्णनेन—नामग्रहणे नायकस्मरणात् समागमसमयतदङ्गावसक्त-  
निजसर्वाङ्गाणमध्यासस्तस्या जात इति सततं नायककर्मकभावनाविशेषो व्यज्यते ।  
स्वेदाद्यनुभावैः, औत्सुक्यमोहादिभिः संचारिभिश्च नायकालम्बनाया नायिकानिष्ठरते:  
परिपोषो ध्वन्यत इत्यलम् । ‘अल्यासत्त्या बाह्यमसंवेदयन्त्याः कस्याश्चिद्वृत्तं कापि  
सखीशिक्षार्थमाह’ इति गङ्गावरदीका ।

दुःसहया विरहवेदनया निजपर्यवसानं सूचयन्ती काचिद्यितानयनाय सखीजनं  
त्वरयितुं कुमुकशरनमस्कारभङ्गीमेवमङ्गीकरोति—

**जन्मान्तरे वि चलणं जीएण सु मथण तुञ्ज अच्चिस्सम् ।  
जइ तं पि तेण वाणेण विज्ञसे जेण हं विज्ञा ॥ ४१ ॥**

[ जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन तवार्चयिष्यामि ।  
यदि तमपि तेन वाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा ॥ ]

**जन्मान्तरेपि चरणौ जीवेन मदन तवार्चयिष्यामि ।  
यदि तमपि तेन विध्यसि विद्धाहं येन विशिखेन ॥ ४१ ॥**

हे मदन ! येन वाणेनाहं विद्धा, तेन यदि तमपि कान्तमपि विध्यसि, तर्हि अस्मिन्  
जन्मन्येव किम् जन्मान्तरे अत्रिमे जन्मन्यपि, अन्यवस्तुद्वारा किं जीवेन निजजीवित-  
द्वारा तव चरणावर्चयिष्यामि । येन वाणेनाहं विद्धा तेनेल्यनेन—तव पञ्चशरत्वेपि यो  
बाणो मद्दुदये यादृशीं पीडां चकार नान्यो वाणस्तथा कुर्यादत एव तेनैव वाणेन विध्य,  
तदन्येषां चतुर्णामन्यतमेन नेति, पीडातिशयसातुभवो ध्वन्यते । जीवेनार्चयिष्यामी-  
त्यनेन—विरहवेदनावसंबर्वाङ्ग्याः प्रियनिवेदितचित्ताया मे निवेदनोचितं जीवितमे-  
वावशिष्टसिति ध्वन्यते । जन्मान्तरेपीत्यनेन—वियोगानलदध्येदहया मे समाप्तप्रायमिदं  
जीवितम्, अत एव तवेमसुपकारं जन्मान्तरेपि मानविष्यामीति मर्मान्तिकं विरहदुर्ख-

धन्यते । तथाच—कामशरर्जर्जरितहृदयाया मे असहवेदनया गमनोन्मुखाः प्राणाः, तत्त्वरीतं कान्तसमागमोपायश्चिन्त्यतामिति सखीजनं प्रति धन्यते ।

अतिबालायां रत्नोन्मुखं कंचिदिद्वितेनावबुध्य, कंचित्कालं यावद् रत्नसंरम्भं स्थग-  
यितुम्, अत्युत्कण्ठायामुकुलकरणविशेषेण सावधानं रन्तुं वा, काचिदिदरथवनिता  
मधुकरव्यपदेशेन चिक्षयति—

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण ।

विअसाविउणं पिञ्जइ मालहकलिआ महुअरेण ॥ ४२ ॥

[ निजपक्षारोपितदेहभारलिषुणं रसं लभमानेन ।

विकास्य पीयते मालतीकलिका मधुकरेण ॥ ]

निजपक्षारोपिततनुभरमतिनिषुणं रसं लिहता ।

परिपीयते विकास्य हि मधुकरयूनेह मालतीकलिका ॥ ४२ ॥

निजपक्षयोरुपरि आरोपितस्तनुभरः शरीरभारो यस्मिन्कर्मणि यथा भवति तथा,  
अतिनिषुणमतिसावधानं च यथा स्यात्तथा रसं लिहता पुष्परसमासादयता । पक्षाभ्या-  
मुड्डीयमानतया पक्षार्पितशरीरभारेण सता, अतिसर्तकं रसं लिहतेव्यर्थः । मधुकरयूना  
मालतीकलिका विकास्य पीयते । अल्यन्तमवहितः सन् विकासोत्तरमेव परमसातुर्येण  
मालतीकलिकागतं रसमासादयति मधुकरो न विकासात्प्राक् । तथा च—नेदानीं  
बालायामस्यां रतारम्भस्ते समुचितः, किन्तु यौवनेन रजोविकासे सत्यपि प्रथमरतेऽति-  
सर्तर्कतया वया रन्तव्यमिति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते । पक्षान्तरे ( अत्युक्णिठायां  
विकासात्प्रागेव रतपक्षे ) तु—मधुकरो यथा पक्षाभ्यामुड्डीयमानः शनैः श्वनैविका-  
सिताया मालतीकलिकाया रसमतिचामुर्येणासादयति, तथा असमर्पितभारमतिदाक्षि-  
ष्येन बालाया अस्या जघनमुकुलकेन विवार्यं स्फुटतमं रन्तव्यमिति धन्यते । ‘शिरो  
निपात्योर्ध्वं जघनमुकुलकम्’ इति वात्स्यायनः । ‘जघनशिरोभागमधस्ताच्छव्यायां विनि-  
पात्योत्तानमूर्धं जघनं कुर्यात् । अतिविस्तारणार्थमुर्युपरि स्थितहस्तपृष्ठे त्रिकमांगं  
विनिवेशयेद् । एवं जघनस्योर्ध्वं विस्तृतत्वादुपुकुलमिवोत्कुलकमिति’ तटीका । ‘पिबता’  
इति नोक्त्वा लिहतेति कथनेन ईषदीषचूम्बनादिना बाह्यरतानन्दो शाश्व इति धन्यते ।  
मालतीकलिकाया रसः पीयते इति वक्तव्ये मालतीकलिका पीयते इत्यनेन यावद्वेदं  
विकसति तावदियं कलिकामात्रमेव नासां रसः, तथा च सेयमेव उपर्युपरित उत्कुल-  
केन संगन्तव्या, रसस्तु नोपलभ्येतेति धन्यते । मधुकरयूनेति युवपदेन—त्वं यथा  
रसपरिज्ञानशाली तथा नेयम्, अत एव विकासं यावत्तीक्ष्णा कर्तव्येति सूच्यते ।  
परिपीयते इत्यन्त्र पर्युपसर्गेण—विकासोत्तरं पूर्णं रसं लप्स्यस इति प्रोचनाभिव्यज्यते  
प्रथमे पक्षे । यद्वा—त्वासपीडयन्त्रेवासौ रसमिध्यतीति नववधूमाश्वासगिरुं नायकस्य  
नववधूसंभोगाकौशलमन्यापदेशेन प्रतिपादयन्त्या दूजा इत्यमुक्तिः ।

प्रवासार्थं कृतोद्यमं कान्तं प्रति वसन्ते संभवन्तीं पान्थानां दशां दर्शयन्तीं नायिका  
आह—

**कुरुणाहो विअ पहिओ दूमिजइ माहवस्स मिलिएण ।**

**भीमेण जहिछिआए दाहिणवाएण छिप्पन्तो ॥ ४३ ॥**

[ कुरुनाथ इव पथिको दूयते माधवस्य मिलितेन ।

भीमेन यथेच्छया दक्षिणवातेन सृश्यमानः ॥ ]

कुरुनाथ इव हि पथिको व्यथते किल माधवस्य मिलितेन ।

**स्पृष्टो यहच्छयायं दक्षिणवातेन भीमेन ॥ ४३ ॥**

अयं पथिको माधवस्य वसन्तस्य वैशाखस्य वा मिलितेन संगतेन । भीमेन भयानकेन  
विरहिजनवेदनादायकत्वात् । दक्षिणवातेन दक्षिणपवनेन यहच्छया स्पृष्टः कुरुनाथ  
इव व्यथते दूयते । कुरुनाथो दुर्योधनोपि माधवस्य भगवतः कृष्णस्य मिलितेन संगतेन  
भीमेन भीमसेनेन स्पृष्टो व्यथते । प्राकृते 'दाहिणवाएण' इत्यस्य दक्षिणपादेनेति छायया  
दक्षिणचरणेन स्पृष्टो दूयत इत्यर्थः । एवं च माधवकृतसाहाय्येन भीमसेनेन दक्षिण-  
चरणद्वारा स्पृष्टो दुर्योधनो व्यथत इति पूर्णोर्थः । तथाच—विरहिजनदुरन्तेऽसिन्वसन्ते  
मल्यमासत्स्पर्शकरम्बितगत्राणां पान्थानां कीडशी व्यथेति विचारयता भवता प्रवासः  
प्रत्याख्येय इति नायिकया प्रियं प्रति सूच्यते । 'विरविरहिणीं युवतीं सखीं समाधासयितु-  
माह' इत्यवतरणम्, 'वसन्तभयादचिरादेवागमिष्यति ते प्रिय इति' तद्वाचं चाह गङ्गाधरः ।

अनवासयौवनया जायया सह रममाणं नायकं प्रणयिनी कान्चिद्विदरघा सलेहपरिहासं  
मधुकरव्यपदेशेनाह—

**जावण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।**

**मअरन्दपाणलोहिछ भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ४४ ॥**

[ यावच्च कोषविकासं ग्रासोतीवन्मालतीकलिका ।

मकरन्दपानलोभयुक्त भमर तावदेव मर्दयसि ॥ ]

**ईषत्कोषविकासं यावद्वाप्नोति मालतीकलिका ।**

**मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि ॥ ४४ ॥**

मालतीकलिका कोषस्य कुझमलस्य विकाससुन्मीलनम् । यावत् ईषत् किञ्चिन्नाप्नोति,  
मकरन्दस्य पुष्परसस्य पाने लोलुप लोभिष्ठ । मधुकर तावदेव एतसिमबन्तराल एव किं  
मर्दयसि किसिति दलयसि । अन्तःकोषस्य विकासे सत्येव कुमुमे रसोद्भवः सात्,  
एवं सत्यपि रसगानेऽत्यन्तलालसत्वात्तावदेव तां मर्दयसीत्यनुचितम् । तथा च यदि  
रसप्रहणे लालसा तर्हि तावत्प्रतीक्षणीयमिति भावः । एवमर्थप्रतीत्यनन्तरं शब्दश-  
क्तिवशात्—‘अकुमुमिततया कलिकोपमा इयं नायिका यावत्कोषविकासं वराङ्गकुञ्ज-  
लविकासं नाप्नोति, रतिसुखलम्पटतया तावदेव किमेनां मर्दयसि’ इत्यपरार्थो धन्यते ।  
यावत्किल कोषविकासो न भवेच्च तावलम्प्येत रतिसुखम् । तथापि मधुकरस्वभावात्

( रतिरसलम्पटतानिसर्गात् ) त्वमेनामेतसिशेवान्तराले यन्मर्दयसि तत्ते रतिसुखलम्प-  
टतया तावत्कालप्रतीक्षणासहनं सूचयति । अत एव त्वं मकरन्दलोङ्गोसि ! परं त्वया  
मनसभिलघ्यमाणं सुखं विकासोत्तरमेव लभ्यसिति नायकं प्रति सर्वैदर्ध्यं सखेहं सप-  
रिहासं च सूच्यते । तथा चैवंविधामप्राप्तयैवनां कंचित्कालं परिहाय असाद्विधासु  
विदर्घवनितासु प्रवर्तितव्यं येनाभिलघ्यमाणसुखसमवासिर्भवेदिति नायकं प्रति गूढं  
ध्वन्यते । किम् इति विशेषपदमनङ्गीकृत्य अविकलं मूलाङ्गुसरणे तु “मधुप त्वं तावदेव  
मर्दयसि” इति पाठो वोध्यः । एवं पाठे तु—यावदियमुन्मीलितमनेभवविलासा न भवति  
तावदीषन्मर्दनीयैव, चेद्विरितरसलालसोसि । एवमुपचारैव किञ्चोरीणामन्तःकोषविकासो  
भवति, ताशानुरज्यन्तीति निर्भयसिममपूर्वरससुपभुजीया इति नायकं प्रति सख्या वचनं  
बोद्धव्यम् । असिन्पाठे—मालतीकलिकावन्मुखादा दयनीया च सेयं नायिका यावद्वाराङ्ग-  
कुञ्जलविकासं नाप्रोति हंहो मकरन्दपानलम्पट अभर ! तावदेव एतावदन्तराल एव  
मर्दयसि बलादामर्दनेन निर्दलयसि ! ( काकुः ) । रतिरसलम्पटस्वं तावत्कालं प्रतीक्षणा-  
सहिष्णुरस्यामसमये प्रवर्तते, एषा ते दुर्विदर्घवैवेति कस्याश्चन विदर्घप्रणयिन्या उक्ति-  
रपि संभवतीति वोध्यम् । किमितिपदेन सोयमर्यो यथावदात्मलाभं लभत इत्येव  
मद्विधितमूले समगृह्यते ।

१ अस्या गाथायाः ‘नहि पराग नहि मधुर रस नहि विकास इहैं काल । अली कलीही सौं  
वँध्यो आगे कौन हवाल ॥’ इति हिन्दीमहाकविहारिपद्येन सह तुलनां तन्वानाः केचन  
अस्यां गाथायां वक्तुस्ताटस्थूरुपां भावरक्षताभिश्चिपन्ति । साधयन्ति च यदिहारिपद्ये विषया-  
सक्तं सुहृदं प्रति भाविनोनर्थस्य चिन्तया व्याकुलता, यकान्तहितैषिता, परिणामदर्शिता, चेति  
सुहृजनोचिता भावा वज्ञः प्रकटं खेलन्ति, गाथायां तु न तथा । प्रत्युत ताटस्थेन खेहशून्यतेव  
प्रतीयत इति । अत्र तावदिचारणीयं यत्तदिदं ताटस्थं प्रतीयते न वा । प्रतीयमानमपि तद्  
गाथाया उद्देश्यस्य प्रतिकूलमनुकूलं वा ? यावत्किल विकासोन्मुखाया अस्या मालतीकलिकाया  
अन्तःपरागकोषस्य विकासो न भवति तावदेव त्वमेनां रसलोङ्गपतया किमिति मर्दयसीति सुम-  
धुरमाक्षेपोक्तौ कथं वा ताटस्थं प्रतिभातीति वयं नाजानीम । स्पष्टं किल गाथायां निवेदितप्रायं  
यद्रसलोङ्गपत्त्वं कोषविकासात्प्रागेवासां प्रवृत्तोसि परं नास्याः सकाशाद्रसमाप्तेराशा । प्रत्युत  
असमये मर्दनवशादग्रेपि रसप्राप्तिमार्गां रुद्धयत इति मालतीकलिकायाः कोमलत्वमवैक्षय तत्कदर्थ-  
नेन व्यथितमानसतया हितविन्तकताभावात्पक्षमवलम्ब्य सावेगं तत्कर्मतो वर्जनरभसः प्रकटि-  
तोस्ति । एतदपि किं ताटस्थम् ? ‘नहि पराग नहि मधुर’ पद्ये एकान्तहितैषितादयो भावाः  
कदाचन केवलं “आगे कौन हवाल” असादेव प्रतीयेरन् । एवमत्रापि ‘मकरन्दपानलोङ्गपतया ताव-  
देव किं मर्दयसि’ इति पदैः ‘रतिरसलम्पटतया रसविकासात्प्रागेव किमेनां कदर्थयसि’ इति सहा-  
तुभूतिप्रदर्शनपरेसिन् वाक्ये हितविन्तकताभावः कथं नाम्भुदेति ? मकरन्दपानलोङ्गपेत्यामन्त्र-  
रेन अविकासितकलिकाया विकासपर्यन्तं प्रतीक्षणीयतामालक्ष्यापि मकरन्दपानलोभान्धतया तद-  
प्राक्षणात्मुमधुर उपालभोप्युपसाप्यते । ‘न हि परागेति’ पद्ये ‘संप्रति परागादेरभावेषि कलिका-  
ओवानुरक्तो मधुपः’ इति दशामात्रमवैद्य वक्ता दूरमविष्टते । गाथायां तु अविकासदशामा-  
वे मकरन्दरसान्धतया माऽसौ प्रवर्ततामिति भयाव हितविन्तकताउच्चा ‘किं कदर्थयसीति’ सदै-  
यखेदप्रदर्शनं तन्निवारणमप्युपदिश्यते । ततः कर्थकारं खेहशून्यतेहाक्षिप्यते ?  
अस्तु तु अन्यु दुर्जनन्यायेन यदि ताटस्थमेवात्र स्त्रीकुर्मस्तथापि तद् गाथाया उद्देश्यस्य पोषक-  
संगा ३०

भूयसरामनुरागं प्रदर्श्य पश्चान्मन्देहतामुपगतं नायकमनुकूलयितुं सवैदरव्यमुपा-  
लभमाना काचिदाह—

अकअण्णुअ तुज्ज्ञ कए पाउसराईसु जं मए क्षुण्णम् ।

उप्पेक्खामि अलजिर अज्ज वि तं गामचिकिखङ्गम् ॥ ४५ ॥

[ अकृतज्ञ तव कृते प्रावृद्धात्रिषु यो मया क्षुण्णः ।

उत्पश्याम्यलजाशील अद्यापि तं ग्रामपङ्कम् ॥ ]

अकृतज्ञ तव कृते यः प्रावृद्धरजनीषु बहु मया क्षुण्णः ।

अयि निरपत्रप पश्याम्यद्यापि ग्रामपङ्कं तम् ॥ ४५ ॥

तव कृते घनान्धकारासु वर्षारात्रिषु यो वहुतरं गाहितः, अयि निरपत्रप अलजाशील !  
तं ग्रामर्कदंसमद्यापि पश्यामि । नाधुना भूयान् समयो व्यतीतो यत्र मया त्वदर्थं भूयांसः  
क्षेत्रा अनुभूताः, त्वं तु तत्सर्वं विस्मृतवानसील्यहो ते अकृतज्ञतेर्ति भावः । अद्यापि  
ग्रामपङ्कमिलनेन—नाधुना स पङ्कोपि शुष्को यो मदनुभूतक्षेत्रसहनस्य साक्षीति स्वल्प-  
काल एव तव लेहो मन्दीवभूवेति नायकं प्रत्युपालम्भोमिव्यज्यते । ‘प्रावृद्धरात्रिषु’ इत्य-  
नेन—जलधरान्धकारितदिग्नतरासु प्रावृद्धरजनीषु रसपरवशस्त्वं मध्यनुरक्तोऽभूः परं  
प्रावृद्धजनितपङ्को यावज्च शुष्क्यते तावदेवान्यासक्षोप्यभूतियहो तेऽस्थिरलेहस्य खार्थेप-  
रायणतेर्ति ‘निर्लज्ज’ पदसहकारेण व्यन्यते । मच्छायानिविष्टेन ‘बहु’ पदेन मासद्वय  
एव मया त्वदर्थं प्रावृद्धरात्रिष्वपि कतिवारमभिसारः खीकृतः, त्वं तु एतावत्स्वल्प एव  
समये मामन्यासक्ततया विस्मरसील्याक्षेपितशयो व्यज्यते । क्षुण्ण इत्यनेन त्वदासक्त-  
चेतनाया मम मार्गगमनेपि नासीदवधानं येन पङ्किलं मार्गं सावहितमुलुद्वयेयम्, अत  
एवाहं कर्दमं गाहमानैवाचलमिति आवेगातिशयः सूच्यते । उत्पश्यामीति मूलपाठानु-  
रोधेन—‘निहीकोत्पश्याम्यहमद्यापि ग्रामपङ्कं तम्’ इति पाठः । अत्र उत्पश्यामीत्यस्य  
उत्प्रेक्षे, स्मरामीति वाऽर्थः । अहं त्वदर्थं सोढानि पूर्वकष्टान्यद्यापि भाववामि परं त्वं  
तथाध्युदासीनो भवसीति नायकं प्रति पूर्वप्रणयं संसार्य आनुकूल्यसंपादनप्रयत्नः  
प्रदर्श्यते ।

मैव न दूषकम् । अत्र हि प्राचां टीकाकाराणामवतरणस्य गाथाव्यङ्ग्यभङ्ग्याशानुसारेण “नायकं  
प्रति सानुरागा काचिदनवास्यौवनया नाथिकया सह रममाणं तमभिवीक्ष्य मधुकरव्यपदेशेन  
सखेहपरिहासमाह” इति प्रसङ्गः स्थाप्यते । एवं स्थितौ-अविकासितमन्मथकोषा सेवं भवद्व-  
विकासात्पूर्वमेव आमर्चेते, अहो ते रसपानलम्पवता ! रसस्तावद्विकासात्पूर्वमलभ्य एव । तथा—  
असद्विषं युवतिजनं विहाय अस्याने छिद्यसीति सानुरागमावेद्य नायको निवर्त्यतेऽसात्कर्मण-  
ततश्च हितमुपदेशन्वत्का “त्वं चेद्वारितोप्यसिन्कर्मणि प्रवर्तसे तहिं न त्वयि मे संमतिः”  
विरोधं व्यञ्जयन्वस्य ताटस्थ्यमेव सञ्चेत्य । अत एव च वैमत्यभयात्कर्ता तसात्कर्मतो निवर्तेत्  
तथा च तदिदं ताटस्थ्यं प्रतिकूलमनुकूलं वेति मार्मिकैरन्तः प्रविश्य परीक्षीयमिल्यलं पल्लवितेत् ।

आत्मनो रसिकतां सूचयितुं नागरिकः सहचरं प्रति कसाथ्वन पुरुषायितं वर्णयति—

रेहइ गलन्तकेसव्वलन्तकुण्डलललन्तहारलआ ।

अद्भुप्पइआ विज्ञाहरि व पुरुसाइरी बाला ॥ ४६ ॥

[ राजते गलक्षेशस्खलकुण्डललद्वारलता ।

अद्भोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ॥ ]

राजति विगलत्कुन्तलविचलत्कुण्डलविलोलहारलता ।

अद्भोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ॥ ४६ ॥

विगलन्तः विथिलबन्धत्वेन विस्तंसमानाः कुन्तला यस्याः, विचलती सुरतसंरम्भेण कम्पमाने कुण्डले यस्याः सा । बुद्धीहिंगभः कर्मधारयः । पुरुषायिता बाला अद्भोत्पतिता किञ्चिदुडीना विद्याधरीव राजते । भुवं विहाय किञ्चिदेवोत्पत्तने उत्पत्तनप्रथम-संरम्भेण केशादीनां विगलनं यथा भवति तथा विपरीतरतं कुर्वन्त्या बालाया अपि भवतीति भावः । अमराप्सरः प्रभृतिमन्यां खेगमिनीं देवजातिमनुकत्वा विद्याधरीपदेन-सेयं सुरतचातुरी न यथा कथाचिलभ्या किन्तु या इमां विद्यां जानाति तदैव सम्यक् संपादेति तदभिज्ञायाः कामनीयत्वातिशयो ध्वन्यते । ‘उद्भुप्पइआ’ इति पाठे अद्भोत्पतितेवर्थो बोध्यः । ‘विपरीतरते मुग्धवधूप्रोचनार्थं नागरिकः कस्याश्वित्पुरुषायितं वर्णयति’ इति गङ्गाधरः । मत्कृतच्छायायां विगलदिल्यादि ‘वि-ल’ वर्णयोः प्रासः प्रेक्ष्यः । मूलानुरोधेन त्रिव्यपि शत्रन्तानुग्रासलिप्सायां तु “ललत्सुहारलता” इति पाठो बोध्यः ।

निजसौभाग्यवेण सदर्पं सचरन्तं कञ्जन युवानं गुणगर्विता कापि कृष्णान्योक्तिविधया सर्वैदरध्यमाह—

जइ भमसि भमसु एमेअ कल सोहगगविरो गोष्टे ।

महिलाणं दोसगुणे विचारअइउं जइ खमो सि ॥ ४७ ॥

[ यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्टे ।

महिलानां दोसगुणौ विचारणितुं यदि क्षमोऽसि ॥ ]

भ्रमसि यदि भ्रम कृष्णवमेव सौभाग्यगर्वितो गोष्टे ।

दोषगुणौ महिलानां क्षमोसि यदि वै विचारणितुम् ॥ ४७ ॥

हे कृष्ण ! यदि सौभाग्यगर्वितो भ्रमसि तर्हि एवमेव सुखं भ्रम, चेन्महिलानां गुण-दोषो विचारयितुं समर्थोसि । उत्तमज्ञीनां गुणदोषाभिज्ञस्यैव सौभाग्यगर्वः समुचित ६. इत्याशयः । तथा च-माददश्या यदि गुणान्परीक्षितुं क्षमो भविष्यसि तदैव ते सौभाग्यं प्र परिज्ञायते, दुर्लभा किल मादशी गुणशालिनीति शृणवन्तं कान्तं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘गोष्टे’ या इत्यनेन गवां स्थाने यथा कृष्णो आम्यति एवं भवानपि यत्र कुत्रचित्सुलभासु साधार-वेष्टण्योषास्तेतावन्तं कालं संचरितवान्, नायावधि विद्रवधनितासमागमो लव्ध इति गूढ-माक्षेपे ध्वन्यते । बहुषु पुस्तकेषु ‘महिलाणं दोषगुणविचारखमो अज्ञवि ण होसि’ इति

पाठः । तथा च—गोष्ठ एवैतावत्कालं भ्रान्तवान्, महिलानां गुणदोषविचारक्षमोद्यापि त्वं न भवसीति पूर्वोक्तोऽर्थः स्फुटीभवति । ‘श्रीकृष्णं सौभाग्यगविता बल्लभी काचिदाह’ इति गङ्गाधरः ।

अनुनयपराङ्मुखं कान्तं शम्भोः प्रणामापदेशेन सामयिककर्तव्यं बोधयन्ती मानि-  
न्याः सखी आह—

**संघासमये जलपूरिअञ्जलिं विघडिएकवामअरम् ।**

**गोरीअ कोषपाणुज्ञां व पमहादिवं णमह ॥ ४८ ॥**

[ संघासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम् ।

गौर्यैं कोषपानोद्यतमिव प्रमथाधिर्वं नमत ॥ ]

**सन्ध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम् ।**

**गौर्यैं हि कोषपानोद्यतमिव नमत प्रमथनाथम् ॥ ४८ ॥**

सन्ध्यानुष्टानसमये । जलेन पूरितोङ्गलिर्यस्य तम् किन्तु विघटितैकवामकरम्, विघ-  
टितः पृथग्भूतः एको वामः करो यस्य । अर्धनारीश्वरत्वेन वामभागस्थितगौरीकस्यापि  
सन्ध्यासमये गौरीसम्बन्धी वामः करः पृथग्भूत इत्यर्थः । एकस्मिन् हस्ते आचम-  
नार्थं गृहीतसलिलमिति यावत् । गौर्यैं गौर्याः कृते कोषपानरूपं दिव्यं कर्तुमुद्यतमिव  
प्रमथनाथं शिवं नमत । अन्यसां मेऽनुरागो नार्तीति गौर्याः प्रत्ययार्थं सन्ध्याचमन-  
व्याजेन दिव्यमेव करोतीत्यर्थः । तथाच—प्रणयिन्याः प्रसादनार्थं दिव्यमपि कर्तव्यं  
भवति, ततश्च त्वयापि सेयं शपथप्रणामादिभिरुनेतव्या, नात्र विप्रतिपत्तव्यमिति  
नायकं प्रति ध्वन्यते । प्रमथनाथमिलनेन—सर्वेषां प्रमथनामधिपोपि शम्भुस्तेषामभि-  
मुखं दिव्यकरणे न संकुचति, भवांस्तु प्रणयिन्याः संमुखमनुनयेनैव लज्जते इत्याक्षेप-  
गर्भं नायकप्रोत्साहनमभिव्यज्यते । कोषदिव्यं तु याज्ञवल्क्यस्मृतौ—देवानुग्रान्सम-  
भ्यर्थं तत्त्वानोदकमाहरेत् । संसाव्य पाययेत्तस्माजलं तु प्रस्तुतिव्रयम् ॥’ नारदस्तु  
‘पूर्वाङ्गे सोपवासस्य ज्ञातस्याद्रप्टस्य च । सशूकस्याव्यसनिनः कोषपानं विधीयते ॥’

सौभाग्यशालिनीं प्रति दयितस्य प्रणयोऽवसानसमयेपि न मन्दीभवतीति सखी  
नायिकां निर्दर्शयन्त्याह—

**ग्रामणिणो सद्वासु वि पिअसु अणुमरणगहिअवेसासु ।**

**मम्मच्छेष्टु वि वल्लहाइ उवरी वलइ दिढ्ठी ॥ ४९ ॥**

[ ग्रामण्याः सर्वास्वपि प्रियास्तनुमरणगृहीतवेषासु ।

मम्मच्छेष्टेष्वपि वल्लभाया उपरि वलते दृष्टिः ॥ ]

**ग्रामण्यः सकलास्वपि दयितास्तनुमृतिगृहीतवेषासु ।**

**दृष्टिवलते मम्मच्छेष्टेष्वपि वल्लभामिमुखम् ॥ ४९ ॥**

अनुमृतेः अनुमरणस्य गृहीतो वेषो याभिस्तासु । मर्मच्छेदेष्वपि मर्मान्तकदुःखे-  
व्यपील्यर्थः । सर्वा एव दयिता अनुमरणाय वहिं प्रवेक्ष्यन्तीः पर्यन्ततो वीक्षमाणस्य  
आमनायकस्य मर्मच्छेदा भवन्तीति भावः । एवं दुःखातिरेके सख्यपि प्रामण्यो आमना-  
यकस्य दृष्टिः । वल्लभाभिसुखं वल्लभायाः अल्यन्तप्रियायाः प्रियाया अभिसुखं वल्लते ।  
सर्वाः प्रति इतस्तो आन्त्वा तत्रैव विश्राम्यतीत्यर्थः । सर्वा एवानुमरणार्थं सज्जास्तथापि  
स्नेहाळम्बनभूतायाः सुभगाया एवोपरि वारंवारं दृष्टिः संचरतीति भावः । एवं च प्रसू-  
तधन—गृहस्तामिनीत्वाद्यपैक्षया प्रियप्रणयपात्रत्वमेव समधिकं कामनीयम्, यैनावसा-  
नसमयेपि दयितां दयितो न विस्मरतीति सख्या नायिकां प्रति सूच्यते । यद्वा—मर-  
णदशामापन्नोपि सुभगामेव पश्यति, युध्मास्वद्यापि विरक्षस्तस्मादनुमरणाचिर्वर्त्त्वं कुरुच्चं  
च जारमिलभिप्रायेण कुट्टन्या इयमुक्तिरिति केचित् ।

प्रियमधुरवादिनेपि कान्ताय किमिति कुप्यसीति वादिनीं मातुलानीं काचित्प्रसाह—

**मामि सरसक्खराणं वि अतिथि विसेसो पञ्चित्याणम् ।**

**स्नेहमहाआणं अणो अणो उवरोहमहाआणम् ॥ ५० ॥**

[ मातुलानि सदृशाक्षराणामप्यस्ति विशेषः प्रजविपत्त्व्यानाम् ।

स्नेहमयानामन्योऽन्य उपरोधमयानाम् ॥ ]

**मातुलि समाक्षराणामप्यस्ति विशेष एष वचनानाम् ।**

**अन्यः स्नेहमयानामन्यो हुपरोधगदितानाम् ॥ ५० ॥**

हे मातुलि ! समानि सदृशानि अक्षराणि येषु तेषामपि । वचनानामेष विशेषः—  
स्नेहमयानामन्यः, उपरोधेन कस्यचिदनुरोधेन गदितानामनुरोधमयानामिति यावद्,  
अन्यो भिन्नः । स्नेहभावेषि अन्यं व्यामोहयितुं कितवजनो मधुराक्षराणि वचनान्युप-  
न्यस्ति, परं तेषु वचनेष्वक्षरसामयेषि अनुमवैकगम्यः स सरविशेषो न भवति यः  
किल स्नेहमयवचनेषु भवतीति भावः । तथाच मदनुरोधवशाद्यमुपरितो मधुरवचनोप-  
चारेण मां प्रतारयति, नास्य हार्दिकः स्नेह इति मातुलानीं प्रति नायिकाभिव्यज्यते ।  
कुत्रचित्पुत्रकेषु 'मामि' इति स्थाने 'सुहृ' इति पाठ उपलभ्यते । तत्र 'सुभग' इति  
संबोधनानुरोधेन कथं मामवधीरयसीति वदन्तं नायकं प्रति नायिकाया इयमुक्तिर्वौद्या ।

अन्यासासक्तमपि दाक्षिण्यवशान्मधुरं वदन्तं नायकं प्रति काचित्सरोषमाह—

**हि अआहिन्तो पसरन्ति जाइँ अणाइँ ताइँ वअणाइँ ।**

**ओसरमु किं इमेर्हि अहरुत्तरमेत्तभणिएरहि ॥ ५१ ॥**

[ हदयेभ्यः प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि ।

अपसर किमेभिरधरोत्तरमात्रभणितैः ॥ ]

**प्रसरन्ति हृदयेशाद्यानि हि भिन्नानि तानि वचनानि ।**

**अपसर कितव किमेतैरधरोत्तरमात्रभणितैस्ते ॥ ५१ ॥**

यानि हृदयदेशाद् हृदयाभ्यन्तरतः प्रसरन्ति वहिर्भवन्ति तानि वचनानि अन्यानि । अधरोत्तरमात्रभणितैः केवलं सुखतः प्रवृत्तैर्न तु हृदयतः प्रस्तैस्त्व एतैर्गदितैः किम् । कितवेति संबोधनेन निर्वाचज्ञेहभाजनभूतास्वन्याषु दिथिताषु हार्दिकं प्रेमाणं निदधासि, मयि तु सुखमात्रमधुर्वैचनैरुपचारं प्रदर्शयसीति ते कपटचर्यमहमवैमीति नायिकायाः कोपो व्यज्यते । अपसरेत्यनेन उक्तिप्रत्युक्तिकथा मां व्यामोहयितुं नात्र प्रयासः कर्तव्यै इति तदतिशयो व्यज्यते ।

अन्यस्यामासक्तिवशाद्वोत्स्खलितं कान्तं धीरा नायिका सत्वैदव्यमाह—

**कहं सा सोहगगुणं मए समं वहइ णिगिण तुमस्मि ।**

**जीअ हरिज्जइ गोचं हरिज्जण अ दिज्जए मज्ज ॥ ५२ ॥**

[ कर्थं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्षेण त्वयि ।

यस्या हियते नाम हृत्वा च दीयते मद्यम् ॥ ]

**त्वयि सौभाग्यगुणं सा निर्धृण कथसिव मया समं वहति ।**

**हियते हि नाम यस्या हृत्वापि च दीयते मद्यम् ॥ ५२ ॥**

हे निर्षेण हे निर्देय ! त्वयि भवद्विषये मया समं सा सौभाग्यं कर्थं वहति । यस्या नाम अपहियते, हृत्वापि च मद्यं समर्प्यते । त्वामवलम्ब्य सा मम समाना सुभगा नास्ति, यस्याः संज्ञाप्यपहृत्य मह्यं समर्प्यते । त्वामवलम्ब्य सा मम समाना सुभगा नास्ति, यस्याः प्रतिक्षणमनुसरणेन मञ्चामग्रहणस्थलेषि तस्या एव नाम भवन्मुखाच्चिन्सरतीति प्रियं प्रलाक्षिष्यते । निर्धृणेत्यामभ्येन-अहो ते निरुद्धुकोशत्वं यस्त्वमेकान्तमनुरागिणीं मामवधीर्य तस्यामनुरज्यसि, यस्य किल साक्षि ते गोत्रस्त्व-दनमेवेति नायकं प्रति कोपोभिव्यज्यते । तमेतं कोपं स्पष्टमप्रकाश्य वैदरध्येन कथनाचायिकाया धीरात्वं सूच्यते । केषांचिन्मतेन गम्यार्थस्य भङ्गन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तं वाच्योलङ्कारः । तत्रापि च कोपस्य चरमव्यङ्ग्यत्वाङ्ग्नित्वमव्याहृतमेवेत्यलम् ।

प्रियतमस्य विरहवेदनया भृशं विक्षयन्विता काचिदुद्ग्रान्तमानसतयोनुग्रहेव विरह-जनितमात्मनः कार्श्यमपि तत्त्वतोऽविदन्ती प्रोषितमर्तुका सखीमाह—

**सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणम् ।**

**बड्डन्ति करठिआ चिव वलआ दइए पउड्डम्मि ॥ ५३ ॥**

[ सखि कथय सज्जावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम् ।

वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥ ]

**पृच्छामः सज्जावादयि सखि वद किं समस्तमहिलानाम् ।**

**दयिते गते तु वलयाः करस्थिता एव वर्धन्ते ॥ ५३ ॥**

सज्जावादेहात्पृच्छामः, नात्र किञ्चिदन्यथा बोद्धव्यम् । दयिते प्रोषिते सति किं समस्तमहिलानां वलयाः काचादिनिर्भिताः कद्धुणाः करस्थिता एव वर्धन्ते, उत ममैवेति

वदन्त्या नायिकाया औन्मुख्यं सूच्यते । करथिता एवेलनेन-विरहकार्श्यवशाद्वाद्  
गलन्तोपि मया सौभाग्यचिह्नवहुमानेन कर एव स्थापिता न कथश्चिदपि हस्ताद्विः  
कृतास्तथा च नायिकाया विरहकार्श्यतिशयः प्रियेऽनुरागवहुमानश्च सूच्यते । अपरिचि-  
तवाग्वैदरध्याया सुग्राया: 'सद्वावात्युच्छामः, केनचिदाकूतेन सेव्यं पृच्छतीति न मन्त-  
व्यम्' इत्यादिवचनरचनानुपपत्त्या सुग्राम प्रोषितपतिका न शङ्खा । यदि तु तदिदमपि  
स्वाभाविकं तर्हि अस्तु सा । करथितानां बलयानां वृद्धिकारणभावेषि वृद्धिवर्णनाद्वि-  
भावना । पर्यन्ततस्तु-कार्श्यरूपेणानुभावेन प्रियतमालम्बनाया रतेः परिषेष इति  
रसध्यनिरेव ।

विषमदशामापन्नं स्वामिनमुपेक्ष्य परपुस्थाभिमुखीं स्वसखीं निवारयितुं कान्चिदन्या-  
पदेशविधयाह—

**भमइ पलित्तइ ज्ञरइ उक्षिविउं से करं पसारेइ ।**  
**करिणो पङ्कमघुत्तस्स षेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५४ ॥**

[ अमति परितः खिद्यते उत्क्षेमुं तस्य करं प्रसारयति ।

करिणः पङ्कनिमग्रस्य खेहनिगडिता करिणी ॥ ]

**आम्यति परितः खिद्यते उत्क्षेमुं चास्य करमथोन्नयते ।**

करिणः खेहनिगडिता पङ्कनिमग्रस्य करिणीयम् ॥ ५४ ॥

पङ्कनिमग्रस्य करिणः खेहनिगडिता करिणी । परितो आम्यति, एकस्मिन्पावें दयित-  
स्योद्वारार्थमवकाशमलभमाना, अपरपावें भवेदवकाश इत्याशया चतुर्दिंग् अमतीत्यर्थः ।  
अनेन दयितोद्वारार्थमावेगातिशयो व्यज्यते । परितो अमणीनायुपायमलभमाना विवशा  
सती खिद्यते । खेदेषि दयितं संमुखे दुःखाकुलमालोक्य नोपायेभ्यो विरामः, अत एव  
प्रेमविहला सती असोत्क्षेमुम् इममुद्दर्तु करमुन्नयते खशुण्डामूर्धं प्रसारयति । पङ्कनिम-  
ग्रस्य तस्योद्वारार्थमात्मनोऽसमर्थत्वेषि शुण्डोत्क्षेपणेन सर्वात्मना दयितगतचित्तत्वमभि-  
व्यज्यते । खेहनिगडितेलत्र निगडितपदेन-पङ्कनिममं वलभं विहाय यथान्ये यूथान्तर्मुकाः  
करिणो गतास्तथेयमपि अयास्तपरं खेहेन सेव्यं निगडितेति पारवश्यातिशयः सूच्यते ।  
तथा च-पश्चवोपि प्रियतमप्रेमाणमेवमनुरूपन्ति यदाप्राणपातं तं न परिलजनित  
प्रयतन्ते चास्य सुखोपलब्ध्ये । ततश्च-पूर्वमनुभूतपतिप्रणयसौभाग्यायास्तत्र विषमद-  
शायामेतं प्रति वैमुख्यं पश्चात्योपि हीनतासूचकसिल्याकूतविशेषो ध्वन्यते ।

सलज्जावस्थायामपि प्रियतमप्रणयोन्मादाय चतुरमहिलाः खेहाभिव्यक्तिवैदरध्यं न  
विसरन्तीति सखीं शिक्षयन्ती काचित्पार्वत्या रहोवृत्तान्तं निर्दर्शयति—

**रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।**  
**रुद्स तइअणअणं पवइपरिउम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥**

[ रतिकेलिहतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिच्छुमिवतं जयति ॥ ]

रतिसंभ्रमहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

शम्भोस्त्रृतीयनयनं गिरिजापरिच्छुमिवतं जयति ॥ ५५ ॥

रतिसंभ्रमे रतिकेलौ हृतं निवसनम् ( अर्थात्पार्वत्या ) येन स च, अवसन्नं मां मा द्राक्षीदिति लज्जावशात्पार्वत्या करकिसलयेन रुद्धं पिहितं नयनयुगलं यस्य स चेति बहु- ब्रीहिद्यगर्भः कर्मधारयः । ईदशस्य शम्भोस्त्रृतीयनयनं जयति सर्वोत्कर्षेण वृत्ते । शम्भोद्देव नयने पार्वत्या द्वाभ्यां कराभ्यामाच्छादिते, पुनर्ललाटस्य तृतीयलोचनं तु चुम्ब- नेन पिहितमिति लोचनद्वयस्थगनापेक्षया तृतीयलोचनस्त्वैव स्थगनं मनोहारि संपन्नमिति लोचनद्वयापेक्षया तृतीयमेव जयतीति भावः । अत्र शोभते इत्याथनुपादाय जयतीत्ये- तदृघटकं 'जि' धातुरुपप्रकृतिभागेन—पिधानव्यापारसाम्येषि द्वयोनयनयोः: पिधानं सर्व- त्र पिधानकार्ये उपास्तभ्यां कराभ्यां विहितमस्य तु पिधानोपकरणतया कुत्रचिदप्यप्र- सिद्धेन अत एव अलौकिकपदवाच्येन चुम्बनेन कृतमिति तस्यैव सर्वोत्कर्षं इति धन्य- जीवितत्वं सर्वाङ्गेनेत्रुभूतेनत्रमध्येषि श्रेष्ठतमत्वं च धन्यत इति काव्यप्रकाशकारः । तथा च—भगवती शिरिराजननिदन्यपि दयितमनःप्रसादसंपादनार्थं प्रणयपरिपाकपरिनिष्ठितानि रसिकचेष्टितानि निखुवनकर्मणि सावधानमनुरुद्धे, ततोस्माद्वशीभिस्त्ववश्यमेव सर्वा- वस्थासु रसमार्गमञ्जुलतैवाश्रयणीयेति सर्वां प्रलयमिव्यज्यते । अत्र गाथायाम्—रतौ रसा- वेशवशात्संजातो यः संभ्रमस्तद्वशात्पार्वत्या वसनमपनीतमिति शम्भोः कामावेगलोलतां धनयितुं संभ्रमपदमुगात्म् । यदि तु मूलपदाकाञ्चुपरण एवाग्रहस्तहिं—“रतिकेल्यपहृ- तनिवसनं” इत्यादि पाठ्यम् । मूलकारस्य रुद्रपदं तु—लोकत्रितयसंहारज्वलितनेत्रज्व- लनस्य भगवतो भर्गस्य भैरवतास्मारकं गिरीन्द्रननिदनीनिखुवनकेलिसमये सुतरामनुप- योगि, प्रत्युत रसमार्गविरोधीति शम्भुपदेन ( शं रताञ्चकूल्यरूपं सुखं भावयतीति ) परि- वर्तितमिति तयोस्तारतम्यं सुधीभिरेवाकलनीयम् । पार्वती—गिरिजापदे तु समानार्थके एवेति न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यलमधिकसूक्ष्मविचारचर्चया ।

कोडाभ्यन्तरे नवपलाशलतया ताडयतो हलिकिशोरस्य प्रहारान्सव्यपदेशमि- च्छन्त्याः कस्याश्विदनुरागं तं प्रति सूचयनागरिक आह—

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिवीपहमिम संठाइ ।

णवलइकरस्स तुह हलिअउत्त दे पहरसु वराइम् ॥ ५६ ॥

[ धावति पुरतः पार्श्वयोर्भ्रमति दृष्टिपथे संतिष्ठते ।

नवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र है प्रहरस्य वराकीम् ॥ ]

धावति पुरतः परितो आम्यति तिष्ठति च दृक्पथेषीयम् ।

तव नवलताकरस्य प्रहर वराकीं तु हलिकसुत कामम् ॥ ५६ ॥

मूले 'दे'शब्दः संबोधने । हे हलिकसुत ! नवलतिकां करे गृहीतवतस्तव इयं पुरतो धावति परितः तव पार्ष्योत्रमति, किञ्च ताडनभयान्न तिरोदधाति प्रत्युत तव दृष्टिपथे तिष्ठत्यपि । अत एव वराकीं कामं प्रहर । त्वत्प्रेमवशायाहारमपि प्रतीच्छन्त्या अस्मात्स्वदनुगायास्ताडनं नोचितमिति वराकीपदेन धन्यते । हलिकसुतेल्येनेन कैशोर्यं सूच्यते । कामं प्रहरेत्यनेन-इयं त्वय्यनुरक्ता, अस्माभिरपि चेदमभ्यूहितमिदानीं यथेच्छं प्रहरेति साकूतं सूच्यते । प्रियतमनाम षुच्छाद्विर्नवपलाशादिलतया यत्र प्रियो जने हन्यते सा कीडा चूतलतिकेति सरखतीकण्ठाभरणे भोजः । यद्वा-नवलताकुञ्जं संकेतस्थानं त्वं गतो न त्वियमिति कृतापारधामेनां प्रहरेति सोपहासं कुट्टीवचनमिदमिति गङ्गाधरः ।

नायिकां कौमार्यं एवोपभुक्तवर्तं कञ्चन विलासिनं पतिसदनेष्यमिसरन्तं वीक्ष्य तदृ-  
तान्तं निजवयस्याय कश्चिद्विदर्शयति—

**कारिममाणन्दवर्डं भामिज्जन्तं बहूअ सहिआहिं ।**

**पैच्छइ कुमारिजारो हासुस्मिससेहिं अच्छीहिं ॥ ५७ ॥**

[ कृत्रिममानन्दपटं आम्यमाणं वध्वा सखीभिः ।

प्रेक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥ ]

**कृत्रिममानन्दपटं भ्रामितमितो वधूवयस्याभिः ।**

**हासोन्मिश्रितनयनं निरीक्षते किल कुमारिकाजारः ॥ ५७ ॥**

आनन्दपटः प्रथमप्रथमं वरेण संगताया वध्वा वस्त्रम् । प्रथमसंगमे लग्नोहितं वधूवत्त्वं वरसंबन्धनीभिर्महिलाभिर्लोकेषु प्रदर्शयत इति देशविशेषे आचारः । ततश्च-  
जारसंगमेन पूर्वमेव दृष्ट्योणितत्वात्कृत्रिममानन्दपटं वध्वा: रहय-  
भुक्ताभिः सखीभिरभितो आम्यमाणं हासोन्मिश्राभ्यां नयनाभ्यां स जारः प्रेक्षत  
इत्यर्थः । अन्यस्य पराक्रमेषि अन्यकृतिं प्रख्याप्य अनवसरं संभ्रमदर्शनमिति जारस्य  
हास इत्याशयः । 'कृत्रिमं सर्वमुपहासास्पदं भवतीति निर्दर्शयन्कथित्यस्य वैदर्घ्यव्या-  
पनाय सहचरमाह' इत्यवतरणम्, 'आनन्दपटः प्रथमपुष्पवतीवस्त्रम् । प्रथमरजोद-  
र्शने जाते तद्वत्त्वं बन्धुभिर्लोकेषु प्रदर्शयत इति देशविशेषे आचारः । जारसंबन्धदृष्ट-  
शोणिताया अस्थानं संभ्रमदर्शनेन जारस्य हासः' इति गङ्गाधरकृतं तद्विवरणं च ।

शिशिरसमये अधरोणिन्ना मधूच्छिष्टं लापयन्तं तरुणीं वीक्ष्य कश्चिदात्मने वैद-  
र्घ्यप्रदर्शनाय सहचरमाह—

**सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण ।**

**बन्धयेह धवलवणवडुअं व वणिआहरे तरुणी ॥ ५८ ॥**

[ शनकैः शनकैर्लिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।

बद्धाति धवलवणपट्टमिव वणिताधरे तरुणी ॥ ]

शनकैः शनकैर्लिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।

वणिताधरे हि तरुणी धवलवणपट्टमिव निबद्धाति ॥ ५८ ॥

मदनपटो मधुचिछष्टम् तस्य द्रवीकरणस्य व्याजेन । दयितदंशनेन ब्रणिते अथवे ॥

सुरते वस्त्रविमोक्षादिषु सुभृशं विप्रतिपद्यमानां नवीनां कांचिज्ञायकप्रेरिता सखी  
शिक्षयति—

**रहविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअंसणाओं सहस व्व ।**

**ठकन्ति पिअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥**

[ रतिविरामलज्जिता अप्राप्निवसनाः सहसैव ।

आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥ ]

**सुरतविरामविलक्षा अनास्तवसनाश्च सहसैव ।**

**आच्छादयन्ति जघनं प्रियतमपरिरम्भणेन कुलवध्वः ॥ ५९ ॥**

पूर्वं रसाविष्टतया अजानन्त्योपि सुरतविरामे लज्जिताः, ततश्च सहसैव न प्राप्तं  
निवसनं याभिस्ताः । आच्छादयन्तीत्यनेन लज्जातिशयसूचकं येन केनापि प्रकारेण  
गोपनं व्यज्यते ।

अत्युग्रस्थभावं बहासक्तमपि दयितं वशीकृतवत्याः सपद्याः सौभाग्यं काचिदन्याप-  
देशेन सास्यमाह—

**पाअडिअं सोहगं तम्बाए उअह गोट्टमज्जम्मि ।**

**दुष्टवसहस्स सिङ्गे अक्षिखउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥**

[ प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।

दुष्टवृषभस्य शूङ्गे अक्षिखुटं कण्डुयन्त्या ॥ ]

**प्रकटितमतिसौभाग्यं पश्यत गोष्ठे गवा हनया ।**

**दुष्टवृषभस्य शूङ्गे कण्डुयन्त्या नयनपुटम् ॥ ६० ॥**

‘गोष्ठे’पदेन नारीमण्डलेपि सख्यनैव वशीकृत इति संसक्षबहुनारीकोयमिति  
धन्यते । ‘गवा अनया’ इत्यनेन ‘उपरितो मुख्यायितयापि अनया एताद्वशोपि विष-  
मशीलोयं वशीकृत इति साकूतं व्यज्यते । दुष्टवृषभस्येत्यनेन—नवोदासक्तया आत्मानं  
परिलक्षवन्तं नायकं प्रति असूया व्यज्यते । अतिरीक्षणे शूङ्गे अतिसुरक्षणीयस्य नयन-  
पुटस्य कण्डुयनोक्तया अतिरहस्यप्रविष्टतया लेहाधिक्यं व्यज्यते । प्राकृते ‘तम्बा’ गौः ।  
‘कापि कस्याश्वितसौभाग्यमन्यापदेशोनाह’ इति गज्जाधरः ।

कस्याश्वितसुरतरसलमप्टतां नागरिकः सहचरमाह—

**उह संभमविक्षित्तं रमिअव्वअलेहलाएं असईए ।**

**णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥**

[ पश्य संभमविक्षित्तं रन्तव्यकलमप्टया असत्या ।

नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥ ]

**रतिरसलमप्टया किल पश्य कुलटयात्र संभ्रमक्षितम् ।**

**नवरङ्गकं निकुञ्जे ध्वजमिव दत्तं ह्यविनयस्य ॥ ६१ ॥**

कुञ्जे संकेतस्थाने अविनयस्य दत्तं धजमिव रतिरससंब्रेमेण क्षिप्तं नवरङ्गकं कौसु-  
भ्ववन्नं पश्य । 'जारप्रलोभनाय दूरी कस्याश्चिद्रतलंपटतामाह' इति गङ्गाधरः ।

कस्याश्चिद्रुरागातिशयं प्रकाश्य तदभियोगाय नायकं त्वरयन्ती वृद्धा दूरी साप-  
देशमाह—

हृथथप्फंसेण जरगवी वि पङ्कहइ दोहअगुणेण ।

अवलोअणपङ्कहिं पुत्तआ पुणोहिं पाविहिसि ॥ ६२ ॥

[ हस्तस्पर्शेन जरद्वयपि प्रस्तौति दोहदगुणेन ।

अवलोकनप्रस्तवनशीलां पुत्रक पुण्ये: प्राप्स्यसि ॥ ]

प्रस्तौति जरद्वयपि हस्तस्पर्शेन दोहकगुणेभ्यः ।

अवलोकप्रस्तवनां पुत्रक पुण्यैरवाप्स्यसि क्वापि ॥ ६२ ॥

दोहकस्य गुणेभ्यः दोहकगुणहेतुवशात् तस्य हस्तस्पर्शेन जरती गौरपि प्रस्तुतपयो-  
धरा भवति । अवलोकनमात्रेण प्रस्तवनशीलां पुण्यैरेव कुत्रापि प्राप्स्यसि । इयं तद्व  
गुणाऽश्रवणेषि केवलमवलोकनादेव त्वय्यनुरक्ताऽभवदिति भवद्वापयैभवेन स्वभावतो-  
नुरागिणी सेयं त्वरितमेव संभावनीयेति व्यज्यते । 'पुत्रक' इत्यामच्छणेन-कृतभूयनु-  
भवा त्वां विश्रम्भवशाद्वयामीति विश्वसनीयत्वं दोख्यते । गुणेभ्य इति हेतौ तृतीया ।  
बहुत्वेन हस्तमार्द्व-अङ्गुष्ठपर्वनिष्ठीडनपाटवादिगुणवाहुल्यं दोख्यते । मूलादुसरणाग्रहे  
तु 'दोहदगुणेन' इति पाठे बोध्यः ।

मन्दं चलन्तीं काश्चित्सुन्दरीं वीक्ष्य उक्तिप्रत्युक्तिक्या नागरिकौ सपरिहासमात्मा-  
भिलाषप्रकाशनमुपक्रमाते—

मसिणं चङ्गम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गम् ।

णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिम् ॥ ६३ ॥

[ मसृणं चङ्गकम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम् ।

नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपङ्गिम् ॥ ]

मसृणमपि चङ्गमन्ती पदे पदे किमिति वहति मुखभङ्गम् ।

नूनं मेखलिकास्या जघनगतां स्पृशति नखपङ्गिम् ॥ ६३ ॥

मसृणमपि चङ्गमन्ती मन्दमपि पादन्यासं कुर्वती । चङ्गमन्तीति यच्छगन्ताच्छ-  
तुप्रख्यः । मुखमङ्गं मुखविकारम् । पद्यपूर्वार्धमेकत्य ग्रन्थः, उत्तरं तृतीयम् । मेखलिकेति  
खल्पार्थे कन्त् । तेन च तमुमेखलास्पर्शेषि जघनगतनखरक्षतेषु पीडोदयत्तेषां सान्द्रत्व-  
मार्दित्वं च सूच्यते । ततश्च-सबाहोपचारं सकौशलोत्साहं च सुरतमासेवमानायास्ते  
खल्प एव कालोतीत इति ज्ञातमस्यामिः । किमेवमसाक्षपि दीर्घ्यस इत्यभिलाषप्र-  
काशानं चरमं व्यङ्ग्यम् ।

सप्तलीचरणलाक्षालाङ्घतकरं दयितं खण्डता साकृतमाह—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।

चलणेण विक्रमाइत्तचरिअँ अणुसिक्षिअँ तिस्ता ॥ ६४ ॥

[ संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।

चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥ ]

ददता संवाहनसुखरससंतुष्टेन तव करे लाक्षाम् ।

विक्रमनरेन्द्रचरितं चरणेन हि शिक्षितं तस्याः ॥ ६४ ॥

त्वत्कृतसंवाहनस्य सुखरसाद् संतुष्टेन अत एव तत्परिवर्ते तव करे निजनिष्ठां लाक्षाम् ( अलक्तकम् ) ददता संक्रामयता तस्याश्वरणेन विक्रमादित्यस्य चरितं शिक्षितम् । सप्तलीपदसंवाहनेन त्वत्करे तस्या लाक्षा संक्रान्ता, तदिदं मया ज्ञातमिति साकृतं सूचयति । विक्रमादित्योपि ‘संवाहणस्स’ संवाहनस्य सुखात्संतुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्खं लक्खं ददति । भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टे विक्रमादित्यो भृत्यस्य करे लक्खं समपिंतवानिति तच्चरिते श्रूयते । प्राङ्गते संवाहणं संवाधनम् लक्खं लक्खम् । सुखोत्तरं रसपदसंनिवेशन—लया तथा संवाहनं कृतं यथा तस्युखेन स्पर्शामोदजनित-स्तस्या भूयानानन्दो जातः । एवं च—सप्तलीभनोनुकूलाद्युवर्तनेन सात्तुरागत्वं सूचितम् । संतुष्टपदेन संवाहनसेवायाः पूर्णता सूचिता । अत एव प्रसादसुचिका लाक्षा पुरस्कारह-पेण प्राप्तेति सप्तल्याः साभिलाषानुवर्तनीयत्वमाक्षिप्यते । चरणेन विक्रमनरेन्द्रवदाच-रितमित्यनेन—‘त्वं तां तथा सभयमनुवर्तसे यथा सा आत्मनि राजवदुपर्देव्यत्वमभिम-न्यते’ इत्याक्षेपो ध्वन्यते । एवं च—त्वदनुवर्तनं कुर्वतीं मां विहाय तस्याः सभयानुवर्तनं त्वं बहु मन्यसे अत एव पादसंवाहनसेवया संतोष्य लाक्षानुरज्जनमवाप्नीयति साकृतमु-पालम्भो ध्वन्यते ।

अनुनयं विनैव परिलक्तमानां सखीं शिक्षयितुं मानस्य सुखकारकतां काव्यित्सम-र्थयते—

पाअपडणाणं मुद्दे रहस्यलामोडिचुम्बिअव्याणम् ।

दंसणमेत्तपसणे चुकासि सुहाणं बहुआणम् ॥ ६५ ॥

[ पादपतनानां मुरधे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम् ।

दर्शनमावप्रसञ्जे अष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥ ]

मुग्धे पदपतनानां रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम् ।

अवलोकमात्रुष्टे ! बहुलसुखानां हि वश्चितैषासि ॥ ६५ ॥

दयितस्यावलोकनमात्रेण प्रसन्ने हे सुरघे ! अनुनयनिमित्तानां पादपतनानाम्, रभ-सेन ( विगेन ) बलात्कारेण च चुम्बनानाम्, एतदवीनं बहुलसुखानाम् एषा त्वं वशि-तासि । पश्चम्यर्थे पष्ठी । पादपतनादिभ्यो बहुभ्यः सुखेभ्यो अष्टासीलर्थः । एषा त्वं

वज्ञितासीत्येतत्पदेन—पूर्व दत्तशिक्षापि प्रत्यक्षं त्वमधुना मात्रपरित्यागस्य दुष्फलमनु-  
भवसीति निजवक्तव्ये बलमभिसूच्यते । सुग्रे इत्यामच्चणेन—खसुखमवधीरयन्ती  
साम्प्रतमपि त्वं मुरघैवासीत्युपालम्भः सूच्यते । सुखानामित्यादौ चतुर्थर्थे षष्ठीति तु  
गङ्गाधरोक्तिर्विचारणीयैव ।

मानवर्तीं सुदतीमनुनयनायक आह—

दे सुअणु पसिअ एहिं पुणो वि सुलहाइँ रुसिअब्बाइँ ।

एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई ॥ ६६ ॥

[ हे सुतनु प्रसीदेदार्नीं पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि ।

एषा मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्जवला गलति क्षणरात्रिः ॥ ]

सुतनु प्रसीद सम्प्रति पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि ।

उत्सवरजनी स्येयं मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्जवला गलति ॥ ६६ ॥

रोषितव्यानि रोषाः । रोषाः पुनरपि सहजमेव कर्तुं शक्याः परम् अकस्मादेव मृग-  
लाञ्छनेन ( चन्द्रेण ) उज्जवला इयमनिर्वचनीयमनोहरा क्षणरात्रिस्तस्वरात्रिन् पुनः  
प्राप्येत्याशयः । व्यत्येतीत्यादिस्थाने गलतीत्युक्त्या—हस्तगतापि निरथंकं व्यतिगच्छतीति  
व्युज्यते । त्वं मृगाक्षीति मृगसंबन्धवशान्मृगलाञ्छनसानुरोधोऽवश्यं परिपाल्य इति  
मृगाक्षीत्यामच्चणेन सूच्यते । ‘छणराई’ इति मूलपदाङ्गुरोधे तु ‘क्षणरजनी बत सैषा’  
इति पाठ्यम् । कुत्रचित् ‘दे सुअणु’ इति स्थाने ‘दे सुह्ब’ इति पाठः । तत्र पूर्वार्थे  
नायकम्, उत्तरार्थे नायिकां चेति अन्योन्यृथीतमानौ द्वावप्यामच्य दूतीं प्रतिबोधयतीति  
व्याख्येयम् ।

ग्रन्थान्तःपतितां गाथाकोषकारस्य प्रशंसां नैपुण्येनाह—

आवण्णाइँ कुलाइँ दो विअ जाणन्ति उण्णाइँ षेउम् ।

गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो ॥ ६७ ॥

[ आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उच्चरितं नेतुम् ।

गौर्या हृदयदयितोऽथवा शालिवाहनरेन्द्रः ॥ ]

आपन्नानि कुलानि द्वावेव हि विदुरुचरितं नेतुम् ।

गौर्याश्च हृदयदयितोऽथ शालिवाहनरेन्द्रश्च ॥ ६७ ॥

‘आवण्णाइँ’ इति प्राकृतस्य ‘आपर्णानि’ ‘आपन्नानि’ इत्युभयमप्यर्थः । ततश्च—अपर्णा  
पार्वती, तत्स्मवन्धीनि कुलानि उच्चरितं गमयितुं गौरीदयितो जानाति । आपन्नानि  
आपद्रूपानि कुलान्युच्चमयितुं च शालिवाहनरेन्द्रो जानातीत्यर्थः । ‘कामार्तायास्तस्याः  
प्रतीकारं कर्तुं त्वमेव शक्त इत्यन्यापदेशेन दूतीं कमप्याह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।  
एवंविधेषु पदेषु ‘अमृतं प्राकृतकाव्यम्’ इति प्रतिज्ञावशाद्वरेन शुज्ञारार्थकल्पनसिति  
पूर्वमुक्तमेव मया ।

सीषणजनवस्थितां काञ्चिदधमां नाथिकां कामयमानं कञ्चन निर्वतेयन्ती दूरी  
अन्यापदेशेनाह—

णिक्षाण्ड दुरारोहं पुत्रं मा पाटलिं समाख्यसु ।

आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए ॥ ६८ ॥

[ निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समाख्योह ।

आरूढनिपतिताः के अनया न कृता हताशया ॥ ]

निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समाख्योह ।

आरूढनिपतिताः के न कृता अनया हताशया हन्त ॥ ६८ ॥

काण्डं वृक्षस्कन्धोऽवसरश्च । तथा च—स्कन्धरहिताम् अत एव दुःखेनारोहणीयां  
पाटलिम् ( वृक्षम् ) मा आरोह । अनया बहवो जनाः आरूढा एव निपतिताः कृता  
इति वाच्योर्थः । सीषणजनरक्षितत्वाद् अनवसराम् अत एव दुःखरहितामाणमां तां  
नाथिकां नाभिसर, अनया बहवो जना निष्कलमेव निन्दाभाजनं कृता इति कामुकं  
प्रति व्यङ्ग्योर्थः । पुत्रकेत्यामच्छ्रेण स्वस्य विश्वसनीयत्वं व्यज्यते । हताशयेत्यनेन—  
त्वन्मनोरथानुवर्तिन्यप्यहम् तस्या अवसराभावात् आशां विहतां भावयामीति सूच्यते ।

ग्रामनायकविनितासक्तः पुत्रो निवार्यतामिति दाक्षिण्येन सूचयन्ती काव्यच्छ्वाशमाह—

गामणिघरम्भिं अत्ता एक विअ पाटला इह ग्रामे ।

बहुपाटलं च सीसं दिअरस्सण सुन्दरं एअम् ॥ ६९ ॥

[ ग्रामणिगृहे शश्व एकैव पाटला इह ग्रामे ।

बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥ ]

एकैव पाटलास्मिन् ग्रामे ग्रामणिगृहे किल शश्व ।

बहुपाटलं च शीर्षं न सुन्दरं देवरस्यैतत् ॥ ६९ ॥

संपूर्णेऽस्मिन्नामे ग्रामनायकस्य गृहे एकैव पाटला ( वृक्षः ) अस्ति । देवरस्य मस्तकं  
च बहूनि पाटलापुष्पाणि यस्मिस्ताद्यभस्ति एतत्सुन्दरं नेत्यर्थः । अनुरक्षया ग्रामणी-  
गृहिण्या पाटलापुष्पाणि दत्तानि, यानि तद्बहुमानादनेन शीर्षे मणिष्ठानीत्याशयः ।  
ग्रामणीपदेन—ग्रामस्य स नायक इत्यनुपर्यणीयात्तदृग्हाहुर्लभानि तानि पुष्पाण्युपा-  
यान्तरेणालभ्यानीति सूच्यते । तथा च—चिह्नैरुमाय भयापवादजनकोर्यं देवरस्य  
ग्रामणीगृहाभिसारो निरोद्धव्य इति शश्वं प्रत्यभिव्यज्यते ।

कस्याश्रित्कटाक्षदाक्षिण्यं सहजानुरागं च संप्रकाश्य नायकं प्रलोभयन्ती दूरी सुम-  
धुरमाह—

अणाणैँ वि होन्ति गुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइँ ।

णअणाइँ सुन्दरीणैँ तह वि हु दहुण जाणन्ति ॥ ७० ॥

[ अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।

नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति ॥ ]

सन्ति मुखेऽन्यासामपि पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।

नयनानि सुन्दरीणाम्, तदपि द्रष्टुं न जानन्ति ॥ ७० ॥

इतोऽन्यासामपि सुन्दरीणां मुखे पक्ष्मलधवलादिगुणविशिष्टानि नयनानि यद्यपि सन्ति तथापि तानि नयनानि दर्शनचातुर्यं न जानन्ति । इयमेव कटाक्षवीक्षणे प्रगल्मेल्याशयः । सहजा अपि नयनगुणा भूविलासादि वैदर्श्यं विना विफलभूता इति भावः । किञ्च द्रष्टुं न जानन्तीत्यनेन-अन्याः सुन्दरीयो दीर्घभ्यामपि नयनाभ्यां न सम्यक् पश्यन्ति, या अगुणज्ञेषु अन्येषु जनेष्वतुरज्यन्ति । परम् मतप्रस्तुता सेयं नायिकैव द्रष्टुं जानाति, या भवन्तं सङ्कृदू द्वृष्टैव परिचितवती । ततश्च-सहजनेहा सेयं नायिका त्वरितमनुसरत्व्येति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

गाथाकोषनिर्मापकस्य शालिवाहननरेन्द्रस्य अन्थान्तःपतितां स्तुतिमभिव्यनक्ति—

हंसैहिं व तुह रणजलअसमअभअचलिअविहलवक्खेहि ।

परिसेसिअपोम्मासैहिं माणसं गम्मइ रिउहि ॥ ७१ ॥

[ हंसैरिव तत्र रणजलदसमयभयचलितविहलपैषैः ।

परिशेषितपद्माशौर्मानसं गम्यते रिषुभिः ॥ ]

तत्र रणजलदसमयभयचलविहलपक्षकैरनुस्त्रियते ।

परिशेषितपद्माशौर्मानसं रिषुभिः ॥ ७१ ॥

रुण एव जलदसमयसङ्कृद्याच्छ्वलाः अत एव विह्लाः पक्षाः सहायाः येषां तैः । परिशेषिता पद्मायाः ( लक्ष्म्याः ) आशा यैः । ईदृशैः रिषुभिर्हंसैरिव तत्र मानसं ( मनः ) अनुस्त्रियते अनुवृत्तते । विजिताः शत्रवस्त्वां त्वन्मनोनुसारं सेवन्ते इत्याशयः । हंसैरपि-रण-( स्तनित )-युक्तानां जलदानां समये भयाच्छ्वला विह्लाः कम्पमानाश्च पक्षाश्छदा येषां तैः, परिशेषिता पद्मानां कम्लानाम् आशा यैः ( वर्षाषु कम्लानां विलोपात् ), ईदृशैः सद्भिर्मानसरोरमनुगम्यते । रणयुक्ता जलदाः रणजलदा इति मध्यमपद्लोपिसमासाः । प्राकृते तु रणजलदा इत्यप्यथो भवति । हंसैरिवेत्युपमया-वैरिणोपि तत्र शौर्यप्रतापाद्विवर्णं निरस्तकलमषबुद्धयस्त्वां सेवन्ते, किमन्ये सुहृत्-सूरिप्रभृतय इति सर्वोपसेव्यत्वेन महाप्रभावत्वं राजो व्यज्यते । ‘दण्डयात्रोद्यतस्य राजः उत्तिष्ठेधाय राजस्तुतिव्याजेन वर्षाकालं राजी वर्णयति’ इति गज्ञाधरटीकावतरणम् ।

दुर्गतेषि दयिते नितान्तमनुरक्तासौ धनवैभवादिना न साध्येति दूती कस्याश्चित्सु-चरितमाह—

दुग्गाध्यरम्भि घरिणी रक्खन्ती आउलक्षणं पड्णो ।

पुच्छिअदोहलसङ्क्षा पुणो वि उअअं विअ कहेइ ॥ ७२ ॥

[ हुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्ती आकुलत्वं पत्युः ।

पृष्ठदोहदश्रद्धा पुनरप्युदकमेव कथयति ॥ ]

दुर्गतगैरहे गृहिणी रक्षन्ती पत्युराकुलीभावम् ।

अपि पृष्ठदोहदेयं कथयति पुनरप्युदकमेव ॥ ७२ ॥

पृष्ठो दोहदः ( गर्भिण्यवस्थासंबन्धी अभिलाषः ) यस्याः इदशीयं गृहिणी पत्युव्यां-  
कुलत्वं रक्षन्ती सती पुनरपि प्रश्ने उदकमेव कथयति । दुर्लभवस्तुप्रार्थनायां दीनेसौ  
व्याकुलो भविष्यतीति विचार्य वारंवारं पृष्ठपि उदकमेव प्रार्थयते इत्यर्थः । गृहिणी-  
पदेन-सैव गृहस्य स्वामिनी, ततश्च गृहदारियं सम्यग् विजानातीति सूच्यते । दुर्गतस्य  
गृहिणीत्यनुकृत्वा दुर्गतगैरहे गृहिणीत्यनेन-संपूर्णं गृहमेव दुर्गतिप्रस्तामिलतिशयो व्य-  
ज्यते । ‘अनायासाद्यमेव प्रार्थनीयमिति सर्वां शिक्षयन्ती-काचिदाह’ इति गङ्गाधरः ।

अधिष्ठापराह्ने स्नातवतीनां युवतीनां कामिजनमनोहारिणी कान्तिसुषमेति नागरिकः  
सहचरस्माह—

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणम् ।

अवरह्लमज्जिरीणं कए ण कामो वहइ चावम् ॥ ७३ ॥

[ आताग्रलोचनानामाद्रांशुकप्रकटोरुजघनानाम् ।

अपराह्लमज्जिनीलानां कृते न कामो वहति चापम् ॥ ]

आताग्रलोचनानामाद्रांशुकलक्षितोरुजघनानाम् ।

अपराह्लमज्जिनीनां कृते न कामो धनुर्वहति ॥ ७३ ॥

सद्यः स्नानाद् ईषदरुणनयनानाम्, आद्रांशुके लक्षितम् ( प्रकटम् ) ऊरजघनं यासां  
ईदशीनामपराह्लाजनशीलानां महिलानां कृते कामो धनुर्व धारयति । ताः स्वयमेव  
कामिनां मनः क्षोभयितुमल्लम्, न तदर्थं कामचापस्यापेक्षेत्याशयः । मज्जिनीति  
ताच्छील्ये णिनिः । ततश्च-प्रतिदिनं सायाह्ने स्नानं यासां स्वभाव इत्युक्त्या स्वाभाविकी  
शृङ्गारस्वचिः सूच्यते । गङ्गाधरस्तत्र विचित्रमेवाह—‘ईदगवस्थानां युवतीनां रक्षणार्थमेव  
कामश्चापं वहति । अन्यथा निरर्थकत्वात्यक्षमेव स्यादिति भावः’ । सोयमर्थः ‘कृतेन’  
इति तृतीयान्तपाठे कथंचित्संगतः स्यात्परं सरस्वतीकण्ठाभरणादिषु ( ५ परिच्छेदः )  
नायं पाठः संमन्यते । यदि स्यात्तदपि—‘ईदगवस्थानां युवतीनां कृतेन, एवंविधयुवती-  
नामर्थं एव कामो धनुर्वहति । यदेवंविधा युवतयो न भवेयुस्तर्हि कामिसंमोहनस्य  
विषयाभावात्का नाम धनुर्धूननस्यापेक्षेत्याशयः कल्पनीयः ।

वारवधूनां व्यामोहकतां वर्णयन्कोपि वयस्माह—

के उवरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा ।

णहराइं वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति ॥ ७४ ॥

[ के उवेनिरिताः के इह न खण्डिताः के न लुसगुरुविभवाः ।

नखराणि वेइशा गणणारेखा इव वहन्ति ॥ ]

उर्वेरिताः कै, कै वा न खण्डताः, कै न लुप्तगुरुविभवाः ।  
नखराणि वेशयोषा गणनारेखा इव वहन्ति ॥ ७४ ॥

के उर्वेरिताः विमोहनादवशिष्ठाः, अनाकृष्टा इति यावत् । के वा न खण्डताः केषां वा व्रतखण्डनं न कृतमित्यर्थः । के वा लुप्तो गुरुर्विभवः (धनसंपत्तिः) येषामीदशा न कृता इति गणनारेखा इव नखराणि कामुकदत्तनखक्षतानि वेशया धारयन्तीत्यर्थः । यद्वा—‘णहराइ’ नखराजिम् । नखक्षतपङ्किमित्यर्थः । कामुकदत्तनखक्षतपङ्किव्याजेन के उर्वेरिता इत्यादिगणनारेखा वहन्तीति भावः । के के खण्डताः, के वा लुप्तविभवा इत्यादिविधिमुखेन गणनामकृत्वा निषेधमुखेन गणनायास्तात्पर्य तु—संमोहनसामर्थ्यात्मित्यशात् वशीकृतानां कामिनां गणना तु विस्तारवशाद्वासंभवा । गणनायामपि वशीकृतस्यैकस्य कामिनो गणनार्थमेकस्या नखक्षतरेखाया आवश्यकतया तावच्छखक्षतरेखानामवकाश एव न स्यात् । अत एव अवशीकृतानामेव गणनार्थं रेखाकल्पनमिति । ततश्च—चातुर्योपभोग्यतया दृश्यमानविरलनखक्षतत्वाद्विरला एव तासां चक्रात्पुरक्षिता इति व्यज्यते । किंवा सर्वं जगदेव वेशया वशीकर्तुं कामयन्ते, अत एव ये मोहितास्तदर्थं गणनारेखाया नावश्यकता, किं तु ये नाकृष्टास्तद्वग्ननमेवावश्यकमिति तासां वशीकरणातिशयः सूच्यते । नखक्षतानां गणनीयतावर्णनेन तानि स्पष्टं दृश्यन्त इति सूच्यते । तथा च—स्तन—कपोलादीनां प्रकटप्रदर्शनेन कामिमोहनहेतुको वेश्याखमादो व्यज्यते ।

प्रवासादागतं दयितं प्रति निजानुभूतं विरहदुःखं सबैद्रध्यमावैदयति काचित्—

विरहेण मन्दरेण व हिअं दुद्धोअहिं व महिऊण ।  
उन्मूलिआहि अब्बो अम्हं रअणाहि व सुहाहि ॥ ७५ ॥

[ विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुर्ग्रोदधिमिव मथित्वा ।  
उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि ॥ ]

हृदयं दुर्ग्रोदधिमिव विमथ्य विरहेण मन्दरेणेव ।  
उन्मूलितानि कष्टं रत्नानीवेह नः सुखानि किल ॥ ७५ ॥

दुर्ग्रोदधिपदेन हृदयस्य निर्मलता सुखरूपरत्नानामाकरता चाभिव्यज्यते । उदधि-पदेन गमीरता च सूच्यते । ततश्च—सहनशीलतयैव मम हृदयं सर्वामपि वेदनां विसो-डवदिति घन्यते । मन्दरो यथा मूलपर्यन्तं प्रविश्य सुखं मथितवाँस्तथा विरहो मम हृदयान्तस्तलमुन्मथितवानिति योखते । रत्नानीव अतिस्थृहणीयानि नः सुखानि मूला-दुख्यातानीति कष्टम् । ‘अब्बो’ इति कष्टसूचकमव्ययम् । ‘अब्बो संबुद्धिदुःखयोः’ इति देशीकोषः । अनथा च समुद्रमध्यनोपमया—‘समुद्रायानि रत्नानि निर्गतानि न तानि पुनः परावृत्तानि, तथा त्वद्विरहे यानि सुखान्यन्तर्हितानि न तानि पुर्वलभ्यानि, ततश्च नामे विरहदुःखमनुभावनीयम्’ इति प्रियं प्रत्यभिव्यज्यते ।

प्रियतमस्य सर्वदा भनोतुकूलमेव केलौ वर्तितव्यमित्युपरिशन्तीं सखीं प्रति पत्यु-  
वैदेशध्यमीर्ध्या च काचिदेवमाह—

उज्जुअरए ण तुसइ वकम्मि वि आअमं विअप्पेइ ।

एत्थ अहबाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअवम् ॥ ७६ ॥

[ उज्जुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति ।

अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कर्थं तु कर्तव्यम् ॥ ]

ऋजुकरतेषि न तुष्यति वक्रेषि तदागमं विकल्पयति ।

अत्र मया विधिहतया प्रिये प्रियं कथमु कर्तव्यम् ॥ ७६ ॥

ऋजुके रते हावभावादिरहिते रते । वक्रे हावभावमणितसीत्कृतदन्तक्षतनखक्षत-  
चुम्बनासनविशेषादियुक्ते । कुतोऽनया शिक्षितमिति ताद्वशरतस्यागमम् ( प्रासिम् )  
विकल्पयति संदिश्यति । अत्र एतादशो ( रतिविदग्धे संदेहशीले च ) प्रियतमे प्रियं कर्थं  
नाम कर्तव्यम् ? ततश्च प्रियस्य प्रियकरणविषये अहमेव अभव्यते भावः । ‘आगमम्’  
इत्यस्य स्थाने ‘आशयम्’ इति क्रचित्पाठः । तत्र आशयं स्वमनोभावं परिवर्तयतीति  
तात्पर्यं संगमनीयं स्थात् ।

नायिकाया रतिचारुर्यदर्शनेन अन्यथाभावशङ्किनं नायकं प्रति सखी काचिदाह—

बहुविधविलासरसिए सुरए महिलाणाँ को उवज्ञाओ ।

सिकखइ असिकिखआइँ वि सद्वो षेहाणुबन्धेण ॥ ७७ ॥

[ बहुविधविलासरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।

शिक्षयते अशिक्षितान्यपि सर्वः षेहानुबन्धेन ]

बहुविधविलासरसिके सुरते कः शिक्षकोस्ति महिलानाम् ।

षेहानुबन्धगन्धादशिक्षितान्यपि हि शिक्षयते सर्वः ॥ ७७ ॥

बहुविधेषु विलासेषु रसिके सुरते । सुरतस्यैव विलासरसिकेति विशेषणात्-सुरतमेव  
निसर्गतो नानाविधमदनविलासानां रसानुवर्तीत्यर्थः । ततश्च एतस्य क उपाध्यायो भवेत् ?  
षेहानुबन्धस्य गन्धादपि लेशादपि ( किं पुनः पूर्णप्रकर्षात् ! ) सर्वो जनः अशिक्षिता-  
न्यपि कौशलानि शिक्षते । प्रेमवशात्खयमेव कामकलाकौशलमनुवर्तत इत्याशयः ।

नायकस्यासाधारणसुन्दरतां संसाध्य काढन नायिकां तेन संघटयितुमिच्छन्ती दूती  
प्रोचयितुमाह—

वण्णवसिए विअत्थसि सच्च विअ सो तुए ण संभविओ ।

ण हु होन्ति तम्मि दिट्टे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइँ ॥ ७८ ॥

[ वर्णवशिते विकरथसे सख्यमेव स त्वया न संभावितः ।

न खलु भवन्ति तस्मिन्नदृष्टे स्वस्थावस्थान्यज्ञानि ॥ ]

वर्णवशिते ! त्वया न स संभावित इह विकल्पसे सत्यम् ।  
न भवन्ति वीक्षितेऽस्मिन् स्वस्थावस्थानि चाङ्गानि ॥ ७८ ॥

वर्णो गुणवर्णनं तन्मात्रेण वशीकृते ! इति संबोधनम् । ‘वर्णो द्विजादेशुक्रादियशो-  
गुणकथादिषु’ इति मेदिनी । त्वया सत्यमेव स नायको न संभावितो न दृष्टः । केवल  
विकल्पसे, ‘सया दृष्टः सः’ इत्यात्मश्लाघां कुरुते । अत्रोपपत्तिमाह—अस्मिन्द्वयके वीक्षिते  
सति वीक्षितुः अङ्गानि स्वस्थावस्थानि न भवन्ति, किन्तु स्वेदकम्परोमाद्यज्ञम्भाङ्गम्भाङ्गा-  
दिभावाङ्गलानि भवन्ति । यदि त्वं तमद्रश्यस्तर्हि नैवं स्वस्थतया स्थातुमशक्य इति  
तस्मैन्दर्यमहिमा सूच्यते । दृष्ट इत्यर्थे संभावित इत्युत्तया ‘तादृशगुणशाली दर्शनमा-  
त्रेण तु सोऽवश्यं सत्कर्तव्य आसीत्’ इति नायकस्य गुणातिशयो ध्वन्यते । ‘स तथा  
सौन्दर्यशाली यथा त्वं तद्वर्णनमात्रेण वशीभूता जाता, एवं च निर्सार्गसुन्दरस्त्वरितमेव  
सोऽनुसर्तव्यः’ इति नायिकां प्रत्यभिव्यज्यते ।

रत्नकौशलवशीकृतोऽहं न त्वां कदाचिदपि हृदयादवधीरयितुं पारयेयमिति चाद्यनि  
कुर्वन्तं नायकं प्रति पुंसां स्वार्थप्रवणतां प्रमाणयन्ती काचिन्निदर्शनविधयाह—

आसण्णविआहदिषे अहिणववहुसंगमस्तुअमणस्स ।

पद्मवरिणीअ सुरअं वरस्स हिअए ण संठाह ॥ ७९ ॥

[ आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसंगमोत्तुकमनसः ।

प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य हृदये न संतिष्ठते ॥ ]

आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसंगमोत्कचित्तस्य ।

प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य संतिष्ठते न हृदि ॥ ७९ ॥

विवाहदिने आसन्ने सत्येव । नववधूसंगमायोत्कणिठतवित्तस्य वरस्य हृदि न संति-  
ष्ठते । अभिनवप्राप्तिराशामात्रेणैव बहुकालमनुभूतमपि सुखं पुरुषैविसर्थते, किं पुनरत-  
त्वास्तो सत्यामित्युपालम्मो ध्वन्यते । पूर्वत्र ‘वधू’ पदेन, उत्तरत्र ‘गृहिणी’ पदेन च—  
‘अपरिवितशीलाया नववध्वा’ उत्ताशामात्रस्य कृते अनुभावितसर्वसौख्यायाः संपूर्ण-  
गृहस्य स्वामिन्या अपि सुषुकृतं रतं विस्मर्यते इत्युपालम्भातिशयो योत्यते । ‘संतिष्ठते’  
इति ‘सम्’ उपसर्गेण—‘यदि कदाचिद्वासनवसंगमदशायां परिणयप्रसङ्गेण पूर्वपद्म्याः  
किञ्चित्स्मृतिरपि भवेत्, परं सम्यक् सा हृदये न तिष्ठति’ इति स्वैर्यमावो योत्यते ।  
‘अभिनवविषयानुरक्तः पूर्वानुभूतमवधीरयतीति निर्दर्शयन्कोऽपि वयस्माह’ इति गङ्गा-  
धरावतरणम् ।

दोषदर्शनेव्यतिरागविष्टः कक्षिश्चृद्यस्य दर्शां वयस्यं प्रत्येवमाह—

जइ लोकणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्तमज्ञाअम् ।

युप्फवइदंसंणं तहवि देह हिअअस्स णिवाणम् ॥ ८० ॥

[ यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विसुक्तमर्यादम् ।

पुष्पवतीदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥ ]

यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विसुक्तमर्यादम् ।

पुष्पवतीदर्शनसिंह ददाति हृदयस्य निर्वृतिं तदपि ॥ ८० ॥

यदि यद्यपीलयेऽ । विसुक्तमर्यादम् उद्धितमर्यादं सदाचारविरुद्धमिति यावत् । ‘अति-  
मदनाकान्तहृदयः कोपि दोषं जानवपि रागौत्कव्याप्रेयस्याः सहचरीमाह’ इति गजा-  
धरः ।

दोषदर्शनादुद्विजन्तभपि रागवशादुपसरन्तं कान्तं हाववती काचित्पुष्पवती सोपा-  
लम्भमाह—

जइ ण छिवसि पुण्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि ।

छिचोसि चुलचुलन्तोहिं धाविउण अम्ह हृथोहिं ॥ ८१ ॥

[ यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितत्तिष्ठसि ।

स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्धावित्वासाकं हस्तैः ॥ ]

स्पृशसि न यदि पुष्पवतीं तिष्ठसि तत्किमिति वारितः पुरतः ।

स्पृष्टोऽसि नः कराभ्यां धावित्वा चुलचुलायमानाभ्याम् ॥ ८१ ॥

शास्त्रमर्यादया दोषाशङ्की त्वं यदि पुष्पवतीं मां न स्पृशसि तर्हि मया स्पर्शयो निवा-  
रितः संमुखे किमिति तिष्ठसि । इदार्तीं चुलचुलायमानाभ्यां त्वत्पश्चोत्कण्ठया कण्डूय-  
मानाभ्यां नः कराभ्यामेष त्वं धावित्वा स्पृष्टोऽसि । चुलचुलेत्युत्कण्ठातिशयसूचकमनुक-  
रणम् । सरखतीकण्ठाभरणादिषु कवित् चुलचुलायमानाभ्यामित्यस्य स्पन्दमानाभ्यामिति  
च्छायोपलभ्यते । परं भावव्यञ्जनानुकूला प्राकृतशैली पालनीयेति न तथेहानुसृष्टम् ।  
नायिकानिष्ठः सोयं हाव इति सरखतीकण्ठाभरणम् । ‘रागतः सहसा प्रवृत्तिहेतुश्चित्तो-  
ल्लासो हेला । वचनविन्यासेन सहिता हेलैव हावः’ इति तद्विणितं लक्षणम् ।

मुग्धायाः ग्रोवितपतिकायाः सखी नायकसमीपगामिनं पान्थं प्रति नायकार्थं सोपा-  
लम्भं संदिशति—

उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डनविलक्षा ।

लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहीहिं वि वराई ॥ ८२ ॥

[ उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोहमण्डनविलक्षा ।

लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराकी ॥ ]

उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोहमण्डनविलक्षा ।

सा लज्जते वराकी सुभग सखीभ्योऽपि लज्जालुः ॥ ८२ ॥

उज्जागरेण ( बुझते जागरणेन ) कषायिते गुरुके अक्षिणी यस्याः सा । त्वद्विरह-

गोपनार्थं सखीनामाग्रहाद्वारितेनापि त्वद्वियोगानिष्टलेन मण्डनेन विलक्षा सा । विरहदुःखानुमितस्य त्वत्प्रणयस्य स्फुटीभावात्सखीभ्योपि लज्जते, किमुतान्वेभ्यः । मण्डनादिना यथापि उपरितो बहुतरं गोपयति परं जागरणकषायिताभ्यां गुरुकाभ्यां नेत्राभ्यां मेतस्या विरहदुःखं स्फुटीक्रियत इति स्वभावादेव लज्जाङ्कः सा लज्जातिकमात्सुभृशं खिद्यते इति 'वराकी' पदयोतितेन दैन्येन विरहातिशयः सूच्यते । सुभगेत्यामच्चणेन—सौभाग्यगर्वितस्त्वमेवमवस्थामपि न तां संभावयसीति नायकं प्रति त्वरार्थमुपालम्भः सूच्यते ।

गर्भभरात्काम्यन्तीं सखीमवलोक्य सखी सपरिहासमन्यां सखीमाह—

**ण वि तह अइगरुण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्मस्स ।  
जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्ना अपावन्ती ॥ ८३ ॥**

[ नापि तथातिगुरुकणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य ।

यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्तुषा अप्रामुचती ॥ ]

नापि तथा हृदि ताम्यति गर्भस्य भरेण भूरिगुरुणापि ।  
**विपरीतनिधुवनं पुनरप्रामुचती स्तुषा यथा दयिते ॥ ८३ ॥**

यथा दयिते ताम्यति दयितं प्रति खिद्यत इत्यर्थः । 'स्तुषा' पदेन नवतारुण्यं श्वश्रु-प्रमृतिभिर्गर्भावस्थायां सुरक्षितत्वं च सूच्यते । गर्भिणीपीवरादीनां विपरीतसुरतस्य निषिद्धत्वादिति भावः ।

नायिकानुरागं प्रकाश्य नायकमुक्तप्ठयन्ती दूती सहजमाह—

**अगणिअजणाववाआं अवहत्थिअगुरुअणं वराईए ।  
तुह गलिअदंसणाए तीए वलिउण चिरं रुणम् ॥ ८४ ॥**

[ अगणितजनापवादमपहस्तितगुरुजनं वराक्या ।

तव गलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥ ]

अगणितजनापवादं ह्यपहस्तितगुरुजनं वराक्याद्य ।

तव विगलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥ ८४ ॥

विगलितदर्शनया दर्शनाद्वियुक्त्या । न गणितो जनापवादो यस्याम्, अपहस्तिताः अवमानिताः गुरुजनाश्च यस्यां क्रियायां यथा भवति तथेति क्रियविशेषणद्रव्यम् । वलित्वा परावृत्य । अपहस्तितपदेन—प्रेमप्रतिरोधाय बलान्मध्यमापतन्तोपि गुरुजना हस्ताभ्यां मपसारिता इति प्रेमातिशयः पोष्यते । वलित्वा रुदितसिल्यनेन—यावर्त्वद्वमनस्य दिवि लप्नाभृष्टिस्तावदासीदाश्वासः परं मुखपरावर्तने सोपि गत इति दुःखातिशयः सूच्यते । वराकीपदेन—जन—गुरुजन—संदंशपतितापि त्वत्प्रणयवशीकृता सेयं दीना किमिति नोपगम्यत इति दैन्योत्तेजित उत्कण्ठातिशयः पोष्यते ।

प्रोषितपतिका तत्सखी वा लेखमुखेन नायकमाह—

हिअं हिअए पिहिअं चित्रालिहिअ व तुह मुहे दिढ़ी ।  
आलिङ्गणरहिआइं णवरं सिज्जनित अङ्गाइं ॥ ८५ ॥

[ हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।  
आलिङ्गनरहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥ ]

हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।  
आलिङ्गनरहितानि हि केवलमङ्गानि हीयन्ते ॥ ८५ ॥

हीयन्ते क्षीणानि भवन्ति । तव मुखे महृषिश्चित्रलिखितेव निश्चला, सर्वेदा मम  
दृष्टौ तव मुखं अभमतीत्याशयः । मम हृदयं तव हृदये स्थापितमित्यनेन-एकीभूतहृद-  
याया मम विरहवेदनां किं न जानासि ? ततश्च हृदयाभिज्ञस्त्वं विरहविकलां दुर्बलां मां  
त्वरितं सान्त्वयेति ध्वन्यते । प्रतिक्षणमेव तत्स्मरणस्योपस्थापनेन उत्कण्ठासंधर्घकं  
हृदयं दृष्टिश्चेति द्वितयं तु विरहेपि सर्वदैवाक्षुण्णवलम्, हृदय-मुखाद्यनुकूलसमा-  
गमसौख्यात् । देहस्तु क्षीयते । तथा चोक्तण्ठोपबृंहणेन शतगुणसंधुक्षितविरहवेदनं  
कथं मे जीवितं तिषेदिति त्वमेव जानीहीति गूडमाकूतम् । ‘शरीरं क्षामं स्याहसति दयि-  
तालिङ्गनसुखे’ इत्यादयो बहुयः सूक्योऽस्या गाथांया उपजीवन्यर्थमित्यलं मार्मिकेषु ।

प्रियानयनाय त्वरयन्ती प्रोषितपतिका र्माभिज्ञां सखीमाह—

अहअं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअम् ।

अप्पाहिङ्गउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुचम् ॥ ८६ ॥

[ अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम् ।

अभिधीयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥ ]

अहस्मि ह वियोगतन्वी विरहाग्निर्दुःसहश्चलो जीवः ।

अभिधीयतां तु सखि किं त्वमेव जानासि यद्युक्तम् ॥ ८६ ॥

वियोगतनुतया शुष्कां विरहाग्निः सुभृशं दहतीति तन्वीपदोत्तरं विरहाग्निपदनिगु-  
म्फनस्याकूतम् । एवं जीवन्त्या एव शरीरदाहे वराको जीव एव कथं तिषेत्, तस्य  
वायुवच्छलत्वात् । एवमवस्थायां प्रियतमार्थं किं संदिश्यतामस्मिन्विषये यद् युक्तं तत्त्व-  
मेव जानासि । अथवा-मया किमुच्यतम् । संप्रति यदुचितं तत्त्वं जानासि । यदि मे  
जीवितं कामनीयं तर्हि प्रियतमः समानेय इत्याशयः ।

अन्यासक्ततया चिरकालादनुपसरन्तं नायकं नायिकाया विरहदुःखं प्रतिपादयन्ती  
दूती आह—

तुह विरहज्जागरओ सिविये वि ण देह दंसणसुहाइं ।

वाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं पि ॥ ८७ ॥

[ तव विरहोज्जागरकः स्वप्रेष्यि न ददाति दर्शनसुखानि ।  
बाष्पेण यद्वलोकनविनोदनं तस्या हतं तदपि ॥ ]

तव विरहोज्जागरकः स्वप्रेष्यि ददाति दर्शनसुखं नो ।  
बाष्पेण यद्वलोकनविनोदनं तदपि बत हतं तस्याः ॥ ८७ ॥

विरहवशाज्जागरणं स्वप्रेष्यि तव दर्शनसुखं न ददाति । मार्गे गच्छतस्वव, गृहपृष्ठा-  
दितो यद्वलोकनरूपं विनोदनं तदपि विन्नौत्कृष्टजनितेन बाष्पेण तस्या विहतम् ।  
विनोदनपदेन-संप्रति विरहस्तैतावती विषमा वेदना यत्तस्यां त्वद्वलोकनमेव विनोदनं  
नान्यः कश्चित्प्रतीकार इत्युक्तिष्ठातिशयः सूच्यते । ‘कलहान्तरिताया विरहदुखं प्रति-  
पादयन्ती दूरी नायकमाह’ इति गङ्गाधरः । एतावच्चिरं यदि मानस्थितिः साधीयसी  
तर्हि सम्यग्वेदम् ।

कुपितं दयितं किमिति न प्रसादयसीति वदन्तीं वयस्यां प्रति कान्चित्साकृतमाह—

अण्णावराहकुविओ जहतह कालेण गम्मइ पसाअम् ।  
वेसुत्तणावराहे कुविअं कहं तं पसाइस्सम् ॥ ८८ ॥

[ अन्यापराधकुपितो यथातथा कालेन गच्छति प्रसादम् ।  
द्वेष्यत्वापराधे कुपितं कथं तं प्रसादयिष्यामि ॥ ]

अन्यापराधकुपितः प्रसादमयते यथा तथा समयात् ।  
तं द्वेष्यतापराधे प्रसादयिष्ये कथं कुपितम् ॥ ८८ ॥

अन्यः आज्ञोऽह्वनादिरूपो योऽपराधस्तेन कुपितः यथाकथचित् समयान्तरे प्रसादं  
गच्छति । द्वेष्यता साहजिको द्वेषस्तद्वैपेण ममापराधेन कुपितं तु तं कथं प्रसादयिष्यामि ?  
अहं तस्य सहजमेव द्वेष्यास्मि, एवमवस्थायां कथंकारमेनं प्रसादयिष्यामीत्यर्थः ।  
‘अनुरक्तं कान्तं कापि सोपालभ्ममाह’ इति गङ्गाधरावतरणं तु विचारणीयमेव । अनुर-  
क्तस्य तस्य कोपद्वेषयोरसमन्वयात् । कान्तं प्रत्येवोक्तौ तस्मिति परोक्षार्थस्यासंबन्धाच्च ।

बाद्योपचारचातुर्येण अन्यनायिकासर्किं गोपयन्तं कान्तं प्रति कान्चित्सोपालभ्ममाह—

दीससि प्रियाणि जम्पसि सब्मावो सुहृद एत्तिअ वेश ।

फालेइज्ञण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥ ८९ ॥

[ दृश्यसे प्रियाणि जलपसि सङ्घावः सुभग एतावानेव ।

पाटयित्वा हृदयं कथय को दर्शयति कस्य ॥ ]

दृश्यस इह मधु जलपसि सङ्घावः सुभग उनरियानेव ।

हृदयं हि पाटयित्वा कः कस्मै कथय दर्शयति ॥ ८९ ॥

इह दृश्यसे अस्मभ्यं दर्शनं ददासि, प्रियं जलपसि, एतावानेव तु स्तेहः । दृश्यसे  
इत्यनेन-प्रयोजनैकसित्रस्य ते दर्शनदानमपि महानुपकार इत्याशेषः, केवलं दर्शनमात्रं

ददासि, प्रणयोपलिधस्तु त्वतो दूरापासैवेत्युपालम्भो वा अन्यते । मधुरस्य स्थाने  
‘मधु’ इत्युत्त्या-व्यामोहनार्थमन्तं माधुर्यातिशयं प्रदर्शयसि । स्पष्टं तदस्ताभाविकमि-  
त्याक्षिप्यते । इयानेवेति विपरीतलक्षणया बाहोपचारमात्रं न सद्ग्राव इति सूच्यते ।  
हृदयं तु विपाच्य को दर्शयतीलनेन ‘बहित् एव खमतिमधुरोसि । हृदयं तु न तं  
प्रकाशयितुं समर्थः । तथा कृते हु कृत्रिमप्रणयस्य ते हृदयदशा स्पष्टा भवेदि’ति निष्ठृत  
उपालम्भो अन्यते । सुभगेल्यामच्छेण-सौभाग्यदर्पितस्त्वम्, अत एव कृत्रिमोपचारै-  
राकर्षणमिच्छसीति सूच्यते ।

खल्पलाभेन व्याप्त्यु दुर्जनेषु घटमानां सूक्ष्मं सुमधुरमाह—

**उअअं लहिउण उत्ताणिआणणा होन्ति के वि सविसेसम् ।**  
**रिक्ता णमन्ति सुइरं रहड्घडिआ व कापुरिसा ॥ ९० ॥**

[ उदकं लब्ध्वा उत्तानितानना भवन्ति केऽपि सविशेषम् ।

रिक्ता नमन्ति सुचिरं रहड ( अरघट )घटिका इव कापुरुषाः ॥ ]

उदकं लब्ध्वा केचिद्वितान्तमुत्तानिताननाः सन्ति ।

रिक्ता नमन्ति सुचिरं रहड्घटिका इवेह कापुरुषाः ॥ ९० ॥

रहटो घटीयचं तत्संबन्धिनः क्षुद्रा घटा इव तुच्छपुरुषाः सन्ति । उदकं लब्ध्वा  
यथा घटिका ऊर्ध्वमुखा भवन्ति तथा दुर्जना अपि खल्पलाभ एव दर्पेण मस्तकमुच्च-  
मयन्ति, रिक्तायां च नम्रा भवन्ति । गङ्गाधरेण ग्राचीनपद्यमिहोपन्यस्त्वम्—“जीवन-  
ग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुच्चताः । किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयच्चस्य दुर्जनाः ॥”  
इति । ‘काप्यस्थिरं रहेहं पतिमुपालब्धुमन्यापदेशोनाह’ इति तटीकास्थमवतरणम् ।

कलानिधिकलाकलापेन घवलितपर्यन्ते दिग्दिगन्ते प्रियतमसमागमवच्छिता कृष्णा-  
मिसारिका सर्वीं सखेदमाह—

**भग्गपिअसंगमं केत्तिअं व जोहाजलं णहसरम्भि ।**  
**चन्द्रअरपणालणिज्ञरणिवहपडन्तं ण णिड्हाइ ॥ ९१ ॥**

[ भग्गप्रियसंगमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभःसरसि ।

चन्द्रकरप्रणालनिर्ज्ञरनिवहपतत्व निस्तिष्ठति ॥ ]

ज्योत्स्नाजलं तु कियदिव भग्गप्रियसंगमं नभःसरसि ।  
तिष्ठति न चन्द्रकिरणप्रणालनिर्ज्ञरनिवहनिपतत् ॥ ९१ ॥

भग्गो माहशीनां प्रियसंगमो येन, इदृशं ज्योत्स्नारूपं जलं गगनरूपे सरसि किय-  
दिव किपरिमाणमस्ति ? अपरिमेयं भूतमस्तीत्याक्षयः । यतश्वन्द्रकिरणा एव प्रणालनि-  
र्ज्ञरनिवहस्तेभ्यो निपतत् न तिष्ठति न समाप्यते । यदि ज्योत्स्नाजलं समाप्तं स्यात्तर्हि  
प्रियतमसमिसरेयमित्याक्षयः । जले वर्षति यातायातनिरोधेन यथा प्रियसंगमो विह-

न्यते तथेदानीमपि । तथा च—जलामेदरूपणेन ज्योत्स्नायाः सान्द्रत्वसूचनात्पर्यन्ततः  
प्रकाशातिशयो ध्वन्यते ।

नायकमुत्कष्टयितुं नायिकाहुरागं सूचयन्ती दृती आह—

**सुन्दरजुआणजणसंकुले वि तुह दंसणं विमग्नन्ती ।**

**रण व भमह दिढ्ठी वराहाए समुद्विग्ना ॥ ९२ ॥**

[ सुन्दरयुवजनसंकुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गन्ती ।

अरण्य इव अमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥ ]

**सुन्दरनवयुवजनसंकुलेपि तव दर्शनं विमार्गन्ती ।**

**अमति विधिन इव दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥ ९२ ॥**

सुन्दरैर्नवयुवकजनैः संभूतेषि स्थाने केवलं तव दर्शनं वाञ्छन्ती तस्या वराक्या दृष्टिः  
अरण्य इव शून्यं इव उद्दिमा सती अमति । त्वां विहाय अन्ये सर्वेषि नवयुवकास्तस्य  
दृष्टौ नोपगच्छन्ति, अत एव उद्दिमा सती अरण्यमिव शून्यं तस्थानं पश्यतीत्याशयः ।  
अरण्यपदेन भयजनकल्पं सूच्यते । रूपचालिनोपि नवयुवानस्तस्या दृष्टौ न रोचन्ते,  
ततश्च लदेकमात्रचित्ता सा नोपेक्षणीयेति व्यज्यते । वराक्यकेल्यत्र कन् दयनीय त्वं सूच-  
यति । यदा तस्या दृष्टिस्त्वदृशनार्थं विकला अमति तदा करुणा आयातीत्यर्थः । अथवा,  
एवमेकान्तानुरक्षचित्तापि सा तवोपेक्षापात्रमस्तीति सा दीनैवेत्याशयः । तव दर्शनं  
विमार्गन्तीत्यनेन—तव दर्शनं तक्षते अन्वेषणीयमिति दुर्लभत्वे योख्यते । अमती-  
त्यनेन—त्वामदृष्टापि सा न निश्चेष्टा तिष्ठति, किन्तु त्वदृशनार्थं विकला आहिष्टत  
इलनुरागातिशयो ध्वन्यते । ‘अणुविष्णा’ इति पाठे त्वदृशनकौतुकात् अनुद्दिमा,  
अगणितखेदेत्यर्थः ।

ओषितपतिकाया विरहैवकल्यं तत्प्रियतमसमीपगमिने पान्थाय सखी संदिशति—

**अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईआ सोङ्हाए ।**

**पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥**

[ अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकाया स्तुषया ।

पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्बलययोः ॥ ]

अतिकोपापि श्वश्रूर्विरोदिता व्युषितकान्तया स्तुषया ।

पादपतनावनतया हुभयोरपि बलययोः पततोः ॥ ९३ ॥

चरणवन्दनार्थमवनतया ओषितपतिक्या हुषया, नमनसमये उभयहस्तविष्टयोर्ब-  
लययोः निपततोः सतोः अतिकोपनापि श्वश्रूः रोदिता । पदवन्दनसमये दौर्बल्याति-  
शयात्सहजमेव निपतन्तौ बलयावपि वराक्या न परिज्ञाताविति दृष्टा निष्टुराया अपि  
श्वश्रावः करुणाभूदित्याशयः । बलययोरपि द्विवचनेन ‘दौर्बल्याद्वाहौ बलयास्तु कराद्विग-

स्तिता एव किन्तु सौभाग्यचिह्नमिति कृत्वा प्रत्येकहस्ते एकैको वलयो रक्षितः—’ इति दौर्बल्यातिशयो व्यज्यते । रोदितेत्यनेन—अतिकोपापि सा केवलं मार्दवमेव न गता प्रत्युत विङ्गुतहृष्यापि जातेति सुषाया दयनीयत्वातिशयो व्यज्यते । ततश्च—एवंविधा सा दयनीया जाता यत्सर्वदा कोपकुटिलस्यापि जनस्य मनसि तां वीक्ष्य दया जाता, तत्किं दयितंमन्यो भवानेव तां म्रियमाणामुपेक्षिष्यते ? इति प्रियतमं प्रति ध्वन्यते ।

प्रवासोदयतं दयितं बहिर्गमनान्विवारयन्ती काचिद्विष्मातपस्य दुःसहतां वर्णयति—

**रोवन्ति व अरण्णे दूसहरइकिरणफंसंतत्ता ।**

**अहतारक्षिल्लिविरुद्धेहि पाअवा गिम्हमज्ज्ञहे ॥ १४ ॥**

[ रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतत्साः ।

अतितारक्षिल्लिविरुद्धैः पादपा ग्रीष्ममध्याहे ॥ ]

**विरुदन्तीवारण्ये दुःसहरविरक्षिमसंतत्साः ।**

**अतितारक्षिल्लिविरुद्धैर्महीरुहो ग्रीष्ममध्याहे ॥ १४ ॥**

सूर्यातपसंतापाहुःखिता वृक्षा अपि अतितारैः क्षिल्लीनां ( ‘झींगुर’ ) शब्दैः रुदन्ति इव । अरण्ये इलनेन अरण्यस्थानामपि यदेयं दशा तदा नागरिकस्य ते का दशा स्यादिति सूच्यते । वृक्षा रुदन्तीस्यनेन—अचेतना अपि एवमवस्था: संजाता: पुनश्चेतनानां तु मृद्ध-मेव भयमिति व्यज्यते । किञ्च गमनसमये रुदतां दर्शनेन अशकुनभयात्रवासरोधे तात्पर्य व्यज्यते । ‘थद्वा संकेतवनोपगतं लोकागमं शङ्खमानं कान्तं प्रत्यभिसारिकाया इय-मुक्तिः । नायं जनचरणसंचरणचलितपत्राच्चनिः, किं तु क्षिल्लीच्छनिरिति निःशङ्कं रमस्वैति भावः’ इति गङ्गाधरः ।

संकेतितस्य तस्य सरसः कमलवनमहं गता, न त्वं तत्र दृष्ट इति नायकं श्रावयन्ती काचित्सखीमाह—

**पठमणिलीणमहुरमहुलोहङ्कालिउलवद्वङ्कारम् ।**

**अहिमअरकिरणणिउरम्बचुम्बिअं दलइ कमलवणम् ॥ १५ ॥**

[ प्रथमनिलीनमधुरमधुलुव्यालिकुलवद्वङ्कारम् ।

अहिमकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितं दलति कमलवनम् ॥ ]

**प्रथमनिलीनमधुरमधुलुव्यालिकुलोव्यिवद्वङ्कारम् ।**

**अहिमकरकिरणनिकुराभिचुम्बितं दलति कमलवनम् ॥ १५ ॥**

प्रथमं निलीनेन मधुरमधुलुव्येन अलिकुलेन उत् ( उच्चैः ) निवद्वो झङ्कारो यस्मिन् तत्, अहिमकरस्य सूर्यस्य किरणनिकरेण अभिचुम्बितं सर्वतः परामृष्टम् । दलति विकसति । दुसस्य राज्ञः प्रबोधनाय वैतालिकस्येदं वचनमिति केचित् । ‘सान्ध्यो विघिर-उष्णीयताम्, सुरभयो मुच्यन्ताम्, विकेयवस्तूनि प्रसार्यन्ताम्, नास्तीदानीं पिशाचादि-

भयम्, पथिक प्रतिष्ठस्वेत्यादि प्रस्तावदेशकालादिमेदातुनरनेकविधो व्यङ्ग्योर्थः सहदयै-  
ख्यमूहनीयः’ इति गज्जाधरः ।

गानिन्या मानापनोदनाय नायकं त्वरथन्ती दूती तस्य सहचरमाह—

गोत्रस्खलणं सोऊण पिथुअमे अज्ज तीअ क्षणदिअहे ।

बंज्ञमहिसस्स माल व मण्डणं उअह पडिहाइ ॥ ९६ ॥

[ गोत्रस्खलने श्रुत्वा प्रियतमे अद्य तस्याः क्षणदिवसे ।

वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति ॥ ]

प्रेयसि गोत्रस्खलनं श्रुत्वा क्षणवासरेद्य बत तस्याः ।

वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यताभाति ॥ ९६ ॥

अद्य क्षणवासरे उत्सवदिवसे । प्रेयसि प्रियतमे प्रियतमस्य मुखादिति यावत् ।  
गोत्रस्खलनं श्रुत्वा तस्या मण्डनं देव्यै उपहारत्वेन कलिपतस्य महिषस्य मालेव प्रतीयते  
इति पश्यत । बलिदानाय नियमितस्य महिषस्य कृतमपि मण्डनम् आसन्नमरणतया  
यथा न शोभते तथा तस्या अपीत्यर्थः । प्रेयःपदेन—तस्यास्त्वमेतावत्प्रियोसि यत्तव-  
मुखादन्यमहिलाया नामापि श्रुत्वा द्रेषवशात्सा मरणं व्यवस्थतीति सूच्यते । एवं च—  
अभिमानिनि सा यावत् प्रियते तावदेव त्वरितमनुनयेति प्रियतमं प्रत्यभिव्यज्यते ।  
अनुभावेषु नायिकानिष्ठः सोयं सपल्लीं प्रति द्रेष इति सरखतीकण्ठाभरणम् ।

काचिचिजिप्रियतमानयनाय सखीं त्वरयितुमात्मनो विषमां विरहवेदनामाह—

महमहाइ मलअवाओ अचा वारेइ मं घराणेन्तीम् ।

अङ्कोल्परिमलेण चि जो क्वनु मओ सो मओ व्वेअ ॥ ९७ ॥

[ महमहायते मलयचातः शश्रवारयति माँ गृहान्नियोन्तीम् ।

अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः स मृत एव ॥ ]

मदयति मलयमरुन्मां स्थगयति भवनाच्च निर्यतीं श्वश्रूः ।

अङ्कोटपरिमलेनापि यो मृतः स खलु मृत एव ॥ ९७ ॥

मलयमारुतः अतिसौरभमुद्गमति, ( महमहायते ) अत एव मामुन्मतां करोति ।  
श्वश्रूश्च ‘मलयमारुतोद्दीपितमदना मदनाशुगवेदनावशास्तेयं दुरपनेयं दशान्तरं यास्यति’  
इति विचार्य मां गृहान्निर्गच्छन्तीं निवारयति । परम् गृहपुष्पितस्य अङ्कोटपादपस्य परि-  
मलेनापि यो मृतः सोपि मृत एव । एहाद्विरचुपसरणेषि अङ्कोटपरिमलोद्दीपितमदना  
यमसदनातिथिरहं भविष्यामीत्याशयः । ‘अङ्कोटो गृहवाटिकासु बाहुल्येन भवतीति  
प्रसिद्धिः’ इति गज्जाधरः । ‘अङ्कोटे तु निकोचकः’ इत्यमरः ।

इह ते प्रणयप्राप्तिप्रयन्नो विफल इति नायकं सूचयन्ती दूती क्योचिद्दम्पत्योः पर-  
स्परप्रणयमाह—

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ ।  
दोवि कअत्था पुहाँ अमहिलपुरिसं च मणन्ति ॥ ९८ ॥

[ सुखप्रेक्षकः पतिस्तथाः सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता ।

द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते ॥ ]

मुखवीक्षकः प्रियोऽस्या इयमपि सविशेषदर्शनोन्मत्ता ।  
मन्येते द्वावपि भुवमयुवतियुवकामिव कृतार्थौ ॥ ९८ ॥

प्रियतमः, अस्याः ( भवता प्रकान्तप्रसङ्गायाः ) नायिकाया मुखवीक्षकः, इयमपि विशिष्य प्रियस्य दर्शनमात्रेण उन्मत्ता । एतावन्मात्रेण कृतकृत्यौ द्वावपि पृथिवीम् अम-हिलाम् अपुरुषां च मन्येते । पृथिव्यामियमेकैव युवतिर्नन्येति प्रियः, अयं चैक एव युवक इति एषा नायिका मन्यत इत्याशयः । परस्परं निरन्तरदर्शनप्रणयितया द्वावप्य-न्यत्र द्विष्टिमपि न क्षिपतः किं पुनरन्यदिति द्वयोः ब्रेमातिशयो व्यन्यते ।

ग्रोषितपतिका कापि कस्याश्चित्कुशलप्रक्षस्योत्तरमाह—

खेमं कन्तो खेमं जो सो खुज्जम्बओ घरद्वारे ।

तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थो समुप्पणो ॥ ९९ ॥

[ खेमं कुतः खेमं योऽसौ कुञ्जाम्रको गृहद्वारे ।

तस्य किल मस्कात्कोऽप्यनर्थः समुत्पन्नः ॥ ]

क्षेमं कुह भोः खेमं योऽसौ कुञ्जाम्रको गृहद्वारे ।

तस्य किल मौलिदेशात्कश्चिदनर्थः समुत्पन्नः ॥ ९९ ॥

क्षेमं कुह क्वास्ति ? अनर्थः सुकुलो निर्गत इत्यर्थः । रसालान्कुसुमयन्वसन्तकालः प्राप्त इति सूच्यते । कुञ्जस्याम्रस्यापि इयं दशा तर्हि परितो मञ्जरितरसालपुञ्जपिञ्जरितद-शदिगन्तेसिम्बवसन्ते विरहिण्या मे क्षेमं दूरापास्तमेवेति व्यन्यते ।

प्रवासार्थमुद्यतं दयितं प्रति नायिकासखी प्रवासनिरासार्थं प्रसङ्गेन कस्यचित्प्रवसतो दृत्तान्तमाह—

आउच्छणविच्छाअं जाआइ मुहं पिअच्छमाणेण ।

पहिएण सोअणिअलाविएण गन्तुं विअण इडम् ॥ १०० ॥

[ आपृच्छनविच्छाअं जायाया मुखं निरीक्षमाणेन ।

पथिकेन शोकनिगडितेन गन्तुमेव नेष्टम् ॥ ]

आपृच्छनविच्छाअं जायाया मुखमवेक्षमाणेन ।

निर्गन्तुमेव नेष्टं शोकनिगडितेन पथिकेन ॥ १०० ॥

आपृच्छनेन ‘प्रिये ! प्रवासार्थमनुमतिं देहि’ इत्यादिप्रश्नेन विच्छाअं मन्दशोभम् । आपृच्छनमिल्यत्र बुध् । शृहाचिर्गन्तुमेव न वाजित्तम् । गृहादनिर्गच्छतोपि दयितस्य

पथिकपदनिर्देशेन “स हि निजमनसि पथिगमनस्य दृढविचारं छत्वा आत्मनः पथिकल्पे निश्चितवानासीत्परं ततोपि स निवृत्तवान्” इति प्रेमातिशयो ध्वन्यते । निर्गन्तुमेवेत्येव-कारेण “गृहाविर्गमनस्यैवेच्छा न भवति किं पुनर्बहुकालार्थं दूरदेशगमनस्येति प्रेमाति-शयो वोल्यते । इष्टमित्यनेन इच्छामात्रमपि न भवति किं पुनर्गन्तुमुद्योगस्य कथेति व्यञ्यते । ‘दयिताया’ इत्याद्यनुकृत्वा ‘जायायाः’ इति पदेन ‘सामान्यतो भार्यामात्रम-भिसन्यमानोपि पथिकस्तस्या यनःखेदमनभिलषन्प्रवासं परिहरति । भवांस्तु एतां हृदयदयितां व्यपदिशच्चपि विदेशगमनार्थमुद्युड्ळे, अहो प्रणयः’ इति साकृतमुपालभ्यते । ‘त्रवासावसरमधिगम्य कस्यामप्यभियोकुर्जारस्य निरासार्थं दूस्याह’ इति गज्जाधरः ।

शतकसमाप्तिमाह—

**रसिअजणहिअअदइए कहवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।**

**सत्तसअभ्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअम् ॥**

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।

सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

**रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलकुशलसुकविसंरचिते ।**

**सप्तशतके समाप्तं पञ्चमगाथाशतकमेतत् ॥ १०१ ॥**

पञ्चमं गाथानां शतकम् ।

षष्ठं शतकम्

—०३०—

भृशमुत्कण्ठतापि जनापवादभयात्प्रियतमं स्फुटमवलोकयितुमप्यपारयन्ती कान्चिद-  
सती निजवयस्यां सनिवेदमाह—

**सूर्वीवैहे मुसलं विच्छहमाणेण दहूलोएण ।**

**एकग्रामे वि पिओ समअं अच्छीहिं वि ण दिङ्गो ॥ १ ॥**

[ सूर्वीवैधे सुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन ।

एकग्रामेऽपि प्रियः समाभ्यामक्षिभ्यामपि न दृष्टः ॥ ]

**सूर्वीवैधे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन । ।**

**प्रिय एकग्रामेऽपि हि पूरितनयनं न दृष्टोपि ॥ १ ॥**

सूर्वीवैधस्य सूर्ख्ये स्थाने मुसलं निक्षिपता, अल्पमपि दूषणं बहु कुवैतेत्यर्थः । दग्धेन लोकेन । अस्य लोकस्य कारणेन, हेतौ तृतीया । एकग्रामेऽपि वर्तमानः प्रियः पूरित-नयनमपि यथा स्थात्तथा न दृष्टः, स्पष्टमुन्मीलिताभ्यां नयनाभ्यामातृसि न दृष्ट इत्यर्थः । दग्ध इति लोकं ग्रस्यसूर्यासूचनाय । मूले ‘समअम्’ इत्यस्य समाभ्यां सर्वाभ्यामित्यर्थः ।

पूर्णोन्मीलिताभ्यां न दृष्टे इति तत्तात्पर्यम् । ‘समं सदशि सर्वैसिन्’ इति कोषः । न दृष्टोपीत्यपिना लोकदैरात्म्यादृशनमात्रेणाप्यहं वञ्चिता, कुतः किल समागमस्य सौभाग्यमिति लालसा व्यज्यते । ‘सूचीवेध’ इति लोकोक्त्यलङ्कारः । अनेन च-मुद्यैव मां कलङ्कयन् लोकः प्रियसमागमे बाधकः । तद्विरहविकलाया मम तु महदधैर्यमित्युक्तण्ठात्रिशयो ध्वन्यते ।

प्रियतमे प्रोषिते मे प्राणानामपि संशय एवेति सूचयन्ती काचिद्रोदनानिवारयन्ती निजसखीमाह—

**अज्ञं पि ताव एकं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्तिम् ।**

**कल्ि उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सम् ॥ २ ॥**

[ अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम् ।

कल्ये युनसत्सिन्याते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि ॥ ]

अद्यैव तावदेकं मा मां प्रियसखि निवारये रुदतीम् ।

कल्ये गते तु तस्मिन्न हि रोदिष्यामि यदि न मृता ॥ २ ॥

मूले अपिरवधारणे । अद्यैव, एकं दिनं यावत्, रुदतीं मां मा निवारये । यदि न मृता तदा न रोदिष्यामीत्यनेन-तदगमने मम मरणमवश्यंभावि, ततश्च रुदत्या मे निवारणस्यावश्यकतैव न भविष्यतीति भावः । ‘यदि न मरिष्यामि तदा न रोदिष्यामि’ इति ‘मृ’धातोर्भविष्यत्यल्यस्थलेषि ‘मृता’ इति भूतकालिकप्रयोगेण-‘रोदनात्पूर्वमे मरणं भूतकालिकं भविष्यति अर्थात् रोदनं पश्चाद्विष्यति अहं तु ततः पूर्वमेव विषेय’ इति व्यज्यते । एवं च-यदि मे जीवितं कामनीयं तर्हि प्रियः प्रवासोद्यमानिवारणीय इति सखीं प्रलभिष्यज्यते । भोजेन तु सरखतीकण्ठाभरणे ‘जइ ण मरिस्सं ण रोदिस्सम्’ ‘यदि न मरिष्यामि न रोदिष्यामि’ इति पाठः स्खीकृतः ।

चतुरमहिला दाक्षिण्यैनैव गोपनीयमपि वृत्तं सूचयन्तीति निजसखीं शिक्षयन्ती काचिदाह—

**एहि च्चि वाहरन्तम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए ।**

**विउणावेडिअजहणत्थलाइ लज्जाणअं हसिअम् ॥ ३ ॥**

[ एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या ।

द्विगुणावेष्टिजघनस्थलया लज्जावनं हसितम् ॥ ]

एहीति व्याहरति प्रेयसि बत पश्यतावनतमुख्या ।

द्विगुणावेष्टिजघनस्थलया लज्जानं हसितम् ॥ ३ ॥

द्विगुणम् आहानसमये शाटकाङ्क्षलेन पुनरपि आवेष्टिं जघनस्थलं यथा । लज्जया आनन्दं यथा स्यात्था, ईषदित्यर्थः । अन्यसमये यथा हास्यं भवति तदपेक्षयापि, ससं-

कोचं हास्यमिति यावत् । अवनतमुख्या यद् हसितं तत्पश्यते ति योजना । जघनस्थलवे-  
ष्टनपूर्वकं सलज्जहसितेन क्रुमुख्याहमसीति व्यजितमित्याशयः ।

कामपि कामिनीं कामयमानः कथित्काटाक्षच्छटावर्णनव्याजेन साभिलार्षं प्रकाशयति—

**मारेसि कंण मुद्दे इमेण पेरन्तरत्वविसमेण ।**

**भुलआचावविणिग्गअतिभुखअरद्धच्छिभल्लेण ॥ ४ ॥**

[ मारयसि कं न मुद्दे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण ।

श्रूलताचापविनिर्गततीक्षणतराद्धाक्षिभल्लेन ॥ ]

मारयसि कं न मुद्दे हानेन पर्यन्तरक्तविषमेण ।

**भुकुटीचापविनिर्गततीक्षणतराद्धाक्षिभल्लेन ॥ ४ ॥**

पर्यन्ते कोटौ रक्तं रुधिरं यस्य तादृशेन च विषमेण चेति भल्लपक्षेऽर्थः । कटाक्षवि-  
क्षेपे अर्द्धमीलितं यदक्षित तदेव भल्लः ( अर्द्धचन्द्राकारो वाणः ) तेन । ‘मुद्दे’ कं वा  
न मारयति’ इत्यनेन—अतिसंथमशीलोपि प्रवीणोपि च ते कटाक्षेण विभुत्यधृद्ययो  
भवति, ततोपि त्वं मुद्दा परिगण्यस इति साकूतमुपालभ्यते । विध्यसीत्याद्यनुकृत्वा  
मारयसीत्यनेन वेदनातिशयो ध्वन्यते । अनेनेत्यनेन अङ्गुत्या निर्दिश्यं-प्रलक्षं त्वं  
निहंसि, तस्य दृष्टान्तोहम् । तथापि त्वं मुद्देत्याकूतम् । साधारणवाणः समः ( सरलः )  
भवति, अस्तिवाणस्तु वाणत्वेषि विषम इति विषमपदसूचितो विशेषः । कटाक्षभल्लेन  
मारितं मां संगमसंजीवनौषधेन संजीवयेति तां प्रत्यात्मनोऽभिलाषेभिव्यज्यते । गङ्गा-  
धरपरिगृहीतः ‘रतन्तरितव्य’ इति पाठस्तु तीक्षणार्थं वैनस्तथाद्विचारणीय एवेत्यलम् ।

नायिकायाः प्रणयातिशयं प्रकाश्य उपपतिमुत्साहयन्ती दृती तदभियोगार्थमाह—

**तुह दंसणे सअङ्गा सदं सोऽण गिग्गदा जाइँ ।**

**तह वोलीणे ताइँ पआइँ वोढविआ जाआ ॥ ५ ॥**

[ तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।

त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥ ]

तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा विनिर्गता यानि ।

तानि पदानि हि जाता वोढव्या त्वयि विनिर्याते ॥ ५ ॥

तव दर्शनार्थं साभिलाषा सा तव कण्ठरवं श्रुत्वा यानि पदानि यृहाद्विनिर्गता, त्वयि  
दर्शनपथातीते सति तानि पदानि अन्यजनद्वारा वोढव्या उत्थापनीया जाता । त्वद्विस्त-  
ह्यनितान्तदुबला सा त्वदर्शनोत्साहेन निजेन्द्रेशमजानती कानिचित्पदानि वहिरायाता,  
परं त्वामद्वृष्टा भग्नाशा सा परावर्तनसमये अन्यजनैर्वैहनीयाऽभवदित्यर्थः । तानि पदानी-  
स्यान्तसंयोगे द्वितीया । अवलम्बनीयेत्याद्यनुकृत्वा वोढव्येत्यनेन गतजीविता यथान्यै-  
र्जनैर्वैहनीया भवति तथा जाता, ततश्च त्वं तस्या जीवितस्थानीय इति ध्वन्यते । तथा  
च—एतादृशीभुरुरागिणोमत्ता किमित्युपेषक्षेसे, अभिसर सत्वरमिति चरमं व्यञ्जयम् ।

किमेवं शरीरतः क्षीणासीति रहस्यभुक्तया मातुलान्या पृष्ठा काचिदाह—

**ईसामच्छररहिएहिं णिविआरेहिं मामि अच्छीहिं ।**

**एलिं जणो जणमिव णिरिच्छए कहँ ण छिज्जामो ॥६ ॥**

[ ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम् ।

इदार्नीं जनो जनमिव निरीक्षते कथं न क्षीयामहे ॥ ]

**ईर्ष्यामत्सररहितं मातुलि दग्भ्यां विनिर्विकाराभ्याम् ।**

**जनमिव जनोधुना नः पश्यति हीयामहे न कथम् ॥ ६ ॥**

जनः ( प्रियतमः ) नः असान् जनमिव निःसंबन्धे साधारणं जनमिव ईर्ष्यामत्सर-  
रहितं यथा स्यात्था भ्रूभज्जादिविकाररहिताभ्यां दग्भ्यां पश्यति, ततः कथं न क्षीया-  
महे । प्रणयसंबन्धे सत्येव ईर्ष्यामत्सरादिकं भवति, ततश्च ईर्ष्यामत्सरशून्यया दशा मां  
निर्विकारं पश्यतः प्रियतमस्य प्रणयभज्जः स्पष्टं परिज्ञातः । ततः कथं क्षीणा न भवामी-  
त्याशयः । प्रियतमाय जन इति निर्देशस्तु मातुलानीसविधे कौलीन्यलज्जां प्रकटयितुम् ।  
अथवा-छन्दानुगमिनीमपि मां स यदि साधारणदशा पश्यति तर्हि विवशतया ममपि  
स निःसंबन्ध इवेत्यभिमानमाविष्कर्तुं वा ।

यत्किञ्चिदपि दुहितुः सौभाग्यसूचकमालोक्य सुमृशमभिनन्दति मातैति शिक्षयन्तीव  
काचित्सहदयं कंचिदाह—

**वाऽद्वासिच्चअविहाविओरुदिष्टेण दन्तमग्गेण ।**

**वहुमाआ तोसिङ्गइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥ ७ ॥**

[ वातोद्वतसिच्चयविभावितोरुदिष्टेन दन्तमाग्गेण ।

वधूमाता तोष्यते निधानकलशस्येव मुखेन ॥ ]

**दशनपथेन हि वातोद्वतसिच्चयालक्षितोरुदिष्टेन ।**

**तुष्यति जननी वध्वा निधानकलशाननेव ॥ ७ ॥**

वातोद्वते सिच्ये ( वस्त्रे ) आलक्षितो य ऊरुत्सिन्दिष्टेन दशनपथेन दन्तक्षतेन ।  
भूमि खनन् जनो द्यक्सान्निधानकलशस्य मुखं दृष्ट्वा यथा हृष्यति तथा तुष्यतीत्यर्थः ।  
दुहितुर्वधूतव्यपदेशेन तस्याः पतिसदने गत्वा तनिरीक्षणं सूच्यते । ऊरुदेशे दन्तनख-  
धातादयः कामशास्त्रानुभताः, ततश्च जामाता कामशास्त्रानुपुणो दुहितरि सुमृशमनु-  
रक्षेति ज्ञात्वा तन्मातुः परितोष इत्याशयः ।

आसनः प्रणयातिशयं सूचयन्ती काचित्प्रियतमं प्रति सार्वदिक्षेहानुवृत्त्यर्थ  
प्रार्थयते—

**हिअअम्मि वससि ण करेसि मणुअं तह वि णेहभरिएहिं ।**

**सङ्क्षिजसि उअइसुहावगलिअधीरेहिं अम्हेहिं ॥ ८ ॥**

[ हृदये वससि न करोषि मन्युं तथापि स्नेहभृताभिः ।  
शङ्कासे युवतिस्वभावगलितधैर्याभिरसाभिः ॥ ]

हृदये वससि न कुरुषे मन्युं तदपीह रागभरिताभिः ।  
युवतिस्वभावविगलितधैर्याभिः शङ्कासेस्माभिः ॥ ८ ॥

हृदये वससि, त्वां सर्वदैव हृदि चिन्तयामि, सुसृशं मे त्वयि प्रणय इत्याशयः ।  
त्वमपि संप्रति अन्योपगमनादिना भम मन्युं शोकं नोत्पादयसि । अथवा मदुपरि  
क्रोधं न करोषि । तथाप्यप्रे विरक्तो भविष्यसीति स्नेहभरिताभिरसाभिः शङ्कासे ।  
स्नेहः पापशङ्काति कृत्वा संप्रति स्नेहं दर्शयत्यपि त्वयि अप्रे त्वं विरंस्यसे इति संशयो  
भवतीत्याशयः । भम प्रणयस्तावानप्ररूढो यद् भविष्यत्काले प्रणयप्रतिदाने मनाकृ  
त्रुटिशङ्क्यापि धैर्यं विगलति । एवं च—मत्यन्यमनुरुद्ध भवतापि सर्वदा प्रणयपरेण  
भाव्यमित्यभिव्यज्यते । किं वा—त्वं भम सर्वदा हृदये निवसीत्येकान्तिप्रियः । किं च  
सप्तीसमागमादिभिर्मम क्रोधमपि न जनयसि । तथापि युवतिस्वभाववशादधीराभिर-  
साभिः क्षणविलम्बेपि ‘अन्यत्र तु न गतो भवेत्?’ इति केवलं शङ्कासे । अत एव  
शङ्कावशास्वस्मात् प्रेमस्वभावोयमिति मत्वा न विमनायितव्यमित्यर्थः । असामिरिति  
बहुवचनेन—मैव केवलं न, अपि तु सर्वासामेवासुरागिणीनां सोयं स्वभाव इति प्रणय  
प्रत्याकृतमस्मिव्यज्यते ।

आत्मनः प्रणयातिशयं संसूच्य भार्यापरतत्त्वं निजप्रियतमं साकूतसुपालभमाना  
काच्चिद् हृदयामव्याप्त्याजेनाह—

अण्णं पि किं पि पाविहिसि मूढ मा तम्म दुक्खमेत्तेण ।  
हिअअ पराहीणजणं मग्नेन्त तुह केत्तिअं एअम् ॥ ९ ॥

[ अन्यदपि किमपि प्राप्यसि मूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण ।

हृदय पराधीनजनं सृग्यमाण तव कियन्मात्रमिदम् ॥ ]

अन्यदपि किञ्चिदाप्यसि विमूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण ।  
हृदय पराधीनजनं तव विमृग्यमाण कियदेतत् ॥ ९ ॥

हे हृदय ! सांप्रतं वियोगदुःखमात्रेण मा दूरेथाः । अप्रे किञ्चिदन्यदपि कथाशेषतामपि  
प्राप्यसि । परतत्त्वं जनं प्रार्थयमान हे मूढ विरहदुःखमिदं तव कृते कियत्? अति-  
न्यूनमित्यर्थः । विमूढेल्यामच्छपेन—प्रेमवशाच्चिवैधेन भम हृदयेन अन्यत्र दत्तहृदये  
जने प्रणयसमर्पणं कृतमिति प्रियं प्रतीर्थ्याभिव्यज्यते । हृदयस्य निन्दां कुर्वत्या नायि-  
कया निजभार्यासुक्षेपतोर्निन्दा सूचिते व्याजनिन्दालङ्कृतिः । अनया च—अहं  
त्वयि हृदयं समर्प्य प्राणपापमेपि प्रणयप्रालङ्घार्थं संनद्धा । अन्यवशीकृतो भवांस्त्वयापि  
मे प्रणयं न परिज्ञातवान् । इति निभृतसुपालम्भो ध्वन्यते । कथाशेषतादिपर्यायैरपि  
भरणसंकीर्तनममङ्गलां स्थृत्यातीति किञ्चित्पदेनोक्तम् । अहो दाक्षिण्यं गाथागुम्फितुः ।

निर्भरानुरागिण्या मम प्रणयमनभिनन्द्य विरक्तायामन्यस्यामनुरक्तोसीति नायकमुपालभमाना काचित्स्वैदर्घ्यमाह—

**वेसोसि जीअ पांसुल अहिअरं सा हु वल्लभा तुज्ज्ञ ।**

**इअ जाणिऊण वि मए ण ईसिअं दडुपेम्मस्स ॥ १० ॥**

[ द्रेष्योऽसि यस्याः पांसुल अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव ।

इति ज्ञात्वापि मया न ईर्ष्यितं दर्घप्रेमणः ॥ ]

**द्रेष्योसि हन्त यस्याः पांसुल सा वल्लभा तवाभ्यधिकम् ।**

**इति विज्ञायापि मया दर्घप्रेमणे न चेर्ष्यितं जातु ॥ १० ॥**

या त्वा द्रेष्टि सा मे सपल्ली तवाधिकतरं वल्लभा, इति प्रेमणः असमीक्ष्यकारितां परिज्ञायापि मया असौ प्रेमहतकाय ईर्ष्या न कृता । अदूरदर्शि यद्धि प्रेम द्रेष्येष्यासक्ति स्थापयति, अनुचितकारि तद्धि प्रेम मया ईर्ष्यितव्यमासीत्परं मया ईर्ष्या न कृता । यतोहं त्वय्यासक्ता, अत एव मयेदं प्रेम अभिनन्दितमेव न जातुचीर्ष्यितसिल्पर्थः । अथवा—दर्घप्रेमणे प्रेमहतकस्य निमित्तं तुभ्यमीर्ष्या न कृता । त्वं देष्टकारिण्यां तसां रक्तोसि, अनुरक्तायामपि च मयि विरक्तोसि, तथा च द्रेष्टकारके एव जने त्वमनुरज्यसीति त्वक्षिसर्गं ज्ञात्वा तुभ्यमहमीर्ष्यामकरिष्यम्, परं प्रणयपरवशा नेदं कर्तुमशक्ववमित्याकायः । ‘पांसुल’ इत्यनेन—एवमनुचितकारितया स्पष्टं त्वं दोषभागिति सूच्यते । अहमन्यासक्तहृदयेपि त्वयि सृशमनुरज्यामि । त्वं तु मत्यीतिप्रतिदानं दूरमात्ताम्, द्रेषिणीं तामनुर्वर्तमानः स्वस्य हिताहितमपि न परिनिनोषीति गूढ उपालभ्मोभिव्यज्यते । गङ्गाधरेण तु प्राकृते चतुर्थर्थिकां षष्ठीं संस्कृतेपि ‘दर्घप्रेमणः’ इति यथास्थितं स्वीकृत्य चतुर्थीपञ्चम्योरर्था आकृष्टा इत्यलम् ।

अन्यनाथिकाया गुणादीन्प्रशंसन्तं कान्तं काचित्सर्थमाह—

**सा आम सुहअ गुणरूपसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहम् ।**

**भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सब्बो जणो मरउ ॥ ११ ॥**

[ सा सत्यं सुभग गुणरूपशोभनशीला सत्यं निर्गुणा चाहम् ।

भण तस्या यो न सद्वशः किं स सब्बो जनो च्रियताम् ॥ ]

**गुणरूपशोभिनी सा सत्यं सुभगासि निर्गुणा सत्यम् ।**

**भण तस्या यो न समः किं स हि सब्बो जनो च्रियताम् ॥ ११ ॥**

मूले ‘आम’ इति ईर्ष्यासाहितानुमतौ । संस्कृते काका उच्चार्यमाणं सत्यपदं तदर्थं साधयति । हे सुभग सत्यम् । सा भवत्प्रेयसी गुणरूपशोभिनी । सत्यम् । अहं निर्गुणा । सुभगेत्यामच्छ्रणसहकारेण—यथा त्वमात्मानं सुभगं मन्यसे तथा तामपि गुणरूपशोभिनीं मां ज निर्गुणां मन्यसे, परं वास्तवे रागान्धो भवान् गुणरूपादिकं विवेकुमेव न जानाति ।

सा ह्यधर्मा । अहं च अन्यासक्तमपि भवन्तं निरन्तरमनुवर्तमाना शीलसौन्दर्यगुणादिमिर्युक्ता इति व्यन्यते । उत्तरार्थेन—तस्या बाह्यसौन्दर्यादिभिस्त्वं तथा सुखोसि, यथा नामसानिध्यमपि नाभिनन्दसीति सकोपोपालम्भो व्यज्यते ।

लज्जाव्यतिक्रमनिवारणाय निजवधूं शिक्षयन्ती काचित्पुरुष्ट्री पुत्रसुद्दिश्याह—

सन्तमसन्तं दुखं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति ।

ता पुच्छ महिलाओ सेसाखों जरा मनुस्साणम् ॥ १२ ॥

[ सदसहुःखं सुखं च या गृहस्य जानन्ति ।

ताः पुत्रक महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम् ॥ ]

सदसहुःखं च सुखं गृहस्य या जानते नूनम् ।

ताः सन्ति पुत्र महिलाः शेषा हि जरा मनुष्याणाम् ॥ १२ ॥

या महिला गृहस्य गृहवर्तिनां जनानाम्, कीर्तिकरम् अकीर्तिकरं च दुःखं सुखं च जानन्ति ता एव महिला महिलापदवाच्याः, अर्थात् गृहिणीपदाधिकारिण्यः । अन्यास्तु वयःक्षयकरत्वाजरा एव । शरीरसंबद्धा शनैः शनैः शरीरक्षयकारिण्यपि जरा यथा ल्यकुं न शक्यते तथा कुलपक्षीर्ति विचार्य वद्यपि सापि ल्यकुं न शक्यते अथापि प्रतिक्षणं नाशहेतुत्वबुद्धावधीर्यत इति जरात्वरूपणेन व्यन्यते । गृहस्येत्यनेन—न केवलं गृहपतेरेकस्य द्वयोर्वा सुखदुःखादिविचारो गृहवधूषायतः, अपि हु संपूर्णजनानामिति भारातिशयो घोलते । ‘दुर्लभाभिलाषिणीं स्वगृहवधूं प्रति वैराश्यजननार्थं कोपि पुत्रमाह’ इत्यतरणम् । ‘सद्विद्यमानम् । असद्विद्यमानं वस्तु’ इति च गङ्गाधरकृता व्याख्या ।

मानालम्बने कुलमहिलानां चरित्रं शिक्षयन्ती वयःप्रौढा सखी सखीमाह—

हसिएहिं उचालम्भा अचुवचारेहिं रूसिअव्वाहं ।

अंसूहिं मण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणम् ॥ १३ ॥

[ हसितैस्पालम्भा अत्युपचारैः खेदितव्यालि ।

अशुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम् ॥ ]

हसितैश्चोपालम्भा अत्युपचारैश्च रोषितव्यानि ।

अश्रुलघौः किल कलहा एष हि मार्गः सुमहिलानाम् ॥ १३ ॥

यासां महिलानां हसितैस्पालम्भा भवन्ति न रोदनैः । आवश्यकतातोऽधिकैः कुञ्जिमादैरः रोषा भवन्ति न गृहकार्थैसुख्येन । अश्रूणां लेशैरेव व्रणयकलहा भवन्ति न वाग्वितण्डया । लवपदेन—अश्रूणां कैश्चिद्द्विन्दुमिरेव ताः कलहं सूचयन्ति, न निरन्तररोदनेनेति मूलपेक्षयातिशयो घोलते । ‘रूसिअव्वाह’ इति स्थाने ‘खिजिअव्वाह’ इति पाठं स्त्रीकृत्य खेदितव्यानीति व्याख्यानं गङ्गाधरस्य ।

लोकापवादशङ्कयैव न संलपितवांसे प्रियतमस्तन्माऽन्यथा शङ्कीरिति सान्त्वयन्ती दूर्तीं प्रति काचित्सप्रणयरोषमाह—

उल्लापो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध चि णाम काऊण ।  
सँमुहापडिए को उण वेसैं वि दिंडिं ण पाडेह ॥ १४ ॥

[ उल्लापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।  
संमुखापतिते कः पुनर्द्वेष्येऽपि दृष्टिं न पातयति ॥ ]

उल्लापो मा क्रियतां लोकविरुद्धोयमिति कृत्वा ।  
दृष्टिं न पातयति को द्रेष्येपि हि संमुखापतिते ॥ १४ ॥

अयमुल्लापो लोकविरुद्ध इति कृत्वा विचार्य । द्रेष्येपि संमुखापतिते सति जनो दृष्टिं  
तु ददात्येवेत्यनेन ‘स द्रेष्यतामपि मत्तः परिहरति, यतः सोष्येकः परस्परसंबन्धः ।  
ततश्च—स मया सह कंचिदपि संबन्धमेव न रक्षति’ इति उपालभातिशयो योत्यते ।  
मूलोपात्तं पादपूरकं ‘णाम’ पदभादाय ‘नाम कृत्वा’ ‘नामग्रहणपूर्वकम्’ इति गजावर-  
कृतमर्थान्तरम् । अनावश्यकस्यापि तस्य यद्यनुरोधस्तर्हि—‘लोकविरुद्धोस्ति नाम कृत्वेति’  
इति पठितव्यम् । लोकविरुद्धोस्ति इति कृत्वा उल्लापो मा क्रियतां नामेति तद्योजना ।  
तस्मिन्दर्शनान्तरे च नाम कृत्वा नामग्रहणपूर्वकमिति च संगतिः । यद्वा—‘परपुरुषभाषणं  
लोकविरुद्धमिति भा क्रियताम्, कथं पुनरस्तमद्राक्षीरपि नेति साध्वीं प्रति कुटन्या  
इयमुक्तिरिति’ केचित् ।

प्रियतमायाः प्रणयं यथावदनुपलभमानं कंचिद्दिनिकं प्रति स्वाधीनमीननयनः कश्चि-  
त्सामिमानमाह—

साहीणपिअअमो दुग्गओ वि मणिइ कअत्थमप्पाणम् ।  
पिअरहिओ उण पुहर्विं वि पाविउण दुग्गओ चेअ ॥ १५ ॥

[ स्वाधीनप्रियतमो दुर्गतोऽपि मन्यते कृतार्थमात्मानम् ।

प्रियरहितः पुनः पृथिवीमपि प्राप्य दुर्गत एव ॥ ]

स्वाधीनप्रियदयितो दीनोपि च मन्यते कृतार्थं स्वम् ।

प्रियरहितः पुनररवनीमपि संप्राप्यास्ति दुर्गतो होव ॥ १५ ॥

स्वाधीना प्रिया दयिता यस्य सः । प्रियरहितः प्राणप्रियेण जनेन रहितः । ‘अति-  
क्रान्तसंकेतसमयां प्रियां प्रति कोपि सोद्वेगमाह । यद्वा—किमेवं कृशोसीति पृष्ठस्येच्छा-  
तुरुपां प्रियामलभमानस्य कस्यचिदियमुक्तिः’ इति गजावरः ।

हृदयानुकूलं दयितमप्राप्य अन्तरेव निर्मश्ताऽतृप्रणयेन नानाविधं क्लेशमनुभ-  
वन्तीं कांचिद्रहस्याभिज्ञा सख्याह—

किं रुपसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एकमेकस्स ।  
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुन्धिउं तरइ ॥ १६ ॥

[ किं रोदिषि च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै ।

प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोदुं शक्नोति ॥ ]

किं रोदिषि किं शोचसि किं कुप्यसि सुतनु चैकैकम् ।

विषमिव विषमं प्रेम हि रोदुं शक्नोति कः कथय ॥ १६ ॥

एकैकं प्रत्येकजनं प्रति । इच्छामुरुपं दयितमनवाप्य असफलप्रणया त्वं प्रेमवशाद्दुःखिता भवसीत्यसामिरकथनेषि परिज्ञातम्, तदृढा कोपं वा गोपनायासं वा मा काषाय-रिति भावः । ‘सुतनु’ इति संबोधनेन ‘आत्मनः सौन्दर्यं वृथैव परिगणयन्ती त्वं सुमृशं परितप्यसे’ इति व्योत्पत्ते । रक्षेन सह सर्वज्ञे संकान्तो विषेणो दुनिरोधतया यथाऽचिकित्स्यो भवति तथा प्रियप्राप्तिसामात्रप्रतिकार्यः प्रेमापि प्रायोऽप्रतिरोध्यो भवतीत्याशयः ।

काञ्छन नवीनामभिसारारथमुत्तेजयन्ती वृद्धदृती निजानुभूतसौख्यानामतिक्रान्ततयाऽपुर्वलभ्यत्वमाह—

ते अ ज्ञाणा ता गामसंपआ तं च अम्ह तारुण्यम् ।

अक्खाणां व लोओ कहेहि अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥

[ ते च युवानस्ता ग्रामसंपदस्त्वास्ताकं तारुण्यम् ।

आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि तच्छृणुमः ॥ ]

ता आमसंपदस्ते युवकास्त्वापि नश्च तारुण्यम् ।

आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि च तच्छृणुमः ॥ १७ ॥

आख्यानकमिव पूर्वजातमितिहासमिव लोकः कथयति, वर्यं च शृणुमः । अस्मामिरसमत्तारुप्ये नानाविधविदग्धजनैः सह याः सौख्यसंपदोऽनुभूतास्ताः असासु वर्तमानेष्वेव युगान्तरजाता इव संजाता इत्याशयः । एवं च—अनुभवशालिन्या मे कश्चनमनुरुद्ध्य अपुर्वलभ्यात्तादशविदग्धजनसभागमसुखाद्य वश्यात्मानमिति नायिकां प्रत्यभिव्यज्यते ।

शपथद्वारा निजेप्रेमप्रतीति कारणित्वाऽनुनीयमानाया नायिकायाः सविषादं कोधवादं सखी सखीमाह—

वाहौहभरिअगण्डाहराएँ भणिअं विलक्षहसिरीए ।

अज्ज वि किं रूसिझइ सवहावत्थं गअं पेम्मम् ॥ १८ ॥

[ बाष्पौषभूतगण्डाधरया भणितं विलक्षहसनशीलया ।

अद्यापि किं रुद्धते शपथावस्थां गतं प्रेम ॥ ]

बाष्पौषभरितगण्डाधरया भणितं विलक्षविहसितया ।

अद्यापि रुद्धते किं शपथाऽवस्थां गतं प्रेम ॥ १८ ॥

बाष्पौषभरितं गण्डाधरं यस्याः, विलक्षं विहसितं च यस्यास्तया भणितम्—‘भवतः अम संप्रति शपथद्वारा प्रतीतियोगमयं जातं न पुनः कार्यरूपेणानुभवनीयम् । अत एव-

दानीं किं रोषेण ?' सत्ये ब्रेमण्येव मानः शोभत इत्याशयः । 'अलौकदाक्षिण्येन त्वं  
ब्रेम साधयितुमीहसे, अहो ते नैपुण्यम्' इति विलक्षहसितसाकूतम् ।

अन्यासत्या दयितस्य मन्दस्नेहतां सूचयन्ती काचित्सखीं सनिर्वेदमाह—

वर्णअघअलिप्पमुहिं जो मं अइआअरेण चुम्बन्तो ।

एहिं सो भूसणभूसिअं पि अलसाअइ छिवन्तो ॥ १९ ॥

[ वर्ण[क]घृतलिप्समुखीं यो मामत्यादरेण चुम्बन् ।

इदानीं स भूषणभूषितामप्यलसायते स्पृशन् ॥ ]

वर्णघृतलिप्सचदनां यो मामत्यादरेण चुम्बितवान् ।

भूषणविभूषितामपि सम्प्रत्यलसायते स्पृशन्नपि सः ॥ १९ ॥

पुष्पवतीत्यावस्थायां नियमानुरोधेन स्पर्शार्थं निषिद्धन्तीमपि, वर्णघृतेन लिप्सचदन-  
तथा अमनोहरामपि, मां पूर्वमत्यासक्त्या चुम्बितवानपि सोऽयम्—सम्प्रति मण्डनेन  
स्पष्टमभिव्यक्ताभिलाषामपि रुचिरशरीरामपि मां स्पृशन्नपि संकुचति, का पुनः समा-  
गमस्य कथा । तथा च—स्पष्टमसाऽन्यस्यामासक्तिः संजातेत्याशयः ।

अस्याः सहजसौन्दर्यं वीक्षख न पुनर्वेद्वादिकमिति काञ्चन संयोजयितुमिच्छन्ती  
दूती कामुकमाह—

णीलपडपाउअङ्गी ति मा हु णं परिहरिज्ञासु ।

पट्टंसुअं पि णद्वं रअम्म अवणिङ्गइ चेअ ॥ २० ॥

[ नीलपटप्रावृताङ्गीति मा खल्वेनां परिहर ।

पट्टंशुकमपि नद्वं रतेऽपनीयत एव ॥ ]

नीलपटसंवृताङ्गीति मा किलैनां परिहरस्य ।

पट्टंशुकमपि नद्वं व्यपनीयत एव सुखसुररते ॥ २० ॥

नद्वं परिहितम् । शुखे शुखजनके सुरते । यदा पट्टवस्त्रमपि दूरीकियते तदा अस्य  
दूरीकरणे का वाधेति भावः । सहजो शुण एव लीणामुपादेयो न त्वाहार्य इत्याशयः ।  
संवृताङ्गीत्यनेन—निसर्गमुन्दराणामस्या अङ्गानां नीलपटस्यावरणमात्रेण प्रतारितो मास्याः  
समागमसुखतो विश्वितो भूरिति सूच्यते । शुखेति विशेषणेन—यदि त्वं वास्तवे सुरते  
सौख्यं वाङ्छसि तर्हि तु पटं प्रति दृष्टिं न करिष्यस्येव । अथ यदि केवलं रसिकमानि-  
तैव तदा तु सुखाद्वित एव त्वमिति व्यञ्यते ।

अतिप्रहिलमानां मानिनां मानपरित्यागार्थं विक्षयन्ती दूती सानुनयमाह—

सञ्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति ।

माणो उण माणंसिणि गरुओ पेम्मं विणासेइ ॥ २१ ॥

[ सत्यं कलहे कलहे सुरतारम्भः पुनर्नवा भवन्ति ।

मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेम विनाशयति ॥ ]

सत्यं कलहे कलहे सुरतारम्भः पुनर्नवा भान्ति ।

मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेमेह नाशयति ॥ २१ ॥

कलहकृतविच्छेदोत्तरं सुरते नवीनतेवाविर्भवतीति तत्र रसविशेषोऽनुभूयते । तथापि गुरुकः अतिग्रहिलो मानः इह प्रेमैव नाशयति । प्रेमिण च गते को रसः सुरतेष्विति सम्प्रति सुब्रह्म मानसित्याशयः । मनस्विनीत्यामन्त्रणेन ‘त्वेवैका अपूर्वा मनस्विन्युत्पन्नाति, या सुभृशमनुनयेषि न मानं मुद्द्वसीति’ भूयानुपालम्भो ध्वन्यते ।

अनुनयाऽख्याकारात्कुपितविलक्षणे वल्लभेनावधीरिता कलहान्तरिता जनितानुतापं दूतीमाह—

माणुम्मत्ताइ भए अकारणं कारणं कुणन्तीए ।

अदंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढवाएण ॥ २२ ॥

[ मानोन्मत्तया मया अकारणं कारणं कुर्वत्या ।

अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रौढवादेन ॥ ]

मानोन्मद्याऽति मया ह्यकारणं कारणं प्रकुर्वत्या ।

प्रेमाव्यदर्शनेन विनाशितं प्रौढवादेन ॥ २२ ॥

मानधारणार्थम् अति उन्मदया अत्युत्साहया, अत एव मानस्य न यत्कारणं तदपि कारणं कुर्वत्या मया अनुनयन्तं दयितं प्रत्यनवलोकनेन, प्रौढवादेन प्रतिज्ञापूर्वकं प्रत्याख्यानेन च प्रेमापि विनाशितम् । ‘मानावलम्भनेन प्रियप्रणयं परीक्षिष्ये’ इति धूतोत्साहया मया मानकारणं विनैव तावान्मानः कृतो यत्प्रयोऽनुनयज्ञपि नावलोकितः । इदानीं पराङ्मुखः प्रियो मां नावलोकयति, ततथ सम्प्रति प्रियस्य दर्शनं विना लेह एवापगत इत्याशयः ।

कृतापरावरेषि चादृकिभिरनुनयन्तं कान्तं कापि सवैदग्ध्योपालम्भमाह—

अणुऊलं विअ वोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि ।

कुविअं अ पसाएउं सिक्खइ लोओ तुमाहित्तो ॥ २३ ॥

[ अनुकूलमेव वकुं बहुवल्लभ वल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि ।

कुपितं च प्रसादपितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥ ]

द्वेष्येषि वल्लभेषि च बहुवल्लभ वकुमेव मधुराणि ।

कुपितं चाप्यनुनेतुं युष्मत्तः शिक्षते लोकः ॥ २३ ॥

बहुयो वल्लभा यस्य तत्समुद्दौ । बहुषु कृतप्रणयोपि त्वं केवलं दाक्षिष्येनानुनेतुमि-च्छसीत्येतदकूतम् । द्वेष्येषि वल्लभेषि च जने मधुराणेव वकुं तद्वारा च कुपितं लोक-

मनुनेतुं जनो भवत्सकाशात् शिक्षते । तव मधुरसंलपो हृदयबाह्यो यतस्त्वं द्वेष्वेषि  
मधुरं लपते । ततश्चालीकदाक्षिण्येन स्फुटापराधोपि त्वं केवलं मां प्रतारयस्तीति गृदो-  
पालम्भो ध्वन्यते ।

पूर्वं दर्शितप्रणयादिशयस्यापि साम्प्रतं मन्दस्त्रेहस्य दयितस्याकृतज्ञतां सूचयन्ती  
काचित्सखीमाह—

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसधोसणा दिणा ।

जस्त कए णं पिअसहि सो च्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥

[ लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोविषणा दत्ता ।

यस्य कृतेन ( कृते ननु ) प्रियसखि स एव जनो जनो जातः ॥ ]

लज्जा त्यक्ता शीलं खण्डितमयशोविषणा दत्ता ।

यस्य कृतेन प्रियसखि स एव संप्रांति जनो जनो जातः ॥ २४ ॥

यस्य प्रियस्य कृतेन यस्य प्रियस्यार्थे । अयशसो विघोषणा डिण्डिमरवः, डिण्डिम-  
ताडनपूर्वकं सर्वत्र मया अपकीर्तिः प्रसारितेति भावः । स एव जनः ( प्रियजनः ) जनः  
उदासीनजनो जातः ।

सख्याः शिक्षार्थं काचित्कुलवधूवृत्तमाह—

हसिअं अदिङ्गदन्तं भमिअमणिकन्तदेहलीदेशम् ।

दिङ्गमणुकिखतमुहं एसो मग्नो कुलवहूणम् ॥ २५ ॥

[ हसितमदृष्टदन्तं भमितमनिष्कान्तदेहलीदेशम् ।

दृष्टमनुक्षिप्तमुख्यमार्गः कुलवधूनाम् ॥ ]

हसितमदर्शितदशानं भमितमनिष्कान्तदेहलीदेशम् ।

दृष्टमनुक्षिप्तमुख्यमार्गः सोऽयं कुलवधूनाम् ॥ २५ ॥

न उत्क्षिप्तम् उच्चमितं मुखं यस्मिन् ईदृशं दृष्टम् अवलोकनम् । अद्यष्टेति स्थाने अद-  
शिं रेत्युत्त्या-हास्यविषयेषि हास्योद्रेकं वशीकुर्वल्पस्ते दन्तदर्शनचापलं न प्रकटयन्तीति  
सूच्यते-उक्तं चान्यैरपि-‘सितं कुलनतमुवामधर एव विश्राम्यति’ । न निष्कान्तः  
उल्लङ्घनविषयीभूतो देहलीदेशो यस्मिन्, देहलीतो बहिर्न आम्यन्तीस्थर्थः । तत्त्वतस्तु-न  
निष्कान्तः खस्साद्वियुक्तो देहलीदेशो यस्मिन्, अर्थात् गृहजना गृहदेहलीतस्तिरस्कुर्युरी-  
दशं तासां भ्रमणं न भवतीति यावत् । मार्ग इत्यनेन-राजमार्गवदनुद्दिनीया निष्क-  
ष्टका तु सेयमेव रीतिः, अन्याः कामं पांसुला विशिखाः शतं भवेयुरिति ध्वन्यते ।  
वधूपदेन-पितृगृहे एतदपेक्षया किञ्चित्सातकृयमभिव्यज्यते ।

निष्पत्तिर्च्छदत्या कैथिद्वनादृतस्य नायकस्य गौरवं सूचयन्ती दूती शृण्वन्ती नायि-  
कामनुकुलपितृमन्यापदेसोनाह—

धूलिमझ्लो वि पङ्कज्ञिओ वि तणरइअदेहभरणो वि ।  
तह वि गङ्गन्दो गरुअतणेण ढक्कं समुवहइ ॥ २६ ॥

[ धूलिमलिनोऽपि पङ्कज्ञितोऽपि तुणरचितदेहभरणोऽपि ।  
तथापि गजेन्द्रो गुरुकवेन ढक्कां समुद्भवति ॥ ]

धूलिमलिनोऽपि पङ्कज्ञितोऽपि तुणरचितदेहभरणोऽपि ।  
तदपि गजेन्द्रो ढक्कां गुरुकतया हात्मनो वहति ॥ २६ ॥

तृणैः कृतं देहस्य भरणं पोषणं येन । भरणपदेन—उदरपूरणसात्रसूचनेन भोज्य-  
प्रकारेष्वौदरिकवदभिनिवेशाभावो व्यज्यते । आत्मनो गुरुकतया शरीरस्य महापरिमा-  
णेन ढक्कां समरवाहां यज्ञिविशालं यशःपटहं वहति । गुरुकतया आत्मनो गौरवेण  
( उत्कर्षेण ) स्वस्य यशोडिणिदमं धोषयतीत्यप्यर्थः । एवं च—निष्परिच्छदोपि सोयमा-  
त्मन उत्कर्षेण सर्वत्र यशोभाजनमत्ति, तन्माऽस्य समागमे विशङ्केथा इति नायिकां  
प्रति घोलते ।

नैसर्गिकमहत्वशालिनां संकटेपि मानसमुच्चतमेव भवतीति सखीं शिक्षयन्ती कान्ति-  
त्सुभटपद्याश्वैरेण सह संलापद्वद्वामाह—

करमरि कीस ण गम्मइ को गबो जेण मस्तुणगमनासि ।  
अद्विदन्तहसिरीअ जम्पिअं चोर जाणिहिसि ॥ २७ ॥

[ बनिद किमिति न गम्यते को गबों येन मस्तुणगमनासि ।  
अद्विदन्तहसनशीलया जलिपतं चोर ज्ञास्यसि ॥ ]

नो बनिद् गम्यते किं को गबों येन मस्तुणगमनासि ।  
जलिपतमद्विदशनं विहसन्त्या ‘ज्ञास्यसे चोर’ ॥ २७ ॥

‘हे बनिद मम निर्देशानुसारं मया सह किमिति न गम्यते ? किनिमित्तो गबों येन  
मस्तुणगमनासि मन्दगमनासि’ इति चौरेणोक्तं सति, अद्विदन्तं यथा स्यात्तथा हसन्त्या  
मन्दसितं कुरुत्येत्यर्थः । अद्विदन्तं हसनेन—कुलमर्यादा आत्माभिमानश्च सूच्यते ।  
मन्दस्थाने मस्तुणपदेन चिक्षणस्थलविस्थित्वा स्थित्वा गमनं सूच्यते, तेन विश्वसनीयशौ-  
र्यस्य दधितस्यागमनप्रतीक्षा व्यज्यते । कथनस्थाने जल्यनोक्तया—साभिमानोक्तिः  
सूचिता । चोरपदेन—‘वीरस्य मम र्भुरुजुपस्थितौ मां हरतस्तव नेयं सुभटता, अपि तु  
सेयं तस्करतैव’ इति तं प्रति तिरस्करो धन्यते ।

प्रेमप्राबल्ये सति ऋतुकालेपि प्रियतमाया विरहो न शक्यते सोऽुमिति सखीं प्रिय-  
तमप्रणयार्थमुत्तेजयन्ती कान्तिक्षामित्विद्वत्तमाह—

थोरंसुर्पाहं स्णणं सवच्चिवगगेण पुफ्कवहआए ।  
मुअसिहरं पहणो पेछिऊण सिरलग्गतुप्पलिअम् ॥ २८ ॥

[ स्थूलाशुभी रुदितं सपत्नीवर्गेण पुष्पवत्याः ।

भुजशिखरं पत्युः प्रेक्ष्य शिरोलग्नवर्णं घृतलिसम् ॥ ]

रुदितं हि पुष्पवत्याः सपदि सपत्नीभिरविरलैरस्त्रैः ।

भुजशिखरं किल पत्युः प्रेक्ष्य शिरोलग्नवर्णं घृतलिसम् ॥ २८ ॥

भुजस्य शिरसि उपरिभागे स्कन्धं इति यावत् । लभेन वर्णं घृतेन लितं पत्युभुज-  
शिखरं प्रेक्ष्य पुष्पवत्याः सपत्नीभिः अविरलैरशुभिः रुदितम् । पुष्पवतीभिः तामसौ न  
खजतीति भावः । स्कन्धे घृतलेपेन तन्मुखमसे निधाय रात्रौ सुच्चापेति नायिका-  
लम्बनः प्रणयातिशयो दोखते । तद्वारा च सपत्नीनामीर्घ्यातिशयः ‘अविरलैः’ इत्यश्च-  
विशेषणेन सूच्यते । ‘तुपं वर्णं घृतं तेन लितं तुप्पलिभम् । कस्याप्यभियोगनिरासार्थं  
दूती नायिकाया ऋतुकालेऽप्यनवसरमाह’ इति गङ्गाधरटीका ।

अतिरागाविष्टः कोपि रजस्वलामाह—

लोओ जूरइ जूरउ वअणिझं होइ होउ तं णाम ।

एहि णिमज्जसु पासे पुफ्फवइ ण एइ मे णिद्वा ॥ २९ ॥

[ लोकः खिद्यते खिद्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।

एहि णिमज्ज पार्श्वे पुष्पवति नैति मे णिद्वा ॥ ]

लोकस्ताम्यति ताम्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।

एहि विनिमज्ज पार्श्वे निद्वा मे नैति पुष्पवति ॥ २९ ॥

लोकः सपह्यादिः ताम्यति खिद्यते । वचनीयं निन्दा । नायिकाया एकैका विप्रति-  
पत्तिरनूद्य खण्ड्यते । पार्श्वे विनिमज्जेति स्फुटतया ग्राम्यायितोक्त्या नायकस्य कामाकु-  
लत्वं व्यञ्जयते । त्रिये ! इत्यादिपरिवर्ते पुष्पवतीलामच्छणेन—वारंवारं पुष्पवतीत्वं कार-  
णीकुर्वणा त्वमेवैका अपूर्वा पुष्पवती असीत्युपालम्भोऽभिव्यञ्जयते । पुरुषनिष्ठः सोयं  
हाव इति स० कणाभरणम् । ‘रागतः सहसा प्रवृत्तिहेतुवित्तोल्लासो हेला । हेलैव सब-  
चनविन्यासो हावः’ इति तल्लक्षणम् ।

पूर्वानुरागे लेखमुखेन नायिका नायकमाह—

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व दीससे तत्तो ।

तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व सअलं दिसाअकम् ॥ ३० ॥

[ यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र ।

तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम् ॥ ]

यां यां पश्यामि दिशं तत्र लिखित इव विलोक्यसे पुरतः ।

प्रतिमापरिपाटीं तव सकलं वहतीव दिक्कचक्रम् ॥ ३० ॥

प्रतिमापरिपाटीं प्रतिविम्बपरम्पराम् । सर्वतस्त्वन्मूर्तिमेव विलोक्यामील्याशयः ।  
‘लिखित एव’ इति गङ्गाधरकृता छाया ।

तिर्यङ्गोपि कस्माच्चन पूर्वं कष्टमनुभूय तत्सदामन्यमभीष्मपि “पदार्थसुपाददत्तो  
बिभृति । तद्विरम तदुपसरणादिति नायकं शिक्षयन्ती दूती सापदेशमाह—

ओसरइ धुणइ साहं खोकखामुहलो पुणो समुद्दिहइ ।  
जम्बूफलं ण गेह्लइ भमरो चि कई पढमडको ॥ ३१ ॥

[ अपसरति धुनोति शाखां खोकखामुखरः पुनः समुद्दिखति ।  
जम्बूफलं न गृह्णति भ्रमर इति कपिः प्रथमदृष्टः ॥ ]

अपसरति धुवति शाखां खोकखामुखरः पुनः समुद्दिखति ।  
जम्बूफलं न हरति भ्रमर इति कपिः प्रथमदृष्टः ॥ ३१ ॥

धुवति कम्ययति । खोकखा इति वानराणां शब्दस्तेन मुखरः, तां शाखां पुनः उक्ति-  
खति न खैविञ्छनाति । परं भ्रमरेण प्रथमं दृष्टः कपिस्तसदृशं जम्बूफलं न हरति गृह्णाति ।  
तिरथामपि सेयं सतर्कता, त्वं तु प्रथममनुभूतभूरितिप्रहोपि कथं पुनस्तामेव कामयसे  
इति नायकं प्रसभिव्यञ्जयते । ‘खोकखा ध्वनिविशेषः’ इति गजाधरः ।

पुनस्तामेवार्थं दृष्टान्तान्तरेणाह—

ण छिवइ हृथेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउञ्जे ।  
दरलेम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहृथम् ॥ ३२ ॥

[ न स्पृशति हस्तेन कपिः कण्डूतिभयेन पत्तलनिकुञ्जे ।  
ईच्छुम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृशं वानरीहृस्तम् ॥ ]

न स्पृशति करेण कपिः कण्डूतिभयेन पत्तलनिकुञ्जे ।  
ईप्लम्बितकपिकच्छुगुच्छसदृशं हि वानरीहृस्तम् ॥ ३२ ॥

पत्रले बहुलपत्रे निकुञ्जे लतामध्यतः प्रसारितं ग्रियमपि वानरीहृस्तम्, ईषलम्बमार्न  
कपिकच्छोः ( कोंछ इति भाषया व्यपदेशस्य वनस्पतिविशेषस्य ) गुच्छकमाशङ्का  
कपिः कण्डूतिभयेन न स्पृशतीत्याशयः । ग्राह्णते पूर्वनिपातस्यानियमात् कपिकच्छु-  
गुच्छसदृशमितिस्थाने ‘गुच्छकपिकच्छुसदृशम्’ इति जातम् । अथवा ईषलम्बितो  
गुच्छो यस्येति बहुत्रीहिर्वाच्यः स्यात् । अभिमतमपि मूढः प्रतिकूलबुद्ध्या परिहरती-  
त्यन्यापदेशेन कोपि सहचरमाह । इति गजाधरः ।

अभिसरणार्थं नायकमुत्तेजयन्ती दूती नायिकाया विरहविकलतामाह—

सरसा वि स्ससइ चिअ जाणइ दुकखाइँ मुद्रहिअआ वि ।  
रत्ता वि पण्डुर चिअ जाआ वरई तुह चिओए ॥ ३२ ॥

[ सरसापि शुभ्यत्येव जानाति दुःखानि मुग्धहृदयापि ।  
रत्तापि पाण्डुरैव जाता वरकी तत्र चियोगे ॥ ]

शुद्धत्येव च सरसाप्यवैति दुःखानि मुग्धहृदयापि ।  
रक्तापि पाण्डुरैव हि जाता विरहे तव वराकी ॥ ३३ ॥

सरसापि त्वत्मणि साभिलाषापि परितापाच्छुद्धति । त्वत्मेष्ण व्यामूढहृदयापि  
विरहजानि दुःखानि अवैति जानाति । अनुरक्तापि विरहवेदनया पाण्डुरवर्णं जाता ।  
सरसादिपदानां श्लेषेण आर्द्रतायपील्यर्थः । ततश्च-आर्द्रस्य कथं शुष्कता, व्यामूढस्य  
( अचेतनस्य ) कथं दुःखपरिज्ञानम्, अरुणवर्णस्य कथं पाण्डुतेति विरोधः । अनेन  
चालङ्कारेण ‘सुखसाधनमपि सर्वं त्वद्विरहे तस्या दुःखसाधनं जातम्’ इति वस्तु  
व्यज्यते । अनुभवतीति स्थाने जानातीत्युक्त्या-त्वयैव विरहं प्रदाय दुःखानां परिचयः  
कारितः, अन्यथा पूर्वं कीदृशानि दुःखानीति परिज्ञानमपि नासीदिति पूर्वमनुभूतसु-  
खायाः साम्प्रतं नवदुःखानुभवेन वेदनातिशयो घन्यते । वराकीपदेन च-‘विपरीतका-  
रिणा दैवेन एवं व्यापद्यमाना साऽवश्यं दयनीया’ इति त्वरितोपसर्पणं चरमं घन्यते ।

सीधुसेवनेनोद्विक्षमन्मथतया जरन्तमप्यालिङ्गन्तीं काञ्चन नवयौवनां शरद्व्यंतप्रस-  
द्वेनोपहसन् सहृदयः कश्चित्सहृदयमाह—

आरहहि जुणां खुञ्जां वि जं उअह वल्ली तउसी ।  
णीलुप्पलपरिमलवासिअस्स सरअस्स सो दोसो ॥ ३४ ॥

[ आरोहति जीर्णं कुञ्जकमपि यत्पश्यत वेष्टनशीला त्रपुसी ।

नीलोत्पलपरिमलवासितायाः शरदः स दोषः ॥ ]

जीर्णं कुञ्जकमप्यारोहति यत्पश्य वेष्टिनी त्रपुसी ।  
शरदो दोषो नीलोत्पलपरिमलवासितायाः सः ॥ ३४ ॥

वेष्टतीति वेष्टिनी वेष्टनशीला त्रपुसी ( ‘आर्या, तेवरसी’ इति ख्याता, कर्कटीवि-  
शेषः ) यत् शुष्कं वकं वृक्षमप्यारोहति, एष फुलनीलकमलसौरभायाः शरदो विकारः ।  
प्राकृते ‘सरअस्स’ इत्यस्य ‘शरदः’ ‘सरकस्य’ इत्युभयमप्यर्थः । ततश्च-‘सरकोऽस्त्री  
शीधुपाने शीधुपात्रेष्टुशीधुनोः’ इति मेदिनीकोषात्-‘वेष्टिनी वेष्टिताख्यालिङ्गनशीला  
त्रपुसीव कोमला नवयौवना वृद्धं नायकं बन्धविशेषवशाद् यदारोहति, सोयं नास्या  
दोषः, किन्तु कमलसौरभयुक्तस्य सरकस्य इक्षुमयस्य इत्यर्थान्तरमपि घन्यते ।  
तथाच-नवयौवनापि सेयं यज्जरन्तमिममालिङ्गति तत्र मधुपानमेव कारणमिति ख्यस्य  
मर्माभिन्नता सुहृदं प्रति प्रकटीकृता । गङ्गाधरस्तु-‘कामपि गलितयौवनां शीधुपानेन  
जातमन्मथविकारां शरद्व्यंनच्छलेनोपहसनागरिकः सहृदयमाह’ इति प्रारम्भे अवतरणं  
विचायापि, मध्ये-‘कर्कट्याः पुनर्नवीकरणं जरत्याश्च युवतीकरणं विकारः’ इति वृद्धायाः  
कस्याश्चित्कामविकारकथां जगौ । अन्ते च ‘शरक्ताले कर्कटीलता यदेव पुरःस्थितं  
शुष्कमार्द्वं वा सरलं वकं वा, तदेवारोहति, तथा लतेव लता नायिका वृद्धं वा तरुणं  
वा मङ्गजते नायमस्या दोषः, किन्तु इक्षुमयस्येति’ पुनर्युवत्याः इदाश्रयणमालपित-

वानिति पूर्वोपरविरुद्धः संदर्भः । 'त्रपुसी जीर्णं कुञ्जकमारोहति' इति वाक्येन स्पष्टं नवयोवनाया जीर्णेन सह कामविकारः प्रतीयत इति सुधीभिर्विमृश्यम् ।

प्रियथमेन साकं पूर्वं मधूत्सवसुखमनुभूतवती काचित्प्रियविरहे तस्यैवोत्सवस्य स्वरूपं वयस्यां प्रत्येवमाह—

**उप्पहप्यहाविहजणो पविजिम्हिअकलअलो पहअतूरो ।**

**अच्वो सो चेअ छणो तेण विणा गामदाहो व्व ॥ ३५ ॥**

[ उत्पथप्रधावितजनः प्रविजृभितकलकलः प्रहततूर्यः ।

दुःखं स एव क्षणस्तेन विना ग्रामदाह इव ॥ ]

**उत्पथधावितमनुजः प्रविजृभितकलकलः प्रहततूर्यः ।**

**हंहो क्षणः स एव हि तेन विना ग्रामदाह इव ॥ ३५ ॥**

उत्सवप्रमत्ततया वहिभयाच्च उत्पथेन धाविता जना यस्मिन् । उत्सवकालिकगानादिना रक्षार्थमार्तनादेन च प्रविजृभितः कलकलो यस्मिन् । गानसहकाराय वहिनिवापणार्थं दूरस्थजनाहानाय च प्रहतः तूर्यो यस्मिन्, ईद्धाः क्षणो मधूत्सवः ( साम्प्रतिको होला-महोत्सवः ) तेन विना ग्रामदाह इव प्रतीयते । हंहो इति दुःखाभिनये । स एवेत्सवेन-तद्विरहे सुखकरमपि सकलं दुःखजनकमभवत्, हंहो दुःखम् । इति दैवपरिवृत्तिः सूच्यते । 'ग्रामदाह'कीर्तनेन-सकलेष्यि ग्रामे अशान्तिरिव प्रतीयत इति नायिकाया-स्तन्मयता ध्वन्यते । होलिकादहनोत्सवे उत्सवमत्तानां जनानां ढक्कासहकारिगीतिकल-कलमुखरो निर्मर्यादः सोयमानन्दोत्सवो ग्रामदाहे जातो विस्तरकोलाहलाभितो नायि-कायाः प्रतीतोभवदिलाशयः ।

खलसमागमं वारयन्ती काचित्सखीमाह—

**उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्टिएण ठड्डेण ।**

**सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेण ॥ ३६ ॥**

[ उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन ।

शङ्का इमशानपादपलम्बितचोरेणेव खलेन ॥ ]

**नोल्लापयमानेन स्तब्धेन च पार्श्वगोन कस्य स्यात् ? ।**

**शङ्का खलेन पितृवनतरस्लम्बितचोरकेणेव ॥ ३६ ॥**

न उल्लापयमानेनेतिच्छेदः । उल्लापयमानेन खार्षय वज्ञनार्थं भाषमाणेन अहंकारात् स्तब्धेन पार्श्वस्थितेन खलेन, इमशानपादपलम्बितेन क्रुतिस्तेन चोरेणव, चोरादिति यावत् । कस्य शङ्का न स्यात्, अपि तु सर्वस्य स्यात् । चौरोपि उल्लापयमानः द्रवयन् ( अभिभवन् ) ग्राहतानुसारं 'पासट्टिअः' पाशस्थितः प्राणदण्डार्थं वृक्षेऽवलम्ब्य दत्त-गलपशः, ग्राणवायुनिर्गमोत्तरं स्तब्धश्च भवति । हेतौ तृतीया । अत एव भययोगा-

पञ्चमी न । अनया उपमया 'स्वलाकेवलं भयमेव, न तु काचित्सिद्धिः, (यथा मृत-  
चौरदेहात्)' इति तस्य परिहरणीयत्वं ध्वन्यते ।

ग्रावृषि प्रवासं परिहृत्य प्रियतमाः प्रतिनिवर्तन्त इति प्रोषितपतिकां प्रियसर्वां प्रबो-  
धयन्ती प्रौढा कापि पितृष्वसारं प्रस्थाह—

**असमत्तगुरुकज्जे एहिं पहिए घरं पिअच्चन्ते ।**

**एवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअद्वहासेहिं ॥ ३७ ॥**

[ असमाशगुरुककार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने ।

नवप्रावृद्ध पितृष्वसः हसतीव कुटजाद्वहासेः ॥ ]

**असमाप्तगुरुककार्ये सम्प्रति पथिके गृहं समायाति ।**

**हसतीव नवप्रावृद्ध पितृष्वसः कुटजहासेन ॥ ३७ ॥**

न समाप्तं गुरुकमावश्यकं कार्यं यस्य तस्मिन्, समायाति प्रतिनिवर्तमाने सति ।  
'भचिहदर्शनाद्वीतः प्रियाविरहं सोऽुमशाङ्कुवच्छ्रुतावश्यककार्यं एवैष गृहं प्रलागतः'  
इति कुटजकुसुमविकासरूपेण अद्वहासेन हसतीव । नवप्रावृडिति नवपदेन-आरम्भ  
एव भेषसीसमागमोत्कण्ठः प्रतिनिवृत्त इति प्रावृष्ट उद्दीपकत्वातिशयः सूच्यते । तथा  
च—'गुरुकार्याण्यपि लक्ष्या यदा प्रवासिनः समायान्ति तर्हि सामान्यकार्यगतः  
सेचिरात्समायास्यति । मा उत्तान्य । आरम्भ एव सोयं प्रावृष्टः' इति नवपदसहकारेण  
सर्वां प्रति ध्वन्यते ।

गृहगमनाय पथिकं त्वरयितुं काचित्प्रावृषि प्रोषितभर्तृकाया वृत्तान्तसुपक्षमते—

**दद्वृण उण्मन्ते मेहे आमुकजीविआसाए ।**

**पहिअघरिणीअ डिम्भो ओरुण्मुहीअ सञ्चविओ ॥ ३८ ॥**

[ दद्वृण उञ्चमतो मेघानामुकजीविताशया ।

पथिकगृहिण्या डिम्भोऽवरुदितमुख्या दृष्टः ॥ ]

**उञ्चमतो नवमेघान्विमुक्तनिजजीविताशया दद्वृण ।**

**पथिकगृहिण्या डिम्भो विरुदितमुख्या हि संदृष्टः ॥ ३८ ॥**

उञ्चमतः शनैः शनैरुज्जृभमाणान् मेघान्दद्वृण मुक्ता निजजीवनस्य आशा यथा एता-  
दशया पथिकगृहिण्या रुदत्या सल्या शिशुरवलोकितः । प्रावृषि विरहवेदनया मृतार्थां  
भयि अल्पवयसोऽस्य का गतिः स्यात् ? क इमं पालयेदिति चिन्तयेति भावः । 'उञ्च-  
मतः' इति वर्तमानार्थकेन शत्रा 'विमुक्ते'ति भूतार्थकेन केन च 'शनैः शनैर्जलदास्तु  
वर्द्धन्त एव, तथा चाग्रे न मे जीवितं भवेदिति उदयत्स्वेव मेघेषु जीवनाशा लक्षा' इति  
दुःखातिशयः सूच्यते । 'गृहिणी'पदेन गृहभारसंचालकतया खस्याभावे डिम्भस्य  
निष्ठानं लग्नाने ।

कस्याद्विचित्रप्रोषितपतिकायाः सखी तत्कान्तसविधगमिनं पथिकं प्रति संदेशति—

अविहवलक्षणवलयं ठाणं ऐन्तो पुणो पुणो गलिअम् ।

सहिसत्थो ज्ञिथ माणसिणीअ वलआरओ जाओ ॥ ३९ ॥

[ अविधवलक्षणवलयं स्थानं नयनपुनःपुनर्गलितम् ।

सखीसार्थ एव मनस्विन्या वलयकारको जातः ॥ ]

स्थानमाविधवालक्षणवलयं विनयन्पुनः पुनर्गलितम् ।

बलकारकः सखीगण एव हि जातो मनस्विन्याः ॥ ३९ ॥

विरहदौर्बल्याद् गलितं जीवत्पतिकाया लक्षणभूतं वलयं पुनःपुनः स्थानं नयन्, मनस्विन्याः सखीगण एव विरहनिबैलतायामपि बलकारकः आश्वासप्रदानेन बलदायको जातः । अथवा ‘बलआरओ’ इत्यस्य गलितेषि वलये पुनः पुनर्वलयदानाद् ‘बलयाकरः’ जात इत्यर्थः । ‘मनस्विन्याः’ इतनेन—सखीगणदत्तसमाश्वासना सा केवलं मनोबलादेव साम्यतमात्मानं धारयति, इति सूच्यते । गङ्गाधरस्तु—‘कलहान्तरितया कोपोज्जितभूषणयापि न खक्तानि वलयानीति तस्याः सुश्रूतां विरहकृतां च सूचयन्ती सखी तत्कान्तमाह’ इत्यवतरणं विधाये ‘बलआरओ’ इत्यस्य ‘बलयकारकः वलयपरिधापकः’ इति व्याख्यामाह । विरहिणीप्रसङ्गे पठिताया अस्याः कलहान्तरिताविषयकत्वं तु स्वत्पकाल एव एतावत्कार्यादिसाधनोपपत्तिकार्तिन्येन कष्टकल्पनग्रायसिति मन्यतिः ।

वर्षासु विरहिणीनां वेदनातिशयं वर्णयन्कश्चिद् गृहगमनाय पथिकं त्वरयितुमाह—

पहिअवहू विवरन्तरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं पि ।

उद्देसं अविरअवाहसलिलणिवहेणाद्ययति ॥ ४० ॥

[ पथिकवधूविवरान्तरगलितजलादें गृहेऽन्याद्यमपि ।

उद्देशमविरतबाष्पसलिलनिवहेनाद्ययति ॥ ]

पथिकवधूविवरान्तरगलितजलादें गृहेऽन्यनाद्यमहो ।

उद्देशमार्दयति पतदविरतबाष्पाम्बुनिवहेन ॥ ४० ॥

जीर्णस्य तृणगृहच्छिदिष्टिलिद्वान्तराद् गलितेन जलेनादें । अनार्दमपि उद्देशं स्थानम् अनवरतं प्रतता बाष्पसलिलेनार्दयति । विवरात्पतता जलेन दुखिता शुष्के स्थाने स्थित्वापि यिसरसरोत्कष्टावशाद्विरान्तरपतदश्चुतया तदपि स्थानमार्द करोतीत्यर्थः । ‘वधू’पदेन नवयौवनतावं गुरुजनलजावशाद् गृहान्तःस्थितिसुपेक्षत्वं च सूचितम् । जीर्णगृहवर्णनात्—दुर्वहदारिद्वाक्रान्तापि त्वयेमैकजीवना नायापि मनोऽन्यत्र नयति, तत्परितमिमां संभावयेति तद्यितिं प्रति सूच्यते ।

कलहान्तरिताया दूती तत्कान्तमनुवर्णार्थं प्रोत्साहयन्ती कुलीनप्रशंसाप्रसङ्गेनाह—

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्भि पिच्छुइं काउम् ।

पीडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छ्व कुलीणा अ ॥ ४१ ॥

[ जिह्वायां ( पक्षे-जिह्वया ) कुर्वन्ति प्रियं भवन्ति हृदये निर्वृतिं करुम् ।  
पीड्यमाना अपि रसं जनयन्तीक्षवः कुलीनाश्च ]

जिह्वायां कलयन्ति प्रियं हृदि च सन्ति निर्वृतिं नेतुम् ।

जनयन्ति पीडिता अपि रससिक्षुघनाः कुलीनाश्च ॥ ४१ ॥

मधुररसत्वात्रियं वदत्वाच जिह्वायां प्रियम् आसादम्, अनुकूलं मनोरथं च कल-  
यन्ति वदन्ति कुर्वन्ति च । ‘कल’ कामधेनुः । हृदये निर्वृतिम् ऊष्मजनिततापस्य उद्वे-  
गस्य च प्रशमं कर्तुं सन्ति भवन्ति प्रभवन्ति । पीड्यमानाः दन्तैर्निष्पीड्यमानाः निष्टुर-  
भाषणेन खेद्यमानाश्च इक्षुघनाः ( घनाः इक्षवः ) कुलीनाश्च यथाक्रमं रसं मधुरद्रवं  
श्रीति च जनयन्ति । ‘जीहाइ’ इति प्राकृतस्य ‘जिह्वायाम्’ ‘जिह्वया’ चेत्युभयमप्यर्थः ।  
कुलीनपक्षे जिह्वया अन्यस्य प्रियं कुर्वन्तीत्यर्थे गङ्गाधरेण छायायां कृतः । ‘अनुनेतु-  
मागतं प्रियवादिनं कान्तं कलहान्तरिता सपरितोषमाह’ इति तत्रावतरणम् ।

चिह्नैर्विनापि वसन्तागमः प्रतीयत एवेति तद्विषये विप्रतिपद्यमानां श्वश्रूं प्रति विवे�-  
किनी वधूराह—

दीसइण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो ।

पत्तं वसन्तमासं साहइ उकणिठअं चेअम् ॥ ४२ ॥

[ इश्यते न चूतमुकुलं शश्रु न च वाति मलयगन्धवहः ।

प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कणिठं चेतः ॥ ]

शश्रु न च चूतमुकुलं विलोक्यते वाति न च मलयवातः ।

प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कणिठं चेतः ॥ ४२ ॥

बाह्यश्रिहैर्विनापि प्रियतमार्थमुत्पन्ना उत्कण्ठा वसन्तं सूचयतीति भावः ॥

‘नागतः सम्प्रति वसन्तः, आश्वसिहि’ इति सान्त्वयन्तीं सखीं प्रति वसन्तागमं साध-  
यन्ती नायिका आह—

अम्बवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ ।

कुतो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति ॥ ४३ ॥

[ आम्रवने अमरकुलं न विना कार्येणोत्सुकं अमति ।

कुतो ज्वलनेन विना धूमस्य शिखा इश्यन्ते ॥ ]

न विना कार्येणोत्सुकमाप्नवने अमति मधुपकुलम् ।

ज्वलनेन विना हि कुतो धूमस्य शिखाः प्रदृश्यन्ते ॥ ४३ ॥

मधुपानशीलं मधुपकुलं कुसुमं विना नाम्ने अमति । आश्रान्तः कुसुमोद्गमे जाते च  
वसन्तः समागत एवेति भावः । वह्निव्याप्यधूमेन यथा वहेस्तथा मधुगन्धलोभिनो मधुप-  
कलय अमणेन सहकारे कसमोदगमस्यानमानम्, तेन च वसन्तसिद्धिरित्याशयः ।

अत एव अमरपदपेक्षया मधुपदमनुकूलम् । पीतेनाम्रकुसुमेन वह्नेः, उपरि अमता इयामेन अमरकुलेन च उद्गगच्छन्त्या धूमशिखायाः साम्यमपि समुचितमासूचितं अन्यकारेण । तथा च—ज्वलन इव सहकारकुसुमं सम्प्रति मां दहेदिति प्रियतमाहा-नाथमेव यतनीयं न मुधाऽश्वासनार्थमिति सर्वां प्रति ध्वन्यते ।

मदनोत्सवे ( होलिकोत्सवे ) सुरतलुलितवेषां कांचन योषां बहुमन्यमानः कश्चन विदग्धः प्रसाधनपक्षपातिनं सहचरमाह—

**दृअकरणगहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणम् ।**

**मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणम् ॥ ४४ ॥**

[ दयितकरग्रहलुलितो धम्मिल्लः सीधुगन्धितं वदनम् ।

मदने युतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥ ]

**दयितकरग्रहलुलितो धम्मिल्लः सीधुगन्धितं वदनम् ।**

**एतावदेव मदने प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥ ४४ ॥**

मदनोत्सवे एतावदेव तरुणीनां मण्डनं कामिनां मनो हरति । अथवा मदने सति कामोदये सतीलर्थः । सुरतानुकूलमेतावदेव मण्डनं मनोहारि, सुरतप्रतिबन्धकैः किम-न्यैर्भूषणैरति भावः । एतावदेवेत्येवकारेण अधारितैरपि हारकेयूरादिभिर्न प्रसाधन-त्रुटिः । धारितैरपि कर्णवतं सनासामूषणादिभिश्च विद्यिष्य सुरतोपयोगाभावाच मनोह-रणमिति धम्मिल्लाद्योरेव असाधारणभूषणतेल्यतिशयः सूच्यते । अत एव दृढसाबद्धो धम्मिल्लोपि न तस्मिन्समये मनोहारी, ग्रत्युत विलुलितप्रायतया निधुवने ग्रहणसुकरः शिथिलबन्धन एवेति दयितकरग्रहलुलितविशेषणेन व्यञ्जयते । तरुणीनामिल्यनेन—नवागता बालाः कामितरद्वारि भूषणं धारयन्तु नाम, परं सुरतरसिकानां प्रमदानां त्विदमेव मण्डनमिल्यतिशयः सूच्यते । मण्डनादिस्थाने प्रसाधनपदेन—इदमेव प्रसाधनं सुरते प्रकृष्टं साधनमिति निरुक्तः सूच्यते । अत्र गङ्गाधरस्तु—‘मदने इति निमित्तसप्तमी वा । मदननिमित्तमिल्लर्थः’ इति बाचस्यौ । परं यदि निमित्तसप्तमीपदेन ‘निमित्तात्कर्मयोगे’ इत्यपि सप्तमी द्विघ्येत, तर्हयि न गतिः । कर्मणो योगाभावात् । अस्तु । ‘किमलङ्घणेन, शींगं कान्तमभिसर’ इति दूतीवचनमिति कथित् । परमत्र अभिसारात्पूर्वमेव ‘दयित-करग्रहलुलित’ इति विशेषणं कष्टात्संगच्छेत् ।

मदनोत्सवे ग्रामयुवलोपि मनोहारिण्यो भवन्तीति तदुत्सवसोन्मादकतां साधयन्क-वित्सहचरमाह—

**गामतरुणीओं हिअं हरन्ति छेआणं थणहरिल्लीओ ।**

**मअणे कुसुमरज्जिअकञ्चु[इ]आहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥**

[ ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति विदग्धानां स्वभारवयः ।

मदने कुसुमभरागयुक्तकञ्चुकाभरणमान्नाः ॥ ]

ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति घनकुचभरा विदधानाम् ।  
मदने कुसुमभरजितकञ्जुलिकामात्रमण्डनाः सपदि ॥ ४५ ॥

घनकुचभरा: निविडस्तनभारवस्यः । प्राकृते पूर्वनिपातनियमाभावात् ‘कञ्जुकमात्रं भरणा’ इत्यस्य स्थाने ‘कञ्जुकाभरणमात्रा’ इति प्रथुकम् । विदधानामित्यनेन-मार्मे एव सुन्दरीणां लावण्यपरीक्षकास्तदितरे तु गतानुगतिका एवेति व्यज्यते । कञ्जुलिकमात्रेत्यनेन लावण्ये न मण्डनापेक्षेति सूच्यते । हृदयं हरन्तीत्यनेन-रत्नाभूषणादिभिर्नें मात्रमाहियते न तत्त्वज्ञानां मानसमिति योख्यते । मदनोत्सवे एतादृश्यो ग्रामतरुण्यो हृदयहारिण्यो भवन्ति किं पुनरलङ्घृताः पौरसुन्दर्य इति तदुत्सवस्य निर्सर्गतो मादकच्छन्यते । त्रयोदश्यां कामदेवपूजामदनोत्सवे सेयमुदाहृता स० कण्ठाभरणे (५ परि.)

प्रथममेव प्रवासार्थं प्रस्थितस्य नवप्रवासिनः प्रियाविप्रयोगात्प्रवृत्तां पीडां प्रस्तुः कथित्प्रवासप्रतिषेधार्थमाह—

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।  
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥

[ आलोकयन्दिशः श्वसञ्जुम्भमाण गायन्हदन् ।

मूर्ढन्पतन्सखलन्पथिक किं ते प्रवसितेन ॥ ]

पद्यन्दिशः श्वसञ्किल गायन्वरुदंश्च जृम्भमाण मुहुः ।

मूर्ढन्सखलन्विनिपतन्पथिक नु किं ते प्रवासेन ॥ ४६ ॥

विरहचकितत्वादिशोऽवलोकयन्, ब्रेयसीस्मरणाच्छ्वसन्, दुःखविनोदाय गायत्रदुक्तण्ठावशाद्वदन्, मदनायासेन मुहुर्जृम्भमाण, प्रियतमैकान्तचित्तत्वान्मूर्ढर्णीविकारान्प्रायुवन्, है पथिक ते प्रवासेन किं फलम्? यतः साम्प्रतमेव ते सेयं दशतर्हि विदेशावस्थितौ का ते दशा भाविनीति को जानीते । तस्मान्निवर्तस्वेति भावः एवं च प्रवासः प्रियैकान्तचित्तानां दुःखायैवेति सूच्यते ।

सख्या रहोवृत्तमनुसंधातुं गता कथमेतावद्विलम्बेनागतासीति सख्या पृष्ठा सरतामाह—

दद्वृण तरुणसुरअं विविधविलासेहिं करणसोहिलम् ।  
दीओ वि तगगअमणो गअं पि तेलं ण लक्खेइ ॥ ४७ ॥

[ दद्वृण तरुणसुरं विविधविलासैः करणशोभितम् ।

दीपोऽपि तद्वत्मना गतमपि तैलं न लक्ष्यति ॥ ]

संदृश्य तरुणसुरतं विविधविलासैश्च करणपरिलसितम् ।

सीमेति उत्तरावद्विलासैश्च करणपरिलसितम् ॥ ४७ ॥

विविधविलासैरालिङ्गनचुम्बनादिभृपलक्षितम् । करणैर्विपरीतोत्तानकर्तिर्युगुथित-  
कामासनबन्धैः कामशाश्वकथितैः शोभितम् । तरुणी च तरुणश्च तरुणौ तयोः सुरतं  
दृष्टा । पुमानलिङ्गेत्येकशेषः । गतमपि तैलं न लक्षयत्तेखनेन-सुरतोत्सवे भूयान्विलम्बो  
जात इति व्यज्यते । दीपोपीलपिपदेन-अचेतनो दीपोपि यत्र स्पृहयाछुरिव तदेकतानो  
भवति, तत्र मादशो भुक्तमोगो जनः कथं कौतुकाद्विरमेदत एव तदगतचित्ततया  
विलम्बोऽभवदिति भावः ।

उद्घटसुरतरसिकां कामपि कामिनीसुक्षण्ठयितुं सुरतकाले पूर्वानुभूतां कामिनः  
कामशाश्वकुशलतामन्यापदेशेन काचिदाह—

**पुणरुत्तरपफालणउहअतडुलिहणवडुणसआइ ।**

**ज्वाहाहिवस्स माए पुणो वि जह णम्मआ सहइ ॥ ४८ ॥**

[ पुनरुत्तरकरास्फालनोभयतटोलिखनपीडनशतानि ।

यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥ ]

**पुनरुत्तरकरास्फालनतटद्वयोलिखनपीडनशतानि ।**

**यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥ ४८ ॥**

पुनरुत्तरः पुनः पुनर्यत्करेण शुण्डादण्डेन हस्तेन चास्फालनं जलादौ पृष्ठादौ च ।  
तटद्वयस्य कूलद्वयस्य नितम्बद्वयस्य च दन्तद्वयेनोत्खननं नखैर्विलेखनं च । पीडनं जल-  
पूरसावरोथनं निर्भरालिङ्गनं च, एतदादीनां शतानि । यूथाधिपस्य गजपुङ्गवस्य गोष्ठी-  
नायकस्य च, अर्थात्तक्षतानि करास्फालनादीनि । नर्मदा नदी, नर्म सुरतसुखं ददातीति  
योगात्कामकलातुकूला नायिका च । यदि पुनरपि सहते, तदा तान्युपस्थितानीति  
शेषः । आश्र्वयसूचनार्थं मातरिति संबोधनं लोके प्रसिद्धम् । अथवा—‘कान्तसमीपे  
गच्छ’ इति वदन्तीं सखीं प्रति नायिकायाः सेयमुक्तिः । सुरतदुर्मदस्य तस्य त्तनतट-  
नखक्षतोरस्ताडननिर्भरालिङ्गनादीनि यदि सहेय तर्हि पुनरपि गच्छेयमिति साकूरं तस्या  
उत्तरमिति भावः । उलिखनमिति ‘गाढकुटादिभ्य’ इति सूत्रे कुटस्य आदिः कुटादिरिति  
समासेन लिखयातोरपि संग्रहाद् गुणनिषेधेन ।

पूर्वसंकेतिं कार्पासीक्षेत्रमगत्वा संप्रति गृह एव खच्छन्दमागान्तव्यमिति जारं  
सूचयन्ती स्वयंदूतिका सोद्वेगमाह—

**बोडसुणओ विअण्णो अत्ता मत्ता पई वि अण्णत्थो ।**

**फलिहं व मोडिअं महिसएण को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥**

[ दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रुमत्ता पतिरप्यन्यस्थः ।

कार्पास्यपि भज्ञा महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥ ]

दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रुमत्ता पतिः किलान्यस्थः ।

कार्पास्यपि परिभज्ञा महिषेण हि वदतु कस्तस्य ॥ ४९ ॥

बोडो दुष्टशिष्ठशकर्णो वा । 'बुहुसुणओ' इति पाठे वृद्धगुनक इत्यर्थः । यः श्वारात्रौ गृहरक्षामकरोत्स विपञ्च इति तात्पर्यम् । मत्ता उन्मादरोगिणी । पतिपदेन-केवलं रक्षक एव सः, न मे उपभोक्ता परं सोपि अद्य अन्यस्थः अन्यदेशस्थः । महिषेण कार्पासी कार्पासकृषिर्भंगा इति तस्य ( पत्युः ) कः कथयतु ? नान्यो गृहे पुरुष इति । ततः स्वच्छन्दमिहानन्दोनुभूयतामिति नायकं प्रति वोत्यते ।

मधुरतरेणोपायेन मानिन्या मानमपनयतः कस्यचिद्विदर्घस्य रहस्यं प्रत्यक्षं प्रदर्शयज्ञागरिकः सहचरमाह—

**सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णम् ।**

**थोअं थोअं रोसोसहं व उआ माणिणी मद्दरम् ॥ ५० ॥**

[ सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति प्रियमुखवितीर्णाम् ।

स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥ ]

**प्रियमुखदत्तां सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति ।**

**स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव मदिरां तु मानिनी, पश्य ॥ ५० ॥**

प्रियेण सकचग्रहं रभसेन उत्तानितम् ( ऊर्ध्वाङ्कृतम् ) आननं यस्याः सा मानिनी प्रियेण स्वमुखेन दत्तां मदिरां रोषनिवारकमौषधमिव स्तोकं स्तोकम् ईषदीषतिपतिति इति पश्य । कटुतिकास्वादमौषधं यथा स्वल्पं स्वल्पं पीयते तथा मानवशादलयनुनयेन किञ्चित्किञ्चित्पिबतीति भावः ।

जनसंचारवन्नितेसिन् ग्रीष्ममध्याहे नायकमभिसरैति सूचयन्ती दूती निदावतापस्य दुःसहतां वर्णयति—

**गिरसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो ।**

**महिसस्स कल्वत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालम् ॥ ५१ ॥**

[ गिरिखोत इति भुजंगं महिषो जिह्या लेढि संतसः ।

महिषस्य कृष्णप्रस्तरझर इति सर्वः पिबति लालाम् ॥ ]

**गिरिनिर्झर इति भुजंगं संतसो लेढि जिह्या महिषः ।**

**कृष्णप्रस्तरझर इति सर्पो महिषस्य पिबति किल लालाम् ॥ ५१ ॥**

कृष्णप्रस्तरस्य झरो निःस्यन्दः । कृष्णे महिषे कृष्णपाषाणब्रान्तिः । 'नार्तस्तत्त्वविचारक्षमो भवतीति मध्याह्वर्णनच्छलेन प्रदर्शयज्ञागरिकः सहचरमाह' इति गजाधरावतरणम् ।

शारिकया लोकानां सविवेऽरहस्याख्यानतो विलक्षीकृता कापि कुलवधून्तरझाँ मातुलानीमाह—

**पञ्चरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ इहराहिन्तो ।**

**वीसम्भजामियाइं एसा लोआणँ पअड्हेड ॥ ५२ ॥**

[ पञ्चरशारीं मातुलालि न नयसि किमत्र रतिगृहात् ।  
विस्मभजलिपतान्येषा लोकानां प्रकटयति ॥ ]  
पञ्चरशारीं मातुलि नापनयसि किं तु रतिगृहादस्मात् ।  
विस्मभजलिपतानि प्रकटयतीयं हि लोकानाम् ॥ ५२ ॥

पञ्चरशारीं पञ्चरवद्दां शारिकाम् । किमिति नापसारयसि । विस्मभजलिपतानि रति-  
समयोदितानि प्रेमवचनानि । लोकानां लोकेभ्यः । अथवा लोकानां विस्मभजलिपतानि  
सेयं प्रकटयतीति निभृतं स्वस्य प्रियतमस्य च वचनानां सूचना दत्ता ।

दन्तधावनावर्धं संकेतितस्य करञ्जनिकुञ्जस्य पल्लवपुञ्जभञ्जकं ग्रामे भिक्षामटन्तं कवन  
धार्मिकं पल्लवभञ्जाद्वाराणाय भीषयन्ती काचित्कुलटा आह—

एहमेत्ते गामे ण पड्ह भिक्खु चिं कीस मं भणसि ।  
धार्मिकं करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे वहुअम् ॥ ५३ ॥  
[ एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति किमिति मां भणसि ।  
धार्मिकं करञ्जभञ्जकं यज्ञीवसि तदपि ते वहुकम् ॥ ]  
ग्रामेपीयन्मात्रे न पतति भिक्षेति किमिति मां भणसि ।  
धार्मिकं करञ्जभञ्जकं यज्ञीवसि तदपि ते वहुकम् ॥ ५३ ॥

करञ्जभञ्जनागत धार्मिक ! इथन्मात्रे ग्रामेऽपि भिक्षा न पतति न मिलति इति किं  
भणसि । एवंस्थितावपि भैक्ष्यभोजनेन यज्ञीवनग्रामां निर्वहसि तदपि वहु गणयेति  
वाच्योऽर्थः । करञ्जभञ्जनापराधे हृषेषि यत्त्वं प्राणैर्न वियुक्तोसि, तत्ते वहुभाग्यसिति  
व्यङ्ग्योऽर्थः । तथा च-यदि जीवितुं कामयसे तर्हि करञ्जकुञ्जस्य पल्लवपुञ्जभञ्जनाद्विरमेति  
तं प्रति सूच्यते ।

लेषचातुर्णेणुरुगां सूचयन्ती काचित्कृतगुडवेतनमिक्ष्यच्चवाहकमाह—

जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तम् ।  
अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ ॥ ५४ ॥

[ याच्चिकं गुडं विमार्गसे न च ममेच्छया वाहयसि यज्ञम् ।

अरसिक किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥ ]

याच्चिकं गुडं विमार्गसि न वाहयसि यच्चमिच्छया च मम ।

अरसिक जानासि न किं न रसेन विना गुडो भवति ॥ ५४ ॥

याच्चिकं यच्चकर्मकारक ! वेतनत्वेन नियमितं गुडं विमार्गसि अन्विष्यसि वाञ्छसीति  
यावत् । इक्षुपीडनार्थं कृतं यच्चं ( चर्खा ) ममेच्छानुसारं च न चालयसि । पक्षान्तरे  
सुरतसाधनं यच्चम् । रसः इक्षुद्रवः, अनुरागश्च । तथा च-हे अरसिक इक्षुद्रवविधाना-  
नभिज्ञ ! किं न जानासि यत् रसेन इक्षुद्रवेण विना गुडो न भवति नोत्पद्यते । पक्षा-  
न्तरे च-हे अरसिक ! अनुरागेण विना गुडो न भवति न ग्राप्यते इत्यर्थः । मय्युदुरत्तो  
यावन्ममेच्छानुसारं रतनिरतो न भविष्यसि तावच्च ते गुडवेतनं दीयतेति भावः ।

सद्यःस्नातां श्यामाङ्गीं कामयमानः कश्चित् शृणुन्त्यां तस्यां स्वसहचरमाह—

**पत्तणिअम्बपंसा प्राणुचिण्णाएँ सामलङ्गीए ।**

**जलविन्दुएहि चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥**

[ ग्रासनितम्बस्पर्शाः स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्गाः ।

जलविन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥ ]

ग्रासनितम्बस्पर्शाः श्यामलाङ्गाः स्नानसक्तायाः ।

बन्धस्येव भयेन हि रुदन्ति जलविन्दुभिश्चिकुराः ॥ ५५ ॥

स्नानसमये पृष्ठे लम्बमानतया सुन्दरीनिविडनितम्बस्पर्शसुखमवासवन्तः कुन्तलाः  
स्नानोत्तरं धम्मिल्लबन्धनेन तत्सुखविलोपशङ्खया ग्रस्वत्त्वानसिलिलविन्दुच्छलेन संप्रति  
रुदन्तीवेत्यर्थः । तथा च—नैषां बन्धनं भवेत्तथेमे वाऽल्लन्ति । अर्थात् मयि सुरतासक्ता  
सती एतेषां पुनरपि विमुक्तासुखं संपादयेति निगूढाभिप्रायो व्यज्यते ।

आमनिकटावस्थितवटान्तिके सुघटान्यभिसारसुखानि विटाय सूचयन्ती रतिरसलम्पटा  
कुलटा वटानुवर्णनमाह—

**गामङ्गणणिअडिअकहृवकख वड तुज्ज्ञ दूरमणुलग्गो ।**

**तिचिल्पडिकखकभोइओ वि गामो ण उद्विग्गो ॥ ५६ ॥**

[ ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्णपक्ष वट तव दूरमनुलग्गः ।

दौःसाधिकप्रतीक्षकभोगिकोइपि आमो नोद्विग्गः ॥ ]

अनुलग्गस्ते ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्णपक्ष वट दूरम् ।

दौःसाधिकप्रतीक्षकभोग्यपि न आम उद्विग्गः ॥ ५६ ॥

ग्रामाङ्गणे निगडितः वद्दः [ स्ववशे कृत्वा सर्वदा स्थापितः ] कृष्णपक्षः [ तत्कार्य-  
भूतः अन्धकारः ] येन तत्संबुद्धा । एतावश हे वट ! तव दूरमनुलग्गः दूरदूरपर्यन्तं  
त्वच्छायामाश्रितः । दौःसाधिको द्वारपालः प्रतीक्षकः [ ग्रामपतिसविधे नयनाय मार्गा-  
वेक्षकः ] यस्य तादृशो भोगी भोगासक्तः कामुकजनो यस्मिन्नेतादृशोपि आमो नोद्विग्गः ।  
अनुपलक्षिताभिसारतया राजभयरहितत्वात् भीतिं प्राप्त इत्यर्थः । अयं भावः—हे वट !  
तव निविडितमच्छायायां सर्वदा कृष्णपक्षस्येव अन्धकारो भवति । ततश्च तदाश्रये  
अभिसाररताः कामिनो निर्भयं भोगान् भुजते । ग्रामाधिपते रक्षकमुरुपास्तान् निश्चाहीरुं  
प्रतीक्षमाणा एव तिष्ठन्ति परं त्वच्छायान्धकारे न तान् लक्षयितुं प्रभवन्ति । अत एव  
त्वदनुलग्गोयं आमो नोद्विजते इति । दौःसाधिकस्य प्रतीक्षकाः [ इदानीं द्वारपाल  
आयाति, अयमायात हिति भयचकितं द्वारपालमार्गावेक्षकाः ] भोगिनो यस्मिन्नित्यप्यर्थः  
संभवति । ‘तितिलो’ दौःसाधिकः । ‘दौःसाधिको द्वारपालः’ इति त्रिकाण्डशेषः ।  
‘तन्तिल्पडिखरभोइओ वि’ इति पाठे तु ‘चिन्तापरप्रतिखरभोगिकोपि’ इति च्छाया ।  
‘चिन्तायुक्तः प्रतिखरोऽसहनः भोगी आमभोक्ता अधिकारी यस्य ईदृशो आम इत्यर्थः ।

ततश्च सर्वदा दुष्टदमनविन्नायां लग्नोऽतिरीक्षणशाय प्रामस्य भोक्ता प्रभुरस्ति, तथापि त्वत्प्रसादादयं प्रामस्यः कुलटाजनो नोद्वेगं प्राप्नोतीत्याशयः ।

सपल्या दुश्चरितं पर्ति प्रति सापेदेशं सूचयन्ती सपज्जी सोपालम्भमाह—

मुष्पं दृष्टुं चणआण भजिआ सो जुआ अइकन्तो ।

अच्चा वि घरे कुपिता भूआण व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[ शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टाः स युवातिकान्तः ।

श्वशूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥ ]

शूर्पं दग्धं चणका न भर्जिताः स च युवातिगतः ।

श्वशूर्ग्यहेपि कुपिता भूतानामिव हि वादितो वंशः ॥ ५७ ॥

चणकान् भर्जयन्त्या अनया अनवधानेन शूर्पं दग्धम्, परं चणका न भर्जिताः । यं युवानं दृष्टुं चणकभर्जनकार्यं त्यक्त्वा इयं वहिर्निर्गता सोऽप्यतिकान्तः । भूतानां वधिराणामिवाग्रे वंशः ( वैषुः ) वादितः । वधिराणामिव वंशीवादनमिव गृहकार्यहार्नि संपादयन्त्या अप्यस्याः सर्वेः प्रयासो विफलीभूत इत्याशयः । गृहवस्तुहार्नि परपुरुषपर्यां-लोचनप्रयासं च गृहाधिष्ठात्री त्वन्मातापि ज्ञातवती, अत एव कुपितास्ति । ततः पश्यास्या दुश्चरितमिति पर्ति प्रति युक्त्या सूचना ।

सलिलनिममैः प्रियतमैरिमा निगृद्गुप्तगृदा इत्यात्मनः प्रच्छन्नपरिज्ञानपाटवं प्रख्या-पयश्चागरिकः सहचरं प्रति कामिनीनां जलकेलिमुपवर्णयति—

पिशुणेन्ति कामिणीणं जललुकपिआवजहणसुहेष्टिम् ।

कण्डइअकवोलुप्तुलुणिच्चलच्छीइँ वअणाइ ॥ ५८ ॥

[ पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगृहनसुखकेलिम् ।

कण्टकितकपोलोत्पुलुणिच्चलाक्षीणि वदनानि ॥ ]

शंसन्ति कामिनीनामम्बुनिलीनप्रियाङ्गसङ्गसुखम् ।

पुलक्रितकपोलसंफुल्लनिच्चलाक्षाणि वदनानि ॥ ५८ ॥

प्रियाङ्गस्पर्शेन पुलक्रितौ कपोलौ येषु तानि । तथा हर्षविशेषादुत्पुले ( विकसिते ) स्तम्भास्थेन सात्त्विकभावेन निश्चले च अक्षिणी येषु तादशानि कामिनीनां वदनानि, अम्बुनि निलीनश्च प्रियस्याङ्गसङ्गेन अवगृहनेन यस्युक्तं तत्पूचयन्ति । जलनिलीन-प्रियपरिभ्यगेन अङ्कुरितकामतया कामिनीनामिति व्यपदेशः । ‘निहृतमप्यर्थं विदधा बुध्यन्ते इति बोधयश्चागरिकः सहचरमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । ‘निश्चलाक्षीणि’ इति पाठ्लु कदाचन लेखकप्रमाद एव भवेत् ।

वनशोभादर्शनेनोत्कणिठतचित्तायाः प्रियसख्या भाविनीं विरहवेदनां संसूच्य प्रावृष्टि  
प्रवासं चिकीषतो नाथकस्य गमनाध्यवसायं निवारयन्ती नाथिकासखी आह—

**अहिणवपाउसरसिएसु सौँहइ साआइएसु दिअहेसु ।**

**रहसपसारिअगीवाण॑ णच्चिअं मोरवुन्दाणम् ॥ ५९ ॥**

[ अभिनवप्रावृद्धरसितेषु शोभते इथामायितेषु दिवसेषु ।

रभसप्रसारितश्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥ ]

इथामायितेष्वभिनवप्रावृद्धरसितेषु लसति दिवसेषु ।

**नृत्यं रभसोच्चासितशिरोधराणां मयूरवृन्दानाम् ॥ ५९ ॥**

अभिनवानि प्रावृष्टो रसितानि ( मेघगर्जितानि ) येषु तेषु । जलधरस्थगितदिनकर-  
तया इथामायितेषु इथामा रजनी तत्सद्वेषु दिवसेषु मयूरवृन्दानां नृत्यं शोभते ।  
विरहिणां कृते रजनी किलानिर्वचनीयदुःखदायिनी, इह तु दिवसा अपि रजनीयन्ते ।  
अत एवंविधे घनरसमये समये न गन्तव्यमिति ध्वन्यते । नवानि प्रावृद्धरसितान्याकर्ष्य  
रभसेन मेघावलोकनार्थं मयूरग्रीवां उच्चाम्यन्ते, अत एव प्रसारितपदापेक्षया उच्चासितेति  
सम्यक् । दिवैव संकेतस्थानस्याभिसारयोग्यतां सूचयन्त्या दूस्या इयमुक्तिरिति कथित् ।  
‘वनमयूरलसितं संकेतितलतागृहमहं गता त्वं तु न गत इति जारं श्रावयन्ती कुलटा  
वर्षाप्रशंसामाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

महिषशालायां सुरतासक्ता काचित्कासिनो मनोविनोदाय दोषमपि गुणीकुर्वल्याह—

**महिषक्खन्धविलग्नं घोलइ सिङ्गाहां सिमिसिमन्तम् ।**

**आहअवीणाङ्कारसद्मुहलं मसअबुन्दम् ॥ ६० ॥**

[ महिषस्कन्धविलग्नं वृणते शुङ्गाहतं सिमसिमायमानम् ।

आहतवीणाङ्कारशब्दमुखरं मशकवृन्दम् ॥ ]

महिषस्कन्धविलग्नं शुङ्गहतं सिमसिमायितं भ्रमति ।

**आहतवीणाङ्कुतिशब्दमुखरितं मशकवृन्दम् ॥ ६० ॥**

सिमसिमेलयनुकरणम् । सिमसिमेति शब्दं कुर्वदिल्यर्थः । कोणेन आहताया वीणाया  
यो झंकारशब्दस्तद्वन्मुखरम् । पूर्वं शुङ्गे स्थितिः, पश्चाच्छुङ्गताडनेन सिमसिमशब्दं  
कुर्वतां भ्रमणं मशकानां खभावः । अनेन खभावोत्तयलंकारेण ‘वीणाङ्कुरेणेव प्रमो-  
दितमनास्त्वं सुन्चिरं रमस्य’ इति नायकं प्रति चिररमणाभिलाषो व्यज्यते ।

निष्कुटकुमुदिनीशोभावर्णनेन प्रियतमाया मनः प्रमोदयन् कथिदाह—

**रेहन्ति कुमुअदलणिच्चलडिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।**

**ससिअरणीसेसपणासिअस्स गणित्वं तिमिरस्स ॥ ६१ ॥**

[ राजन्ते कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः ।

शशिकरनिःशेषप्रणाशितस्य ग्रन्थय हृत तिमिरस्य ॥ ]

राजनिं कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः ।

ग्रन्थय इव तिमिरस्य हि शशिकरनिःशेषनाशितस्येमाः ॥ ६१ ॥

मधुकरखभावान्मधुपानेन भत्ताः अत एव मदजनितस्म्भेन निश्चलं स्थिताः । शशि-  
किरणैनिःशेषं समापितस्य तिमिरस्य कुत्रुत्रचित्पतिता इमा ग्रन्थय इव । निश्चलस्थित्या  
अचेतनाभिर्ब्रह्मन्धिभिः साम्यम् । ‘कुमुदसरस्तीरलतागृहे चन्द्रोदयपर्यन्तमहं स्थितः, त्वं  
तु न गतेति कुलटां श्रावयन्कश्चिदाह’ इति गजाधरः ।

शालिक्षेत्रे रममाणा शालिगोपी क्षेत्रे शुकपतनशाङ्कां सूचयन्त्यपि सुरतसत्वरं जार-  
मन्यमनस्कं कर्तुमाह—

उअह तरुकोडराओ णिकन्तं पुंसुवाणं रिञ्छोलिम् ।

सरिए जरिओ व दुमो पित्तं व सलोहितं वमइ ॥ ६२ ॥

[ पश्यत तरुकोटरान्निष्कान्तां पुंशुकानां पङ्किम् ।

शरदि उवरित इव दुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ॥ ]

पङ्किं तरुकोटरतो निष्कान्तां पश्य पुंशुकानां हि ।

शरदि दुमो उवरित इव सलोहितं पित्तमिव वमति ॥ ६२ ॥

पित्तं हरितवर्णं तस्मिन् रक्तवर्णं शोणितमपि लिलितम्, तथैव हरितवर्णाः शुकास्तेषां  
चंद्रियो गलकण्ठिकाश्वरुणा इति द्वयोः साम्यम् । अत एव पुंशुकानां ( नरशुकानाम् )  
पङ्किमित्युक्तम् ।

रममाणसोपपतेर्भयं त्वरं चापनयन्ती दुर्दिनाभिसारिका दुर्दिनं बहुकालावस्थायीति  
तद्विज्ञान्याह—

धाराधुबन्तमुहा लम्बिअवस्था णिउञ्चिअग्नीवा ।

वइवेष्टनेषु काआ शूलाहिणा व्व दीसन्ति ॥ ६३ ॥

[ धाराधाव्यमानमुखा लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः ।

वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिज्ञा इव दृश्यन्ते ॥ ]

धाराविघौतवदना लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः ।

वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिज्ञा इव प्रदृश्यन्ते ॥ ६३ ॥

ऊर्ध्वकृतमुखत्वात् जलधाराभिर्धायमानं मुखं येषां ते । पक्षौ प्रसार्य ग्रीवां कुञ्ज-  
त्यावकुञ्ज्य, क्षेत्राणां कण्टकवृतिषु काकास्तथा स्थिताः सन्ति यथा ऊर्ध्वमुखास्ते  
उज्जामितशूलाग्राकारचतुर्बुत्वात् शूलेन आ ( समन्तात् ) भिज्ञा इव दृश्यन्ते । एवंरूपेण  
काकानां निर्भयमवस्थित्या दुर्दिनमपि चिरमवस्थायीति जारं प्रयभिव्यज्यते ।

मानिनीं नायिकां युक्त्या स्वसंभाषणाभिमुखीं कर्तुं नायकोऽन्तरङ्गसुहृदसाह—

ण वि तह अणालवन्तीं हिअं दूमेह माणिणी अहिअम् ।

जह दूरविअमिभिअगस्तुरोसमज्ञत्थभणिएर्हि ॥ ६४ ॥

[ नाथि तथानालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम् ।

यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोपमध्यस्थभणितेः ॥ ]

न तथा ह्यनालपन्ती मानिन्यधिकं दुनोति हृदयं नः ।

दूरविजृम्भितगुरुकप्रकोपमध्यस्थभाषितैर्हि यथा ॥ ६४ ॥

अनालपन्ती मानिनी हृदयं तथा न दुनोति, यथा दूरं विजृम्भितो गुरुकः प्रकोपे  
येषु तादौर्यैः मध्यस्थभणितैरुदासीनवचनैर्दुनोति । मौनापेक्षया तटस्थपुरुषवत्प्रेमशून्यैर्व-  
चनैरधिकं दुःखं भवतीति भावः । ‘कलहान्तरितां सखीं शिक्षयन्ती काचिदाह’ इति  
गङ्गाधरः । उदासीनवचनिष्ठुरं न वाच्यः प्रियतम् इति विषये मातृगुप्ताचार्याणामुदाहृतं  
च तेन पद्यम् ‘निष्ठुराणि न वक्तव्यो नातिक्रोधं च दर्शयेत् । न वाक्यैर्वाच्यसंसिद्धै-  
रुपालभ्यो मनोरमः ॥’ इति । स्फुटसियं मानिनीपदाङ्किता गाथा कलहान्तरितायां  
क्लेशतोऽन्वेति । अत एव ‘यत्नापनेयमाना धीरा यथेति प्रसङ्गे, निर्धारितविशेषप्रकारो  
विशेषवान् भ्रेमा यथा’ इत्यत्र चोदाहृता सेयं गाथा स. कण्ठाभरणे ( ५ परि. ) ।

वर्षासु दुःखविप्रकर्षात्प्रियतमासमासिमाशङ्कमानं पान्थमाद्वासयन्मार्गमिलितः कश्चि-  
त्कारणिक आह—

गन्धं अग्धाअन्तअ पक्कलम्बाणं बाहभरिअच्छ ।

आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥ ६५ ॥

[ गन्धमाजिग्रन्धककदम्बानां बाध्यभृताक्ष ।

आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥ ]

परिपक्ककदम्बानामाजिग्रन्धन्धमश्रुभरिताक्ष ।

आश्वसिहि मा न गृहिणीमुखं निरीक्षिष्यसेऽयि पथिकयुवन् ६५

अयि पथिकयुवन् ! आश्वसिहि । गृहिणीमुखं न निरीक्षिष्यसे इति मा, कि तु अवश्यं  
निरीक्षिष्यसे इत्यर्थः । पक्ककदम्बानामित्यनेन साम्प्रतं प्रावृषः पूर्णः प्रकर्षः, अत एव  
तदारम्भादेव दुःखमनुभवन्ती प्रतीक्षणपरा परासुर्भवेत् इत्यनुमानं सूच्यते । आजिग्र-  
न्धिति शत्रा ईषद्ग्राणस्य साध्यतायामेव उत्कण्ठोदयेन गृहिणीविनाशानुमानेन च वाष्पो-  
द्ग्रामो जात इत्यतिशयोक्तिः । युवतित्यनेन—‘यौवनसुलभया उत्कण्ठया कुण्ठितत्वादेवं-  
भयाकुलोसि, किन्त्वनुभविनः प्रौढस्य ममाद्वासने विश्वसिहि’ इति वक्तुः प्रौढिः सूच्यते ।

गर्जितश्रवणेनोद्दीप्तविरहतया प्रियाविनाशमाशङ्कमानः पथिकः पयोदमाह—

गञ्ज महं चिथ उवरिं सवत्थामेण लोहहिअअस्स ।

जलहर लम्बालहिं मा रे मारेहिसि वराइम् ॥ ६६ ॥

[ गर्ज ममैवोपरि सर्वस्यान्ना लोहहृदयस्य ।

जलधर लम्बालकिकां मा रे मारचिष्यसि वराकीम् ॥ ]

अयि गर्ज ममैवोपरि सर्वेषाम्नापि लोहद्वयस्य ।

जलधर लम्बालकिकां मा रे तां मारयिष्यसि वराकीम् ॥ ६६ ॥

तादृशीं शिरीषमुदुलाङ्गीं विरहुतवहे क्षेषितवत्त्वालोहवत्कठोरहृदयस्य ममैवोपरि  
सर्वेषाम्नापि सर्वेवलेन गर्ज । तादृशाकूरहृदयों त्वद्गर्जनं सोऽुं समर्थः, विरहुर्बल-  
देहा सा मुद्राङ्गी तु कथं जीवेदिति भावः । विरहवेदनावर्द्धकत्वात् 'रे' इत्याक्रोशासंबो-  
धनम् । लम्बालकशोभिनां तां मा मारयिष्यसि । लम्बालकिकामित्यनेन—‘जलधारकत्वा-  
त्कृष्णवर्णस्त्वम् अस्या अपि मधुरमेचकमायतं च केशकलापमालोक्य इष्ट्यावशादनिष्ठं  
कुर्याः’ इति सूच्यते । विरहक्षितया पूर्वमेव दयापात्रं सा । इदानीं त्वहत्तुःखा सा  
सुतरां दयनीयेति वराकीपदेन लम्बालकिकामिति कप्रलयेन च ध्वन्यते ।

शालिक्षेत्रस्याभिसारयोग्यतां सूचयितुं काचिदन्यापदेशेन हेमन्तोपक्रमं वर्णयति—

**पङ्कमङ्गलेण छीरेकपाइणा दिण्णजाणुवडणे ।**

**आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्रेण व सालिछेत्रेण ॥ ६७ ॥**

[ पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।

आनन्द्यते हालिकः पुत्रेणव शालिक्षेत्रेण ॥ ]

**क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन पङ्कमलिनेन ।**

**पुत्रेणव हि क्षालिक्षेत्रेणानन्द्यते हलिकः ॥ ६७ ॥**

‘क्षीरं तण्डुलारम्भकं जलं दुर्घं च । जानु उरुर्वी, उपचारादान्यनालग्रन्थिश्च ।’  
गङ्गाधरः । दत्तं जानुभ्यो पतनं येन, जानुद्वारा कृतगमन इत्यर्थः पुत्रपक्षे । दत्तं कृतं  
जानुस्थानीयानां धान्यनालग्रन्थीनां (‘पोटा’) आरम्भणं येन, ततश्च-धान्यनालग्र-  
न्थीनामारम्भो यस्मिन् जातस्तादशमिति क्षेत्रपक्षे ।

अन्यसिन्नतुरुत्कां काञ्चन सुन्दरीं स्वानुगमिनां कर्तुं खलनिन्दाव्याजेन कथितपूर्वे-  
नायकनिन्दासुपक्रमते—

**कहूँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ ति चिन्तन्तो ।**

**ओणअमुहो ससूओ रघुइ व साली तुसारेण ॥ ६८ ॥**

[ कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।

अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुपारेण ॥ ]

**खलसङ्गो मे परिणतिकाले कथमिव भवेदिति ध्यायन् ।**

**अवनतमुखः सशूकः शालिः किल रोदितीव नीहारैः ॥ ६८ ॥**

परिणतिकाले पक्तादशायां पक्षान्तरे च वयःपरिणामकाले । खलस्य धान्यमर्दन-  
स्थानस्य (खलिहान), दुर्जनस्य च सङ्गः कथसिव न जाने क्षीदृशादुःखावहो भवेदिति  
चिन्तां कुर्वन् । परिणामगुह्यतया अवनतं शीर्षांयस्य सः, पक्षान्तरे च शोकेनावन-  
तवदनः । द्युकेन धान्यकण्टकेन सहितः पक्षान्तरे च कण्टकपितेन शोकेन सहितः ।

शालि: नीहौरे: तुषारव्याजेन रोदितीव । अचेतनः शालिरपि परिणामे खलसज्जेन  
रोदिति तर्हि अनुरक्षहृदयायास्तव तु का दशा स्यादिति परिहर तत्सङ्गम्, अनुरज्यस्थ  
माहशो प्रणयिनि इति शृण्वतीं नायिकां प्रति ध्वन्यते । 'ग्रातरेवाहं संकेतस्थानं शालिक्षेत्रं  
गता, त्वं तु न गत इति जारं श्रावयन्ती नीहाराभिसारिका शालेरपि खलसंयोगाद्वेग-  
माह' इति गजाधरः ।

त्वया लिङ्गुतमपि दयितसमागमन्विदं सया परिज्ञातमेवेति कांचित्त्रवर्धूं श्रावयितुं  
सव्यपदेवां प्रदोषं वर्णयन्नागरिकः सहचरमाह—

**संझाराओत्थइओ दीसह गअणम्मि पडिवआचन्दो ।**  
**रक्तदुखलन्तरिओ थणणहलेहो व णववहुए ॥ ६९ ॥**

[ संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपञ्चन्दः । ]

रक्तदुखलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥ ]

सन्ध्यारागस्थगितः प्रतिपञ्चन्द्रो हि दृश्यते गगने ।

**रक्तदुखलान्तरिता स्तननखलेखेव नववध्वाः ॥ ६९ ॥**

सन्ध्यारागेण किञ्चिदन्तरितः प्रतिपत्तिथेश्वन्दः, रक्तदुखलेनान्तरिता नववध्वाः स्तन-  
गतनखलेखेव गगने दृश्यते । नववधूपदेन लज्जावशात्तसा गोपनं सूचयते । 'अभिसार-  
स्थानगमनाय प्रदोषाभिसारिकां त्वरयन्ती दूती प्रदोषवर्णनमाह' इति गजाधरः ।

अर्धचन्द्रावलोकनकुतूहलाद् गगनतलमालोकयन्तं देवरं कापि सपरिहासमाह—

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि ।

जाआइ बाहुमूलम्मि अद्वअन्दाणं परिवाडिम् ॥ ७० ॥

[ अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि । ]

जायाया बाहुमूले अर्धचन्द्राणां परिपाठीम् ॥ ]

किमयि न देवर पश्यसि किं वाकाशं मुधा प्रलोकयसि ।

जायाया भुजमूले परिपाठीमर्धचन्द्राणाम् ॥ ७० ॥

अयि देवर जायाया भुजमूले अर्धचन्द्राणाम् ( नखक्षतजनितानाम् ) परिपाठीं  
परम्परां किं न पश्यसीति योजना । वैदरध्येन गोपनीयोपि ते प्रियतमासमागमः स्फुट-  
मेवं प्रकाशीभवतीति देवरं प्रति परिहासः । ख्रियाः परिहासे उदाहृता सेयं गाथा स०  
कण्ठाभरणे ( ५ परि० ) ।

प्रियतमं प्रति मत्संदेश्यमेवं वक्तव्यमिति प्रियसमीपगासिनं पान्थं प्रति प्रोक्षितभर्तृका  
काचिदाह—

वाआइ किं भणिझउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे ।

तुह विरहे जं दुख्खं तस्स तुमं चेअ गहिअथो ॥ ७१ ॥

[ वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे ।

तव विरहे यदुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥ ]

किं भण्यतां नु वाचा कियदिव वा लिख्यते लेखे ।

तव विरहे यदुःखं त्वमेव तस्यासि विदितार्थः ॥ ७१ ॥

दुःखानामसीमत्वात्किं वक्तव्यं कियद्वा लेखितव्यमित्यर्थः । तव विरहे यन्मम दुःखं  
तस्य विदितार्थः ( विदितः अर्थो येन ) अर्थात् परिज्ञाता त्वमेवासि । अहनिंशं हृदये  
स्थितस्त्वमेव मम हृदयदुःखं ज्ञातुं प्रभवसीति भावः । अथवा मद्विरहे त्वया यावदुःख-  
मनुभूतं तदनुमानेन ममापि दुःखं त्वया परिज्ञातव्यमित्याशयः । ‘ज्ञाता’ इत्याद्यनुकृत्वा  
‘विदितार्थः’ इति पदेन ‘किमर्थमिदं दुःखमित्येतस्य तत्त्वं त्वमेव जानासि, अर्थात् त्वत्का-  
रणमिदं दुःखं त्वरितमागतेन त्वयैवपनेयम्’ इति योख्यते ।

कसाधित्केशपाशं साभिलाषं निर्वर्णयन्कश्चिद्वयस्यं प्रति प्रकाशं प्राह—

मअणगिणो व धूमं मोहणपिच्छि व लोअदिढीए ।

जोवणधअं व मुद्रा वहइ सुअन्धं चिउरभारम् ॥ ७२ ॥

[ मदनाम्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकासिव लोकदृष्टेः ।

यौवनध्वजसिव सुग्राहा वहति सुगन्धं चिकुरभारम् ॥ ]

जनहृष्टेः संमोहनपिच्छिमिव धूमसिव च मदनाम्नेः ।

यौवनविजयध्वजसिव वहते सुग्राहा सुगन्धिचिकुरभारम् ॥ ७२ ॥

लोकानां हृष्टेः संमोहनार्था पिच्छिकासिव । ऐन्द्रजालिकोपि पिच्छिकाप्रमणेन  
लोकानां हृष्टेमौहं करोति । मदनाम्नेर्धूमौपम्बेन एतद्वूमसहचारी मदनविहिर्विरहे दर्शुं  
प्रभवतीति नायिकाया आकर्षकतातिशयो ध्वन्यते ।

यस्मिस्त्वमनुरक्तासि तस्य ते दयितस्य वर्णय रूपमिति पृच्छन्तीं सखीमन्या काचि-  
दाह—

रुअं सिडं चिअ से असेसपुरिसे णिअच्चिअच्छेण ।

वाहोल्लेण इमीए अजस्पमाणेण वि मुहेण ॥ ७३ ॥

[ रुपं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण ।

बाषपाद्वेणास्या अजल्पतापि मुखेन ॥ ]

तद्वूपमुक्तमेव हि समस्तपुरुषे निवर्तिताक्षेण ।

बाषपाद्वेणैतस्या अजल्पतापि च मुखेन सखि ॥ ७३ ॥

हे सखि तदतिरिक्ते अशेषपुरुषे, अशेषपुरुषादिति यावत् । निवर्तिते निरुक्तण्ठतया  
परावर्तिते अक्षिणी येन । तत्सरणोत्कण्ठया सम्प्रति बाषपाद्वेण एतस्या मुखेन अजल्प-  
तापि तस्य रूपमुक्तमेव । अन्यपुरुषनिरपेक्षं तदासक्तवात्तस्य परमसौन्दर्यं कथितमेवेति  
सं. गा. २५

भावः । अजलपतापि कथितमिति विरोधेन ‘अस्मत्तो रहस्यगोपनेच्छायामपि प्रेमपार-  
चश्यान्वयं प्रभवतीत्यनुरागसंवर्धको नायकगुणोत्क्वयो ध्वन्यते ।

मनुजागमनसंरम्मेण स्थानल्यागवशाद्विरुद्धमकरन्दमत्तमधुकरतया कमलवनमेत-  
स्त्योश्चित्संकेतस्थानमिति स्थाभिज्ञां सूचयन् सहदयः सहचरमाह—

**रुन्दारविन्दमन्दिरमअरन्दाणन्दिआलिरिङ्गोली ।**

**झणझणइ कसणमणिमेहल व महुमासलच्छीए ॥ ७४ ॥**

[ ब्रह्मदरविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपङ्क्षः ।

झणझणायते कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥ ]

**विकसदरविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दिता सिलिन्दालिः ।**

**मधुरमधुमासलक्ष्म्याः कृष्णा मणिमेखलेव शिखाना ॥ ७५ ॥**

विकसतया ब्रह्म यद् अरविन्दमेव मन्दिरं तत्र मकरन्देनानन्दिता अत एव गुजन्ती  
भ्रमरपङ्क्षः । शिखाना झणझणितिरवसुखरा कृष्णमणिधिटितत्वात् कृष्ण मणिमेख-  
लेव भातीति शेषः । भ्रमराणां इयामतया कृष्णमणीनां मेखलेत्युक्तम् । उद्दीपनविभाव-  
प्रतिपादनात्संकेतस्थानस्तुतिपरं दूस्या इदं वचनमिति केचित् । ‘प्रियेण सह कीडार-  
सादविदितनिशावसानां सखीं प्रबोधयन्ती सखी प्रभातवर्णनमाह’ इति गजाधरः ।  
यदीह झणझणायते’ इलादिप्राकृतगुम्फानुरोधस्तर्हि ‘कृष्णमणिमेखलेव हि मधुश्रियो  
झणझणायते नूनम्’ इति पाठ्यम् ।

कामोत्कलिकाकुलः कोपि कामुकः कामपि कामिनीं कथयति—

**कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरस्यो तुहं विसाम्मिहइ ।**

**थणपरिणाहे मन्महणिहाणकलसे व पारोहो ॥ ७५ ॥**

[ कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरोस्त्व विश्रमिष्यति ।

स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलश इव प्ररोहः ॥ ]

**बहुपुण्यफलैकतरोः प्ररोह इव कस्य किल करो हन्त ।**

**मन्मथनिधानकलशे स्तनपरिणाहेऽत्र विश्रमिष्यति ते ॥ ७५ ॥**

बहुनां पुण्यफलानमेकमात्रस्य तरोः प्ररोह इव नवपल्लव इव कस्य जनस्य करः  
मन्मथनिधिकलशायिते तव स्तनपरिणाहे विश्रमिष्यति स्थानं प्राप्यति । परिणाहो  
विशालता । विशालस्तन इति यावत्; प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् । पुरुषस्तरस्या-  
नीयः, तस्य करः प्ररोहस्यानीय इत्याशयः । पल्लवो यथा कस्मिंश्चिद्वृक्षे उत्पद्यापि यथा  
निधिकलशे शोभाशकुनार्थं स्याप्यते, तथा कस्य वा सुकृतिनः करोऽत्र स्थासतीत्या-  
शयः । कस्येत्यनेन-स पुरुषः अनिर्वचनीयः सुकृतीति सूच्यते । हन्तेत्यनेन-न मे ता-  
टक्षेत्यनेन-यमिति खेदातिशयः सूच्यते । ‘निधानकलशे’ ‘विश्रमिष्यति’ इति पाठ्यभ्यां-

‘धनान्वेषी करो यथा निधिकलशे गत्वा धनविषयेऽन्यानपेक्षित्वात्तत्र सुखं विश्राम्यति, तथा अन्यत्रान्यत्र संचलन्नपि स करो विशालेत्र स्तने विश्रामं लप्यते नान्यत्र भ्रमिष्यति, एतत्सदान्यत्तानानुपलम्भात्’ इति तदुत्कर्षो व्यन्यते । निधानकलशायित इति स्थाने कलश इत्युत्त्या—कलशसदास्तु अन्येषि कुहचिलभ्येरन् परमयं तु साक्षात्कामनिधानकलश एवेति तदुत्कर्षो व्यज्यते । प्राङ्गते तच्छायायां च बहुदूरान्वयादस्पष्टतरः श्लोकार्थः । इह तु न स क्षेषः । ‘निधानकलश इव स्तनपरिणाहे’ इति इवपदं कलशेन साकं तु न योज्यम्, प्ररोहपदस्य तत्सापेक्षत्वादैविलाच्च । सरस्वतीकण्ठाभरणे ‘अनूढा कुमारी यथा’ इत्युदाहृता सेयं गाथा । स्तनपरिणाहशालिन्या अपि कुमारीत्वं यौवनविवाहादिनाभुकूलं स्यात् ।

लाभलोभवन्तो विविक्तेऽनुसरन्तोपि मनोभिलषितां वनितां पतिजनितातङ्कशङ्क्या कामुका नाभियुज्ञते नायि च परावर्तन्ते इति प्रदर्शयन्सहवदयः सहचरमाह—

**चोरा सभयसतहं पुणो पुणो पेसअन्ति दिढ्ठीओ ।  
अहिरक्षित्वाथणिहिकलसे व पोटवइआथणुच्छङ्गे ॥ ७६ ॥**

[ चोराः सभयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः ।

अहिरक्षित्वाथणिहिकलश इव प्रौढपतिकास्तनोरसङ्गे ॥ ]

**चोराः सभयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति वत दृष्टीः ।  
प्रौढपतिकास्तनेसिन्धिकलश इवाहिरक्षिते सततम् ॥ ७६ ॥**

परधनहारकाश्चोरा यक्षशतेन गुप्तस्थानमवाप्ता अपि अहिना रक्षिते निधिकलशे यथा सर्पेकारणात्सभयां निधिलोभाच्च सतृष्णां दृष्टि पातयन्ति, तथा परदारहारकाश्चोराः प्रौढः शूरः पतिर्यस्या एवंविधाया नायिकायाः स्तने हन्त सभयसतृष्णां दृष्टि पातयन्तीत्यर्थः । पुनः पुनः पदेन ‘भयमाशङ्क्षं दृष्टि निवर्तयन्ति पुनर्लोभाकृष्टास्ततो दृष्टि नयन्तीति चित्तान्दोलनं सूच्यते । ‘दृष्टीः’ इति बहुत्वेन—निभृतं प्रकाशं तिर्यगादिनानाप्रकाराः सतृष्णदर्शनस्य सूच्यन्ते । पश्यन्तीति स्थाने ‘दृष्टि प्रेषयन्ति’ इत्युत्त्या—इच्छा तु हस्तप्रेषणस्यैवासीत्, परं भयवशात्सतृष्णां दृष्टिमेव पारवश्यात्प्रेषयन्तीति लौल्यातिशयो व्यन्यते । अहिदृष्टान्तेन—अहर्यथा निधेस्पयोगमकुर्वन् केवलं तदुपरि रक्षावहितस्तिष्ठति तथा ‘पातीति पतिरिति’ केवलं तद्रक्षामात्रव्ययः शूरतया बलापचयशङ्क्या स्वयं भोगादिकं न करोतीति व्यन्यते । सततमित्यनेन—सर्पों यथा निरन्तरं तत्रावतिष्ठते तथायमपि खल्पमध्यवसरं न ददातीति व्यन्यते । अस्मिन्निति साभिलाषमङ्गुलिनिर्देशेन खस्याप्याकाङ्क्षासूचनात्स्वनस्याकर्षकतातिशयो व्यज्यते । ‘यो यच्छीलः सापायादपि तस्मान्मनो निवर्तयितुं न शक्नोतीति निदर्शयन्त्रागरिकः सहचरमाह’ इति गङ्गाधरः । भयानुरागभावयोः संकरसत्तायामपि उपमालंकारस्यैव प्राधान्यमिति विषये सेयमुदाहृता स० कण्ठाभरणे ( ५ परि. ) ।

विदेशं जिगमिषन्तं कान्तं प्रावृद्धर्णनच्छलेन ततो निर्वर्तयन्ती काचिदाह—

उवहृष्ट नवतण्डुररोमञ्चपसाहिआँ अङ्गाइँ ।

पाउसलच्छीअ पओहरैहिैं परिपेछिओ विज्ञो ॥ ७७ ॥

[ उद्धृति नवतण्डुररोमञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि ।

प्रावृद्धलक्ष्म्याः पयोधैरः परिप्रेरितो विन्ध्यः ॥ ]

अङ्गानि नवतण्डुररोमञ्चविमण्डितानि संवहते ।

प्रावृद्धलक्ष्म्याः पीवरपयोधरप्रेरितो विन्ध्यः ॥ ७७ ॥

नवतण्डुरा एव रोमञ्चस्तेन मण्डितानि । पीवरैर्महङ्गिः पयोधैर्मैवैः प्रेरित उत्ते-  
जितः । अन्योपि कामुको घृलक्ष्म्याः पीवरपयोधराभ्यां परिस्पृष्टो रोमञ्चमावहतीति  
पयोधरपदसांनिध्याच्छन्यते । अत एव ‘पयोधैरः प्रेरितः’ इति व्यस्तबहुवचनान्तम-  
नुक्त्वा समस्तं प्रायुज्यतेति सहृदैस्तारतम्यं परीक्षेत । रोमञ्चयुक्तानीति वक्तव्ये  
रोमञ्चविमण्डितानीत्युक्त्या-तस्मिन्समये रसिकानां तदेव सर्वमण्डनेभ्योतिशयितं मण्ड-  
नमिति तदुत्कर्षः सुच्यते । तथा च ‘अस्मिन्समये अनेतनो विन्ध्योपि रसिकवर्याम-  
नुरूप्ये, तर्हि रसिकमानी भवानेव किं वर्षासु विलासविमुखो भविष्यति’ इति प्रवासप्रति-  
षेधश्वरम्यव्यक्त्यम् । भोजस्तु विन्ध्यगतमेव रतिभावं मन्वानः ‘गौणेषु सेव्यं रतिरिति’  
इसाभासविषये इमामुदाजहार ( ५ परि. ) ।

कोपि प्रियसुहृदं प्रति प्रियतमायाः प्रशंसामपरापदेशेनाह—

आम बहला वनाली मुहला जलरङ्गणो जलं सिसिरम् ।

अण्णणर्द्दृणं वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥

[ सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्गवो जलं शिशिरम् ।

अन्यनदीनामपि रेवायास्थाप्यन्ये गुणाः केऽपि ॥ ]

आम् बहला विपिनाली मुखरा जलरङ्गवो जलं शिशिरम् ।

अन्यनदीनामपि पुनरन्ये केचन गुणास्तु रेवायाः ॥ ७८ ॥

आम् इति स्वीकारे । अन्यासां नदीनामपि-पर्यन्तविस्तृता वनपङ्गिनिविडा, जल-  
पक्षिणो मधुरशब्दकराः, जलं शीतमस्ति, इति स्वीकुर्मः परं रेवाया गाम्भीर्यादयः  
केचन गुणाः पुनरन्ये एव इतरनदीविलक्षणा एव । अत्रार्थशक्तिसमुत्थेनानुरणेन-  
‘अन्यासां महिलानामपि पर्यन्ततोऽविधृता शारीप्रभृतिवसनसामग्री विपुला, ( मुख-  
रजलरङ्गपदेन सूचिताः ) नूपुरादयोपि मनोहरणाय सशब्दाः, अङ्गस्पर्शमुखमपि सुतरा  
निर्वापकमस्ति, तथापि तस्या नायिकायाः सौभाग्यादयो गुणा अन्यनायिकाविलक्षणा

कोपि कामुकः कस्याभित्कुचौ साकाङ्गमाकलयन्कमपि सुहृदं कथयति—

एह इमीअ पिअच्छह परिणअमालूरसच्छहे थणए ।

तुङ्गे सप्तुरिसमणोरहे व हिअए अमाअन्ते ॥ ७९ ॥

[ आगच्छतासा निरीक्षधर्वं परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ ।

तुङ्गै सप्तुरुषमनोरथविव हृदये अमाअन्तौ ॥ ]

परिणतमालूरसमावागच्छत पश्यत स्तनावस्याः ।

उत्तुङ्गै हृदयेपि च सप्तुरुषमनोरथाविवामान्तौ ॥ ७९ ॥

पक्तया पूर्णपरिणाहेन मालूरेण ( वित्वेन ) सदृशौ । हृदये वक्षसि विशालतया  
अमान्तौ । पुण्यवतां मनोरथा अपि उच्चातः, हृदये चेतसि च न मान्ति, किन्तु बहिः  
प्रकटीभूय कार्यहृपे परिणमन्ति । किंवा—सप्तुरुषाणामकल्पयतया तेषां मनोरथाः  
सुहृसु प्रकटीभवन्ति । दुर्जनानां तु विचाराच्छद्धाटितया हृदय एव गुप्ता भवन्ति ।  
प्राकृते द्विवचनबहुवचनयोरैक्यादुभयत्र वचनसाम्यम् । अत एव वचनमेदनिवन्धन  
उपमादोषो नात्रेति बोध्यम् । संस्कृते तप्तमेययोः स्तनयोरनुरोधेन उपमाने मनोरथेषि  
द्वित्वामावश्यकमापतितम् । उपलक्षणं चेदं बहुवचनस्य । आगच्छत पश्यतेत्युक्तिरुसरो-  
यमिति सूचनाय । हृदये अमानसोक्तया ‘सुतरामवरुद्धोपि ममैतद्वृहणविषयको मनोरथः  
साम्प्रतं विवशतया स्फुरीभावोन्मुखः’ इति सूच्यते ।

वर्षासु विरहवेदामधिकतमामासूच्यन्ती कापि कान्तानयनत्वरार्थं सखीमाह—

हस्ताहृतिं अहमहमिआह वासागममिमि मेहेहिम् ।

अच्चो किं पि रहस्यं छुण्णं पि एहङ्गणं गलइ ॥ ८० ॥

[ हस्ताहृसि अहमहमिकया वर्षागमे मेघैः ।

आश्र्वयं किमपि रहस्यं छञ्चमपि नभोङ्गणं गलति ॥ ]

अहमहमिकया हस्ताहृस्ति च वर्षागमेद्य किल मेघैः ।

हंहो किमपि रहस्यं नभोङ्गणं छञ्चमपि गलति ॥ ८० ॥

अहं पूर्वमहं पूर्वमिति स्पर्ढया, हस्तेन हस्तेन च प्रगृह्य, परस्परं मिलितैरित्यर्थः ।  
मेघैश्छत्रमपि नभोङ्गणं गलति पतति । यद्वि मेघैर्व्यासं तत्कथंकारं गलति, अत एव  
हंहो इत्याश्र्वये, यदिदं किमपि रहस्यम् । ‘गिलति’ इति पाठे मेघैः स्थगितमपि विरहीर्णी  
मां गिलितुमिव नभो धावतीलर्थः सात् ।

बहुनारीणां वल्लभतया सुमगायितस्य दयितस्य अन्यनारीप्रवृत्तिं किमिति न वारयसीति  
वदन्तीं सखीं प्रति काचिदाह—

केत्तिअमेत्तं होहिइ सोहगं पिअअमस्स भमिरस्स ।

महिलामअणङ्गहाउलकडवरदिक्षेवेवधेष्यन्तम् ॥ ८१ ॥

[ कियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्यं प्रियतमस्य अमणशीलस्य ।  
महिलामदनकुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणम् ॥ ]

सौभाग्यं दयितस्य अमतो भविता कियन्मात्रम् ।  
महिलासरकुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणं हि ॥ ८१ ॥

अमतः अन्यनारीषु अमणशीलस्य दयितस्य । महिलानां मदनलक्षणया कुधया आकुलेन कटाक्षविक्षेपेण गृह्यमाणं विवशीक्षियमाणं सौभाग्यं कियन्मात्रं भविता भविष्यति । महिला एतस्मिन् मदनकुधाकुलतयैवाऽसज्यन्ति न सत्यप्रेम्ण । अयमपि च तथा भवेत्वा तद्वशो जातः । एवंस्थितौ मदनलक्षणकुदुक्टणाशान्तौ ताः कियदासक्ता भवेयुः ? कियन्मात्रं चास्य सौभाग्यं स्यात् ? अस्थायि सर्वमिदमित्यर्थः । सर्वमेतदनुभूय स्यमस्य मत्प्रणयपरिचयो भवेदिति भावः । ‘कटाक्षध्वस्तवैर्यस्य खत एवास्य चाक्षल्यं यास्यति । किमस्य प्रियाचरणेन’ इति गङ्गाधरः । अस्पष्टमिवेदम् ! ध्वस्तवैर्यं एव चक्षलो भवतीति अर्धैर्यस्य चाक्षल्यापगमः कथम् ।

सर्वदा परगृहेषु निलोय परनारीविलासलम्पटं निजदयितं रात्रिशेषे कुकुटरूतेन  
प्रतिबुद्ध्य प्रतिदिनाभ्यासवशात्परवसतिशङ्कया पलायनेच्छुं काचिदाह—

णिअधणिअं उवऊहसु कुकुडसदेन झच्चि पदिबुद्ध ।  
परवसइवाससङ्किरणिअए वि घरम्मि मा भासु ॥ ८२ ॥

[ निजगृहिणीमुपगृहस्य कुकुटशब्देन झटिति प्रतिबुद्ध ।  
परवसतिवासशङ्किन्निजकेऽपि गृहे मा भैषीः ॥ ]

निजगृहिणीमुपगृहेश्चटिति प्रतिबुद्ध कुकुटरूतेन ।  
परवसतिवासशङ्किन्निजकेपि गृहेऽत्र मा भैषीः ॥ ८२ ॥

उपगृहेः परिरभस्तु । प्रार्थनायां लिङ् । परवसतौ परगृहे यो वासः अवस्थानं तच्छङ्किन् ! मूले ‘धणिआ’ शब्दः खभार्यावाचको देशी । गृहिण्या अपि स्वमुखेन ‘गृहिणीमुपगृहेः’ इति कथनेन—‘प्रतिदिनाभ्यासवशात्वं सर्वत्र परनारीमेव विलोक्यसि, किं त्वं न तथा । पश्य माम्’ इति प्रियवैलक्ष्यापादनं ध्वन्यते । किंवा गृहिणीपदेन—त्वत्प्रतीक्षया शून्यगृहोषितां त्वदगृहाधिकारिणीमपि त्वं सर्वदाऽवहेल्यसीत्युपालम्भो ध्वन्यते । ‘उपगृहेः’ इत्युक्त्या—प्रतिदिनाभ्यासवशात्व दृष्टौ सर्वदा परनार्येव वसति । अत एव दर्शनं विहाय उपगृहनेन मामभिजानीहीति दयितविलक्षीकरणं व्यञ्यते ।

प्रवासं गच्छतो दयितस्य गमननिरोधार्थं कापि दुःशङुनं वा जलदकालस्य विरहिणुः सहत्वं वा सूचयितुं निजसखीमाह—

खरपवणरअगलतिथिअगिरिऊडावडणभिणदेहस्स ।  
मीरं च चित्ता प्राप्तेवत्तम् ॥ ८३ ॥

[ खरपवनरथगलहस्तितगिरिकूटापतनमिद्धदेहस्य ।

धुकधुकायते जीव इव विद्युत्कालमेघस्य ॥ ]

खरमारुतगलहस्तितगिरिकूटापतनमिद्धदेहस्य ।

कालजलदस्य पश्यत जीव इव हि धुकधुकायते विद्युत् ॥ ८३ ॥

खरमारुतेन प्रचण्डपवनेन वेगाद् गलहस्तिः गलहस्तं प्रदाय प्रेरितः, अत एव गिरिकूटाद् गिरिशङ्गात् आपतनेन मिद्धदेहो विशीर्णगात्रो यः कालमेघस्तस्य जीव इव जीवितमिव ( प्राणा इव ) विद्युत् धुकधुकायते धुकधुकशब्दपूर्वकं कम्पते इत्यर्थः । अस्युच्चस्थानात्पतितस्य विशीर्णदेहस्य जनस्य यथा हस्ये कम्पो भवति तथायं विद्युत्कम्प इत्याशयः । कालः इयामः । पश्यन्तरे च यात्रासमये अकीर्तनीयनामा मृत्युः । तथा चैतन्यामग्रहणेन गिरिपतन-देहविशारणादिचर्चाऽमङ्गलेन च यात्रायाः प्रतिरोधाकृतं धन्यते । अथवा ‘यदि वर्षासु विरहं मे आपादयसि तर्हि ममापीयं दशा भाविनी’ इति दयितं प्रति व्यञ्यते । धुकधुकायते इत्युकरणनिष्पत्तो नामधातुः । ‘दुर्दिनाभिसारिका कान्तमन्यमनस्कं कर्तुमाह’ इति गजाधरः ।

अपरश्यापि गथया तत्संवादिनमेवार्थमाह—

मेहमहिषस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिष्णस्स ।

कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥

[ मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिज्ञस्य ।

कन्दतः सवेदनमध्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥ ]

मेघमहिषस्य मन्ये ह्युदरे सुरचापकोटिभिज्ञस्य ।

अच्चमिव लम्बतेसौ सवेदनं कन्दतो विद्युत् ॥ ८५ ॥

सुरचापस्य ( इन्द्रधनुषः ) कोव्या तीक्ष्णकोणग्रेण उदरे मिद्धस्य पाटितस्य अत एव सवेदनं कन्दतो मेघरूपमहिषस्य पाटनाद्विर्निर्गतम् अच्चमिव सेव्यं विद्युत्लम्बते इति मन्ये । मूले तु ‘अच्चमिव लम्बते’ इति ज्ञायते प्रतीयते इत्यर्थः । इन्द्रधनुषः सविधे गर्जितं कुर्वति इयमे मेघे मध्यगता विद्युत्तथा प्रतीयते यथा धनुष्कोव्या पाटि । तस्य अत एव वेदनावशादार्तनादं मुद्भातो महिषसोदरे अच्चं लम्बते इत्याशयः ।

प्रवासार्थमुद्यताय दयिताय वसन्तस्य विरहिदुरन्तरां द्योतयन्ती काचित्तदुपक्रमं सूचयति—

णवपछुवं विसण्णा पहिआ पेच्छान्ति चूअरुम्बुस्स ।

कामस्स लोहिउप्पङ्गराइअं हत्थमल्लं व ॥ ८५ ॥

[ नवपछुवं विसण्णाः पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।

कामस्य लोहितसम्भराजितं हस्तभल्मिव ॥ १ ।

नवपलुवं विषणा: पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।  
लोहितसमूहराजितमुद्यत्कामस्य हस्तभल्लमिव ॥ ८५ ॥

उदयः विरहिनीपीडनाय साम्प्रतमुजुम्भमाणस्य कामस्य लोहितसमूहराजितं रक्त-भरातं हस्तविधृतं कुन्तमिव पश्यन्ति । भल्लाग्रे हस्तपदप्रयोगेण ‘स भल्लः कामेन साम्प्रतं हस्ते धृतः’ इति भल्लस्य मेदनकार्यव्यापृतता ध्वन्यते । लोहितसमूहेन लिङ्गं युक्तमिस्याद्यनुक्रत्वा ‘राजितम्’ इति कथनेन कामभल्लस्य लोहितलिङ्गता शोभेति विरहि-वर्गार्थं क्रूरतातिशयो ध्वन्यते । विषणा: विषादं प्राप्तवन्तः पश्यन्तीत्यत्र भूतकालिकेन केन सह वर्तमानकालिकस्य लटः संबन्धात् ‘विरहिभीषकशूतपल्लवः पश्चाद्वृष्टौ पतति विषादस्तु ततः पूर्वमेवारन्धो भवतीत्यतिशयितविषादयोतिका अतिशयोक्तिः सूच्यते । ततश्च-पथिकतां स्त्रीकुर्वतस्त्वापि सेव्य दशाऽनुपदमाविनीति प्रियतमं प्रति व्यञ्जते । ‘दुप्पद्म’ शब्दः समूहवाचको देशी ।

विदेशगमनाद्यायं निवारयन्ती काचिद्विपुणनितम्बिनी निजसखीमाह—

**महिलाणं चित्र दोसो जेण पवासम्मि गविआ पुरिसा ।**  
**दोतिणिण जावण मरन्ति ताण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥**

[ महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विताः पुरुषाः ।

द्वे तिस्रो यावच्च मियन्ते तावच्च विरहाः समाप्यन्ते ॥ ]

**दोषोयं महिलानां यद्द्वि प्रवसन्ति गर्विताः पुरुषाः ।**

**विरहान्तो नहि तावद्वित्रा यावन्मियन्ते नो ॥ ८६ ॥**

द्वित्राः द्वे तिस्रो वा ग्रोषितपतिका यावच्च मियन्ते तावद्विरहान्तो विरहसमाप्तिर्न-  
त्यर्थः । प्रियामरणं विलोक्येव एते प्रवासं लक्ष्यन्तीति भावः । ‘महिला’ ‘पुरुष’पदो-  
पादानेन ‘महान्ते तस्मान्महिलाः’ इति विनय-सहनशीलतादिगुणभाजनतया आत्मनः  
पूजनीयतागुणं रक्षन्त्यः खियः ‘पुर’ अग्रगमने इति धातुनिष्पत्तान् अत एव अग्रगमि-  
तागर्वेण अवलिप्तान्पुरुषान् शालीनतया ताः सहन्ते इति पुरुषान्प्रत्युपालभ्यो ध्वन्यते ।  
‘यावच्च मरिष्यन्ति तावद्विरहा न समाप्यन्ते’ इति भविष्यत्यस्याने ‘प्रियन्ते’ इति  
वर्तमानोत्तर्या-तत्र विरहे मम मरणमदूरभावि विचारयेति ध्वन्यते ।

नायिकासविधमुपगन्तुं नायकं त्वरयन्ती दृती आह—

**बालअ दे वच्च लहुं मरइ वराई अलं विलम्बेण ।**

**सा तुज्ज्व दंसणेण वि जीवेजह णात्थि संदेहो ॥ ८७ ॥**

[ बालक हे वज लघु मियते वराकी अलं विलम्बेन ।

सा तव दर्शनेनापि जीविष्यति नास्ति संदेहः ॥ ]

वज लघु बाल मियते वराकिकाऽलं विलम्बेन ।

निःसंदेहं तव सा जीविष्यति दर्शनेनापि ॥ ८७ ॥

‘दे’ शब्दः सातुनयसंबोधने । तस्याः प्रेमपरिपाकानभिज्ञत्वाद् हे बालक ! लघु शीत्रं ब्रज । त्वया परित्यक्तवात् शोचनीयतया वराकिका धीना सा म्रियते । ‘क’ ग्रल्ययेन ‘मरणसमयेषि न तां दद्यनीयां प्रलवेश्यसे’ इति कारुण्यातिशयो घन्यते । तवेत्यनेन ‘अन्येषां पुनः पीयूषायौषधप्रदानेनापि न जीविष्यति’ इति सूच्यते । दर्शनेनापीयपिना—आलिङ्गनचुम्बनाधरपानादीनां तु किं वक्तव्यमिति सूच्यते । ‘म्रियते’ इति वर्तमानत्वोक्त्या—‘त्वदानयनार्थमिहागमनसमये सा जीविताभूदिदानीमियता विलम्बेन सा म्रियमाणास्ति’ इति व्यञ्यते । ‘मम तत्स्थानप्राप्तेः पूर्वमेव मृतायां तस्यां किं फलं गमनेनेति’ चेद्यदये संदिश्यसे, तदर्थमाह—जीविष्यतीति । यदि मृतापि भवेत्तदापि सा जीविष्यति, किं पुनर्भ्रियमाणेति भावः ।

विनाशकारणमपि मुरघतया त्वं सुखहेतुं मन्यसे इत्यन्यापदेशेन कोपि निजसहचरं दिक्षयति—

तम्भिरपसरिअहुअवहजालालिपलीविए वणाहोए ।  
किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्रहरिणो ण णिकमइ ॥ ८८ ॥

[ तात्रवर्णप्रस्त्रहुतवहज्वालावलिप्रदीपिते वनाभोगे ।

किंशुकवनमिति कलियित्वा मुरघहरिणो न निष्कामति ॥ ]

आताप्रविसरदनलज्ज्वालावलिदीपिते वनाभोगे ।

किंशुकवनमिति मत्वा निष्कामति मुरघहरिणो न ॥ ८८ ॥

आताप्राप्रसरन्ती या अनलज्ज्वालावलिः ( वद्विशिखाश्रेणिः ) तथा दीपिते प्रज्वलिते वनप्रान्तरे । अतिताप्राप्रविहितिखाभिर्व्यासं वनं रक्तवैः किंशुकवृक्षैर्वलयितमिति मत्वा मुरघतया हरिणो वनाद्वृहिर्न गच्छतीति भावः । तथा चात्र खतःसंभविना आन्तिमदलङ्कारेण ‘परललनालम्पटस्त्वमन्तःकोपकषायितैरपि बहिःप्रियदर्शनैर्जनैः परिवृते त्वत्वेयसीसदने अनिष्टहेतुमपि तत्संसर्गं सुधासदृशं मन्यमानो मोहमुरघतया न तदावासं परिल्यजस्ति’ इति वस्तु व्यञ्यते ।

शृण्वन्तसुपपत्ति प्रति काचिदात्मनः कामकलाकौशलं ख्यापयितुमन्तरङ्गसखीमाह—

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ ।

जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वचामो ॥ ८९ ॥

[ निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्पितमस्माकं गुरुपुरतः ।

यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥ ]

शारिकया गुरुपुरतो निधुवनशिल्पं तथा किलोल्पितम् ।

तां वेलामयि मातर्यथा व्रजामः कुतो न जानीमः ॥ ८९ ॥

निधुवनशिल्पं सुरतवैच्यम् । गुरुजनानां पुरतः । अग्रतः । उल्लपितम् अर्थमपरिज्ञायापि यथा दृष्टं श्रुतं वा तथा जलिपतसित्यर्थः । अयि मातः तां वेलं तस्यां वेलायाम् ।

व्रीडावशात्कुत्र ब्रजाम इति यथा न जानीमः । न्हीणमात्मानं निहोतुं कस्मिन्स्थाने  
गच्छाम इत्यपि लजावशान्न स्फुरितमभूदिल्याशयः । तां वेलाभिल्यसन्तसंयोगे द्वितीया ।  
अथि मातरिति लोकशौलीसिद्धमान्तरिकानुतापसूचकं संबोधनम् ।

विकासोन्मुख्यौवनायां बालायामनुरक्तचित्तं दयितं काचिदन्यापदेशेनाह—

**प्रव्यगपुलुदलुलुसन्तमअरन्दपाणलेहलओ ।**

तं णत्थि कुन्दकलिआइ जं ण भमरो महइ काउम् ॥ ९० ॥

[ प्रत्यग्रोत्पुलुदलोलुसन्मकरन्दपानलुब्धः ।

तन्नास्ति कुन्दकलिकाया यन्न अमरो वाङ्छति कर्तुम् ॥ ]

**प्रत्यग्रोत्पुलुदलोलुसन्मरन्दाधिपानसंलुब्धः ।**

भमरो वाङ्छति कर्तुं यन्न हि तन्नास्ति कुन्दकलिकायाः ॥ ९० ॥

प्रत्यग्रमुत्पुलानि दलानि यस्याः सा प्रत्यग्रोत्पुलुदला, एवंविधायाः कुन्दकलिकायाः  
उल्लसन्मकरन्दस्य अधिकं यथा तथा पाने लुब्धो अमरो यत्कर्तुं न वाञ्छति तन्नास्ति ।  
तां परितो अमरणं चाहनि चुम्बनादीनि च सर्वं कर्तुमिच्छतीत्यर्थः । अमरपदेन ‘कलि-  
कायां साम्प्रतं मधुजननाभावात्केवलं भविष्यदाशया साभिलाषं अमरणमेव करोति’ इति  
सूच्यते । तेन च ‘नवयौवनविलासेनोपविताङ्गया एतस्या बालाया भाविनि समागम-  
सुखे बद्धाशस्त्वं साम्प्रतं तस्याः समन्ताद् अमरणं करोषि, परिज्ञातं मया ते मनोर-  
हस्यम्’ इति प्रियं प्रत्याकृतमभिव्यज्यते । अस्फुटयौवनायामप्येतसां त्वं तथा मुग्धोसि  
यत्सांप्रतमेव सर्वेमात्ममनोरथं पूरयितुमुक्तएठसे । केवलमसदादिसंकोचादैव संयत  
इवासीति दयितं प्रति गृहोपालम्भश्वरमं व्यज्जयम् ।

नवोद्भृतयौवनायां सप्तप्लयां सम्प्रति कामिजनलक्ष्यता जातेति सेष्योपालम्भं दयिताय  
सूचयितुं काचिदन्यापदेशेन मातुर्लीं लक्ष्यीकृत्याह—

**सो को वि गुणाहसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए ।**

अच्छीहिं चिअ पाउं अहिलसह जेण भमरेहिम् ॥ ९१ ॥

[ स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मातुलानि कुन्दलतिकायाः ।

अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन अमरैः ॥ ]

स हि कोपि गुणातिशयो मातुलि जाने न कुन्दलतिकायाः ।

हरभ्यामेव निपातुं अमरैरभिलष्यते येन ॥ ९१ ॥

एतस्यां क एतादशो गुणोस्ति येन परितः सुरक्षितया सविघोपसरणानवसरात्केवलं  
नयनाभ्यामेव रसिककामुकैरियमभिवीक्ष्यते । तथा च ‘सेयं बहुकामुकानामधूनैव  
लक्ष्यभूता जाता, अग्रे तु न जाने कि भावि’ इति नायकं प्रति अमरैरिति बहुवचनेन  
ईर्ष्यावीजं निष्ठतमुपक्षिप्यते । अथवा—‘अहं तु तादृशं गुणमस्या न जाने, तथापि  
स्वप्रहर्मित्यमेनामनवसरे केवलं दयनाभ्यामेव विलोकयसि । कोयमस्याने संरभमः’ इति

सप्तोप्रणयिनं दयितं प्रत्युपालम्भो व्यज्यते । किंवा—नवोद्धृतयौवनायाः कस्याद्वित्सौ—  
भार्यं सूचयितुमियमन्यापदेशेनोक्तिः । तथा च—‘लतिका’ इति कप्रत्ययेन कैश्चोर्यरम्भ-  
संभिजायामसां वालायां स कोप्यनिर्वचनीयो गुणोत्कर्षेण्टि यद्वशेन रसिकैरवशतया  
केवलं दृग्भ्यामेव साभिलापातिशयमीक्षये, ईक्षणसाध्यलाभे ईक्षितुमिष्यते वा । अथात्  
एतस्या आलोकनमात्रेषि रसिकानां तादशी उत्कण्ठेति । ‘इयं निपातुमिष्यते’ इत्यनेन  
‘अन्यासां लतानां पुष्पं मुखद्वारा पीयते । इयं तु लतैव अक्षिद्वारा पीयते’ इत्यन्या-  
येक्षयोत्कर्षो ध्वन्यते ।

नायकमुक्तण्ठयन्ती दूती कस्याद्वित्सौन्दर्यादिशयमाह—

एकं चिअ रूपगुणं गामणिधूआ समुद्धहइ ।

अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो ॥ ९२ ॥

[ एकैव रूपगुणं ग्रामणिदुहिता समुद्धहति ।

अनिमिषनयनः सकलो यथा देवीकृतो ग्रामः ॥ ]

एकैव हि रूपगुणं ग्रामणिदुहिता समुद्धहति ।

अनिमिषनयनः सकलो यथा हि देवीकृतो ग्रामः ॥ ९२ ॥

एका सैव ग्रामनायकस्य दुहिता तादृशं सौरप्यगुणं धारयति यथा अनिमिषनयन-  
तया सकलोपि ग्रामो देवत्वं नीतः । न लिमिषतीस्यानिमिषम्, अनिमिषं नयनं यस्य  
सः । रूपकौतुकोलमचित्तया सकलोपि ग्रामस्यो जनसां तथा पश्यति यथा न कस्यापि  
नयनयोर्निमेषोपि भवतीति भावः । सकल इति पदेन—‘सिद्धो वा अमरो वा एकस्य  
द्वयोर्वा खमाहात्म्येन देवत्वं कुर्यात्, इयं तु सकलस्य ग्रामजनस्य’ इत्युत्कर्षो ध्वन्यते ।  
एकैवेत्येवकारेण ‘सा अद्वितीया रूपवती, ततश्च त्वरितमेव तत्प्राप्तये यतख’ इति  
नायकप्रलोभनं ध्वन्यते ।

चादृक्तिभिः प्रियतमां प्रसादयन्कश्चिदधरपानलालसां सवैदरध्यमाह—

मणो आसाओ चिअ ण पाविओ प्रिअअमाहररसस्स ।

तिअसेहिँ जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअम् ॥ ९३ ॥

[ मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य ।

त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धतम् ॥ ]

आस्वाद एव मन्ये न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य ।

हन्त समुद्धतममृतं त्रिदशैर्येन रत्नाकरादेन ॥ ९३ ॥

‘रत्नाकर’पदेन—रत्नानि यस्मादाविर्भूतानि तस्मात्सागरात् त्रिदशैः ( चैवनमात्रद-  
शाजुष्टैः सदा युवमिः ) देवैरुद्धृतममृतमपि तदप्रे वृथेत्युत्कर्षो ध्वन्यते । ‘हन्त’ पदेन—  
‘अमृतोद्धरणक्षेत्रस्तेषामस्थाने’ इति तान् प्रति खेदो ध्वन्यते । एवेलनेन—यद्यास्वादः

प्राप्तोऽभविष्यत्तर्हि अस्तोद्धरणहेतुं नाकरिष्यनिति सूच्यते । अथवा 'एव' इति अपेरये ।  
ईषत्खादोपि न प्राप्त इत्यर्थः ।

पूर्वमतिदर्शितप्रणयं पश्चाच्चान्यासक्ततया दुर्लभदर्शनं नायकं निष्टत्सुपालब्धुं स्वप्रण-  
यातिशयं सूचयन्ती काव्यिदन्यापदेशोनाह—

**आअण्णाअहिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।**

**अदंसणो पिओ होहिइ ति वलिउं चिरं दिङ्गो ॥ ९४ ॥**

[ आकर्णाकृष्णनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या ।

अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥ ]

**आकर्णाकृष्णनिशितभल्लकर्मर्माहतहरिण्या ।**

**भविता द्यदर्शनः प्रिय इति तु वलित्वा चिरं दृष्टः ॥ ९४ ॥**

आकर्णमाकृष्णेन निशितेन भल्केन ( बाणविशेषेण ) मर्मेणि आहतया हरिण्या ।  
प्रियः अप्रे अदर्शनः [ न विद्यते दर्शनं यस्य । दर्शनागोचरः ] भविता भविष्यति इति  
कृत्वा । वलित्वा कन्धरां परावर्त्य लालसोत्कण्ठाभ्यां चिरं दृष्टः । बाणविद्वा मरणोन्मु-  
खापि प्रियप्रणयं न व्यस्मार्थंदिति भावः । भवितेत्यनव्यतनार्थंभविष्यता 'अद्य यद्यपि  
दृग्गोचरोस्ति तथापि इतोप्रे अदर्शनो भविष्यति' इति विषादातिशयः सूच्यते । वलित्वे-  
त्यनेन-‘मत्युकृष्टपतितयापि संमुखज्ञाभावेषि यत्पूर्वकमपि प्रियो दृष्टः’ इति प्रणया-  
तिशयो व्यज्यते । हरिण्येत्यनेन-तिर्थग्नेनिगतानामपि छीणां पश्य प्रणयमिति शृण्वन्तं  
नायकं प्रति योषितां पुरुषातिशायी प्रणयोभिव्यज्यते । तथा च-‘दुर्वचनविशिखैर्मर्मा-  
हताव्यहं यन्नशर्तैर्दर्शनार्थमुत्कण्ठिता त्वत्प्रणयमेवमनुपालयामि । भवांस्तु तथा निमोहो  
यदर्शनमात्रमपि न ददाति’ इत्युपालम्भसंभृतं चरमं व्यङ्ग्यम् । ‘प्राणात्ययहेतुरपि न तथा  
व्यथयति यथा प्रियविरह इत्यन्यापदेशेन लेहशिक्षार्थं कोपि प्रियमाह’ इति गङ्गाधरः ।

गाथारत्नकोषनिर्मातुः सातवाहननरेन्द्रस्य शौर्यं कीर्तयितुमेकां गाथामाह तत्सोता  
कविः—

**विसमाद्विअपिकेकम्बदंसणे तुज्ज्ञा सत्तुधरिणीए ।**

**को को ण पत्थिओ पहिआणं डिम्भे रुअन्तम्मि ॥ ९५ ॥**

[ विषमस्थितपकैकाम्रदर्शने तव शत्रुगृहिण्या ।

कः को न प्रार्थितः पथिकानां डिम्भे रुदति ॥ ]

**विषमस्थितपकैकाम्रदर्शने ते तु शत्रुगेहिन्या ।**

**पथिकानां कः को वा न वाऽर्थितो रुदति डिम्भे हि ॥ ९५ ॥**

विषमे ग्रहणार्थमारोहणादिनातिदुर्गमे लघुतमविटपाग्रे स्थितस्य पक्षस्यैकस्याम्रफलस्य  
दर्शने सति । तत्प्रार्थ्यर्थं शुघिते डिम्भे बालके रुदति सति पथिकानां मध्ये को वा  
को वा न प्रार्थितः, अपि तु सर्वं एव प्रार्थितः । 'एक' पदेन-एकमाम्रफलमपि सुतरां

दुर्लभमभूदिति शत्रुदुर्दशया राजशौर्योत्कषेषो ध्वन्यते । ‘डिम्भ’ पदेन-बालस्य खल्यव-  
यस्कतया हठबाहुल्यं क्षुधातुरत्वं च सूच्यते । कः को वैस्यनेन-अप्रार्थनीयोपि प्रार्थित  
इति दैन्यातिशयो ध्वन्यते । पथिकानामित्यनेन-मार्गगमिनामसंबन्धिनामपि सा दय-  
नीया जातेति दारिद्रातिशयः सूच्यते । उक्त इति स्थाने अर्थित इत्यनेन-अतिरीनता-  
प्रदर्शनपुरस्सरं तत्पातरितुं याचित इति वोख्यते । शत्रुगेहिन्येति गृहिणीपदेन-‘आ  
गृहिणी अकार्यशतैरपि सामान्यदीनसापि भर्तव्या स्मृत्यादातुक्ता, सापि त्वकोपवशा-  
द्वैरिनरेन्द्रैरेवं कदर्थिता’ इति वर्णस्य राजो महाप्रभावत्वं ध्वन्यते । गङ्गाधरेण ल-  
तितैरक्षरैरस्याशयोऽवर्ष्यत-‘त्वदागमनशङ्कासंजातवेपथुस्त्वलितचरणसंचारमशेषपरिवारं  
विहाय बालकमादाय तत्र शत्रुविलासिनी महारण्यं प्राविशत् । तत्र च घनघनायमानघ-  
नच्छद्दच्छायतहनिराकृतदिनकरकरोत्करियामायिते वर्तमनि गच्छन्ती क्षुपीडितस्य  
बालकस्याकन्दितमाकर्ष्य निपुणतरं निरीक्षमाणा विषमशाखान्तर्गतमेकमात्रफलमद्वा-  
क्षीत् । तत्पातनार्थं च पान्थानयाचतेति’ ।

यौवन-वैद्यर्थ्यादिभिर्विलोभनीयया मालाकारस्त्रिया श्वेषभणितिभिरभिसुखीकृतः  
कथित्रिद्रसिकः शृण्वन्व्यां तस्यां सामिलाषं निजसहचरमाह—

**मालारी ललित्तुलिअबाहुमूलेहि तरुणहिअआइ ।**

**उद्धूरइ सञ्जुल्लरिआइ कुसुमाइ दावेन्ती ॥ ९६ ॥**

[ मालाकारी ललितोल्लितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।

उलुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती ॥ ]

युवहृदयानि लुनाति हि ललितोल्लितोच्चबाहुमूलाभ्याम् ।

कुसुमानि दर्शयन्ती सद्योलूनानि मालिनी सेयम् ॥ ९६ ॥

सद्योलितानि कुसुमानि दर्शयन्ती सेयं मालिनी, ललिताभ्यां चुन्दराभ्याम् उल्लिताम् उद्धृताभ्यां विशालाभ्यामिति यावत् । उच्चाभ्यां च बाहुमूलाभ्याम् ( स्तनाभ्याम् ) यूनां हृदयानि लुनाति व्याकुलयतील्यर्थः । ‘उल्लिताभ्यां च उच्चलाभ्यां बाहुमूलाभ्यामुपलक्षिता’ इति गङ्गाधरः । ‘सद्योलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती हृदयानि लुनाति’ इत्युभयत्र लवनसादश्येन ‘यथा मया कुसुमानि लुनानि तथा युवहृदयान्यपि लवितुं समर्थाहम्’ इति हृदयानां कुसुमसमानत्वं व्यङ्ग्यम् । ततश्च ‘त्वया कानिचिद्रसिकहृदयानि पूर्वतः पाठितानि, येषां सद्यस्कतया विलम्बोपि न जातः, आर्द्धवेदनानीति यावत् । कानिचिच्च अस्मादशां हृदयानि साम्प्रतं लुनासि, बहुतस्त्रियनिकृन्तकत्वादहो ते नैर्षुर्यम्’ इति सामिलाष आक्षेपो ध्वन्यते । किञ्च मालिनी मालाकारीतिपदेन-‘पुष्प-मालानां निर्माणार्थं यथा त्वं पूर्वमेव लवनक्षेत्रं विसोदवन्ति कुसुमानि सूच्या विच्छा मुनः सूत्रप्रोतानि करोषि तथा यूनामस्मादशां हृदयानि सांप्रतं लुनासि ( व्याकुलीकृत्य वशी-करोषि ) पश्चाच निष्टुरहृदयत्वाद्विरहवेदनारूपया सूच्या विद्वानि करिष्यसि, अहो निर्देशत्वम्’ इत्युपालम्भो ध्वन्यते ।

नवयुवत्या व्याधिण्याः स्तनोद्भूमं सामिलाषं वर्णयन्कश्चित्सहचरमाह—

**मज्जो पिओ कुअण्डो पछिजुआणा सवत्तीओ ।**

**जह जह बड्डनित थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्च वाहीए ॥९७॥**

[ मध्यः प्रियः कुदुम्बं पल्लीयुवानः सपव्यः ।

यथा यथा वर्वेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याध्याः ॥ ]

**मध्यः प्रियः कुदुम्बं पल्लीयुवकाः सपल्ल्यश्च ।**

**क्षीयन्ते पञ्च तथा, व्याधगृहिण्याः स्तनौ यथैधेते ॥ ९७ ॥**

व्याधगृहिण्याः स्तनौ यथा यथा वृद्धि गच्छतस्था तथा मध्यः कटिः ( यौवनविकासात् ) क्षीयते । प्रियः ( यौवनोद्दीप्तामातया सततसुरतदौर्बल्यात् ) क्षीयते । कुदुम्बं गृहकर्तुर्व्याधस्य नवयौवनायामस्यामासकतया अप्रत्यवेक्षणात् क्षीयते । तस्याः पल्ल्याः ( भिलावासस्य ) युवकाः तदुक्तकण्ठया क्षीयन्ते । सपव्यस्तु इर्व्यया किंवा नवयौवनायामस्यामासकतया पतिकृतप्रणयाभावात् क्षीयन्ते । नवयौवनायामपि गृहिणीपदेन-नवयौवनवशात्तथासकोस्याः प्रियतमो यथा गृहकर्तृत्वं प्रायस्तस्यामेव तिष्ठतीति स्तनो-त्कर्षातिशयो ध्वन्यते ।

‘अयं हि मालिनीकुचमाल्दरावलोकनलालसयैव भ्रमति, नास्य कार्यमन्यदिति निजस्य परामिप्रायवेदनवैदरध्यं सूचयज्ञागरिकः कश्चित्सहदयमाह—

**मालारीए वेल्हलबाहुमूलावलोअणसअद्दो ।**

**अलिअं पि भमइ कुसुमग्वपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥ ९८ ॥**

[ मालाकार्याः सुन्दरबाहुमूलावलोकनसतृणः ।

अलीकमपि भ्रमति कुसुमार्घप्रशशीलः पंसुलयुवा ॥ ]

**मालाकार्याः सुन्दरभुजमूलविलोकने सतृणोयम् ।**

**पंसुलयुवा ह्यलीकं कुसुमार्घविपृच्छको भ्रमति ॥ ९८ ॥**

पंसुलः परत्तीलम्पटः । कुसुमार्घस्य कुसुममूल्यस्य पृच्छकः सन् अलीकं भ्रमति । वेल्हल इति सुन्दरार्थवाचको देशी । ‘यो यदभिलाषुकः स छलेनापि खकार्यं साधयतीति निर्दर्शयन्कोपि सहचरमाह’ इति गङ्गाधरः ।

पूर्वसंजातसुरतसंकेतस्थानादिकं विस्मृतवन्तं ‘कस्तेहम्?’ इति वदन्तं नायकं कापि सोपालम्भमाह—

**अक्कअण्णुअ घणवण्णं घणवण्णन्तरिअतरणिअरणिअरम् ।**

**जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥ ९९ ॥**

[ अकृतज्ञ ब्रनवणं घनपण्णन्तरितरणिकरनिकरम् ।

यदि रे रे वाणीरं रेवाणीरमपि न स्मरसि ॥ ]

अङ्गुष्ठक घनवर्णं घनपर्णान्तरिततरणिकरनिकरम् ।

यदि रे रे वानीरं रेवानीरं स्मरस्यापि न ॥ ९९ ॥

कृतं न जानातीत्यकृतज्ञः कृतोपकारविसर्ता, तत्संबोधनम् । ततः कृत्सार्थं कर् ।  
घनवर्णं मेघश्यामम् । घनैर्निविडः पल्लवरन्तरित आच्छादितस्तरणिकरनिकरः सूर्य-  
रशिमसमूहो येन, एवंविधं वानीरं वेतसकुञ्जं यदि न सरसि, मा सर तावत् । परं  
रेवाया नर्मदाया नीरं जलमपि न सरसि ? इति काङ्क्षुः । ततु अवश्यं सर्वत्यसिलर्थः ।  
रे रे इति साक्षेपं संबोधनार्थम् ।

उद्दीपमदनां ग्रामणीसुतां वैदव्याजेनोपगन्तुभयमवसर इति कामुकं श्रावयन्ती दूती  
ग्रामणीसुतायाः पीडया निजखेदं प्रदर्शयति—

मन्दं पि ण आणइ हलिअणन्दणो इह हि डडुगाममिम ।

गहवइसुआ विवज्ञाइ अवेज्जाए कस्स साहामो ॥ १०० ॥

[ मन्दमपि न जानाति हलिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे ।

गृहपतिसुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयामः ॥ ]

मन्दमपि हलिकनन्दन इह दग्धग्रामके न जानाति ।

निर्वैद्ये कं ब्रूमो गृहपतितनया विपद्यते चाद्य ॥ १०० ॥

निर्वैद्ये वैद्यरहिते, अत एव दग्धग्रामके निन्दनीयेसिन् ग्रामहतके । अतिसंतापपी-  
डिता गृहपतितनया ग्रामनायकस्य भुता अद्य विपद्यते । हलिकनन्दनो गृहजामाता  
तत्पतिश्च मन्दमपि खल्पयति न जानाति, अन्न इत्यर्थः । इदानीं कं ब्रूमः कस्मै कथ-  
यामीलर्थः । हलिकनन्दनपदेन ‘तत्पतिस्तु हलिकश्य पुत्रो हलिकः पशुकल्प एव ।  
अत एव द्वितीयग्रामादागतो वैद्यो भूत्वा भदनतसायास्तस्या: साधीयसी विकित्सां कुरु’  
इति कामुकं ग्रति व्यञ्जयते । गृहपतितनयापदेन—‘गृहे तस्याः प्रचुरं ग्रभुत्वम्, अत एव  
निकित्समानस्य ते न कस्मिन्नपि कार्ये बाधा भवेत्’ इति सूच्यते । ‘कापि गृहपति-  
सुताहलिकसुतानुरागं विरहवैधुर्यं च प्रतिपाद्यन्ती हलिकसुतोपालम्भपुरस्सरमाह’  
इति गजाधरः । ‘हलिकपुत्रनिमित्तमन्दपश्चवाणवाणप्रहारजर्जरितहृदया ग्रामणीसुता  
विपद्यते । हलिकपुत्रश्च पशुकल्पः । अतः कस्मै कथयामीलर्थः’ इति तटीका ।

शतकसमाप्तिमाह—

रसिअजणहिअअद्दैए कइवच्छलपमुहुसुकइणिममैए ।

सत्तसअम्मि समत्तं सद्गं गाहासहं एअम् ॥

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविलिमिते ।

सप्तशतके समासं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलकुशलसुकविपरिरचिते ।

सप्तशतके समासं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥ १०१ ॥

सप्तमं शतकम्

—००५०—

पशुदम्पत्योरप्येवमन्योन्यप्रणयो भवति, न पुनरुत्तेति मन्दप्रणयं नायकमुपालभ-  
माना नायिकासखी साकृतमन्यापदेशेनाह—

एककमपरिरक्खणपहारसँस्मृहे कुरङ्गमिहणम्मि ।  
वाहेण मणुविअलन्तवाहधीअं धणुं मुक्तम् ॥ १ ॥

[ अन्योन्यपरिरक्षणप्रहारसंसुखे कुरङ्गमिथुने ।

व्याधेन मन्युविगलद्वाष्पधौतं धनुर्मुक्तम् ॥ ]

अन्योन्यरक्षणाय प्रहारसंमुखकुरङ्गमिथुने हि ।

व्याधेन मन्युविगलद्वाष्पविधौतं धनुर्मुक्तम् ॥ १ ॥

परस्पररक्षणनिमित्तं प्रहारसंसुखे कुरङ्गमिथुने, मन्युना कास्थेन विगलन् यो वाष्प-  
स्तेन विधौतं धनुर्ब्यधिन खक्तम् । ‘मन्युदैन्ये क्रतौ कुधि’ इति हैमः । अयं भावः—  
व्याधेन मृगद्वन्द्वं प्रति प्रहाराय यदा धनुषि वाणः संधातुमाहितस्तदा परस्परस्य रक्ष-  
णार्थं मृगद्वन्द्वं पर्यायेण लक्ष्यसंसुखे सति [ यदा मृगे प्रहाराय सन्धानं कृतं तदा तद्र-  
क्षणनिमित्तं मृगी प्रहारस्य संसुखं स्थिताभूत्, यदा खयं संमुखमागतायां मृगयां लक्ष्यं  
बद्धं तदा तद्रक्षणार्थं मृगः प्रहारस्य संमुखमवातिष्ठत इति ] एवमन्योन्यानुरागमवलो-  
कयोत्पञ्चकारुण्येन व्याधेन धनुरेव खक्तमिति । आर्द्धमिति स्थाने विधौतमित्यनेन—कारु-  
ण्यजनितेनाशुणा तस्तिक्तमेव न किन्तु पशुवधपापपिङ्किलं तद्दुरुत्तद्विने क्षालितकल्पय-  
तया पवित्रमिवाभूत् इति ध्वन्यते । मुक्तमिति पदेन तद्विनादारम्यं पशुवधपातकितमपि  
संसारे तत्कर्मतो मुक्तिं गतमभूदिति धनुष उत्कर्षः सूचयते । ‘नायकमुपालब्धुं दूरी  
आह’ इति गङ्गाधरः ।

नायिकाया विरहविकलतां प्रदर्शय मन्दलेहं नायकं तदुपगमाय त्वरयन्ती दूरी आह—

ता सुहअ विलम्ब खणं भणामि कीअ वि कणेण अलमह वा ।

अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउण भणिस्सम् ॥ २ ॥

[ तत्सुभग विलम्बस्त्र क्षणं भणामि कस्या अपि कृतेनालमथ वा ।

अविचारितकार्यारम्भकारिणी चियतां न भणिष्यामि ॥ ]

सुभग विलम्बस्त्र मनाग् भणामि कस्याश्चिदर्थमलमथवा ।

न भणिष्यारम्भविचारितकार्यसमारम्भकारिणी चियताम् ॥ २ ॥

क्षणं विलम्बस्त्र तिष्ठेत्यर्थः । कस्याश्चिदर्थमहं भणामि, मम खार्थः कश्चिच्च । खार्थां  
तु कदाचन मृषापि भाषेत, परमहं तु द्वितीयस्याः कृते वदाम्यत एव तत्रावश्यं प्रलयः  
कर्तव्य इति भावः । अथवा अलम्, न भणिष्यामीत्यर्थः । अविचारितकार्यारम्भिणी

सा ( यस्याः क्रुते अहं वक्तुमिन्द्धामि ) मियताम्, अहं तत्क्रुते किमपि न भणिष्यामि । तिष्ठेति स्याने 'विलम्बस्त' इत्युत्तया 'अन्यासक्तस्य ते साम्प्रतमपि तत्कोपभयेन शीघ्र-गमनमावश्यकम्, परं परप्राणरक्षणपुण्यार्थं क्षणं विलम्बमेव सहस्रं' इति गूडमाक्षेपो ध्वन्यते । विचारणात्स्वयमुक्त्यापि ग्रतिषेधरूपेण प्रथमाक्षेपालङ्कारेण—'त्वादशस्य अस्थिरप्रणयस्य प्रणयपरिणाममविचार्यैव यथा तु भयमात्मा समर्पितः, तस्या मरणमेव परिणामे भावि । ततो मियमाणायाः क्रुते को वा ततोपकारभारं गृहीयात्' इति अस्थिर-रक्षेहतोपालम्भो ध्वन्यते । सुभोल्याभन्नेण—'बह्यस्त्वय्यनुरक्ताः, अत एव निजसौ-न्दर्यमूलकसौभास्येनैव तत्र सोयं गर्वः' इति व्यज्यते । सत्यं प्रेमाणमपरिचिन्तता त्वया सह प्रणयं कुर्वेलास्तस्याः कामं न भवेत्पश्चात्तापः, परं माद्यशानां त्ववश्यमस्ति । ततश्चेदानीं छीवधपातकभयादेव त्वरितं तदन्तिके गन्तव्यमिति चरमं व्यञ्जयम् ।

पूर्वं बद्धप्रणयेन हलिकसुतेन संप्रति ग्रतिरुद्धप्रेमव्यवहारा काचित्तसान्यन्त्रानुरागं सूचयन्ती सर्वे सखीमाह—

**भोइणिदिणपहेणआचकिखअदुस्सिकिखओ हलिअउत्तो ।**

**एत्ताहे अणपहेणआणं छीओल्लअं दई ॥ ३ ॥**

[ भोगिनीदत्तप्रहेणकास्वादनहुःशिक्षितो हलिकपुत्रः ।

इदानीमन्यप्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति ॥ ]

**नवभोगिनीप्रदत्तप्रहेणकास्वादलम्पटो हाधुना ।**

**अन्यप्रहेणकानां हलिकसुतश्छीति वहति वचः ॥ ३ ॥**

नवीनया भोगिन्या ग्रामव्यापारिकविद्या दत्तानां प्रहेणकानां मोदकादिवायनकानामास्यादे लम्पटो लोल्लुः ( दुःशिक्षितः ) हलिकपुत्रः अन्यप्रहेणकानां क्रुते इदानीं 'छी' इति वचो वहति ददाति । 'छी' इति सनासासंकोचं निन्दानुकरणं लोके प्रसिद्धम् । 'प्रहेणकं वायनकम्' इति हाराबली । 'लाहिणा' इति जयपुरभाषा । हलिकसुतपदेन—'हलिकप्रायों नवीनतया लोभनीयायां भोगिन्यामनुरक्तत्वेन गर्विष्टः साम्प्रतमनुरक्तास्वय्यसादशीषु विरज्यति' इति सूचयते । व्यापारिकपक्षीपरमपि 'भोगिनी' पदमनुरक्तनविद्या—'सा भोगलम्पटेति तस्यां भोगरसिकोयमनुरक्तः' इति सूचयति । 'पूर्वमसासदुरक्ततया त्वं यत्किञ्चिदप्यसद्दृतं वसु वहमन्यथाः' । भोगिनीलम्पटस्वं न तादशः इति अधुनापदसहकारेण ध्वन्यते । 'छीवोल्लअम्' इत्यस्य छीवोल्लं मुखविकार इत्यर्थं इति कुलवालदेवः । एतदनुसारं 'हलिकसुतश्छीति संकुचति नासाम्' इति पाठः साधीयान् स्यात् ।

वने विहरन्तीं प्रेयसीं ग्रातरम्भोजशोभावणेन रमयन्कश्चिद्वागरिक आह—

**पञ्चसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणम् ।**

**कमलाणं रथणिविरमे जिअलोअसिरी महम्महइ ॥ ४ ॥**

[ प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्राणाम् ।  
कमलानां रजनिविरामे जितलोकश्रीर्महमहायते ॥ ]

प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसहलपुटानाम् ।  
जितलोकश्री रजनीविरतौ किल महमहायतेऽब्जानाम् ॥ ४ ॥

प्रत्यूषे या ( आदित्यस ) मयूखावलिः तस्याः परिमलनेन संबन्धेन प्रस्फुटपत्रपुटानाम् अब्जानाम् । जिताः लोकाः यस्या एतादशी श्रीः, वशीकृतलोकेति यावत् । रजनीविरामे महमहायते सैरभेण सर्वत्र व्याग्रोतीत्यर्थः । ‘जिअलोअसिरी’ इत्यस जीवलोकश्रीः ( जीवलोके या शोभा ) इति वार्थः । अतिसौरभस्य ‘महक’ इति व्यपदेशो हिन्दीभाषायामपि प्रसिद्धः । ‘पच्छूह’ शब्द आदित्यवाचको देशीति कथित् । ‘अशातरजनिविरामां क्रीडाप्रसक्तां सखीं प्रबोधयितुं कापि प्रभातं वर्णयति’ इति गङ्गाधरः ।

ईर्ष्याल्द्वनां सपनीनां मध्ये नायिकायाः सौभाग्यं व्याजेन सूचयन्ती कान्चित्पौढा सखी सपरिहासमाह—

वाउवेल्लिअसाउलि थएसु फुडदन्तमण्डलं जहणम् ।  
चहुआरअं पइं मा हु पुत्रि जणहासिअं कुणसु ॥ ५ ॥

[ वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम् ।  
चटुकारकं पर्ति मा खलु पुत्रि जनहास्यं कुरु ॥ ]

वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम् ।  
चटुकारकं प्रियं मा जनपरिहास्यं कलय पुत्रि ॥ ५ ॥

वातेन उद्वेल्लितवस्त्रे उद्वर्तिताद्योवसने ! ‘साउलीति’ वस्त्रवाचको देशी । स्थगय आच्छादय । जनपरिहास्यं जनैरुपहसनीयं मा कलय मा कुरु । चाटुपरस्ते प्रियतमः प्रेमातिशयाजघने यच्चुम्बनदशनादिकं करोति तस्य सर्वात्रे प्रकटनेन तं परिहासास्पदं मा कुर्वित्याशयः । ‘भवतीः संभोगमात्रेपि परिहरति प्रियतमः । इमां तु केवलं चाटुबुद्ध्येव एवंविषेषविष्णुम् स्थानेषु चुम्बति, किं पुनर्मनसिजोन्मादमत्तः’ इति सपनीः अति व्यञ्यते ।

नाधुना सेयं पूर्ववद्विलासपरेरति कामुकजनान्सूचयन्ती दूती आह—

वीसत्थहसिअपरिसक्तिआण्ँ पठमं जलञ्जली दिण्णो ।  
पच्छा वहूअ गहिओ कुडम्बभारो णिमञ्जन्तो ॥ ६ ॥

[ विस्वब्धहसितपरिक्रमाणां प्रथमं जलाञ्जलिर्देत्तः ।  
पश्चाद्वध्वा गृहीतः कुडम्बभारो णिमञ्जन् ॥ ]

दत्तो विस्वब्धहसितपरिक्रमाणां जलाञ्जलिः प्रथमम् ।  
पश्चाद्वध्वा मञ्जन् कुडम्बभारो गृहीतो हि ॥ ६ ॥

परिक्रमः सविलासं चक्रमणम् । प्राकृते 'परिसङ्गिभिर्म्' परिक्रमणम् । मज्जन् अवनांति गच्छन् । कुदुम्बभारानुरोधाद्विष्वव्याप्तिसादिरूपं चाच्चल्यं परिख्यज्य साम्रतं सा प्रौढचर्यामनुवर्तते इत्यर्थः । 'वच्चा' इति पदेन—श्वश्रूपभृतिगुरुजनेषु वर्तमानेष्वपि कुडुम्बस्यावनांति वीक्ष्य सैव सम्प्रति गृहय कर्त्री जातेति नात्र युष्माकमवकाश इति कामिजनान्प्रत्यभिव्यज्यते । जलाञ्जलिपदेन—दत्तजलाञ्जलिर्मृतपुरुषो यथा न पुनर्दृष्टिगोचरो भवति तथा सविभ्रमहासादयो विलासा न पुनर्भाविन इति सूच्यते ।

परिहासव्याजेन नायिकायाः सौन्दर्यं सूचयन्ती सखी आह—

गम्मिहिसि तस्य पासं सुन्दरि मा तुरअ वङ्गुठ मिअङ्को ।  
दुङ्गे दुङ्गे मिअ चन्दिआइ को पेच्छाइ मुहं दे ॥ ७ ॥

[ गम्मिष्यसि तस्य पार्श्वं सुन्दरि मा त्वरस्य वर्धतां मृगाङ्कः ।  
दुर्घे दुर्घे चन्द्रमिव चन्द्रिकायां कः प्रेक्षते मुखं ते ॥ ]

यास्यसि तस्य समीपे सुन्दरि मोत्ताम्य वर्धतां चन्द्रः ।  
कः प्रेक्षते मुखं ते ज्योत्त्वायां दुर्घमिव दुर्घे ॥ ७ ॥

मा उत्ताम्य, विलम्बेन मा खिद्यस् । मा त्वरस्त्रिय यावत् । दुर्घे मिश्रितं दुर्घं यथा न पृथक् परिचीयते तथा तव मुखं चन्द्रिकातः पृथक् न परिचीयत इत्यर्थः । वर्धतां चन्द्र इसनेन गगनमध्यमलंकर्वतः पूर्णचन्द्रस्य चन्द्रिकामुकारिणी ते मुखकान्तिरिति योखते । अत्र हि वाच्येनोपमामीलितसंकरेण चन्द्रिकावदवदातस्य नायिकामुखस्य सौन्दर्यातिशयः 'सुन्दरि' इति संबोधनसहकारात्मुतरां सूच्यते । अभिसारिकाविषये सेयमुदाहृता गाथा सं० कण्ठाभरणे ।

आमणीतनयं प्रति प्रवर्धमानं खानुरागं सूचयन्ती काचित्समानशीलं मातुलानी-माह—

जह जूरइ जूरउ णाम मामि परलोअवसणिओ लोओ ।

तह वि बला गामणिणन्दणस्स वअणे वलइ दिढ्डी ॥ ८ ॥

[ यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलानि परलोकव्यसनिको लोकः ।  
तथापि बलाङ्गामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः ॥ ]

परलोकव्यसनिजनो मातुलि यदि ताम्यतीह ताम्यतु सः ।

वदने दृष्टिर्वलते तदपि बलाद् आमणीसूनोः ॥ ८ ॥

आमणीसूनोवदने दृष्टिर्वलते अवस्थमानापि इतस्तः परिप्रम्य विवशा घटतीत्यर्थः । 'व्यसनि' पदेन—व्यसनी यथा लाभालाभावविचार्यैव रागान्धस्तत्रासञ्जयते तथा परस्परकाटाकाशनिरीक्षणायैहलौकिकसुखलाभमनिरीक्षयैव परलोकार्थं मुखा व्यप्रोर्यं लोकः, तथा च परलोकानपेक्षैव मे तस्मिन्नासक्तिरिति अन्यते ।

नाथिकायाः प्रणयातिशयं प्रतिपादयन्ती दूती नायकं प्रस्ताह—

**गेहं व विचरहिअं पिज्जरकुहरं व सलिलसुष्णविअम् ।**

**गोहणरहिअं गोदुं व तीअ वअणं तुह विओए ॥ ९ ॥**

[ गृहस्मिव विचरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।

गोधनरहितं गोष्टस्मिव तस्या वदुनं तव वियोगे ॥ ]

**गृहस्मिव विचरहितं निर्झरकुहरं च सलिलशून्यस्मिव ।**

**तद्वदनं तव विरहे गोधनरहितं हि गोष्टस्मिव ॥ ९ ॥**

अस्तीति शेषः । अत एव न शोभत इति भावः । तद्वदनं तस्याः ( नाथिकायाः ) वदनम् । 'कुहर' पदेन-जलप्रवाहाभावे निर्झरावकाशः केवलं भयानको गर्त एवेति सूच्यते । तथाच-गृहादिषु यथा वित्ताद्येव सर्वस्मृतः । वित्तादीनामभावे तेषां गृहत्वादिकमेव न सिद्ध्यति । तथा त्वमेव तस्याः सर्वस्मिति प्रणयातिशयो च्वन्यते ।

लज्जापरतच्छ्रत्यैव सा निजमनोभावं न प्रकाशयितुं प्रभवति, न पुनरनुरागभावेनेति नायकसुत्कष्टयन्ती दूती आह—

**तुह दंसणेण जणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ ।**

**दुग्गामणोरहो विअ हिअआ च्चिअ जाइ परिणामम् ॥ १० ॥**

[ तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जालुकाया अनुरागः ।

दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥ ]

**लज्जालोरेतस्या हानुरागो दर्शनेन तव जनितः ।**

**दुर्गतसुमनोरथ इव याति हृदय एव परिणामम् ॥ १० ॥**

दरिद्रस्य ( सु ) उत्तमोपि मनोरथो धनाभावाद्यथा हृदय एव अवसानं गच्छति तथा तव दर्शनेन जनितो लज्जापरवशाया एतस्या अनुरागो हृदय एव पूर्णितं प्राप्नोति, लज्जावशात्तं बहिर्न प्रकटयतीत्यर्थः । तव दर्शनेन जनित उत्पादितः । पूर्वमस्या हृदि त्वद्विषयकोनुरागो नासीत्, सा त्वां यथैव दृष्टवती तथैव त्वदर्शनेन सोऽनुराग उत्पादितः । एवं च-त्वदर्शनमात्रैव सा यदा त्वद्यनुरक्तहृदयाऽभवत्तदा त्वत्समागमसुखस्य तु का कथेति नायकप्रोत्साहनं च्वन्यते । अवर्तमानतया परोक्षाया अपि नाथिकायाः कृते 'तस्याः' इत्यनुपादाय 'एतस्या' इति कथनेन-द्वानुरागा सा हृदयेन सदैव त्वामनुवर्तमानास्तीत्यत एव 'त्वया सह प्रत्यक्षस्मिवोपस्थितां तां पश्यामि' इति तदनुरागातिशयो च्वनितः । दुर्गतमनोरथोपमया-दुर्गतदशां गतस्य 'एवं चेद्गवेत्तर्हि एवमहं कुर्याम्' इत्याशया सुतरां हृदयपरितोषकमभिलाषमात्रं यथा भवति तथैव लज्जालोरस्यास्त्वत्समागमाद्याशाजनकतया सुतरामान्तरसन्तोषकोऽनुरागो हृदय एव संचरतीति समागमोत्कण्ठातिशयो च्वन्यते । दरिद्रपदस्याने 'दुर्गत'पदेन-यः पूर्वं धनिकोपि दैवात् ( डुः ) दुष्टां दशां यतः, स पूर्वमनुभूतवैभवोत्कर्षतया उच्चानभिलाषान्करोति,

धनाभावाच ते हृदय एव विलीयने, इति पूर्वानुभूतिभवानन्दस्य तस्य दुःखाति-  
शयो ध्वन्यते । दरिद्रस्य तु तावदुच्छता विचारा एव नोद्भवन्ति, अत एव न तस्य तद्वै-  
फल्यदुःखमिसाकृतम् । ततश्च—‘एवमनुरागोत्कण्ठितहृदयामपि कुलीनतया लज्जालु-  
मिमां किं न बहु मन्यसे’ इति नायकप्रोत्साहनं ध्वन्यते ।

किमेवं कृशासीति प्रवासादागल्य सहासं पृच्छन्तमन्यानुरक्तं कान्तं प्रति विरहवै-  
दनाक्षिण्ठहृदयाया नायिकाया गूढमन्युसूचकं वचनचारुर्यं कान्तिसहचरीमाह—

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।

अह गिम्हे मह पअई एवं भणिऊण ओरुणा ॥ ११ ॥

[ या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पुच्छसि हसन् ।

असौ श्रीष्टे मम ग्रकृतिरिति भणित्वावहृदिता ॥ ]

यत्पृच्छसि विहसन्मां तनूयते या कृते नु किं ते सा ? ।

‘ग्रकृतिरसौ मे श्रीष्टे’ हन्त भणित्वैवमवहृदिता ॥ ११ ॥

या खी दुर्बला भवति सा किं नु तव कृते त्वज्ञिमितम् ? यन्मां दौर्बल्यकारणं सहासं  
पृच्छसि । या खी दुर्बला भवति सा भज्ञिमित्तमेवेति तव हृदयेऽभिमानः, परं नेदं  
तथ्यमिति भावः । तर्हि कथं कृशता, तत्राह—यदियं कृशता असौ श्रीष्टे मम स्वभाव  
इत्येवं भणित्वा अवरुहोद । नायकविरहनिमित्तस्यापि कार्श्यस्यैवमपलापेन ‘जानश्यपि  
त्वं कौतुकादिव निःक्षेपं प्रत्युत सहासं मां पुच्छसि, तर्हि किं ते तत्कथनेन’ इति गूढ-  
कोपेभिव्यज्यते । ‘तनूयते’ इत्याचारार्थकक्षया—‘त्वं खयं कपटीति मनसि मन्यसे  
यद् वास्तवे तथा असल्यपि मत्तेभप्रदर्शनार्थम् उपरितः कृशेव आचरति इति, परमिदं  
दौर्बल्यमेव त्वत्कारणकं नास्ति यस्याभिनय आवश्यको भवेत्’ इति गूढकोपेपालम्भो  
व्यज्यते । ‘या दुर्बला भवति सा किं सर्वापि त्वज्ञिमितम्’ इति कथनेन ‘बहीषु तव  
प्रणयः, अत एव त्वद्विरहे तासां दौर्बल्येन त्वया ममापि दौर्बल्यं त्वत्कारणकेवालु-  
मितमेवं च बहुत्र विभक्तप्रणयत्वादेव निरनुक्रोशतया साम्रतमपि सहास्योसि’ इति गूढे-  
पालम्भो ध्वन्यते । भणित्वा न तु संभाष्य, तथा च रुक्षकथनेन कोपो व्यज्यते ।  
विरहवैदनासहनेन प्रतीक्षणौत्सुक्यमर्षणेन च तनूकृतशरीरा पूर्वमेव क्षिण्ठहृदयाभूत,  
इदानीमेवंविधप्रश्नेन उदितस्य कोपस्य सुभूशं गोपनेपि स दुःखावेगो न सहोऽभवदिति  
बलाद्रोदनगुदभवदिति नायिकाया हृदयमार्दवमभिव्यज्यते । ‘एवम्’ पदस्य ‘इति’  
गङ्गाधरकृता छाया तु विच्छायैव । ‘अह’ इति ‘असौ’ अर्थे देशी ।

अविश्रान्तं प्रियपरिरम्भमभिलषन्ती नितान्तं प्रणयपथमनुयान्तं कान्तं प्रस्तन्याप-  
देशविधयाह—

वण्णकमरहिअस्स वि एस गुणो णवरि चित्तकम्मस्स ।

णिमिसं पि जं ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवजढो ॥ १२ ॥

[ वर्णक्रमरहितस्याप्येषु गुणः केवलं चित्रकर्मणः ।

लिमिषमपि यज्ञ सुच्छ्रुति प्रियो जनो गाढसुपगृहः ॥ ]

वर्णक्रमरहितस्याप्येषु गुणश्चित्रकर्मणो ह्येव ।

सुच्छ्रुति न लिमिषमपि यत्प्रियो जनो गाढसुपगृहः ॥ १२ ॥

हरितपीतादिवर्णविन्यासरहितस्यापि, अर्थात् रजविन्यासमकृत्वा केवलं मसीरेखा-भिरैवोत्कीर्णस्यापि । चित्रकर्मण एव आलेख्यस्यैव केवलमयं गुणो यत् प्रियया गाढसु-पगृहः प्रियः प्रियां लिमेषमात्रमपि न सुच्छ्रुति । चित्रे लिखितः प्रिययोपगृहः प्रियः प्रियां क्षणमपि न सुच्छ्रुतीत्याशयः । प्रियो न सुच्छ्रुतीत्युक्त्या—अहं तु मनसा न सुच्छ्रु-म्येव परं भवानपि मां न सुच्छ्रुदिति ममाभिलाष इति सार्वदिकगाढप्रणयार्थं प्रार्थन-मभिव्यज्यते । चित्रकर्मण एव गुणस्तवनेन—अयमिलाषश्चित्रकर्मणैव पूरपीयो न भूत्वा प्रत्यक्षमपि परिणतो भवेदिति प्रियं प्रति गूढमाकूतमभिव्यज्यते । ‘यद्वा वर्णक्रमो गुणविशुद्धिरप्मप्त्वा तद्रहितस्य । चित्रस्य विचित्रस्य कर्मणः । धर्माधर्मादिरूपस्येत्यर्थः । आत्मा धर्माधर्मादिकं क्षणमपि न सुच्छ्रुतीत्यर्थः । केविचित्तु ब्राह्मणादिवर्णक्रमरहितस्यापि ‘चित्तजन्मनो’ चित्तजन्मनो मन्मथस्यायं कोपि गुणो येन प्रियः प्रियां क्षणमपि न त्यजतीत्यर्थं इति व्याचक्षते” इति पूर्वार्थे अस्पष्टप्राया गङ्गाधरटीका ।

दाक्षिण्येनोपभोग्यां नवोढां कश्चिदविदर्घो रमयतीत्यन्यापदेशविधया निजसहचरीं काचिदाह—

अविहत्तसंविवन्धं पदमरसुब्मेअपाणलोहिणी ।

उव्वेलिउं ण आणह खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥ १३ ॥

[ अविभक्तसंविवन्धं प्रथमरसोद्देदपानलुब्धः ।

उद्देष्टितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं अमरः ॥ ]

अविभक्तसंविवन्धं प्रथमरसोद्देदपानलोभिष्ठः ।

नोदेष्टितुं बोधति भनक्ति कलिकामुखं अमरः ॥ १४ ॥

सर्वप्रथमो यो रसोद्देदो मकरन्दोद्दमस्तत्पाने अतिलुब्धो अमरः । न विभक्तः पत्रिकाणां सन्धिवन्धो यस्मिन्नीदर्शं कुमुककलिकाया मुखम् उद्देष्टितुं विकासयितुं तु न जानाति किन्तु तद्द्वनक्ति सरभसप्रवृत्त्या तत्खण्डयतीत्यर्थः । विकासाभावात्पत्रिकाणमपि (‘पैंखडी’) यत्र सन्धिविभागो न जातस्तादर्शं कलिकामुखं रसपानलालसाव्ययो भूषपः कदर्थयतीत्यर्थः । रसपानलोभिष्ठ इति वक्तव्ये रसोद्देदपानलोभिष्ठ इत्युत्त्या—प्रथमप्रथमं यो रसोद्देदस्तस्तमय एव रसपाने लुब्धः, अर्थात् उद्दिद्यमानावस्थायामेव रसपाने लोभस्तथा च रसस्य सद्यस्तक्तया लोभनीयतातिशयो व्यञ्जयते । अनेन च कलिकामधुपवृत्तान्तेन—‘अन्तःसन्धीनां यत्र विभागो न जातस्तादर्शं नवोढानायिकाया गोप्यमङ्गं रसतुकूलतायामभिसुखीकर्तुं तु न जानाति किन्तु प्रथमरतिलालसान्धः

केवलं पीडयतीति नायकवृत्तान्तो व्यज्यते । विकासयितुं न जानातीत्युक्त्या—‘रति विदधाः नवोदां बालामपि वैदरध्योपायैरपरिखेदरतियोगयां विदधते’ इति नायकवै-दरध्यं सूच्यते । ‘उद्देश्यितुं विकासयितुम्’ इति गङ्गाधरः । चलनार्थकस्याणिजन्तस्य केवलं ‘वैल’ धातोरयमर्थों दुरुपपाद एव ।

विपरीतरामिलाषुकः कश्चित्प्रियथमामुत्साहयचाह—

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलियचिहुरासु ।

पुरिसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ १४ ॥

[ ईषद्वेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु ।

पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥ ]

दरवेपनोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु ।

पुरुषायितासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥ १४ ॥

ऊरुग एव सकलभरसमर्पणात्-दरवेपनम् ईषत्कम्पनशीलम् ऊरुगं यासां तासु । वेपनमित्यत्र नन्यादित्वाद्युः । सज्जायुधपदेन-मोहन-वशीकरणादिकामशराणा यत्फलं तदनुपदमेव भवतीति सूच्यते । तिष्ठति-विहरतीत्यादनुपादाय ‘वसति’ पदेन-गृहबुद्ध्या निर्विशङ्कमव्यभिचरितं चावस्थितिर्व्यज्यते । ‘प्रिया’ इत्युक्त्या ‘एवंविधरतैः प्रियतमस्य हृदि भुतरां प्रीतिर्भवति, तथा च त्वं यदि मत्त्रीति कामयसे तर्हि खीकुरु मत्प्रार्थनामिलात्मामिलाषो ध्वन्यते । पुरुषायितसोदाहरणे परिगृहीतेयं गाथा स० कण्ठाभरणे (५ परि.) ।

‘मम सुखानुकूलं नाचरसि’ इत्यादन्यनायिकासक्ततया पदे पदे उपालभमानं प्रिय-तमं प्रति काचित्साकूतमाह—

जं जं ते ण सुहाइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तम् ।

अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तम् ॥ १५ ॥

[ यद्यत्ते न सुखायते तत्तच्च करोमि यन्ममायत्तम् ।

अहमेव यत्र सुखाये सुभग तर्किं ममायत्तम् ॥ ]

यद्यत्ते न हि सुखयति तत्तच्च करोमि यन्ममायत्तम् ।

सुखयामि यद्वमेव न सुभग तु तर्किं ममायत्तम् ॥ १५ ॥

अहमेव यत्र यदि न सुखयामि सुखमुत्पादयामि हे सुभग ! तर्किं तु ममाधीनम् ? अपि तु नेतर्यः । सुभगेत्यामन्वयेन ‘अन्यनायिकाश्रीतिमुपलभ्य सौभाग्यगर्वितस्य ते सम्प्रत्यहमेव चक्षुःश्लगिता’ इत्युपालम्भो ध्वन्यते । ममाऽनधीनमित्युक्त्या-संप्रति नाहं तव प्रीतिकारणी, ततोपि दैवपरतत्वा दुःखं जीवामीति गृहकोपोभिव्यज्यते ।

दर्शनादिषु लज्जापरतत्वामपि मां कथालापस्ते सुखयतीति नायकं समुत्साहयन्ती काचिलज्जास्वभावमाह—

व्यापारविसंवादं सअलावअवाणं कुणइ हअलज्जा ।  
सवणाणं उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुञ्जाइ णिओअम् ॥१६॥

[ व्यापारविसंवादं सकलावयवानां करोति हतलज्जा । ]

श्रवणयोः पुनर्गुरुसंनिधावपि न निरुणद्वि नियोगम् ॥ ]

व्यापारविसंवादं सकलाङ्गानां करोति हतलज्जा ।

गुरुपुरतोपि श्रवसोः पुनर्नियोगं न निरुणद्वि ॥ १६ ॥

हतेयं लज्जा नेत्रादिसकलावयवानां व्यापारविधातं करोति । किन्तु गुरुजनानां संनिधावपि श्रवसोः कर्णयोर्नियोगं व्यापारं न निरुणद्वि । गुरुजनानां लज्जावशाद्भवन्तं विलोक्यतुमपारयन्त्यपि त्वक्तथाश्रवणे सामिलाषा तिष्ठामीत्याशयः । ‘त्वदनुरक्त्याः पद्य मे हार्दिकं प्रणयम्’ इति नायकं प्रति प्रोत्साहनमभिव्यज्यते । ‘लदासक्ततया नेत्रादिव्यापारः सर्वं एव विसंवादं प्राप्तः । केवलं श्वशुरादिसंनिधावपि त्वक्तथाश्रवणे श्रवणौ व्यापारयतीति नायकं प्रति दूतीवचनमिदमिति कथित् ।

दयितसमागमनिमित्तमतितमामाद्वासिता विरहवेदनाव्यथिता प्रोषितभर्तृका काचि-  
त्सखीः प्रस्ताव—

किं भणह मं सहीओ मा मर दीसिहइ सो जिअन्तीए ।  
कज्जालाओ एसो सिणेहमग्गो उण ण होइ ॥ १७ ॥

[ किं भणथ मां सख्यो मा छियस्ख द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।

कार्यालाप एष खेहमार्गः पुनर्न भवति ॥ ]

किं भणथ मां तु सख्यो छियस्ख मा द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।

कार्यालापः सोयं भवति पुनः खेहमार्गो न ॥ १७ ॥

भवतीनामाद्वासनया दयितविरहेपि यदिदं दुःखदवदरधं जीवनमतिनीयते सोयं केवलं कार्यपर्यालोचनस्य पन्थाः । ग्रहिलः लेहसु कार्यं न पर्यालोचयतीति भावः । तथा च-खेहमार्गविमुखामपि कार्यदृष्ट्या जीवितं धारयन्तीं स्वार्थिनीं धिङ् मासिलात्मावधी-रणया दयितालम्बनो रतिप्रकर्षः प्रवोत्यते । जीवन्त्या एव द्रक्ष्यते अनेन-‘मरणपर्य-न्तमपि दयितस्यैवैकान्तभावनया मरणोत्तरं लोकान्तरे जन्मान्तरे वा तु सोऽवश्यं त्वया द्रष्टुमिष्ट एव परं ‘मोक्षाम्य, आगतप्रायस्ते ब्रेयान्, जीवन्ती एव तं द्रक्ष्यसि’ इति जन्मजन्मान्तरानुवर्ती इडः खेहोभिव्यज्यते । ‘द्रक्ष्यते’ इत्यनेन विरहोत्तरं गृहागमने संगमादि न वाञ्छित्वा दर्शनमात्रलालसया प्रियप्रेमातिशयः प्रकाशयते ।

हठप्रणयमपि ब्रेयसीमबहुमन्यमानं नायकमुपालभमाना नायिकासखी साकृतम-  
न्यापदेशोनाह—

एकछमओ दिढीअ मइअ तह पुलइओ सअङ्गाए ।

पिअजाअस्स जह घणुं पडिअं वाहस्स हत्थाओ ॥ १८ ॥

[ एकाकी सूर्यो दृष्ट्या मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया ।  
प्रियजायस्य यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात् ॥ ]

एकाकीसूर्यो मृग्या तथा हि दृष्टः सतृष्णया दृष्ट्या ।  
प्रियजानैर्विपतितं व्याधस्य धनुर्यथा हस्तात् ॥ १८ ॥

एकाकी स्वविरहितः । प्रियजाने: प्रिया जाया यस्य तादशस्य व्याधस्य हस्तात् ।  
अथं भावः—मृगमिथुनं जिङ्गासतो व्याधस्य बाणलक्ष्मीभूतया मृग्या स्वसरणभयमप्य-  
विगणद्य मृगस्तथा प्रेमपूर्णया सतृष्णया दृष्ट्या विलोकितो यथा स्वप्रणयिर्नां स्परतो  
व्याधस्य हस्ताद्धनुः स्वयमेव दशावशाचिपतितम् । मरणसमयेषि स्वचिन्तामकृत्वा  
प्रियतमैकचित्ता: जियो भवनन्यहो छीजार्तेहृदप्रणयतेति मृगीविलोकनेन स्वजायासमर-  
णात् व्याधस्य स्नेहदयोदयो जात इति भावः । अतिपामरो हिंसोपि व्याधः स्त्रीणां प्रण-  
यपरिचयं प्राप्य प्रेयसीं बहु मन्यते, न पुनर्नागरंमन्योपि त्वं तथेति नायकं प्रत्युपा-  
लम्भो व्यज्यते । ‘मन्दज्ञेहं निष्करुणं च नायकमुपालब्धुमन्यापदेशेन काचिदाह’  
इति गजाधरः । मृग्याश्चकुर्विभालनेनात्मीयप्रियाविलोचनमनुसरतो व्याधस्य हस्ता-  
त्करुणया धनुः पतितमित्यर्थः । इति त्रीका ।

स्वस्मिन्याः सौन्दर्यतिशयं सूचयन्ती दूती चलवृत्तं नायकमन्यापदेशेनोपालभ-  
माना साकृतमाह—

णलिणीसु भमसि परिमलसि सचलं मालइं पि णो मुआसि ।  
तरलत्तरं तुह अहो महुअर जइ पाडला हरइ ॥ १९ ॥

[ नलिणीषु अमसि परिमुद्रासि ससप्तलां मालतीमपि नो मुञ्चसि ।  
तरलत्वं तवाहो मधुकर यदि पाटला हरति ॥ ]

अमसि नलिणीषु मुद्रासि ससप्तलां मालतीं न मुञ्चसि यत् ।  
तरलत्वं तव मधुकर हंहो यदि पाटला हरति ॥ १९ ॥

‘ससप्तला नवमालिका’ इत्यमरः । असति लामे कासांचिन्मण्डले अमस्येव, सख्यसरे  
कांचिन्मर्दयसि, कांचिच्च वचनादिनैव संब्रह्मसि, एतत्तत्र चाच्छत्यं यदि सा सत्यं पाटल-  
त्वर्णा ( अतिशयितसौन्दर्या ) तर्ह्यवश्यं हरेदिति भावः । नानानायिकासु अमणशी-  
लस्त्वं नैकत्र तृप्यसि, अहो ते चलवृत्तत्वमिति ‘हहो’ पदसहकारेण ध्वन्यते । परं  
सर्वातिशयिनी मत्खामिनी त्वां वशीकरिष्यतीति नायिकाशुगुणातिशयः सूच्यते । अमसि  
मुद्रासीति लट्प्रलयेन-पूर्वानुवृत्तां चर्यां सांप्रतमपि न ल्यजसि, प्रलक्षमिदानीमप्यस्ति  
सेति व्यज्यते ।

कञ्जुलिकाद्वलात्किञ्चिद्वलोक्यमानं कस्याश्रित्कुचयुगलमालोक्य साभिलाषः कश्चित्  
शृणवन्न्यां तस्या सहचरं प्रति सपरिहासमाह—

दोअङ्गुलअकवालअपिणद्वसविसेसणीलकञ्चुइआ ।  
दावेइ थणतथलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणम् ॥ २० ॥

[ द्वयुलकपाटकपिनद्वसविशेषनीलकञ्चुकिकवा ।

दर्शयति स्तनस्थलवण्णिकामिव तरुणी युवजनेस्यः ॥ ]

घङ्गुलललितकपाटकपिनद्वसविशेषनीलकञ्चुलिका ।  
स्तनदेशवण्णिकासिव तरुणी परिदर्शयति युवजनेस्यः ॥ २० ॥

घङ्गुलपरिमितं ललितं कपाटकं यस्यां तथाविधा पिनद्वा नीला कञ्चुलिका यथा सा ।  
कपाटवत्पार्श्वद्वयदर्शकं यत्कञ्चुलिकाबन्धनस्य सन्धिमध्यस्थले रिक्तं स्थलं भवति तत्क-  
पाटकमित्युच्यते । तथा च तत्र स्तनैकदेशदर्शनात्स्तनयोर्वण्णिकासिव दर्शयतीत्युद्देश्यते ।  
कस्यचिद्वस्तुनः परीक्षार्थं यद्वस्त्वेकदेशग्रदर्शनं तद्वण्णिकेत्युच्यते । ‘बानरी’ इति भाषा ।  
अनया चोटेक्षया ‘वण्णिका’ प्रदर्श्य वणिग् यथा प्राहकानुकूलयति, तथा त्वमपि युव-  
कानुत्कण्ठयसि, ततश्च त्वं प्राहकान्वेविणी भ्रमसीति’ तां प्रति परिहासो ध्वन्यते ।  
‘मामेवानुगृहण’ इत्यात्माभिलाष्टश्वरमं व्यङ्ग्यम् । ‘कामुकजनप्रलोभनाय दूती नायि-  
कायाः स्तनौ वण्णयतीति’ गङ्गाधरावतरणम् । ‘कपाटकेन पिनद्वा नीलकञ्चुको यस्याः  
सा’ इत्यादि तटीका ।

कस्याश्वित्रोषितपतिकाया दशां तत्कान्तसमीपगामी पान्थो वर्णयति—

रखेइ पुत्रां मत्थएण ओच्छोअर्अं पडिच्छन्ती ।

अंसुहिं पहिअघरिणी ओछिज्जन्तं ण लकखेइ ॥ २१ ॥

[ रक्षति एवुक्रं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती ।

अश्रुभिः पथिकगृहिणी आदीभवन्तं न लक्षयति ॥ ]

रक्षति पुत्रं शिरसा पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती ।

आदीभवन्तमश्रुभिरथ पथिकवधूर्नं लक्षयति ॥ २१ ॥

‘ओच्छोअथम्’ छदिःप्रान्तजलवाचको देशी । छदिः प्रान्तप्रकृतं वर्षजलं निज-  
शिरसा प्रतीच्छन्ती सहमाना पथिकवधूः पुत्रं रक्षति । प्रियस्मरणोत्कण्ठाजनितैरश्रुभि-  
रादीभवन्तं तु तं न लक्षयति । स्वयं वर्षजलसहनेन निजशरीरीरोपर्यथलाक्षयकविर-  
हवेदनातिशयो व्यज्यते । अश्रुभिरादीभवन्तं न लक्षयतीत्यनेन-अङ्कारोपितपुत्रा  
प्राशुडागमनोद्विलितचित्ततया निरन्तरं प्रियतममेव ध्यायन्ती सर्वमन्यद्विस्मरतीति  
तस्या एकतानतातिशयो व्यज्यते । ‘त्वद्गुद्ध्यानपरामेनां त्वरितमुपगच्छ’ इति तद्यथितं  
प्रति चरमं व्यङ्ग्यम् । ‘प्रतीकारोपि क्वचिदपकारय भवतीति निर्दर्शयन्कश्चित्सखायमाह’  
इति गङ्गाधरः ।

संकेतितस्य सरस्तीरस्य पथिकाक्रान्ततया संकेतान्तरमेव संप्रति संप्रधारणीयमिति  
जारे श्रावयन्ती कापि शरद्वैष्णव्याजेनाह—

सरए सरमिम पहिआ जलाइँ कन्दोदृसुरहिगन्धाइँ ।  
धवलच्छाइँ सअहा पिअन्ति दइआण व मुहाइँ ॥ २२ ॥

[ शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलसुरभिगन्धीनि ।

धवलाच्छानि सतृष्णाः पिबन्ति दयितानामिव मुखानि ॥ ]

शरदि सरसीह पथिका जलानि नीलाङ्गसुरभिगन्धीनि ।  
धवलाच्छानि सतृष्णाः पिबन्ति दयितामुखानीव ॥ २२ ॥

इह सरसि । ‘कन्दोदृ’ नीलोत्पलम् । तत्संपर्काद् प्राणतर्पणगन्धानि, धवलानि च तानि स्वच्छानि च जलानि । सतृष्णाः सपिपासाः पथिकाः । नीलाङ्गबत् सुरभिगन्धीनि, ‘धवलच्छाइँ’ धवलाक्षाणि ( धवलनयनानि ) दयितानां मुखानीव सतृष्णाः सलालसाः पिबन्ति । दयितामुखसमानगुणानि जलानि पिबन्तः पथिकाः प्रवासे सुदुर्लभं दयितामुखपानमध्यसन्ति, अत एव तेषां तत्समये सतृष्णता ( साभिलाषता ) भवतीति भावः ।

कर्दमभयान्नायिकां नाभिसरन्तं नायकं प्रति मार्गस्य सुलभतां प्रतिपादयन्ती दूती  
तत्परोचनाय नायिकायाः प्रणयातिशयं व्यङ्ग्यविधया प्राह—

अब्भन्तरसरसाओ उपरि पद्माअवद्धपङ्काओ ।

चङ्गममन्तमिम जपे समुस्सन्ति व रच्छाओ ॥ २३ ॥

[ अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातवद्धपङ्काः ।

चङ्गममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्याः ॥ ]

अप्यभ्यन्तरसरसाः प्रवातपरिवद्धकर्दमा उपरि ।

चङ्गममाणे लोके समुच्छ्वसन्तीव किल रथ्याः ॥ २३ ॥

अभ्यन्तरे सरसा अपि, उपरि प्रवातेन प्रकृष्टवातेन परितो बद्धो दृढधनीभूतः कर्दमो यासु ताः रथ्याः । लोके जने यातायातं कुर्वति सति समुच्छ्वसन्तीव । अन्तराद्रत्वेषि उपरितः प्रवातेन विशुष्कबद्धपङ्कासु रथ्यासु लोकानां पदभारैरेकत्र निष्पीडिताद्रभूभागतया अपरत्रोद्दिवेषु रन्द्रेषु य ऊर्मा निस्सरति तत्रोच्छासस्योद्येश्वा । अत्र समासोक्तिविधया ‘प्रवातप्रायगुरुजनभयेनोपरि रूक्षत्वेषि अभ्यन्तरे सानुरागा मे स्वामिनी भवदर्थसुकृपिण्ठता आहानाय मां संप्रेष्य साम्रतसुच्छ्वसिति, किमित्येनामविलम्बितं नोपगच्छसि’ इति नायकं प्रलभिव्यज्यते । ‘चङ्गममाणे’ इति प्राक्कनटीकाकृतामनुरोधादेव । अनुपर्सर्गादपि यद्भुगन्तात्कमेरात्मनेपदे विचार एव ।

पिष्टकणवकीणौ कस्याश्रित्कुचौ कामयमानः कश्चित्कामुकः सहचरं प्रति सकौतुकमेवं वर्णयति—

मुहुपुण्डरीअङ्गाआइ संठिआ उअह राअहंसे व ।

छणपिद्गुद्गुच्छलिअधूलिधवले थणे वहइ ॥ २४ ॥

[ मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव ।

क्षणपिद्गुद्गुच्छलिअधूलिधवलौ स्तनौ वहति ॥ ]

मुखनलिनच्छायायां हंसाविव संस्थितौ निरीक्ष्यध्वम् ।

क्षणपिद्गुद्गुच्छलिअधूलिधवलितौ स्तनौ वहति ॥ २४ ॥

क्षणे उत्सवदिवसे पिष्टस्य गोधूमादिचूर्णस्य कुट्टेनोच्छलितया धूल्या धवलौ स्तनौ, मुखकमलच्छायायां स्थितौ हंसाविव वहतीति निरीक्ष्यध्वम् । दिवसान्तरे तु कर्मकरादिभिरवंविधकार्याणि क्रियन्ते परमद्योत्सवकार्यबाहुल्यादिदं स्यं कर्तव्यमभूदिति 'क्षण, पदेन सूच्यते । संस्थिताविति 'सम्' उपसर्गेण-छायायां सम्यक् मुखपूर्वकं पृष्ठपरावर्तितकन्धरं पक्षपुटावच्छादितमुखतया विश्रब्धमवस्थितिः सूच्यते । अत एव वरुलयोः स्तनयोः साम्यम् । हंसाविवैत्युपमया-एवंविधयोहंसयोर्यथा ग्रहणे सौकर्यं तथानयो-रपीलात्माभिलाषो व्यज्यते ।

'अनयोरान्तरिकोनुरागो मया विदितः' इति ख्वैदरव्यं प्रथयन्नागरिकः कयोश्चित्परस्परावलोकनं वर्णयति—

तह तेणवि सा दिङ्गा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिङ्गी ।

जह दोण्ह वि समअं चिअ णिवृत्तरआइ जाआइ ॥ २५ ॥

[ तथा तेनापि सा दृष्टा तथापि तथा तस्मै प्रेषिता दृष्टिः ।

यथा द्वावपि सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ ॥ ]

तेन तथा सा दृष्टा तथापि द्वक् प्रेषिता तथा तस्मै ।

द्वावपि सममेव यथा निर्वृत्तरतौ तु संजातौ ॥ २५ ॥

सममेव एककालमेव । निर्वृत्तरतौ पूरितरतमुखौ जातौ । इवार्थमिव सूचयन् 'तुः' । शृणति जारे स्वस्याभिसाररसिकतां सूचयन्ती काचित्कुलटा ग्रीष्मतुमेवमभिनन्दति—

वाउलिआपरिसोसण कुडङ्गपत्तलणसुलहसंकेअ ।

सोहगकणअकसवडु गिम्ह मा कह वि द्विजिहिसि ॥ २६ ॥

[ स्वलपस्तातिकापरिशोषण निकुञ्जपत्रकरण सुलभसंकेत ।

सौभाग्यकनककषपडु ग्रीष्म मा कथमपि श्रीणो भविष्यसि ॥ ]

लघुवापिकाविशोषण निकुञ्जदलकरण सुलभसंकेत ।

सौभाग्यकनकनिकष क्षेष्यसि हे ग्रीष्म कथमपि मा ॥ २६ ॥

लघुवापिकानां विशोषक ! निकुञ्जेषु पत्राणामुत्पादक ! अत एव सुलभसंकेत ! अत एव कारणात्सौभाग्यरूपस्य कनकस्य परीक्षायै निकषपद्मस्थानीय हे ग्रीष्म ! कथमपि

मा क्षीणो भविष्यति । सुवर्णेण्य परीक्षा यथा निकषपाषाणे भवति तथा लोकानां सौभाग्यस्य परीक्षा ग्रीष्मे भवति । संकेतसौकर्यसाधकेपि ग्रीष्मे यस्या न सुरतसुखसमुपलिथस्तर्हि न तस्या: सौभाग्यमिति भावः । एवं च सुरतसुखलैल्यमात्मनो व्यन्यते । ‘वाउलिआ’ शब्दः स्वल्पखातिकार्यां देशी । ‘स्वल्पखातिकार्यां परिशोषणेन निकुञ्जानां पत्रसंपत्त्या च सुलभः संकेतो यत्र स तथेति ग्रीष्मसंबोधनमिति’ पूर्वार्थमेकं पदं मन्वानो गजाधरभट्टः ।

कायहेशपरीक्षणकपटेन कुटिलैः हेशमानं गुणिनं निजगुणज्ञतया प्रोत्साहयन्ती काचिदन्यापदेशेनाह—

**दुस्सिक्खिअरअणपरिक्खएहिं घिङ्गोसि पत्थरे तावा ।**

**जा तिलमेत्तं बडूसि मरगआ का तुज्ज्ञ मुल्कहा ॥ २७ ॥**

[ हुःशिक्षितरत्तपरीक्षकर्वृष्टोऽसि प्रस्तरे तावत् ।

यावत्तिलमात्रं वर्तेसे मरकत का तब मूल्यकथा ॥ ]

मरकत रत्तपरीक्षकपाशै वृष्टोसि प्रस्तरे तावत् ।

का तब मूल्यकथा किल तिलमात्रं वर्तेसे यावत् ॥ २७ ॥

रत्तपरीक्षकपाशैः अतत्त्वज्ञर्दुर्विदर्घैश्च रत्तपरीक्षकमन्यैः । याये पाशप् । यावत्त्वं तिलमात्रमप्यसि तावत्तवास्मिन्मामे को वा मूल्यं निर्धारयितुं समर्थं इति भावः । तथा च ‘एते न ते गुणान् जानते, अहं तु तब गुणान्परिचीय सुभशमनुरक्तास्मि’ इति गुणिनं प्रति धोखते । ‘दुर्जनसंसर्गाद्विभं गुणशालिनं विदर्घा काप्यन्यापदेशेन प्रवृत्तिपाठ्वार्थमाह’ इति गजाधरः ।

ग्रामनायकसूनोः शौर्यं प्रदर्श्य पराक्रमैकपक्षपातिर्नीं काचिन्मामिनीभुद्गूल्यन्ती दूती आह—

**जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्गइ जह अ तस्स पडिवक्खो ।**

**बालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पछी ॥ २८ ॥**

[ यथा चिन्तयति परिजन आशङ्कते यथा च तस्य प्रतिपक्षः ।

बालेनापि ग्रामणीनन्दनेन तथा रक्षिता पछी ॥ ]

चिन्तति यथा परिजनस्तत्प्रतिपक्षो विशङ्गते च यथा ।

ग्रामणिसुतेन गुप्ता बालेनापि हि तथा पछी ॥ २८ ॥

प्रबलेष्वेतावत्सु प्रतिपक्षेषु कथमनेन बालेन रक्षा कर्तव्येति लेहवशः परिजनश्चिन्तयति । इदिकरणाद्वैकल्पिको णिच् । ‘नायमस्मान्कदाच्चिदाकम्य परिभवेत्’ इति प्रतिपक्षो विशेषेण शङ्गते । गुप्ता रक्षिता । बाल्येष्यस्यैतादृशं शौर्यमासीदिदानां पूर्णयोवने तु किं वक्तव्यमिति नायिकां प्रत्यभिव्यज्यते । भूतकालिकघटनायामपि ‘चिन्तति शङ्गते’ इति वर्तमानप्रयोगस्तु ‘सा घटना मन्यनयोरिदानीमपि वर्तमानेव’ इति

प्रत्यक्षद्वृन्दिजविश्वसनीयताप्रदर्शनार्थम् । ‘पश्चीनिवासिन्या विलासिन्या दूती पश्चीभज्ञ-  
शङ्कयानागच्छन्तं तत्कान्तं तत्समीपगमनायोत्साहयितुमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।  
‘कथमनेन बालेन रक्षा कर्तव्येति परिजनश्चिन्तयति । बालोयमसाभिर्ग्राह्य इति  
प्रतिपक्षश्चिन्तयतीत्यर्थः’ इति तटीका । भयं क्रोडे कुर्वतः ‘आशङ्कते’ पदस्य सोयमर्थो  
विचार्य एव ॥

शृण्वतीष्वन्यासु व्याधरमणीषु निजसौभाग्यख्यापनाय प्रियतमस्य पराक्रमं प्रत्यावै-  
दयन्ती व्याधवधूश्चित्रमृगचर्मे पृच्छन्तं पथिकं प्रत्याह—

अणोसु पहिअ पुच्छसु वाहअपुत्तेसु पुसिअचम्माइं ।  
अम्हं वाहजुआणो हरिणेसु धणुं ण णामेइ ॥ २९ ॥

[ अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृष्ठतचर्माणि ।

अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥ ]

अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृष्ठतचर्माणि ।

अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥ २९ ॥

दुर्बलानां हरिणकानां चर्मोत्पाटनद्वारा ये जीविकामर्जयन्ति ते व्याधा अपि वीर-  
व्याधापेक्षया कुत्सिताः, अत एव व्याधकास्तत्पुत्रेषु । तत्पुत्रेष्वित्युक्त्या-पितृद्वारा की-  
र्तीनीयत्वात्पि नोत्तमा इति अवहेला सूच्यते । पृष्ठतः श्वेतविन्दुयुक्तश्चित्रमृगः ‘चीतल’  
इति भाषया ख्यातः । हे वणिगित्यादिस्थाने-पथिकेत्यामच्छणेन केवलं चर्मवाणिज्य-  
मेव न तबोद्देश्यम् अपि तु पथिलङ्घनमपि ते कर्तव्यमेव, अत एव अन्यव्याधकुदुम्ब-  
प्रश्नार्थं मार्गवर्तिस्थानान्तरगमनेपि न ते क्लेश इति ध्वन्यते । व्याधयुवेत्यनेन-सर्वे-  
षपि व्याधेषु शूरताश्रयतया अयमेव एकमात्रो युवेति बहुमानो ध्वन्यते । ‘न नामयती’  
त्युक्त्या-बाणद्वारा हननेन जीविकोपार्जनस्य का कथा, निजघनुरपि न तदभिसुखी-  
करोतीति औदार्यातिशयो व्यज्यते । हरिणेष्विति जातिकीर्तनेन-‘त्वं तु पृष्ठतानामेव  
कथां पृच्छसि परं स्वर्णमय एव किं न भवेदयं तु हरिणसामान्यमेव दयनीयं सन्यत  
इति मनस्वितातिशयो व्यज्यते । अन्येष्विति-‘एवंविधास्तुच्छाः केष्यन्य एव व्याधा  
भवेयुः, नायम्’ इति गृहाभिमानसूचिका लोकोक्तिशैली । पृच्छेत्युक्त्या ‘मृगचर्म-  
क्षयणस्य तु का कथा तत्पश्चोपि नात्र वाऽछितः, सोप्यन्यत्रैव करणीयः’ इति  
ताटस्थातिशयः सूच्यते । अस्माकमित्युक्त्या-‘समप्रव्याधजातेरभिमानस्थानमेकमात्रः  
सोवै युवा च अस्मत्संबन्धी, किं वा मदधीनः’ इत्यात्मनः सौभाग्यं शृण्वतीरन्य-  
व्याधरमणीः प्रति ध्वन्यते । ‘व्याधकपुत्रेषु’ इति ध्वनिदर्शकोप्ययं पाठे गङ्गाधरानु-  
रोधात् । ‘वाहकुदुम्बेषु’ इति पुस्तकान्तरप्रसिद्धप्राकृतपाठानुसारी ‘व्याधकुदुम्बेषु’  
इति तु बन्धवानुग्रुणः ।

निजसुतस्य सततमासञ्जनकर्तीं क्षुषामसूयन्ती व्याधमाता बन्धुजनमाह—

गअवहुवेहवअरो पुन्नो मे एककण्डविणिवाई ।

तह सोऽलाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥

[ गजवधूवैधव्यकरः पुन्नो मे एककाण्डविणिपाती ।

तथा सुषया प्रलोकितो यथा काण्डसमूहं वहति ॥ ]

गजवधुवैधव्यकरः पुन्नो मे होककाण्डविणिपाती ।

सुषया तथेक्षितः किल काण्डकरण्डं यथा वहति ॥ ३० ॥

एकं काण्डं बाणं विनिपातयति स्थिपति तच्छीलः, (ततोऽपि) गजवधूनां वैधव्यकारकः, गजानां निहन्तेत्यर्थः । ‘गजवधु’ इति ‘इको हस्तोऽज्ञो’ इति हस्यः । लक्ष्यं प्रति एकमात्र एव बाणो विमोक्तव्य इति शौर्यस्त्रभावशाली मत्पुन्नोयमेकेनैव बाणेन पूर्वं मत्तमातज्ञानिजघान । संप्रति त्रीप्रसक्तस्था जातो यथा बाणसमूहं वहन्नपि न तस्मै कर्मणे प्रभुरित्याशयः । ‘गजनिहन्ता’ इति वक्तव्ये गजवधूवैधव्यकर इत्युत्तया ये गजपुज्जवा अन्यगजोत्पादने समर्थाः, येषां हनने च वहयः करिण्ये वैधव्यमेव धारयन्ति न मुनरन्नोपर्सपैषो बाज्ञा भवति, तादशान् यूथपतीन् यूथस्य संमुख एव हतवान् इति शौर्येत्कर्षणे ध्वन्यते । काण्डसंधायीति स्याने ‘विनिपाती’ इति कथनेन ‘तादशस्तस्याभ्यास आसीद्यथा संधानस्य का कथा हेलया शरं पातयन्नपि गजान् हतवान् इति तदतिशयो व्यज्यते । विनिपातीति ताच्छील्यार्थकणिनिना एकमात्रकाण्डत्यागस्तस्य स्वभाव आसीदिति शौर्यातिशयः सूच्यते । ‘पुन्नो मे’ इति मे पदप्रयोगेण ‘ईदशोरं शूरो मत्पुन्नः’ इति भमापि तत्कृतोभिमान आसीदिति ध्वन्यते । ‘ईक्षितः’ इत्यनेन ‘वशीकारिण्या दृश्या तथा दृष्टो यथा दर्शनादारभैव तत्प्रसरिं न परित्यजति’ इति दृष्टमोहकतातिशयो ध्वन्यते । वहतीलनेन बाणसमूहं भाररूपेण केवलं वहन्नेव न तु तेन किञ्चित्कर्तुं समर्थ इत्यवहेला सूच्यते । समूहस्थाने करण्डपदेनापि ‘संपूर्णा बाणाधानीमेव वहन्नपि निष्फल एव’ इति पुन्रं प्रत्यसूया ध्वन्यते ।

समरं विजित्य गृहागतस्य शश्वनिर्भिन्नस्य मनस्त्विनो भर्तुर्निजमानभज्यस्य कथाश्रवणादपि मानवशान्मृत्युर्भवेदित्याशङ्कमाना ग्रामनायकमहिषी तत्त्विवारणाय पल्ली-वासिलोकान्प्रत्याह—

विज्ञारुहणालावं पल्ली मा कुणउ ग्रामणी ससइ ।

पचजिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं पुअइ ॥ ३१ ॥

[ विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणीः श्वसिति ।

प्रत्युजीवितो यदि कथमपि शृणोति तजीवितं सुञ्चति ॥ ]

पल्ली विन्ध्यारोहं मा लपतु ग्रामणीः श्वसिति ।

उज्जीवितोथ कथमपि शृणोति यदि जीवितं तदा त्यजति ॥ ३१ ॥

पल्ली पल्लीनिवासिजनो दस्युभयाद्विन्ध्यारोहणस्य कथा न करोतु । यतोऽधुनापि

आमनायकः श्वसिति । ‘यावच्छ्वासास्तावदाशा’ इति कथनातुसारमस्मिन् जीवति लोकानां भयमेव कुत इति भावः । परं कथश्चित्प्रत्युज्जीवितः प्रत्यागतप्राणो यदि विन्ध्यारोहणकथां शृणोति तदा खाश्रितजनपलायनश्वरणेन जनितमानभङ्गोसौ अवश्यं जीवितं ल्यजति । ‘पल्ली’ पदेन ‘समओषि पल्लीवासी जनोऽस्य रक्षणीय’ इति सूच्यते । श्वसितीत्यनेन ‘यावदेकोषि श्वासस्तावत्पल्लीरक्षणमयमात्मनः कर्तव्यं मन्यते’ इति कर्तव्यनिष्ठा व्यज्यते । जीवितं ल्यजेदिति संभावनार्थकलिङ्गः स्थाने लद्ग्रयोगेण ‘जीवितत्यागस्य संभावनैव नास्ति प्रत्युत मानभङ्गे सति जीवितत्यागो निश्चितं वर्तमान एव’ इति मनस्वितातिशयो धन्यते ।

त्रिष्ठो जनो निजलेहिनो हितमनुसंधाय मरणदशायामपि भद्रमेवोपदिशतीति निर्दर्शयन् कश्चित्सहचरमाह—

**अप्याहेऽ मरन्तो पुत्रं पल्लीवर्झ पअत्तेण ।**

**मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्ञासु ॥ ३२ ॥**

[ शिक्षयति त्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन ।

मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि ॥ ]

**शिक्षयति त्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन ।**

**मम नाम्ना न यथा त्वं विलज्जसे सुत करिष्यसेऽज्ञ तथा ॥ ३२ ॥**

एवंविधप्रतापशालिन एवंविधो निर्गुणः पुत्र इति पितुर्नामग्रहणस्य पुत्रपक्षे लज्जाहेतुत्वम् । अथवा अमुकस्य पुत्रोयमिति पितुनाम्ना निर्गुण एव व्यपदिश्यते पूज्यते चेति नाम्नो लज्जाहेतुत्वम् । मत्पुत्र इति प्रसिद्ध्यन् यथा न लज्जितो भवसि तथा कार्याणि करिष्यसीत्यर्थः । आत्मगुणैः प्रसिद्धेन त्वया निजवंशमर्यादोचितान्येव कार्याणि कार्याणीति तात्पर्यम् । अङ्ग इति संबोधने । ‘अप्याहेऽ’ इत्यस्य शिक्षयति संदिशतीति वार्थः ।

प्रियग्राणाः पतित्रताः प्रणयपरिपाकेनैव ग्रेतमपि प्रियतमं प्रत्युज्जीव्य पुनः प्राप्नुवन्ति तत्प्रणयप्रमोदं किं पुनस्तस्मिन्नोषिते इति विरहविहृलां कांचिद्गद्यन्ती काचिदाह—

**अनुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्मि ।**

**वेहव्यमण्डणं कुलवहूअ सोहगगां जातम् ॥ ३२ ॥**

[ अनुमरणप्रस्थितायाः प्रत्यागतजीविते प्रियतमे ।

वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥ ]

**अनुमरणनिर्गतायाः प्रत्यागतजीवितेथ तद्विते ।**

**वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥ ३२ ॥**

अनुमरणार्थं निर्गतायाः प्रस्थितायाः सौभाग्यकं सौभाग्यरूपं जातम्, सौभाग्यमण्डनं जातमिति यावत् । करुणानन्तरे अनुभवार्थोर्यं संभोग इत्युदाहतेर्यं गाथा स० कण्ठा-

भरणे । ‘अनुकूले विधावमङ्गलान्यपि मङ्गलानि भवन्तीति निरदर्शयन्कविदाह’ इति गङ्गाधरः ।

अथरे दंशचिह्नमवलोक्य परखोसङ्गशङ्कया पश्चुकल्पानां पामरीणामपि निरपराधेपि पर्याप्ते प्रणयवादीर्घ्या भवति । ततस्तु महाकुलीनायाः प्रकामश्चिलप्रणयाया मनस्ति-न्यास्त्वयाः प्रत्यक्षप्रेक्षितव्यलीके त्वयि तु किं वाच्यम् । अतः पदप्रणामेनैवैनां प्रसादय । न पुनः कालहरणं श्रेयसे इत्यनुनयपराव्युत्तमं नायकं प्रति दूस्ताह—

**महुमच्छिआइ दद्धुं दद्धूण मुहं पिअस्स सूणोड्डम् ।**

**ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाअं गआ अण्णम् ॥ ३४ ॥**

[ मधुमक्षिकया दष्टं दद्धुा मुखं प्रियस्योच्छूनोष्ठम् ।

ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गता अण्णम् ॥ ]

दष्टं मधुमक्षिकया मुखमुच्छूनोष्ठमैक्ष्य दयितस्य ।

अन्यां वृक्षच्छायां गता पुलिन्दी किलैर्ष्यालुः ॥ ३४ ॥

आ—ईक्ष्य, दद्धु । दयितस्य न तु पत्युः । यसा हि प्रियतमेऽस्यन्तं प्रणयो भवति तस्या एव अन्याभिषङ्गशङ्कयापि प्रणयकोपे भवति । ततश्च त्वयि ददानुरागामिमां किमित्युपेक्षसे । प्रणयवतीमिमां सबहुमानमनुनयस्वेति प्रियं प्रत्यभिव्यज्यते । गत्वा सह छृतकलहा त्वत्समागमप्रतीक्षया निर्जने सा तिष्ठतीति जारं प्रति दूस्ता इत्यमुक्तिरिति कक्षित् ।

खयदूतिका पथिकं सचयन्ती सखीमाह—

**धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवृद्धमि ।**

**वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्रामे ॥ ३५ ॥**

[ धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्तलवृतौ ।

वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥ ]

धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्तलावरणे ।

**वातान्दोलनविनमितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥ ३५ ॥**

बहलैनिविडैः पत्रलैर्बहुलपत्रयुक्तैः ( वृक्षैः ) आवरणं वेष्टनं यत्र । वातान्दोलनेन विनमितवेणुगहने संबाधे । अत एव निःशङ्कमोहनं सुरतं यत्र तथाभूते गिरिग्रामे ( पर्वतोपरि निविष्टे ग्रामे ) धन्या वसन्ति । यदि त्वमभिनन्दनीयभाग्योस्ति तर्हि वृक्षावरणवेष्टिते अपरिलक्षणीयसुचिरसुरतसौख्येस्मिन् ग्रामे मया सह विहरेति पान्थं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘गिरिग्रामप्रशासाच्छलेनासती जारं प्रति खच्छन्दमिसारस्पृहामाह’ इति गङ्गाधरः ।

दशितशोभाविप्रकर्षसु वर्षासु गिरिग्रामाणां रमणीयतातिशयं प्रतिपादयन्ती काचि-त्तेषु रमणाय रमणायेज्जितं ददाति—

प्रोत्सुल्लधनकदम्बा गिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा ।  
पसरन्तोज्ञरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्रामा ॥ ३६ ॥

[ प्रोत्सुल्लधनकदम्बा निधौंतशिलातला मुदितमयूरा : ।  
प्रसरज्ञिर्ज्ञरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामा : ॥ ]

प्रोत्सुल्लधनकदम्बा निधौंतशिलाः प्रमत्तकेकिकुलाः ।  
उत्साहयन्ति निर्यज्ञिर्ज्ञरमुखरा गिरिग्रामाः ॥ ३६ ॥

प्रथमविशेषणेन संभोगस्योदीपनविभावः, द्वितीयेन सुरतसामयिकं शयनस्थलम्, तृतीयेन अन्यमनस्कतासंपादनेन सुचिरसुरतसौकर्यं संभोगानन्तरं विनोदसंभारो वा, चतुर्थेन स्वनितशिज्ञितमणितादिनिहवसौकर्यं च सूच्यते । ततश्च कामिजनमनोहरायामस्यां प्रावृषि गिरिग्रामेषु सर्वविधं रमणसौकर्यमिति स्वैरमभिसारस्तेष्वस्तु, इति प्रियतमं प्रत्यभिव्यज्यते ।

नीरसापि सा कामकलाकोविदस्य तस्य सुरतोपचारचातुर्यचर्यया संप्रति समयिकं सरसान्तरा सहृदयहृदयावर्जिका च जातेति नायकस्य दाक्षिण्यं ख्यापयन्ती दूती काचित्कामिनीजनमनोरञ्जनार्थमन्यापदेशेनाह—

तह परिमलिआ गोपेण तेण हृत्थं पि जा ण ओह्लेइ ।  
स चिअ धेणू एह्लि पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७ ॥

[ तथा परिमलिता गोपेन तेन हस्तमपि या नार्दयति ।  
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षध्वं कुटदोहिनी जाता ॥ ]

नार्दयति हस्तमपि या गोपेन तथा त्रु तेन परिमलिता ।  
सैव हि धेनुरिदानीं पश्यत कुटदोहिनी जाता ॥ ३७ ॥

या धेनुर्देहनसमये सदुर्घेन दोग्धुर्हस्तमपि नार्दयति धारायास्तु का कथा, निपुणेन तेन गोपेन तथा परिमलिता स्तनपृष्ठादिपरामर्घेन तेन प्रकारेण परामृष्टा यथा सैव धेनुरिदानीं दुर्घटपूरिका जातेति पश्यत । घटपरिमितं दुर्घं ददातीति भावः । कुटोघटः । व्यञ्जनया च—कामकलाचतुरेण नायकेन करिहस्तादिविन्यासेन तेन प्रकारेण परामृष्टा यथा पूर्वं किञ्चिदप्यद्रवन्ती सा सम्प्रति बहुतरं स्मरजलं क्षरतीत्यर्थः । रतिदाक्षिण्यदीक्षितेन तेन सह बद्धप्रणया भवत्योषि तत्त्वातुर्यपरिचयं प्राप्ययेति शृण्वतीः प्रत्यभिव्यज्यते ।

सर्वातिशायि कस्याश्वित्सौभाग्यं सूचयन्ती सखी सपरिहासमन्यापदेशेनाह—

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिड्डीओ ।  
जिअ तम्बे अम्ह वि जीविएण गोहुं तुमाअत्तम् ॥ ३८ ॥

[ धवलो जीवति तव कृते धवलाय कृते जीवन्ति गृष्टयः ।  
जीव है गौः असाकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥ ]

धवलो जीवति तुभ्यं धवलाय च गृष्टयोर्यि जीवन्ति ।  
गौर्जीवं जीवितेन हि गोष्ठमिदं नस्त्वदायत्तम् ॥ २८ ॥

धवलो वृष्टश्रेष्ठः तुभ्यं त्वदर्थं त्वां सुखयितुं त्वकृते इत्यर्थः, जीवति । धवलार्थं च गृष्टय एकवारं प्रसूता गौयुवलो जीवन्ति । अतो है गौस्त्वं जीव । यतो जीवितेन (भवजीवितेन, हेतुना) नः इदं गोष्ठं त्वदायत्तं त्वदीनम्, तव जीवनेनैव सर्वमिदं गोष्ठं जीवतीत्यर्थः । एकवारमात्रं प्रसूतानाम् अप्रे च प्रसवयोग्यानां युवतीनां गर्वा प्रसवादिकं सर्वमवरुद्धयत इत्यतिशयं योतयितुं गृष्टिपदम् । सुखं तिष्ठतीलादिस्थाने जीवतीति कथेन-जीवित-स्थितिरेव त्वदीना का कथा सुखादेरित्यतिशयो व्यञ्जयते । तन्वा गौः । ‘धवला गवि वृष्टश्रेष्ठे पुमार्’ इति, ‘अथ गृष्टः सकृतप्रसूतगवि’ इति च मेदिनी । त्वामवलम्ब्यैव सर्वोर्यं परिकरः प्रचलतीति परिह्रासविधया नायिकां प्रस्तुभित्यज्यते ।

\* पथि गच्छज्ञपि पान्थः प्रियाप्रणयपरवशो निजप्रियतमावयवसमानतां यत्र कुत्रचि-  
द्वलोक्यस्तत्सरणोत्कण्ठावशाद्विवशं तत्रासज्यते । भवांस्तु अनुवर्त्तनपरामपीमासुपे-  
क्षमाणः खेदयतीति गूढमुपालभमाना सखी नायकं प्रत्याह—

अग्धाइ छिवह चुम्बह टेवह हिअअम्हि जणिअरोमञ्चो ।  
जाआकपोलसरिसं पेच्छह पहिओ महुअपुफ्फम् ॥ २९ ॥

[ आजिग्रति स्पृशति चुम्बति स्थापयति हृदये जनितरोमाञ्चः ।  
जायाकपोलसदशं पश्यत पथिको मधूकपुष्पम् ॥ ]

स्पृशति विजिग्रति चुम्बति हृदये निदधाति जनितरोमाञ्चः ।  
पथिको मधूकपुष्पं पश्यत जायाकपोलसमम् ॥ २९ ॥

पथिको जायाकपोलसमं मधूकपुष्पं स्पृशतीत्यादि पश्यत । जायाकपोलसामयं द्व्या सोत्कण्ठः पूर्वं स्पृशति, ततो वर्धिताभिलाषत्सज्जिप्रति, ततो विजम्बिन्पूर्ववासनशु-  
म्बति, ततोनुसृतप्रियाविरहः सविषादौसुक्यं प्रणयवशादुरसि निदधातीति क्रमशो भावविजुभिति: सूचिता । ततश्च-तत्साम्यमात्रेण पथिको मधूकपुष्पं बहु मन्यते मन्दानुरागस्त्वं तु समक्षोपस्थितामप्युपेक्षसे इति प्रियं प्रस्तुपालम्भो व्यन्यते । ‘यो यस्य प्रियस्तस्य तदवयवानुकारिणि ग्रीतिर्भवतीति निदर्शयन्कोपि सहचरमाह’ इति गङ्गाधरः ।

अन्तःकुटिलां तां सुधैवानुकूलामिव मन्वानो मोघमेवोपसेवसे इति नायकं कस्याश्वन  
सक्राशान्निवर्तयितुं दूती अन्यापदेशेनाह—

उथ ओलिङ्गइ मोहं भुअंगकितीअ कडअलगगाइ ।  
ओज्जरधारासद्वालुएण सीसं वनगएण ॥ ४० ॥

[ पश्यद्र्दीकियते मोघं भुजङ्गकृतौ कटकलग्नायाम् ।  
निञ्चरधाराश्रद्वालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥ ]

पश्य मुधाद्र्दीकियते भुजङ्गकृतौ हि कटकलग्नायाम् ।  
निञ्चरधाराश्रद्वालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥ ४० ॥

प्रचण्डातपतसेन वनगजेन निरनितम्बलग्नायां भुजङ्गकृतौ ( सर्पकञ्जुके ) निञ्चरधारा-  
ग्रतीतिमता सता निजशीर्षं सुधैव निरथंकमेवाद्र्दीकियते, आद्र्दीकरणमभिनीयते इत्थर्थः ।  
भुजङ्गकृतिपदेन—‘भयङ्गरजनसम्बन्धिनी सा नोपसर्पणे सुखावहा’ इति जारं प्रति-  
सूच्यते । वनगजेनेत्यनेन-अदाक्षिण्यादेव तां मोघमनुवर्त्तस इति व्यज्यते । ततश्च-  
अनागरिक इव त्वं निष्टुरपरिजनायास्तस्याः सकाशान्मुधैव रसप्राप्तिमाशास्से इति नायकं  
प्रत्यभिव्यज्यते । ‘अप्पिङ्गइ’ इति पाठे ‘अर्प्यते’ इत्थर्थः । जारस्यान्यमनस्कतासंपा-  
दनार्थं मध्याहाभिसारिकायाः सेयमुक्तिर्वा । ‘नार्तस्तत्त्वविचारक्षमो भवतीति दर्शय-  
न्कोपि मध्याहवर्णनमाह’ इति गजाधरावतरणम् ।

गुणवत्यामपि पूर्वनायिकायामपरितुष्य गुणान्तरलालसया नायिकान्तरगमिनं  
नायकं सोपालम्भं शिक्षयन्ती काचिदन्यापदेशविधयाह—

कमलं मुअन्त महुअर पिककइत्थाणं गन्धलोहेण ।  
आलेखलङ्घुअं पामरो व छिविजण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥

[ कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्कपित्थानां गन्धलोभेन ।  
आलेखलङ्घुकं पामर इव स्पृष्टा ज्ञास्यस्ति ॥ ]

कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्कपित्थानुगन्धलोभेन ।  
पामर इव विज्ञास्यसि संस्पृश्यालेखलङ्घुकं परतः ॥ ४१ ॥

अप्रतिबुद्धः पामरो यथा वित्रस्थं मोदकादिकमालोक्य तत्प्राप्त्याशया मनसि मोद-  
मानो हस्तस्थितं भक्ष्यमसंतोषात्परित्यज्य तल्लिप्सया गतः स्पृष्टा तत्खरूपमवगत्य  
पश्चादनुतप्यते एवं त्वमपि नीरसस्य कर्केशपर्शस्य कपित्थस्य गन्धमात्रादाकृष्टचेताः  
संमुखोपनतं कमलं मुञ्चन् स्पर्शसमनन्तरमेव द्वयोरनयोरन्तरं परिज्ञायानुतापं प्राप्त्य-  
सीति भावः । मधु संचिन्वानस्त्वं पाषाणप्रायेस्मिन्प्रवर्त्तस इत्यहो ते आत्मानुरूपा  
प्रवृत्तिरिति गूढोपालम्भो मधुकरेत्यामत्रणेन ध्वन्यते । पक्केति विशेषणेन-परिपाकका-  
लिकः सोयं गन्धः साम्प्रतिक एव, नाग्रतः स्थायीति वैगुण्यं सूच्यते । तथा च-पूर्ण-  
यौवनवशादेव तस्याः सेयमस्थायिनी लोभनीयता, न सहजेति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।  
अतुगमन्तेत्यनुपदेन-सोयं गन्धोप्यनुगतमात्रो न सहज इति सूच्यते । आलेखलङ्घु-

लगेन—उपरित एव दर्शनीयसौन्दर्या सा नान्तर्गुणवतीति मोघायामाशायां किं तामङ्ग-  
गतासुप्रेक्षस इति ध्वन्ते ।

परिणयप्रसङ्गात्पूर्वमेव प्रोद्भूतप्रणयाया अस्याः सांप्रतमस्मिन् यूनि प्रगाढश्रीतेश्चिह्नानि  
प्रस्तकं श्राद्धुर्भवन्तीति परिज्ञानपाटवं प्रथयन्कश्चित्सहचरभाह—

**गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिं वरगोचदिण्णअण्णाए ।**

**सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआह रोमाङ्गो ॥ ४२ ॥**

[ गीयमाने मङ्गलगायिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णीयाः ।

श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधूकाया रोमाङ्गः ॥ ]

**माङ्गल्यगायिकाभिर्गते वरगोत्रदत्तकर्णीयाः ।**

**श्रोतुमिव निर्गतः किल रोमाङ्गः पश्य भाविनववध्वा: ॥ ४२ ॥**

मङ्गलमेव मङ्गल्यम् । विवाहमङ्गलगायिकाभिर्गते सति वरस्य गोत्रे नामनि दत्त-  
कर्णीया भाविन्याः नववध्वा: रोमाङ्गः श्रोतुमिव निर्गतः किलेति पश्य । दत्तकर्णेति  
पदेन—नामश्रवणे दत्तावधानतया पतिप्रीतिपरिचयः प्रख्यायते । रोमाङ्गः श्रोतुमिव  
निर्गत इत्युत्प्रेक्षया—तस्या रोमरोमापि गुणश्रवणलालसमिति प्रगाढा ग्रीतिध्वेन्यते ।  
भविष्यद्वध्वा इत्युत्त्या ( उत्तरे इति वधुः ) इति परिभाषितं वधूत्वं संप्रति न जातं  
ततोपीदशी ग्रीतिस्तर्वाग्रतस्तु किं वाच्यमिलतिशयो द्योल्यते । ‘काप्यासन्नविवाहायाः  
सखीजनं सपरिहासमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

‘मङ्गलगीतेषु किमिति सेयं संकुचितेव तिष्ठतीति’ विदितव्यमिचारायाः कस्याक्षन  
विवाहावसरे सनिभृतपरिहासमालपितः कवित्सहदयः ‘पूर्वतनसंकेतवेतसनिकुञ्जालो-  
क्लेन मनस्येवसुप्रेक्षमाणा संकुचतीति’ तदुत्प्रेक्षां निजसुहृदं प्रस्तुवदति—

**मण्णो आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुण्गाइम् ।**

**तेहिं जुआणेहिं समं हसन्ति मं वेअसकुडङ्गा ॥ ४३ ॥**

[ मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्वीतम् ।

तैर्युवभिः समं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥ ]

**मन्ये शृण्वन्तो मुहुरासन्नविवाहमङ्गलोद्वीतम् ।**

**तैर्नवयुवभिः साकं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥ ४३ ॥**

यैः समं सुरतसुखमनुभूतं तैः साकमिलयथः । स्यं समनुभूतसंविगमसौख्यात्ते युवा-  
नस्तु संप्रति संजायमानं विवाहमालोक्य मनसि हसन्त्येव, परं तैः साकं साक्षिरुपेण  
ते संकेतवेतसकुञ्जा अपि पाण्डुरपुष्पविकासव्याजेन मां हसन्तीति भावः । ‘आसन्नवि-  
वाहा व्यभिचारशीला काचित्पुष्पितं संकेतवेतसनिकुञ्जमालोक्योत्प्रेक्षते’ इति गङ्गाधरः ।

अन्वितवृत्तविवाहयोरेव वधूलरसोः पश्य कीदशी ग्रीतिरिति परिहाससंकथासु नायि-  
कासस्यी सखीः प्रस्तु—

उअगअचउत्थिमङ्गलहोन्तविओअसविसेसलगोहिं ।  
तीअ वरस्स अ सेअंसुएहि॑ रुणं व हत्थेर्हि॑ ॥ ४४ ॥

[ उपगतचतुर्थीमङ्गलभविष्यद्वियोगसविशेषलग्नाभ्याम् ।

तस्या वरस्य च स्वेदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥ ]

सपदि॒ चतुर्थीमङ्गलभाविविरहभयविशेषलग्नाभ्याम् ।

स्वेदाश्रुभी रुदितस्मिव वरस्य तस्याश्र हस्ताभ्याम् ॥ ४४ ॥

सपदि॒ शीघ्रमागामिनि चतुर्थीमङ्गले भाविनो विरहय भयात् विशेषतो लग्नाभ्यां संघटिताभ्यां वरस्य तस्याश्र [ नायिकायाः ] हस्ताभ्यां स्वेदरूपाण्यश्रूणि विमुच्य रुदितमिवेलर्थः । भये उपस्थिते जनो रक्षणप्रत्याशयेव लिंगधं जनं गाढमालिङ्गति । एवं च वियोगभयाचिविडमाश्छिष्योः करयोः परस्परं स्नेहातिशयो ध्वन्यते । विवाहोर्यं पाणिपीडनमिल्याख्यायते, ततश्चावयोरेव मिथोग्रहणेन संजातव्यपदेशं वैवाहिकमिदं समागमसुखं हन्ताचिरादेव विरहदुःखे परिणायत इति लजाखेदयोः कारणात् [ अन्याङ्गेषु तिष्ठत्खपि ] हस्त इति हस्तौ इति परिभाषिताभ्यामपि हस्ताभ्यां रुदितमिल्याशयः । मिथःकरयोजने स्वेदरूपसात्त्विकोदयात्परस्परं गाढानुरागः प्रतीयते । विवाहोत्तरं चतुर्थीहोमम् ( नागवल्लीम् ) कृत्वा जामाता स्वगृहं गच्छति । पुनर्यावद्विरागमनं द्वयोर्विरहो भवतीति लोकव्यवहारः ।

नववधूसंगमस्यालौकिकसुखकरत्वं प्रतिपादयन्कश्चित्सहचरमाह—

ण अ दिं हि॒ षोइ॒ मुहं॒ ण अ छिविउं॒ देइ॒ णालवइ॒ किं॒ पि॒ ।

तह॒ वि॒ हु॒ किं॒ पि॒ रहस्सं॒ णववहुसङ्गो॒ पिओ॒ होइ॒ ॥ ४५ ॥

[ न च दृष्टि॑ नयति॑ सुखं॑ न च स्प्रष्टुं॑ ददाति॑ नालपति॑ किमपि॑ ।

तथापि॑ खलु॑ किमपि॑ रहस्यं॑ नववधूसङ्गः॑ प्रियो॑ भवति॑ ॥ ]

न च दृष्टि॑ नयति॑ सुखं॑ स्प्रष्टुं॑ न ददाति॑ नालपति॑ किमपि॑ ।

तदपि॑ च किमपि॑ रहस्यं॑ प्रियो॑ भवति॑ नववधूसङ्गः॑ ॥ ४५ ॥

न पश्यतीति॑ स्थाने॑ ‘सुखं॑ प्रति॑ दृष्टि॑ न नयति॑’ इत्युत्त्या—‘भूमौ॑ इत्स्ततो॑ वा॑ व्रेय-माणतायां॑ खवशाया॑ अपि॑ दृष्टेष्परि॑ अधिकारसत्त्वेषि॑ भयसंकोचादिकारणात्तां॑ न नयतीति॑’ कश्चन॑ विचित्रः॑ साध्वसातिशयो॑ योत्यते । तथापि॑ च नववधूसङ्गः॑ प्रियो॑ भवतीति॑ किमपि॑ ( अनिर्वचनीयम् ) रहस्यमिति॑ भावः । प्रियत्वहेतोर्दर्शनस्पर्शनादेर-भावेषि॑ प्रियत्वरूपं॑ कार्यमिति॑ विभावना । ‘विभावना॑ विनापि॑ स्थात्कारणं॑ कार्यजन्म चेत्’ इति॑ लक्षणात् । किमपि॑ रहस्यमिल्यस्याविमर्शै॑ तु॑ नववधूसङ्गः॑ प्रियो॑ भवतीत्यत्र॑ ‘सा॑ नववधूरिति॑ तत्सङ्गः॑ प्रियो॑ भवति॑’ तथा॑ च प्रियतायां॑ नवत्वं॑ कारणमिति॑ काव्यलिङ्गोपि॑ बुद्धिस्थो॑ भवति॑ ।

नवोडब्राल्याया॑ वास्येन॑ कुपितं॑ नायकं॑ प्रसादयितुं॑ कावित्प्रौढा॑ नववच्चा॑ खभावमाह—

अलिअपसुन्तवलन्तमिमि पाववरे णववहूआ वेवन्तो ।  
संवेष्टिओरुसंजमिअवथगांठि गओ हत्थो ॥ ४६ ॥

[ अलीकप्रसुसवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः ।  
संवेष्टितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थि गतो हस्तः ॥ ]

कृतकप्रसुसविवलति नववध्वा नववरेपि कम्पयुतः ।  
संवेष्टितोरुनियमितवस्त्रग्रन्थि गतो हस्तः ॥ ४६ ॥

नववरे कृतकप्रसुते अलीकमेव प्रसुते, अत एव विवलति साम्प्रतमपि स्पर्शादावनुकूलं जाता न वेत्युक्तकण्ठया वर्तुं प्रति किञ्चित्परावर्तमानेपि सति, भयेन कम्पमानो नववध्वा हस्तः संवेष्टितभ्यासुरभ्यां नियमितस्य चुट्डंसंवृत्तस्य वस्त्रस्य ग्रन्थि नीवि प्रति गतः । वरस्य किञ्चिन्मात्रपरावर्तनेपि नीविमसौ नावसंसयेदिति-तस्या भयं भवतीति भावः । कृतकस्यापेन-‘किञ्चित्प्रबद्धदशायां किमियमाचेष्टते’ इति परिज्ञानाभिलाषः, ‘अनुनयविनयौ कृत्वा दैन्येन प्रसुसविवे मयि साम्प्रतं कदाचिदनुमता स्यात्’ इत्युक्तण्ठा वा सूच्यते । नववरेपि तस्या एतावद्धयं भवति कि पुनः प्रौढे प्रेयसीति नववरे इति पदेन ध्वन्यते । एवं च ख्याताव एवायं वालानां न पुनरयं कोपः, तस्माद्विस्म्भणपूर्वकं धैर्येण प्रवर्तितव्यं न पुनः कोपेनेति नायकं प्रत्यभिव्यज्यते ।

विस्म्भणपूर्वकमेव नववध्वां प्रवर्तितव्यमिति नायकं शिक्षयन्ती काचित्पौढा बलवि-  
चेष्टया कोपितायाः कस्याश्विदवस्थामाह—

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पष्फुरइ चुम्बिआ रुअइ ।  
तुलिका णववहूआ कआवराहेण उवजढा ॥ ४७ ॥

[ पृच्छयमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति ।  
तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥ ]

न हि भणति पृच्छयमाना स्फुरति गृहीता च चुम्बिता रोदिति ।  
तूष्णीकाभिनवधूरूपगूढा किल कृतापराधेन ॥ ४७ ॥

हस्तादिषु गृहीता प्रस्फुरति, हस्तादिकं सरभसमवहेत्य दूरे विचलति । कृतापराध-  
तायां विस्म्भणमकृत्वा बलाप्रवृत्तौ हि संलापादिषु वामैव सा भवतीति भावः । किंवा  
भयसंकोचादिवशादनिच्छन्त्यां तस्यां हस्तप्रहणादिकमेवापराधः । अत एव कृतादशाप-  
राधेन तेन पृच्छयमाना न भणतील्यादि । अथवा-पृच्छयमाना न भणति गृहीता स्फुरति  
इत्यादिं नवोदायाः ख्याभाविकचेष्टामवलोक्य कृतापराधेन निपुणनायकेन तूष्णीका नव-  
वधूरूपगूढा । तथा च संमितमग्रतीक्ष्य ख्यातावतरला नववधूर्बलादुपभोक्तव्येति नायकं  
प्रति प्रौढा दूती शिक्षयतीति संदर्भो बोध्यः । ‘विस्म्भणानभिज्ञेन कान्तेन कोपितायाः  
कस्याश्विदवस्थां कापि सरखीमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ।

यस्मिन्नूनि सेयं बद्धभावा, गुणमुख्यतया पुनः पुनस्तस्यैव कथाः कुर्वतीरन्ययुवती-  
रालोक्य मनसीर्वाकषायिता काचिन्मातृभगिनीमाह—

तत्तो चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति ।  
किं मणे माउच्छा एकजुआणो इमो गामो ॥ ४८ ॥

[ तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।  
किं मन्ये मातृष्वसः एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥ ]

तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति च तत्र तत्र पूर्यन्ते ।  
अपि मन्ये मातृष्वसरेकयुवायं किमु ग्रामः ॥ ४८ ॥

ततस्तसादेव युवकात्कथा भवन्ति । तस्मवलम्ब्यैव कथानामारम्भ इत्यर्थः । तत्र  
विकसन्ति शृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तत्रैव च समाप्यन्ते । ततश्च हे मातृष्वसः ! एको युवा  
यस्मिन्नीदशोयं ग्राम इति किमहं मन्ये ? किमन्यः कश्चन युवा नास्ति यदेकस्य तस्यैव कथा-  
मुखरो लोक इति भावः । तस्यैव कथा भवन्तीतिस्थाने 'तस्मादेव कथा भवन्ति' इत्यनेन  
'परस्परं कथोपकथनसारम्भस्तं विषयीकृत्यैव भवति, इतः पूर्वं तु न तासु संलाप इति'  
तद्गुणमुख्यतातिशयो व्यज्यते । विकसन्तीति पुष्टधर्मताकथनेन 'तद्विषयीकरणं विना  
कथा मुकुलिता एव तिष्ठन्ति, तं वर्ण्य कृत्वा तु तासां गुणसौरभप्रसारः' इत्यतिशयो  
च्यन्यते । 'पुनः पुनः कस्यचित्कथाः कुर्वतीं कामप्युपहसन्ती कापि मातृभगिनीमाह'  
इति गङ्गाधरः ।

शुणानुरक्ता काचित्प्रियवचनानां मनोवशीकारितामन्तरङ्गस्त्रीं प्रस्ताह—

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिओ ताइँ जम्पइ जणो वि ।  
ताइँ चिअ तेण पजम्पिआइँ हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥

[ यानि वचनानि वयमपि जलपामस्तानि जलपति जनोऽपि ।  
तान्येव तेन प्रजलिपितानि हृदयं सुखयन्ति ॥ ]

वचनानि यानि वयमपि जलपामस्तानि जलपति जनोपि ।  
तेन प्रजलिपितानि तु हृदयं सुखयन्ति तान्येव ॥ ४९ ॥

जनोपीत्यनेन—केवलमसाक्षमेव वचनानि सामान्यानि न, असद्व्युहानभाजनमन्योपि  
जनस्तादशान्येव संलपतीति सर्वजनवचनापेक्षया प्रियवचनानामुत्कर्षः सूच्यते । तान्येव  
वचनानि तेन प्रजलिपितानि तु हृदयहारीणीत्यनेन—शब्दसंनिवेशः स एव भवति परं तत्सं-  
ब्रन्धित्वेन प्रियतया तेषां हृदयाकर्षकत्वं भवतीति प्रियं प्रति हार्दिकोनुरागो व्यज्यते ।

कृतकलहतया पत्युः पराज्ञास्त्रीं नायिकां जारसमागमायोत्साहयन्ती दूती प्रसङ्गानु-  
गतमाह—

सद्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जम् ।

जं जस्त हिअअद्वैतं तं ण सुहं जं तहिं णत्थि ॥ ५० ॥

[ सर्वादरेण सूखयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम् ।

यद्यस्य हृदयदधितं तत्र सुखं यत्तत्र नास्ति ॥ ]

सर्वादरेण मार्गत जनं प्रियं यदि सुखेन वः कार्यम् ।

यो यस्य हृदयदधितस्तत्र सुखं तत्र यन्नास्ति ॥ ५० ॥

मार्गत अनिवार्यत । तथा च सहसा प्राप्तेरभावे, सथलमन्वेषणेनापि प्रियजनः प्रेमणा संगन्तव्यः । स्वयं यत्र प्रणयी आगच्छति किं तत्र वक्तव्यमिति समधिकप्रोत्साहनं व्यज्यते । सर्वादरेणेत्यनेन—यदि गुणाभिमानी स उपेक्षेत तर्त्त्वपि नानाविधैरादरानुगमनैः स प्रसादनीयः । यदि च प्रियजनः स्वयमेवादरं कर्तुमुद्यतः सुबहु सौभाग्यं तत्रेति जार-कृतादरः सूच्यते । यदि सुखेन कार्यमिलेनेन—‘यद्यपि ते पतिरस्त्वेव परं हृदयाननुकूलतया न तत्समागमेन सुखमिति’ पत्युरुपजापो व्यन्यते । यत्सुखं तत्र ( हृदयदधिते ) न भवेदीदशं सुखमेव नास्ति, अपि तु सर्वं सुखं तत्रोपलभ्यत इत्यर्थः । तत्र सुखमिलेन—यद्दि सुखमिति सर्वजनैरनुभृतं ततु सर्वं सर्वमपि लभ्येत, यच्च यच्च न प्राप्येत तत् तत्सुख-पदवाच्यमेव नेत्याकृतम् । ‘वः’ इति बहुत्वेन ‘त्वामेव प्ररोचनाविधया नेदं कथयामि, अपि तु सामान्यतया सर्वानेव सुखलिप्स्यन् कथयामीत्यपक्षपातो व्यन्यते । प्राकृते लिङ्गादेवनियमात् यो यस्य हृदयदधित इति पुण्याने ‘जं जस्स हिथअदहइअं’ इति छीर्णं प्रायोजीति बोद्धम् । गङ्गाधरप्रभानुसारां यथास्थितं नपुंसकमेव चेत्कियेत तर्हि—यद्यस्तु यत्सुखं वा यस्य हृदयदधितमिति गतिरवलम्ब्या भवेत् । परं पूर्वद्देखं प्रियजनस्य स्पष्टं निर्देशेन दधितपदस्वारसाभावेन च सेयमगतिरेवेत्यलम् ।

अकृतप्रसाधनैव कथमुपस्थितासीति कान्तसुपगतां दुहितरं प्रति कुरुन्तीं वेश्यामातरं वचनचातुर्येण कामुकः स्वयमाह—

दीसन्तो दिद्विसुओ चिन्तिजन्तो मणवल्हो अत्ता ।

उल्लावन्तो सुद्विसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिओ ॥ ५१ ॥

[ दृश्यमानो दृष्टिसुखश्रिन्त्यमानो मनोवल्भः श्वशु ।

उल्लध्यमानः श्रुतिसुखः प्रियो जनो नित्यरमणीयः ॥ ]

दृष्टिसुख ईक्ष्यमाणो विचिन्त्यमानो मनोरमः श्वशु ।

श्रुतिसुख उदीर्यमाणः प्रियो जनो नित्यरमणीयः ॥ ५१ ॥

दृश्यमानः प्रियजनो दृष्टेः सुखकारकः । उदीर्यमाणः संकथासु कीर्त्यमानः । सर्वाव-स्यास्वपि सर्वदैव सुखकारक इत्यर्थः । प्रियजनस्य ईक्षणं चिन्तनं कीर्तनं च सुखमिति कथनसौकर्येपि ईक्ष्यमाणः प्रिय इत्यादिना ईक्षणचिन्तनादिकं तत्संबन्धितयैव सुखकार-कमतः स स्वयमेव सुखस्वरूपोत्तिशयो व्यज्यते । एवं च—हृदयतोनुरज्यतो मम कृते किं चा प्रसादनेनेति सर्वैरध्यं स्वप्रणयः प्रकाश्यते । ‘तथैवापरगाथामाह’ इति निब-ध्रता गङ्गाधरेण नायिकोत्साहनार्था दूत्युक्तिरपि सेयं स्वीकृता, परमत्र ‘श्वशु’ इत्याम-च्चाणं न संबध्यते ।

निःशेषितधनत्वात्पूर्व दत्ताद्वचन्द्रस्तः पुनरुपार्जितधनत्वे दुहितृस्तेहसुपरदर्श्य कुट्टन्था-  
नुनीयमानो भुजङ्गः पूर्वदुर्वचनानि साकृतमभिध्वनयन्सोपालम्भप्रस्ताख्यानमात्मनिनदा-  
व्यपदेशेनाह—

**ठाणबम्डा परिगलिअपीणआ उण्णईअ परिचत्ता ।**

**अम्हे उण ठेरपओहर ब उअरे ज्ञिअ णिसण्णा ॥ ५२ ॥**

[ स्थानभ्रष्टाः परिगलितपीनत्वा उच्चत्वा परित्यक्ताः ।

वयं पुनः स्थविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णाः ॥ ]

उच्चत्वा संत्यक्ताः स्थानभ्रष्टाश्च गलितपीवरताः ।

**स्थविरापयोधराविव वयं निषण्णा उदर एव ॥ ५२ ॥**

उच्चत्वा तु ज्ञत्वेन पक्षे उत्कर्षेण । स्थानभ्रष्टा भुजमूलरूपात् स्थानतः पतिताः, पक्षे  
खस्त्ररूपोचितपदतश्चयुताः । उदर एव निषण्णाः उदरोपरि लम्बमानाः, पक्षे उदरभर-  
णायैव जीवन्तः । संत्यक्ताः स्थानभ्रष्टा इत्यादिविशेषणानां पयोधरावित्यनेन सह वचन-  
विपरिणामेनान्वयः । उपमायां वचनसाम्याग्रहे तु व्यक्तिवहुत्वात्पयोधरवहुत्वमवलम्ब्य  
'स्थविरापयोधराः' इत्येव पठनीयम् । तथा च—'उच्चतपुरुषा एवासाद्वीशीनां व्यवहा-  
रोचिताः' इत्यादि भवत्या पूर्वमुक्तत्वात् निर्वनतयैव अवनताः पदभ्रष्टाश्च वयं न युष्माक-  
मनुरूपाः, किमसाभिरिति सोत्रासं प्रत्याख्यानमभिव्यज्यते । अनभिरुचितौ स्थविरा-  
पयोधरौ यथा न केनचिदुपगम्यौ तथा क्षीणधना वयमपि निःसार्या एव, किमसाभि-  
र्युष्माकं प्रयोजनसिति निग्रोपालम्भश्च धन्यते । वयमिति वहुत्वेन 'अहमेव किम्,  
अस्मत्सद्वशा वहवोपि भवादशीभिरवधीरिता युष्मत्स्वरूपं परिचायिताश्च' इति कुट्टनीं  
प्रति साकृतं व्यज्यते ।

वान्नैदव्यमण्डिता कान्तित्वण्डिता प्रातरायान्तं कान्तं दिनकरनमस्कारव्यपदेशे-  
नोपालम्भते—

**यच्चूसागअ रञ्जितदेह पिआलोअ लोअणाणन्द ।**

**अण्णन्त्यखविअसवरि णहभूसण दिणवइ णमो दे ॥ ५३ ॥**

[ प्रत्यूषागत रक्तदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।

अन्यत्रक्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥ ]

**प्रत्यूषागत रञ्जितदेह प्रियालोकलोचनानन्द ।**

**सद्यस्तमण्डनक नमो दिवसपते उन्यत्रनीतरजनीक ॥ ५३ ॥**

प्रत्यूषे प्रातःकाले आगतो द्वीपान्तरात्, पक्षे सपलीभवनात् । रञ्जितदेहः उद्यसमये  
अरुणमण्डलः पक्षे सपलीसंक्रान्तालक्षकादिना रक्तशरीरः, सपल्यामनुरक्तमूर्तिर्वा । प्रियः  
आलोकः प्रकाशोऽवलोकनं वा यस्य सः । लोचनयोरानन्दस्वरूप पक्षे प्रियालोकलोचना-  
नन्दलेकं पदम् । प्रियालोकस्य अन्यमहिलाजनस्य लोचनयोरानन्दो यस्यात्सः । सबं

निजस्याभावेऽवसर्वं शूर्यं यत्खम् आकाशं तस्य मण्डनखर्षेषु ! नभोमूषणेत्यर्थः । पक्षे सत् उत्तरं सपलीदत्तनखान्येव मण्डनं यस्य तत्संबुद्धौ । सपलीदत्तनखक्षताद्युद्धितेत्यर्थः । अन्यत्र अन्यद्वीपे नीता रजनी येन, पक्षे अन्यस्या गृहे नीता रजनी येन । दिवसपते हैं सूर्यं ते नमः । विद्यधाया नायिकाया वाच्यः सूर्यरूपोर्थः, परं शब्दशक्तिमूलानुरणन-विधया अनुरक्तशरीराद्यर्थसापि प्रतीतेर्नायकरूपोर्थोपि प्रतीयते । ततश्च सूर्यप्रसर्ज्ञे नाय-कमनुकीर्तयन्त्याः प्रमत्तत्वं मा प्रसाह्नीदिति द्वयोऽस्मानोपसेयभावो व्यङ्ग्यत्वेन कल्प्यते । एवं च सूर्यो यथा दूरत एव प्रणम्यते न निकटमुपगम्यते तथा त्वमपि दूरत एव वन्द-नीयोसीति नायकं प्रत्युपालम्भश्वरमं व्यङ्ग्यम् । नायकपक्षे 'दिवसपते' इत्यामच्छेन-त्वं मे दिवसकालार्थमेव पतिरसि । रात्रौ तु सपलीषु पलीत्वं कल्यसीति गूढोपालम्भः सूच्यते । पतिपदेनापि—'त्वं भोजनवस्त्राभ्यां मत्पालनमेव स्वकर्तव्यं मन्यसे' इत्याक्षेपो योख्यते । प्रियालोकेतिपदेन-यत्र रात्रयो नीयन्ते ता एव ते प्रियाः, अहं तु ते चक्षुः-शूलसिति सपलीं प्रत्यसूया व्यज्यते । लोके हि यं प्रति दूरसंबन्धो वा संबन्धविच्छेदो वा सूचयितुमिष्यते तत्र 'त्वं संप्रति प्रणम्योसि' इति वक्त्रोक्तिविधया प्रोच्यते । तथा चात्रापि प्रणामेन 'प्रत्यहव्यलीकशतैरनुभूतभूरिवेदनाहं साम्प्रतं त्वतो दूरमेव तिष्ठ-सामि, धन्यस्त्वं मे स्तानी' इति गूढोपोभिव्यज्यते । खण्डिताया उदाहरणे गृहीता सेरं गाथा स. कण्ठाभरणे ।

प्रवृत्तिशैथित्यमवलोक्य 'किं गर्भवती भवती'ति कान्तेन जिज्ञासिता काचिदाह—

विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गव्मसंभूइम् ।

ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥ ५४ ॥

[ विपरीतसुररतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।

अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥ ]

विपरीतसुररतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।

अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि तिष्ठति किम् ॥ ५५ ॥

अपवृत्ते अधोमुखीकृते । कणिकापीत्यनेन-जललेशस्य का कथा, कणोपि न तिष्ठति । तथा च—रेतोबिन्दोरप्यसंबन्धे गर्भगन्ध एव कीदणिति सूच्यते । संभूतिपदप्रयोगेण एवं स्थितौ संभवोपि नासीति गूढमाकूतं व्यज्यते ।

अभिरुचिरेपि दयिते अतिदूरसंबन्धानुरोधेनाप्रवर्तमानां नायिकां प्रोत्साह्यन्ती दूरीं प्रसङ्गानुषङ्गेणाह—

अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तस्णगोवीहिं ।

वदुन्ते महुमहणे संबन्धा णिहुविज्ञन्ति ॥ ५५ ॥

[ अत्यासन्नविवाहे समं यशोदया तस्णगोपीभिः ।

वर्धमाने मधुमथने संबन्धा निहृयन्ते ॥ ]

अल्यासन्नविवाहे प्रवर्द्धमाने तु तरुणगोपीभिः ।

मधुमथने संबन्धा निहूयन्ते यशोदया साकम् ॥ ५५ ॥

प्रवर्द्धमाने वयोवृद्धिं गच्छति मधुमथने अल्यासन्नो विवाहे यस्येवं भूते सति तरुणगोपीभिः यशोदया सह ये संबन्धास्ते निहूयन्ते । निकटसंबन्धाभावे विवाहसंबन्धो निष्प्रतिबन्धं स्यादिति भावः । तरुणपदेन-विवाहयोग्यता कृष्णेन सह प्रणयसंबन्धश्च सूच्यते । तथा च-विवाहसंबन्धार्थमयेवं विवाहः संबन्धा यदि नानुरुद्धन्ते तर्हि किमत्रैषां प्रतिबन्धक-तागन्धोपीति नायिकां प्रत्यभिव्यज्यते । अल्यासन्नेत्यतिपदेन-अतित्वरितं चिकीर्धमाणे विवाहे, एकत्र विवाहप्रतिबन्धकसंबन्धेऽधिगतेऽन्यत्र संबन्धः स्थिरीकृतो भवेदिति सूच्यते । ‘कामार्ता: साजन्यमप्यपलपन्तीति निर्दर्शयन्कश्चिदाह’ इत्यस्पष्टार्थमिव गङ्गा-थरावतरणम् ।

दयितविषये भग्नमनोरथतया निर्वेदमुपगता काचित्सखेदं विविमुपालभते—

जं जं आलिहृ मणो आसावद्वीहिं हिअफलअम्मि ।

तं तं बालो व विही पिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥

[ यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके ।

तत्तद्वाल इव विविर्निभृतं हसित्वा प्रोञ्छति ॥ ]

हृदयपटे किल यद्यन्मन आशावर्तिकाभिरालिखति ।

तत्तत्प्रोञ्छति निभृतं बालक इव विधिरसौ विहसन् ॥ ५६ ॥

मनः ( कर्तृपदम् ) । आशावर्तिकाभिः आशारूपाभिस्तूलकाभिर्यदत् आलिखति । मनसि नानाविधा आशा: कुर्वत्यहं यद्यत् निधिनोमि विधिस्तत्सर्वमतकिंतमेव लुम्पतीति भावः । आशावर्तिकाभिरिति बहुवचनेन-चित्रकरो नानाविधरज्ञार्थं नानाविधास्तूलिका यथा व्यवहरति तथाहमपि विविधा आशा हृदि धारयामीति ध्वन्यते । विहसन्प्रोञ्छतीति खेलामुपयातस्य बालकस्य स्वभावचित्रणम् । एवं च-बालको यथापरस्य लाभालाभावविचारयत्वे पठलिखितं प्रोञ्छति, सा चास्य नैसर्गिकक्रीडेति परिवर्ण्यते, तथैव विधिरपि मे सर्वमनुचिन्तितं मनोरथजातं कीडेयेवापमार्धांति योत्यते । विहसन्नित्यनेन-मम सर्वनाशं परिजानन्नपि विधिर्निर्दुःखमेव प्रवर्तीत इति निष्ठुरता ध्वन्यते । निभृतमित्यनेन-ममापरिज्ञातमेव सर्वं कार्यं विफलं भवतीति सहसा नैराश्यं सूच्यते । प्रोञ्छतिपदेन-आलेख्यस्य हस्तेनापमार्जनेपि विरुपा अपि तद्गता रङ्गरेखा यथा प्रतीयन्त एव तथा मनोरथवैफलयेपि तेषां स्मृतिर्मा भृशमुद्व्यथयतीति दुःखस्मृतिरभिव्यज्यते । बालक इवेत्युपमया खेलाविलभवालकहठो यथा दुर्निवारस्तथेदं विधिविलसितमिति विवशता ध्वन्यते । असाविति-समक्षमेव मे, मन्मनोरथानपहन्तीति दुःखकारणता योत्यते । मनो यद् ( आ )ईषदेव लिखतीत्यनेन-आशापरम्पराया हृदये स्थानदानमात्र एव त्वरितमेव मे नैराश्यं भवतीति व्यज्यते ।

सपाटवोपालम्भपण्डिता काचित्खण्डिता प्रातरुपगतं दयितं चन्द्रव्यपदेशेनाह—

अणुहुचो करफंसो सअलअलापुण्ण पुण्णदिअहम्मि ।

वीआसङ्गकिसङ्गथ एहिं तुह वन्दिमो चलणे ॥ ५७ ॥

[ अनुभूतः करस्पर्शः सकलकलापूर्ण पूर्णदिवसे ।

द्वितीयासङ्गक्षाङ्ग इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥ ]

अनुभूतः पूर्णदिने सकलकलापूर्ण तव करस्पर्शः ।

वन्दामहे द्वितीयासङ्गक्षाङ्गाधुना चरणौ ॥ ५७ ॥

षोडशकलाभिः पूर्ण ( अथि चन्द्र ), पूर्णदिने तव कलाभिः पूर्णे पूर्णिमादिवसे तव किरणस्पर्शोऽनुभूतः । द्वितीयासङ्गेन द्वितीयातिथेः संबन्धेन कृशशरीर ! इदानीं वन्दनीयचरणोसि । व्यज्ञयतिथया तु दयितमाह—चतुःषष्ठिकलाभिः पूर्णे पूर्णदिने तव सङ्गसौख्यपूर्णे दिने । अथवा प्राकृते 'पुण्णदिअहम्मि' इत्यस्य पुण्णदिवस इत्यथेः । ततश्च—मत्पुण्योदयदिने अथवा शोभने दिने तव हस्तस्पर्शोऽनुभूतः । इदानीं द्वितीयस्याः मत्तोऽपरस्याः सप्तव्याः सङ्गेन कृशाङ्ग । तव चरणौ वन्दामहे, इदानीं त्वं चरणयोः प्रणम्य एव न तु सविधमुपगम्य इत्यथेः । दूरत एव नमस्करणीयोसीति भावः । कोपतः प्रत्याख्याने प्रसिद्धा किल चरणवन्दनोक्तिः । सकलकलापूर्णेति सासूयोक्त्या—‘त्वं सकलशास्त्रकलाभिः पूर्णोसि । एवं च भाग्यैरभिनन्दनीये पुण्णेषि दिवसे तव करस्पर्शं एव अस्मत्कृते भूरिभाग्यमभूत । द्वितीयाभिः साकं तु सङ्गोषि भवति, यस्याधिकयेन कार्यमप्यभवत् । अहो धन्योसि ?’ इतीर्थ्या व्यज्यते । किञ्च—स किल कथन पुण्यो दिवस आसीवत्र ते करस्पर्शः ( विवाहवसरे प्रथमप्रथमं पणिग्रहः ) मयानुभूतः । इदानीं मन्यासङ्गक्षाङ्गात्वतो दूरपरिस्थितिरेव साधीयसी । एवं च—‘पाणिगृहीतीमपि मां परिक्लेश्य अन्यासु चरीरशोषयित्रीयु निर्भरै रसमेऽपि इत्याक्षेपो धन्यते । अथवा—असमाभिरस्यपुण्योदयदिने तव करग्रहणमात्रमनुभूतम् । इदानीं वास्तवे या ते सहधर्मीणी ( भार्या ), तस्यः सङ्गेन त्वं कृशाङ्गो दृश्यस एवेति कोपवैपरीत्यं व्यज्यते । ‘द्वितीया सहधर्मीणी’ इत्यमरः । अप्रस्तुतेन चन्द्रवृत्तान्तेन प्रियतमचेष्टासूचनादप्रस्तुतप्रशंसा । अनया च—‘भाग्योदयसूचके शोभने दिने तव करस्पर्शो यो मयाऽनुभूतः, [ भूतकालिकेन सोऽनुभवकालो व्यतीतः ] इदानीं तव चरणयोः प्रणामः । अर्थात्सप्तनीर्थ्यग्रिदाहपेक्षया त्वतो दूरपरिस्थितिरेव सुखावहा’ इत्युपालम्भो व्यज्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः । ‘खण्डिता काप्यन्यापदेशेन कान्तं सचमकारमाह’ इत्यवतरणम् । ‘अत्र समासोक्त्यलङ्कारेण चन्द्रकान्तयोरुपमानोपमेयभावो व्यज्ञयः’ इत्युपसंहारश्च गङ्गाधरटीकायाम् ।

प्रियतमगमने हृदयदीकरणार्थसुक्ता दृढानुरक्ता नायिका सर्वीमाह—

दूरन्तरिए वि पिए कह वि पिअन्ताँ मज्ज णअणाँ ।

हिअअं उण तेण समं अज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥

[ दूरान्तरितेऽपि प्रिये कथमपि निवर्तिते मम नयने ।

हृदयं पुनस्तेन सममध्यनिवारितं अभ्रति ॥ ]

दूरान्तरिते दियिते कथमपि नयने निवर्तिते तु मया ।

हृदयं तेन समं पुनरद्याप्यनिवारितं अभ्रति ॥ ५८ ॥

दियिते दूरान्तरं गते सति, दूरं गत्वा वृक्षादिभिरन्तरिते तिरोहिते सति वा । मया नयने कथमपि निवर्तिते अतिकष्टेन परावर्तिते । निवर्तिते हिति णिचा—‘ते स्वेच्छया न निवृत्ते, अपि तु मया वलात्परावर्तिते’ इति प्रणयातिशयो बोल्यते । अनिवारितं मम नियन्त्रणामवधीर्य वलात्प्रवृत्तम् । अभ्रतीत्यनेन—यत्र यत्र स गच्छति तत्र तत्रैव यातीति प्रियवश्यत्वं सूच्यते । अथवा—अनिवारितमित्यनेन ‘लोकलज्जाभयेन नयने मया निवारिते, परं हृदयं न निवारितम्, यतो हृदयमसै समर्पितम् ।’ एवं च ‘अवशीभूतहृदया कथं धैर्यमुपयामि’ इति स्वापारतन्यं सखीं प्रत्यभिव्यज्यते । ‘दूरान्तरितेऽपि’ इति मूलगतस्य ‘अपि’ शब्दस्य विशेषतो न स्वारस्यमिति तदुपेक्षा । तस्यैवाग्रहे तु ‘दियिते दूरान्तरितेपि मया कथमपि निवर्तिते नयने’ इति पात्रम् । ‘विरहोत्कण्ठिता दूतीमाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् ॥

दियितविलोकनादेव शिथिलितमानां नायिकामालोक्य मानं शिक्षयन्ती सखी सप्तण्योपालमभमाह—

तस्स कहाकण्टइए सहाअण्णणसमोसरिअकोवे ।

समुहालोअणकम्पिरि उघऊढा किं पवजिहिसि ॥ ५९ ॥

[ तस्य कथाकण्टकिते शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे ।

संमुखालोकनकम्पनशीले उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥ ]

तस्य कथाकण्टकिते शब्दश्रवणेन समपसृतकोपे ।

संमुखवीक्षणवेपिनि किमूपगूढा प्रपत्स्यसे नूनम् ॥ ५९ ॥

प्रियस्य कथामात्रेण प्रसङ्गोत्थापनमात्रेण रोमाञ्चिते ! प्रियस्य शब्दश्रवणेन अपगतकोपे ! प्रियस्य संमुखालोकनेन कम्पनशीले ! प्रियेण उपगूढा त्वं किमु प्रपत्स्यसे ? प्रियप्रसङ्गेनैव यदा ते रोमाञ्चवेपथुमुखाः सात्त्विकभावा भवन्ति, येन हि कोपापगमः स्पष्टं प्रतीयते तर्हि प्रियेण परिरव्धा तु न जाने त्वं किं करिष्यसीति भावः । अङ्गविशेषमनिर्दिश्य सर्वशरीरे रोमाञ्चोक्त्या प्रियप्रणयातिशयः सूच्यते, अत एव शब्दमात्रात् ‘सम्’ सम्यग्रूपेण अपसृतकोपा त्वं भवसीति जाने । यदा तु ते कृत्रिमकोपः खयमेवापसरति तदा प्रियमभिमुखमागतमालोक्य ते कम्पोदृगमो भवतीत्यप्यहं वेद्यः । एवं च—एवं प्रियप्रणयात्मुगता त्वं मानावलम्बनमृषोक्त्या किमित्यसान्मुधा व्यामोहयसीत्युपालम्भो नायिकां प्रति घन्यते । ‘मानं कर्तुमसमर्था नायिकां प्रति दूती सप्रणयकोपमाह’ इति गङ्गाधरः ।

सायंसमयसंनिधानेन प्रियमिसरणसामीप्यं सूचयन्ती सखी संमुखगवस्थितां  
नाथिकां सर्वैदरध्यमाह—

**भरणमिअणीलसाहगगखलिअचलणद्विहुअवक्खउडा ।**

**तरुसिहरेरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणम् ॥ ६० ॥**

[ भरनमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्धविधुतपक्षपुटा : ]

तरुशिखरेषु विहंगाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥ ]

**भरनमितनीलशाखाग्रचलितचरणार्द्वविधुतपक्षपुटा : ।**

**तरुशिखरेषु विहङ्गाः संस्थानं हन्त कथमपि लभन्ते ॥ ६० ॥**

स्वशरीरभरेण नमितात् नीलशाखाग्रभागात् चलितं स्खलितं चरणार्द्व यैषाम्, अत  
एव विधुतौ पक्षपुटौ यैस्ते इति बहुत्रीहुतरं कर्मधारयः । नीलेलनेन-शाखानामार्दतया  
क्लिधत्वं सूच्यते, अत एव पक्षिणां पदस्खलनमिति भावः । सायंसमये तरुषु रात्रि-  
संस्थानं लिप्सन्तो ( दूरत उडीयागताः ) विहंगाः संमुखमुपलब्धेषु लघुशाखाग्रेषु पूर्व  
स्थातुमिच्छन्ति, तानि च तेषां भरतोऽवनमन्ति । अत एव ईषदवस्थापितं तेषामग्रतर्नं  
चरणार्द्व लिघेभ्यः शाखाग्रेभ्यो विस्खलति । ततश्च पतन्तस्ते पक्षपुटं विधुत्रन्तः पुन-  
स्तत्र तिष्ठन्ति, इति रात्रिनिवासं पक्षिर्विर्वासं पक्षिणां स्खभावः । अनया च स्खभावोत्था-  
संव्यासमयः संजातस्तदिह सज्जय तेभिरणसमालभनानीति नाथिकां प्रति सख्या  
सत्वरसंनाहः संसूच्यते । ‘दृती अभिसारिकां त्वरयितुमाह’ इति गङ्गाधरः ।

सुरतरसमततया निर्विशङ्कसंकोचं रमितवती काचिद्याकमनसि भावि भावान्तरं  
निवारयितुं रतावासाने समभिधते—

**अहरमहुपाणधारिल्लिआइ जं च रमिओ सि सविसेसम् ।**

**असह अलजिरि बहुसिक्षिरि त्ति मा णाह मणुहिसि ॥ ६१ ॥**

[ अधरमधुपानलालसया यच्च रमितोऽसि सविशेषम् । ]

असती अलजाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ मंस्याः ॥ ]

**सविशेषं रमितोसि हि यद्धरमधुपानलालसया ।**

**बहुशिक्षिता विलज्जा ह्यसतीति तु नाथ मा मंस्याः ॥ ६१ ॥**

सुरतकर्मणि बहुशिक्षिता, अलजाशीला विगतलज्जा, अत एवेयमसती इति मयि  
या विचारं स्थापयेत्यित्यैः । शिक्षा ह्यपरतो लभ्यते । ततश्च बहुर्मिर्द्व ह्यशिक्षितेयम्,  
अथवा अस्या वही शिक्षा संजातेत्युभयथाप्यर्थैः, सुरते सविशेषप्रवृत्या असतीत्वभ्रमो  
भवति । अत एव नेदं मन्तव्यमिति स भ्रमो निवार्यते । नाथेति संबोधनेन-संप्रति  
त्वमेव मेवलम्बनमिति त्वस्तनाथाया निष्कपटसमर्पितहृदयायां मयि तदाप्यकीर्तिकरो  
नायं भ्रमः समुचित इति प्रश्नयनिवेदनमसिव्यजयते । ‘असर्तीं प्रशंसता केनापि संगता  
काचिद्वसती तमाह’ इति गङ्गाधरः । असती ( अन्यगामिनी ), निलज्जा बहुशिक्षिता  
भवतीति हृदि मा स्थिरीकुर्याः । इति च तटीक्रतात्पर्यम् ।

दुर्विज्ञेयमसतीचरित्रमिल्यात्मनो लोकरहस्यवेदित्वमभिव्यज्यचागरिकः सहचर-  
माह—

खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए ।

जह जारं अहिणन्दइ भुक्ति घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥

[ खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलोऽसत्या ।

यथा जारमभिनन्दति भुक्ति गृहस्वामिन्येति ॥ ]

पानेन भोजनेन च तथा गृहीतो हि मण्डलोऽसत्या ।

जारं यथाभिनन्दति बुक्ति गृहभर्तरि त्वयति ॥ ६२ ॥

मण्डलः कुकुरस्तथा गृहीतो वशीकृतः । गृहीत इति पदेन हस्तगततासूचनादेका-  
न्तवशीकृततया अन्यानतुकूलताभावो ध्वन्यते । अभिनन्दति सपुच्छधूननं पदलोठना-  
दिना तूष्णीं तत्सागतं करोतीत्यर्थः । अनेन—निभृतं जारस्य गृहान्तः प्रवेशो ध्वन्यते ।  
गृहस्वामिनि गृहमागच्छति सति बुक्ति शब्दं करोति । तथा च—तच्छब्दसूचनया  
समाणस्य जारस्य निह्वे सौकर्यं सूच्यते । स्वामिपदपरिवर्ते गृहस्वामिपदप्रयोगेण  
‘यस्मिन् गृहे भोजन—संवेशनादिकं लभते तस्याधिकारिणं जानन्नपि बुक्तीति विशेष-  
शिक्षितत्वं द्योत्यते । ‘मण्डलं परिवौ कुष्ठे देशो द्वादशराजसु । क्वाबेथ निवहे विम्बे  
त्रिषु पुंसि तु कुकुरे ॥’ इति मेदिनी । ‘असतीरक्षणस्य दुःशक्तामसतीपति श्रावयन्ती  
काचिदाह’ इति गङ्गाधरावतरणम् । तद्विकायां ‘भुक्ते’ । ‘एति’ [ आगच्छति सति ]  
इति तु व्याकरणविरुद्धमेव ।

सततसुरतासक्तानां दुर्निवारा दौर्बल्यदशेति दयिताय दर्शयन्ती दूरदर्शिनी काचि-  
द्याधवृत्तान्तं निर्दर्शयति—

कण्डन्तेण अकण्डं पल्लीमज्जम्मि विअडकोअण्डम् ।

पझमरणाहिँ चि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता ॥ ६३ ॥

[ कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम् ।

पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता शशृः ॥ ]

कण्डूयता ह्यकाण्डे पल्लीमध्ये खविकटकोदण्डम् ।

पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन हि रोदिता माता ॥ ६३ ॥

स्वस्य विकटं स्थूलदृढत्वाहुराकर्षम् । कण्डूयता किञ्चित्क्षणेन तनुकुर्वता । पतिमरणस्य  
शोकवेदनायां यावदरोदत्तोप्यधिकं रोदितेत्यर्थः । पत्युः शौर्ययशःप्रख्यापनायामयं पुत्र  
एवावलम्बनमासीत् । अथ पारम्परिकं धनुस्तक्षता तेन पत्युर्यशःशरीरमपि समापितमिति  
पत्युरपेक्षयापि तत्कीर्तेव्याधकुटुम्बिनीषु स्वस्य समधिकगौरवावहत्वान्मरणतोऽप्यधिकं  
हुःखमित्याशयः । अकाण्डे तक्षणस्याऽनवसरे । ततश्च अशक्तत्वादेवानेन धनुः सूक्ष्मी-  
कृतमिति द्योत्यते । कण्डूयनेन नखादिद्वारा त्वक्तक्षणं लक्ष्यते । तथाच—त्वक्तक्षणेनापि

सा शौर्यवमानं मन्यते इति तस्या मनस्वितातिशयो व्यज्यते । कण्ठू-  
यनव्यापारमसमापितवल्येव पुत्रे तस्यास्तावद्वःखसिति तदतिशयः सूच्यते । पल्लीमध्य  
इत्यनेन-सर्वेषां व्याधकुलानां समक्ष एव सोयमवमानोऽभूदिति वेदनातिशयः । स्वपदेन  
पारम्परिकं खत्वं सूच्यते । ततश्च-तादशवनुस्तक्षणेन पारम्परिकी कीर्तिरवलोपितेति  
दुःखातिशयो द्योत्यते । ‘नायिकान्तरातुरकजामातृदर्शनेन खद्वितरमनुशोचन्तीं  
व्याधश्वश्रूं दृष्ट्वा काचिदाह’ इति गजाधरः । अत्तपदस्य सुप्रसिद्धं श्वश्वर्थं मत्वा सेयं  
व्याधश्या । अत्तपदस्य मात्रयोपि प्राकृते । दुर्बलस्य जामातुरपक्वीर्ला पतिमरणादधिकं  
दुःखमुत वंशधरस्य पुत्रस्येति तारतम्यं सहदैयैः परीक्ष्यम् ।

किमिति रोदिषीति सख्या पृष्ठा काचिदाह—

अमहे उज्जुअसीला पिओ वि पिअसहि विआरपरिओसो ।

ए हु अण्णा का वि गई वाहोहा कहुँ पुसिज्जन्तु ॥ ६४ ॥

[ वयं ऋजुकशीला: प्रियोऽसि प्रियसखि विकारपरितोषः ।

न खल्वन्या कापि गतिर्बाध्यौद्धाः कथं प्रोज्ज्यन्ताम् ॥ ]

वयमतिसरलनिसर्गाः प्रियसखि दयितो विकारपरितोषः ।

न ह्यन्या कापि गतिः प्रोज्ज्यन्तां कथमिवासौद्धाः ॥ ६५ ॥

वयं किल सरलस्वभावाः, हावभावादिकं किमपि न जानीमः । दयितस्तु विकारेषु  
हावभावादिपुरितोषो यस्य तादृशः । ततश्च हावभावनिपुणाभिर्महिलाभिर्महितहृदयोर्यं  
तास्वेवाधिकमनुरज्येत् । अत एव प्रियविरहशङ्क्या रुदत इति भावः । वयसिति वहु-  
त्वेन-अहुं मम सख्यादिपरिजनश्चापि सर्वे: सरलस्वभाव इति सूच्यते । हावादीनां विका-  
रपदव्यपदेशेन-कुलमहिलानामार्जवमेव स्वभावः, हावभावस्त्वस्वाभाविकतया विकार एव  
मे भावीति तत्राकृचिः सूच्यते । वयं यथा स्वस्वभावभूतमार्जवं न लजामस्तथा प्रियोपि  
हावभावप्रियतां न त्यक्तुमित्तेत्, ततश्चान्योन्यानुरागार्थं न काप्यन्या गतिरिति भावः ।  
असौद्धा वाष्पसमूहाः कथं प्रोज्ज्यन्ताम् अपनीयन्ताम् । असौद्धा इति बहुत्वेन भूयान्  
मे वाष्पनिचय इति दुःखद्वहुत्वं व्यन्यते । कथमिलनेन-निजप्रकृतिमत्यजन् प्रियः सर-  
लायां मयि संप्रति नामुरज्यति, अग्रेष्यि तथा भविष्यन् न दश्यत इति चिन्तया सन्तत-  
मशुविसरः प्रवहति, कियत्रोऽच्यतामिति तदतिशयो व्यज्यते ॥

सुदृढमनुरक्तायामपि मयि न त्वमनुरज्यसीति सवैदर्घ्यमुपालभमाना काचिज्ञा-  
यकमाह—

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्ज्ञ रञ्जिअं हिअअम् ।

राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहिचो ण रचो सि ॥ ६५ ॥

[ धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।

रागमन्तृतेऽपि हृदये सुभग लिहितो न रक्षोऽसि ॥ ]

धवलोसि यदपि सुन्दर तदपि तु मम रजितं हृदयम् ।  
रागभृतेषि च हृदये सुभग विनिहितो न रक्षोसि ॥ ६५ ॥

धवलः शुभ्रः श्रेष्ठश्च । रजितं शोणीकृतम् अनुरक्तीकृतं च । रागेण शोणिमा शोण-  
रङ्गेण वा भृते, पक्षे अनुरागेण पूर्णे । न रक्षोसि न लोहितोसि, पक्षे नानुरक्तोसि । पूर्वार्द्धे  
धवलेनापि रक्तीकरणं विसृद्धमिति विरोधः । उत्तरार्द्धे-रङ्गभृते हृदये तिष्ठतोपि रक्तावा-  
भावादतद्वृणः । ‘संगतान्यगुणान्जीकारमाहुरतद्वृणम्’ इत्यप्यदीक्षितः । आन्यामलं-  
कारान्याम् ‘त्वय्यहमनुरक्ता, परं त्वं पूर्वतोनुरक्ताया भमानुरागं दृष्ट्वा पि अनुरोधवशतोपि  
नानुरक्तोसि’ इति वस्तु व्यज्यते । ‘भृते’ इत्यनेन-रागेण उपरिपर्यन्तं पूर्णं मे हृदयमि-  
त्यतिशयो व्योत्यते । विनिहित इत्यनेन-त्वं मया स्वेच्छया हृदये स्थापितोसीति प्रकृत्यैव  
हृदयाकर्षणजो रागो व्यन्यते । एवं च-पूर्वार्द्धे सुन्दरेत्यामच्चरेण, उत्तरार्द्धे सुभगेति च  
संबोधनेन, प्रथमदर्शन एव तब हृदयादीन्यविचार्यं सौन्दर्यमात्रमुगधाहं त्वयनुरक्ताभू-  
वम् । ‘मदुपेक्षायामपि अहो कियदिव्यमनुरक्ता’ इति स्वसौभान्यदस्त्वं तु नाधुनाप्यनु-  
रज्यसीति गृह उपालम्भो व्यज्यते ।

पूर्वमनुरजितस्य पश्चादवधीरितस्य कस्यचित्प्रणयिनः पूर्वार्कष्टधनवैभवेनोज्जवलनेपर्थाँ  
काश्चन गुणहीनां नायिकामनुसरन्तं कामिनिवहमवलोक्य निजगुणोत्कर्षसूचनेन वशयन्ती  
काचित्खप्रणयिनं प्रत्यन्यापदेशेनाह—

चञ्चुपुटाहतविगलिअसहआररसेण सिक्कदेहस्स ।

कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलम् ॥ ६६ ॥

[ चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्कदेहस्य ।

कीरस्य मार्गलग्गं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥ ]

चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्कदेहस्य ।

कीरस्य मार्गलग्गं भ्रमरकुलं भ्रमति गन्धान्धम् ॥ ६६ ॥

चञ्चुपुटेन आहतः अतएव विगलितः प्रस्तुतो यः सहकारस्तद्रसेन । निरनुरोधस्य  
कीरस्य कीर्तनेन-खार्थवशाया नासाशक्त्वाःप्रीतिः, अत एवानया पूर्वप्रणयी परिखक्त इति  
हेला सूच्यते । सहकारे चञ्चुपुटाहतेत्यादिविशेषणेन-छलबलप्रयोगैरनया पूर्वप्रणयी परि-  
भूतस्ततोपि सुजनेन तेन अशेषं मण्डनादिकमेव वितीर्णमिति तत्सौजन्यं नायिकायाश्च  
दुःशीलत्वं सूच्यते । गन्धान्धमित्यनेन-कामान्धतया गुणपरिचयशून्यम्, भ्रमरेत्यनेन-  
खभावत एव कामिनीषु भ्रमणशीलमिति नास्य गुणपरिज्ञानपाठवमित्यवज्ञा व्यज्यते ।  
तथा च-‘अस्थिरप्रणयां बहिरेव दर्शनीयामिमां लोका मुद्यैवानुसरन्ति । निरनुरोधा नेय-  
मेवसंमानोचिता । अभिनन्दनीयगुणाया मम प्रणयपरिचयमग्रतस्त्वमनुभविष्यसि’ इति  
शृण्वन्तं कान्तं प्रत्यभिव्यज्यते ।

रात्रिनिवासं प्रार्थयमानमुद्दिनमदनाङ्करं पथिकं प्रति प्रोषितपतिका खयंदूतिका  
साकूतमाह—

एत्थ पिमज्जइ अचा एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो ।  
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मा महँ सथणे पिमज्जिहिसि ॥ ६७ ॥

[ अत्र निमज्जति श्वश्रूत्राहमत्र परिजनः सकलः ।

पथिक रात्यन्ध[क] मा मम शयने निमद्धयसि ॥ ]

श्वश्रूत्र निमज्जस्यत्राहं चात्र परिजनः सकलः ।  
रात्यन्ध पथिक मा मा शयनीये नौ निमद्धयसि हि ॥ ६७ ॥

अत्र अत्रेति त्रिः पृथक्युथक् त्रयाणां स्थाननिर्देशार्थम् । निमज्जति निःस्पन्दं शेते । निमज्जतिपदेन—‘श्वश्रूः सविधे वर्तमनेति भीतिर्भनसि नानेया । इयं हि विथिलज्जाकायां खद्गायां जरत्तरत्वेन निःस्पन्दं परिपतति । अत एव मन्त्रहृष्टपूपनिमग्राया नास्या भयम्’ इति शङ्काराहिल्यं व्यज्यते । ‘अहं’ पदेन सह ‘स्वपिमि’ इत्यादिस्वापबोधकपदानुकल्या—मन्मथोन्माथमयी सोत्कण्ठाहं न रात्रौ निद्रां लभे, अत एव प्रतीक्षिणी स्थास्यामीत्युक्त-ण्ठातिशयो ध्वन्यते । ‘अत्र सकलः परिजनः’ इति पृथक्युथक् स्थानसिङ्गतेन निर्दिश्य ‘सकल’पदेन ते सर्वे सह संविशन्तत्त्विरं ख्वर्गर्यवार्ताविनोदेन विरकालोत्तरं शयना च कथंचिदप्यसद्वर्गस्य वार्तामपि रात्रौ प्रत्ययन्तीति सूच्यते । वास्तवे तु ‘एत्थ अहं दिअ-है पलोएहि’ इति पाठः । ततश्च ‘आत्राहं दिवसके प्रलोकय भोः’ इत्यनेन—‘त्वं रात्यन्धः’ अत एव ‘कः कुत्र शेते’ इति दिवसे सम्यक् प्रलोकक्षुः इति पथिकं प्रति सूच्यते । तथा च—‘मदनशरशीणिहृदयस्त्वमिलहं जाने, परं पामरो दिवसकोऽयम् ( कुत्सायां कर् ) । अस्मच्छ्रेयःप्रतिकूलत्वात्कुतिसोयमिलर्थः । न च रात्रिं यावदधीरेण भाव्यम् । यतोऽ-त्रैवाहम्, तत्प्रलोकय । नान्यतो गच्छामि । तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिवसहत-कसिममतिवाहयावः’ इति योत्वते । आगतमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शयनायां मा श्लिक्षः । अपि तु निभृतनिभृतमेत्य दत्तावधाननिकटकण्ठकनिद्रान्वेषणपूर्वकं मम शयनीये निलीनो भविष्यसि [ इति ‘निमद्धयसि’ पदद्योयम् ] । ‘पथिक ! रात्यन्ध !’ इति संबोधनद्वयं रहस्यगोपनाय । यतः पथिकत्वेन श्रमवशास्थानविस्मरणसंभवः । रात्य-न्धत्वेन शयनायां पतनप्रसङ्गसंभवः । अन्यथा ‘आवयोः शयनायां मा निमद्धयसि’ इत्य-प्रसक्तनिषेधेन रहस्यमङ्गापत्तेः । एवं च रात्यन्धताव्याजशिक्षणेन—कदाचिदैववशान्किक-टक्टकप्रबोधिपि नात्मनो दोषः प्रतीतो भवेदित्याकृतम् । तथा च—‘संप्रति गृहे श्वश्रू-रहं चेति द्वावेव । श्वश्रूश्च जरत्तरत्वेन निःस्पन्दा बधिरा च मन्त्रहृष्टपूपे निकामं निम-ज्जति । गृहे बहिर्जनसंचारस्तु नास्त्येव । अतो रात्यन्धताव्याजभूमिकामवलम्ब्य निःशङ्कं ममैव शयनायां निभृतं निलीनो भव’ इति वक्त्रबोद्धव्ययोर्वैशिष्यादभिव्यज्यते । ‘महँ’ इत्यावयोरित्यर्थे निषातः, न तु ममेत्यर्थे । आत्ममात्रनिर्देशेन रहस्यमङ्गापत्तेः । अत एव आलोक‘लोचने’ ‘महँ ण मज्जिहिसि’ इति पाठं मत्वा ‘महँ’ इति निपातो-डनेकार्थवृत्तिः अत्रावयोरर्थे न तु ‘ममेति’ इत्युक्तम् । एवं काव्यप्रकाशटीकाकृद्धरपि

‘भर्तु इति निपात आवयोरथे न तु भमेति’ इति स्पष्टमुक्तम् । एवं सति गङ्गाधरस्त्रीकृतच्छायायां भमेति पाठः प्रामादिक एवेललम् ।

विरहवेदनाया विषमत्वं व्यञ्जयन्ति विरहिणी वयस्यामाह—

**परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइं सोखखाइं ।**

**ताइं च्चिअ उण विरहे खाउगिगणाइं कीरन्ति ॥ ६८ ॥**

[ परितोषसुन्दराणि सुरतेषु लभन्ते यानि सौख्यानि ।

तान्येव पुनर्विरहे खादितोद्दीर्णानि कुर्वन्ति ॥ ]

परितोषसुन्दराणि हि विभ्रति सुरतेषु यानि सौख्यानि ।

**विरहे तान्येव पुनर्भुक्तोद्दीर्णानि कुर्वन्ति ॥ ६८ ॥**

सुरतेषु सर्वविधपरितोषेण सुन्दराणि अभिनन्दनीयानि यानि सौख्यानि महिलाः विभ्रति धारयन्ति लभन्ते इति यावत् । ताः महिलाः विरहे तान्येव सुखानि पूर्वं भुक्तानि पश्चादुद्दीर्णानि कुर्वन्ति । संयोगवेलायां भुक्तानि (पूर्वमनुभूतानि) तान्येव सुखानि विरहे उद्दीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । ‘तथा च नेमानि विरहदुःखानि किंतु पूर्वं भुक्तानि सुखान्येवोद्दीर्णानि एतद्रूपेण परिणतानीत्यपहुस्यलंकारो व्यञ्जयः ।’ इति गङ्गाधरः । परितोषसुन्दराणीति सुखविशेषणे-अत्यभिसचिततया समागमसमये साभिलाषं बहूनि सुखान्यनुभवन्ति कामिन्यः, ततश्च विरहे तान्येव बहुदुःखात्मकानि भवन्तीति पीडातिशयहेतुत्वं व्यञ्जयते । उद्दिरणसमये यथा उदरस्थमन्यदपि सर्वं भुक्तं बहिर्भवति तथा सुरतसुखातिरिक्तान्यन्यान्यपि सुखानि सर्वाणि दुःखात्मकानि भवन्तीत्युद्दीर्णपदेन योत्पत्ते ।

पीनोन्नतपयोधरायाः कस्याश्विद्वारशोभावर्णनव्याजेन निजाभिलाषं साकृतं सूचयन्कश्चिदाह—

**मार्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणँ थणआणम् ।**

**उद्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो इव ॥ ६९ ॥**

[ मार्गमिवालभमानो हारः पीनोन्नतयोः स्तनयोः ।

उद्विग्गो अमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥ ]

**मार्गसिवालभमानो हारः पीनोन्नतस्तनयोः ।**

**आम्यत्युरसि विचलितो यमुनायाः फेनपुञ्ज इव ॥ ६९ ॥**

विचलितः उद्विग्गः, इतस्तो लुठञ्जिति यावत् । गण्डशैलयोर्मध्यगतो यमुनाफेन-पुञ्जः प्रसरणमार्गमलभमानो यथेतस्तो आम्यति तथा पीनोन्नतयोः स्तनयोर्मार्गमप्राप्य चब्बलः सन् हारस्तव वक्षसि विलुठतीत्यर्थः । मार्गस्यात्रासौ पीनत्वमुच्चतत्वं च हेतुः । चब्बलतया अमणे च मार्गस्यात्रासिर्हेतुः । तत्र तथा पीनौ पयोधरौ यथा हारस्यापि चावक्षातः । अत एव स उद्विग्गः सशितस्तो अमतीस्यात्रायः । यमुनाफेनसादश्येन

हारे किञ्चित् श्यामता सूचिता । ततश्च-स्तनमुखशयामतया हारोपि तत्प्रतिच्छायया श्यामायित इति व्यज्यते । तथा च-स्तनमुखशयामतया लक्षितसत्त्वाधाना त्वं संप्रति नोपमोगयोग्येति तव पीनोद्धतस्तनावकाशमलभमानोऽहमुद्दिश्मो मनसि खिये इति नायिकां प्रति मनोभिलाषो व्यन्यते ।

शिशुनापि एकाकिना सचिवसुनुना राजपुरुषगोषीमधितिष्ठता तेन कियान्वा परितः प्रभावः प्रसारित इति क्षमित्वन्यापदेशविधयाह—

**एकेण वि वटबीजाङ्कुरेण सअलवणराङ्गमञ्जस्मि ।**

तह तेण कओ अप्या जह सेसदुमा तले तस्स ॥ ७० ॥

[ एकेनापि वटबीजाङ्कुरेण सकलवनराजिमध्ये ।

तथा तेन कृत आत्मा यथा शेषदुमास्तले तस्य ॥ ]

**सकलवनराजिमध्ये ह्यपि वटबीजाङ्कुरेण चैकेन ।**

तेन तथा कृत आत्मा यथा हि शेषदुमास्तले तस्य ॥ ७० ॥

वटबीजाङ्कुरेण एकेनापि सता तथा आत्मा कृतो यथा शेषास्तदितरे दुमास्तस्य तलेऽभवन् । उत्तुज्जतया विस्तृततया च सर्वे वृक्षा नीचीभूता अभवन्नित्यर्थः । तथा च-एकाकिनापि तेन प्रतिद्विन्दिमण्डले तथोद्धतिरासादिता यथा सर्वैपि विपक्षाः परिभूता इवाभवन्निति व्यज्यते । वटाङ्कुरेत्येव वक्तव्ये वटबीजाङ्कुरेणेलनेन-मया बीजाङ्कुरेण वृक्षस्तेन च क्रमादेवमुच्छ्रायः संपादित इति सूच्यते । ततश्च साम्प्रतमेव लघवजन्मना शिशुना तथोक्तर्षः संपादित इति त्वरितोद्धतिरौद्योग्यते । शेषा दुमा नीचीभूता इत्यस्य स्थाने तलेऽभवन्नित्युक्त्या-एकस्य वृक्षस्य तले यथानये वृक्षा न यथावदुपचयमुपगच्छन्ति तथा एतदभिभूतानां पुरुषाणामुच्चितरेव नाऽभवत्, तस्य परिभवस्तु कुत इत्यतिशयो व्यज्यते । 'मूढेनापि तरुणा उत्कर्षाय चेष्टितं त्वं पुनर्मेद्यावैश्यप्रभवः कथं न यतस इति निरुद्योगं क्षमित्प्रत्युपदेशो व्यज्यः' इति कश्चित् । 'राजसंनिधौ तिष्ठता तेन भग्न मित्रेण कि संपादितमिति पृष्ठः कश्चिदाह' इति गङ्गाधरः । अङ्कुरपदस्य स्वारस्यमत्रान्वैषणीयमेव ।

गुणवन्तो न बहुधा धनवन्तोपि भवन्तीति सवैदग्ध्यमुपपादयन्कश्चिद्द्विद्वयं संवोध्याह—

**जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विडङ्गुविष्णाणा ।**

**दारिद्र्ये विअक्खण ताणं तुमं साणुराओ सि ॥ ७१ ॥**

[ ये ये गुणिणो ये ये च लागिणो ये विदग्धविज्ञानाः ।

दारिद्र्ये विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि ॥ ]

ये ये गुणिणो ये ये च दानिणो ये विदग्धविज्ञानाः ।

**दारिद्र्ये विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि ॥ ७१ ॥**

गुणिनः दान-वैदर्घ्य-वैदुष्येभ्योऽन्येषि गुणा येषाम् ते, विदर्घं निपुणं विज्ञानं येषाम्, विज्ञाने निपुणा इति यावत् । अनेन तेषां सर्वतोमुखं वैदर्घ्यमित्यतिशयो ध्वन्यते । अथवा विदर्घाश्च विज्ञानाश्चेति द्वन्द्वः । विदर्घाश्चतुराः, विज्ञाना विशिष्टं ज्ञानं येषाम् । विज्ञिष्टा विद्रांस इत्थर्थः । विचक्षण चतुर । निर्गुणान्विहाय गुणिष्वनुरज्यसीति स्पृष्टं ते चातुर्यमिति भावः । तान् पीड्यसीति वक्तव्ये सानुरागमसीत्युक्त्या-अनुरक्तो यथा कंचित्पुरुषमाश्रयत्वपि प्रेमवशात्त्र पीड्यति, तथा त्वं तेषां तं क्लेशं नोत्पादयति येन ते विरज्येयुरिति सूच्यते । तथा च-गुणिनो दारिद्रेषि प्रसन्ना एव तिष्ठन्ति, नात्मावसादं गच्छन्तीति मनस्सितातिशयो ध्वन्यते । अथवा-प्रेमिक इव नैतान्परिल्यजसीति सतत-साहचर्यं सूच्यते । विचक्षणेति सुभगं संबोध्य, ‘रे’ इति नीचसंबोधनेन-वास्तवेनाधममपि त्वं गुणिजनानुरागवशाद्वर्दर्शितया प्रशास्यमिवासीति निन्दाप्रशंसयोः सांकर्यं सूच्यते ।

नायिकामुत्कण्ठयिरुदृती नायिकाया मुखचन्द्रशोभामेवमुपवर्णयति—

जइ कोचिओ सि सुन्दर सअलतिहीचन्द्रदंसणसुहाणम् ।

ता मसिणं मोइजन्तकञ्चुअं पेक्खसु मुहं से ॥ ७२ ॥

[ यदि कौतुकिकोऽसि सुन्दर सकलतिथिचन्द्रदर्शनसुखानाम् ।

तन्मसृणं मोच्यमानकञ्चुकं प्रेक्षस्व मुखं तस्याः ॥ ]

सुन्दर यदि कौतुकिकोसि सकलतिथिचन्द्रदर्शनसुखानाम् ।

तन्मोच्यमानकञ्चुकमीक्षस्व मुखं मसृणमस्याः ॥ ७२ ॥

द्वितीयादिसकलतिथिषु यानि चन्द्रदर्शनस्य सुखानि तेषां यदि त्वं कौतुकवानसि तर्हि मसृणं मन्दं यथा स्यात्तथा, शनैः शनैरिति यावत् । मोच्यमानं विसुज्यमानं कञ्चुकवृं शं ‘कुरती’ इति ख्यातं यस्मात् ईश्वरम् अस्याः ( नायिकायाः ) मुखं वीक्षस्व । परस्परा-प्रिल्पोर्ध्वाकृतमण्डलायितबाहुलतिकं प्रतिलोमकमेण कञ्चुकावतारणसमये मुखमण्डल-त्वमशः कञ्चुकावरणापसरणेन चिवुकादिभागस्य क्रमकमेण दर्शनं भवति । अन्ते च संपूर्णमपि मुखमण्डलमपगतावरणं भवति । एवंकमेण दृष्टचिबुकादिपर्यन्तभागस्य मुखस्य क्रमिकावस्थासु द्वितीयादितिथिषूदितस्य चन्द्रस्य साम्यं कलिपतमित्याशयः ।

सुन्दरेत्यामच्छेण-त्वं तु सौन्दर्याभिमानं वहस्येव परं पश्य तस्याः सौन्दर्यमित्या-कूतम् । अथवा-यथा त्वं सुन्दरोसि तथैव त्वत्तोप्यतिशयितसौन्दर्या साप्यसीति पश्य ते सौभाग्यमिति प्ररोचनाभिव्यज्यते । ‘कोपि साभिलाषः कस्याश्चिन्मुखचन्द्रं वर्णयति’ इति गङ्गाधरः ।

श्रीघावसानेऽप्यनागतो दयितः संप्रति प्रतिपथमुज्जिभतपयः प्रकर्षसु वर्षासु कथ-मागच्छेदिति भयविह्वला काचित्समाश्वासयन्तीं सर्वीं प्रल्याह—

समविसमणिविसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंचारा ।

अहरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुष्टङ्गा ॥ ७३ ॥

[ समविषमलिंगिरेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः ।

अचिराङ्गविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥ ]

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः ।

अचिरान्मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या भवन्ति पन्थानः ॥ ७३ ॥

हरिततृणाच्छब्रतया जलपूर्णतया वा अलक्षितोचावचस्थलाः । अत एव वा पिञ्चिलतया वा मन्दमन्दं संचरण येषु तादशाः, मार्गं मनोरथानामपि दुर्गमा अचिरादेव भवन्ति भविष्यन्ति । प्रावृद्धिं प्रक्रान्ता, अत एव मार्गे गतागतमतिशीघ्रमेव रुद्धं स्यादिति शैद्र्यातिशयसूचनाय भविष्यन्तीति स्थले भवन्तीत्युक्तम् । ‘वर्तमानसामीये वर्तमानवद्वै’ ति लद्ध । पन्थान इति बहुत्वेन आमागमनस्य सर्वेषि मार्गं रुद्धा भवेयुरिति सूच्यते । लोका मार्गलङ्घनस्य मनोरथमपि न करिष्यन्ति किं पुनस्तदारम्भमिति, वाञ्छब्रयपि प्रियतमो विवशतया नागन्तुं शक्त्यादिति भावः । ‘संकेतस्थलान्तराभावेन मार्गासन्नकुञ्जादौ दत्तसंकेतां कांचित्प्रति, वर्षां विना जनसंचारजुषं तत्स्थलं न संग्रति संकेतयोग्यं सत्यां वर्षायां तथा स्यादिति’ सूचयन्त्याः सख्या वा सेयमुक्तिः ।

वंशकुञ्जे प्रियं संभुज्य परावृत्तायाः पुत्रवधाः शिरोञ्चले कुञ्जलमानि वंशपत्राणि दृष्ट्वा तदपराधसंसूचनेन साकृतमुपहसन्त्यां श्वश्रां पुत्रवधूपि सापराधां तां समुचितमुत्तरमाह—

अदीरीहराइँ बहुए सीसे दीसन्ति वंसवत्ताइँ ।

भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणे वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥

[ अतिदीर्घाणि वधाः श्रीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि ।

भणिते भणामि श्वश्रु युध्माकमपि पाण्डुरं पृष्ठम् ॥ ]

अतिदीर्घाणि हि वधावा दृश्यन्ते शिरसि वंशपत्राणि ।

श्वश्रु भणिते भणामः पृष्ठं युध्माकमपि पाण्डु ॥ ७४ ॥

अतिदीर्घाणीत्यादि भणिते एतत्कथनस्योत्तरे । हे श्वश्रु वयमपि भणामः ‘युध्माकमपि पृष्ठं पाण्डुरम्’ इति । निरास्तरणभूमौ कृतसंभोगायासत्वापि पृष्ठे तच्छिंहं स्फुटमङ्कितमिति किं मामेवोपहसन्सीस्याशयः । युध्माकमिति श्वश्रुं ग्रत्यादरकृतं बहुत्वम् । भणाम इति स्वस्मिन्दावस्त्रकेन बहुवचनेन तु—‘किं मच्छिद्राण्युद्धाटयसि । अहमपि ते सर्वं रहस्यं वेद्यि’ इत्यात्मनोऽभिमानो ध्वन्यते । अतिदीर्घाणीति विशेषणेन—पवनोडीनान्येतानि लम्बानीत्युत्तरावकाशस्थगनं ध्वन्यते । अतिदीर्घाणां तेषां पवनैरहर्षत्वात् । अत्ता इति श्वश्रूसंबोधने देशी । ‘पुट्ठी’ इति पृष्ठशब्दस्य प्राकृते श्वीत्वं प्रसिद्धं त्रुत्वासनात् ।

नायिकाया मानं विलोक्य विरक्ता सेति भ्रमेण विरज्यमानं नाथकं बोधयितुं ब्रह्मा दूतीदमाह—

अत्थकरुसणं क्षणपसिङ्गणं अलिअवअणणिबन्धो ।  
उम्मच्छरसंतावो पुत्रअ पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥

[ आकस्मिकरोषकरणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः ।

उन्मत्सरसंतापः पुत्रक पदवी स्तेहस्य ॥ ]

अप्याकस्मिकरोषः क्षणप्रसादो ह्यलीकनिर्बन्धः ।

उन्मत्सरसंतापः पुत्र स्तेहस्य पदवीयम् ॥ ७५ ॥

अत्थकेति आकस्मिके अद्भुते वा देशी । अकस्मादेव रोषकरणं क्षण एव प्रसादः (अपरस्य प्रसादनं स्वयं प्रसदनं च) मुवैव निर्बन्धः आग्रहः । अथवा अलीकवचनेषु मार्गः । ‘उन्मच्छरेति बहुले’ इति गङ्गाधरः । तन्मते—बहुलः संताप इत्यर्थः । ‘उन्मूच्छनसंतापः’ इति पाठं स्तीकृत्य ‘उन्मूच्छनं प्रतिकूलवाचा प्रकोपनम्’ इति गङ्गाधरतोपि ग्राचीना टीका । पुत्रेत्यामन्वयेन—त्वं स्तेहपात्रमिति बहुभवाहं हितं तवोपदिशामीति व्यञ्जयते । एवं च—सेयमनुरागातिशयवशादेव त्वयि नानाविधान्मानमार्गानवलम्बते । नात्र विरक्तगन्धोपीति स्तेहातिशयशालिन्यामेतस्या प्रेमविदरधर्यर्थयैव व्यवहर्तव्यमिति दूत्याश्रमं व्यञ्जयम् ।

जनसंकुले स्थले निभृतमन्योन्यालोकने संपन्नेपि कटाक्षादिमविक्षिपन्तीं नायिकामनुरक्तेति संदिहानं नायकं प्रोत्साहयन्ती दूती सवैदरध्यमाह—

पिज्जइ कर्णाञ्जलिहिं जणरवमिलिअं वि तुज्ज्ञ संलावम् ।

दुर्घं जणसंमिलिअं सा बाला राजहंसि व ॥ ७६ ॥

[ पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।

दुर्घं जलसंमिलितं सा बाला राजहंसीव ॥ ]

कर्णाञ्जलिभिर्निपिबति जनरवमिलितमपि हि तव संलापम् ।

दुर्घं जलसंमिलितं सा बाला राजहंसीव ॥ ७६ ॥

‘अत्र पिबतीति कर्त्रये पीयते इति कर्मप्रत्ययः । प्राकृते लिङ्गवचनमत्त्वमिल्याद्यतु-शासनात् । अथवा सा बाला राजहंसीवेति प्रथमा तथा राजहंस्येवेति तृतीयार्थे । तथा च पीयते इति यथाश्रुतमेव व्याख्येम् ।’ इति गङ्गाधरटीका । वस्तुतस्तु ‘पिज्जइ’ पीयते इलत्र कर्त्रये: पीड़ पाने धारुः । संलापं पिबतीत्यस्य सातिशयं शृणोतीति लङ्घयम्, तेन च प्रेमातिशयो व्यञ्जयते । जलसंमिलितं दुरधमिवेत्यनेन—अन्येषां वचनानामपेक्षया लवद्वचने कियदू गौरवमिति प्रोत्साहनं ध्वन्यते । राजहंसीवेत्युपमया—हंसी यथा नीरक्षीरविवेके परमचतुरा तथा कोलाहलमिलितस्यापि भवद्वचसः: प्रेमातिशयवशात्वदन्यवचोवैजात्यै स्फुटमवगच्छन्तीं सा परमविदरधा, अन्यैरसंपर्काद्विशुद्धा, उत्तमतयाऽतिशयकामनीया चेति ध्वन्यते । बालेत्यनेन—भवन्तं दृष्ट्वापि जन-

संर्मद्ववशात्संकुचन्ती सा नैसर्गिकमौग्ध्यवशाच्च कटाशादिद्वारा त्वदाकर्षणयत्रं कृतव-  
तीति नाथिकाया निरुपाधिकः प्रेमाभिव्यज्यते । अङ्गलिपदेन-अतिशयपिपासितस्य  
चेष्टां संसूच्य नायकवचःश्रवणे सुभृशोत्कण्ठा ध्वन्यते । एवं च-त्वदर्शनार्थं पूर्वत एव  
परमसुकण्ठिता सा कोलाहलमिलितमपि भवत्कण्ठरवभाकर्ष्णे भवद्वावनामीलितनयनं  
दत्तकर्णंतया पुलकितसर्वाङ्गी निश्चलनिष्ठेषमवतस्थ इति सुभृशमतुरका सा नान्यथा  
संदेगधव्येति दूत्याभिव्यज्यते ।

प्रियतमस्य गुणगणमतुरागवशात्पुनः पुनर्दूतीभिपृच्छन्ती नाथिकां प्रति काचि-  
त्सखी साकृतमाह—

अह उज्जुए ण लज्जसि पुच्छज्जन्ती पिअस्स चरिआइं ।

सवङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धी(दीर्घ)हिं ॥ ७७ ॥

[ अथि क्रज्जुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।

सर्वाङ्गसुरभेर्मरुवकस्य किं कुसुमरिद्धिभिः ॥ ]

क्रज्जुकेयि लज्जसे नो प्रियस्य चरितानि पृच्छन्ती ।

कुसुमसमृद्धिभिरिह किं सर्वाङ्गसुरभितस्य मरुवकस्य ॥ ७७ ॥

‘पिण्डीतको मरुवकः प्रस्थपुष्पःफणिज्ञकः’ इत्यमरः । ‘मरुआ’ इति स्वातः ।  
पत्र-शाखादिषु सर्वत्र सुरभितस्य मरुवकस्य सौरभनिमित्याय पुष्पं यथा नाथिककामनीयं  
तथा सहजसौन्दर्यपौष्ट्रवादिगुणगणालंकृतस्य तस्य किंवा गुणान्तरपृच्छाव्यापारेणेति  
भावः । अथि क्रज्जुके इत्यनेन-क्रज्जुकतयैव त्वं पुनः पुनः पृच्छसि, तथा च क्रज्जुका त्वं  
दूतीसमुदीरितेषु गुणेषु निःसंशयं विश्वसिहि । कृतं प्रश्नायासैरिति सख्याभिव्यज्यते ।

सहजविग्नधलोहितौ हस्तौ विलग्नधातुरागाविति विश्रमेण वारं वारं प्रक्षालयन्ती  
मुग्धां नाथिकां निवारयितुं दूती आह—

मुद्दे अपत्तिअन्ती पवालअङ्कुरअवण्णलोहिअए ।

णिद्वोअधाउराए कीस सहस्ये पुणो धुअसि ॥ ७८ ॥

[ मुग्धेऽप्रत्ययन्ती प्रवालाङ्कुरवर्णलोहितौ ।

निधौतधातुरागौ किमिति स्वहस्तौ पुनर्बावयसि ॥ ]

अप्रतियती प्रवालाङ्कुररुचिरस्त्रिग्नधलोहितौ मुग्धे ।

निधौतधातुरागौ किमिति मुधा धावयसि हस्तौ ॥ ७८ ॥

प्रवालाङ्कुरवत् रुचिरौ लिङ्गबौ लोहितौ च स्वहस्तौ निधौतधातुरागौ अप्रतियती  
( प्रत्ययमकुर्वणा ) न विश्वसती त्वं मुधा किमिति प्रक्षालयसि । प्रवालस्यापि नवीनोङ्कर  
इति लिङ्गधललौहित्यातिशयः सूच्यते । नाथिकाया मुग्धत्वं तदस्तादेषु साहजिक-  
रागवत्त्वं च संसूच्य तटस्थं नायकमुक्तण्ठयन्त्वा दूत्याः सख्या वा सेयमुक्तिः ।

निःशेषितधनत्वैपि परिसरमस्यजतो भुजज्ञान् शरद्धनवर्णनव्याजेन निन्दन्ती  
वेश्यासखी तां प्रति साकृतमाह—

**उअ सिन्धवपव्वअसच्छहाइँ धुअतूलपुञ्जसरिसाइँ ।**

**सोहन्ति सुअणु मुकोअआइँ सरए सिअब्भाइँ ॥ ७९ ॥**

[ पश्य सैन्धवपर्वतसदक्षाणि धुतदूलपुञ्जसदशानि ।  
शोभन्ते सुतनु सुकोदकानि शरदि सिताआणि ॥ ]

**सैन्धवपर्वततुल्यानि पश्य धुतदूलपुञ्जसदशानि ।**

**सुकोदकानि सुतनो शरदि सिताआणि शोभन्ते ॥ ७९ ॥**

पर्वतसाद्येन—कठोरत्वं जडत्वं च, सैन्धवेत्यनेन द्रुतद्रवशालितया अस्थिरमनस्कत्वं  
च सूच्यते । तूलसाद्येन—स्वाभाविकं लाधवम्, धुतेत्यनेन बहुशस्तिरस्कृतत्वं च  
द्योलते । अभ्रपदेन—अत्युच्चरपि रिक्तमेंथैर्यथा न फलसिद्धिस्तथा कौलीन्यादिमहिमा  
उच्चतैरपि निर्धनैर्जनैः किं नः फलमिति सूच्यते । शोभन्त इति साकूतोक्तिः । निःशे-  
षितधना इमे न भान्तीति व्यङ्ग्योर्थः । मुक्तोदकपदेन—समापितधनत्वं तु स्फुटमेव ।  
तथा च सुतनु इत्यामत्रणेन—संप्रति नवयौवने स्वाभाविकसौन्दर्यशालिनी त्वं निःशे-  
षितधनतयाऽसदादीनामनभिप्रेतेषु भुजज्ञेष्वेतेषु वाह्यसौष्ठवमात्रमालोक्य न प्रसक्ता  
भविष्यसीति सख्या ध्वन्यते । ‘सुअण’ इति पाठे तु सुजनेति पथिकसंबुद्धिः । तथा  
च प्रावृद्धपरिसमाध्या मार्गाणां यात्राक्षमतया साम्प्रतं देशान्तरगमनेन द्रव्यादिकर्मज-  
नीयम्, न निश्चेष्टतया स्थातव्यमिति हितचिन्तकः कक्षित्तं प्रति भज्या सूचयतीति  
तात्पर्योर्थः । ‘वर्षांगमनेन दुखितां नायिकां शरत्कालोपगमेन स शीघ्रमायास्यतीति  
समाध्वासयन्ती सखीदभाह’ इति गङ्गाधरः ।

त्वां सुखगितुं सततमनुवर्तमानामपि मत्सखीं कुशलप्रश्नादिनाप्यसंभावयन् हन्त  
हन्त स्वार्थमात्रप्रवणस्त्वं सर्वथा पराङ्मुखोसीति नायकमुपालभमाना नायिकासखी  
अन्यापदेशविधयाह—

**आउच्छन्ति सिरेहि विवलिएहि उअ खंडिएहि णिज्ञन्ता ।**

**णिप्पच्छिमवलिअपलोइएहि महिसा कुडज्ञाइँ ॥ ८० ॥**

[ आष्टच्छन्ति शिरोमिर्विवलितैः पश्य [खंडिकैः] नीयमानाः ।

निःपश्चिमवलितप्रलोकितर्महिषाः कुज्ञान् ॥ ]

**पश्य शिरोमिर्विवलितैः कौटकिकैर्नीयमाना हि ।**

**आपृच्छन्ते कुज्ञान्निःपश्चिमवलितवीक्षणैर्महिषाः ॥ ८० ॥**

वलितैः पृष्ठोऽवलोकनार्थं परावतितैः शिरोमिः ( उपलक्षिताः ) ‘खंडि(टि)एहि’  
कौटकिकैः पशुहिंसाजीवैः ‘खटीक’ इति भाषा । नीयमाना महिषा निःपश्चिमानि

अनितमानि वलितानि परावर्तितानि च यानि वीक्षणानि अवलोकनानि तैः ( तद्वारा ) कुञ्जान् आपृच्छन्ते गमनानुमतिप्रश्नं कुवन्तीस्यर्थः । पशुषु निकृष्टा महिषा अपि येषु कुञ्जेषु निर्भरनिदाघमध्याहौ निबिडच्छायामुपलभ्य सुखमासादितवन्तस्तेपि तेषां कुञ्जानां वियोगवेलायां दुःखमनुभवन्ति । अत एव विषादनीरवं पुनः पुनः परावृत्त्य पद्यन्ति । रसिकंमन्यस्त्वं तु ततोप्यधमोसि, यत्तां निष्कर्षणमेवमवमन्यसे इति सख्या अन्यते । कौटकिकैर्वीयमाना इत्यनेन—हिंसार्थे बलादाकृष्टाः परवशा अपि ते कृतज्ञतां न व्यस्ता-र्षुभवांस्तु स्वतन्त्रोपि न तां प्रक्षमात्रेणापि संमानितवानिति गृह्यमुपालभ्यते । ‘संकेत-स्थानकुञ्जानां महिषासांनिध्येन दुरासदत्वात्क्षयन्तं नायकं विद्यन्तीं वा नाथिकां प्रोत्सा-हयन्ती काचिदाह’ इत्यवतरणं विधाय—‘खडिएहि’ इत्यस्य ‘खडिकैः’ इति अदत्तकोषतया अस्यष्टैव गजाधरकृता छाया । किन्तु ‘खटिएहि’ तत्रोचितः पाठो यस्यार्थः पशुहिंसा-जीवी । महिषापगमेन कुञ्जा इहानीं निराबाधसंकेतस्थानतामुपगता इति तत्तात्पर्यम् । आपृच्छन्तीति तच्छायाप्रयोगस्तु ‘आङि तु प्रच्छ्योः’ इत्यनवर्मशनमूलको विच्छाय एव ।

मणिडास्यखिलासु महिलासु दरिद्र्यकृतेन मण्डनाभावेन विषीदन्तीं काङ्क्षन सुन्दरीं समाश्वासयन्तीं काचिद्व ज्ञातिपुरन्त्री आह—

पुसउ मुहं ता पुत्रि अ वाहोअरणं विसेसरमणिज्ञम् ।

मा एअं चिअ मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥ ८१ ॥

[ प्रोञ्छस्व मुखमण्डनमिति करिष्यसि पुनरपि ॥ ]

मा इदमेव मुखमण्डनमिति विशेषरमणीयमश्रुमण्डनकम् ।  
प्रोञ्छायि पुत्रि वदनं विशेषरमणीयमश्रुमण्डनकम् ।

इदमेव हि मुखमण्डनमिति मा पुनरपि करिष्यसि प्रसभम् ॥ ८१ ॥

अथि पुत्रि ! अशु एव मण्डनं मण्डनोपकरणं यस्य तथात्वेपि विशेषरमणीयं वदनं ग्रोञ्छ मार्जय । किंवा, वदनं ग्रोञ्छ । सहजसुन्दर्यस्तव अशु एव मण्डनं विशेषरमणीयं भवति । परम्, इदमेव मुखमण्डनमिति मत्वा पुनरपि नेदं करिष्यसि, नेतः परं रोदितव्यमित्यर्थः । तथा च—नैर्सिंगिकसौन्दर्यमण्डनमणिडतायास्तव यत्किञ्चिदपि मण्डनाग्रितं भवति । पश्य, वदनविधुविच्छ्रुतिस्तव बाष्पिविन्दवोपि रामणीयकमेव संपादन्ति, ततः किंवा फलं मोघेन मण्डनान्तरेणल्याशयः । पुत्रीस्येन—वात्सल्यमाजनतया त्वं हितमुपदिश्यसे न प्रतार्थस इत्यभिन्नज्यते । ‘निजदारिद्रेणाशु विमुद्धन्तीं नायिकां समाधासप्तन्ती दूरी आह’ इति गङ्गाधरः । दरिद्रेयं मण्डनमिच्छति, तथा च मण्डनादिदाने धनिनां सुखसाध्येति तटस्यं प्रति सूचयन्त्या दूल्या वा उक्तिः । गङ्गाधरच्छायायां प्रोञ्छस्वेत्यात्मनेपद्ययोगस्तु विचारणीय एव ।

मार्गे कर्दमभ्यादभिसारें संकुचतोर्नायिकानायकयोः प्रबोधार्थ दूरी आह—

मज्जे पअणुअपङ्कं अवहोवासेसु साणचिकिखल्म् ।

गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअम् ॥ ८२ ॥

[ मध्ये प्रतनु[क]पङ्कमुभयोः पार्श्वयोः इथानकर्दमम् ।

ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ॥ ]

मध्ये प्रतनुकपङ्कं हुभयोः संझानकर्दमं तटयोः ।

ग्रामस्य शीर्षसीमन्तकमिव रथ्यामुखं जातम् ॥ ८२ ॥

मध्यमागे प्रतनुकः स्वल्पः पङ्को यस्मिन् । तथा उभयोस्तटयोः ( पार्श्वयोः ) संझानकर्दमं शुष्कपङ्कम् । रथ्यामुखं ग्रामस्य शीर्षिगतं सीमन्तकमिव भागद्वयविभक्तः केश-पाश इव जातम् । रथ्योभयपार्श्वयोः शुष्ककर्दमत्वात् दिवसहष्टेन मार्गेण रात्रावागन्तव्यमिति दूस्यात्सात्पर्यम् । ‘प्रतनु स्वल्पं कं जलं यस्मिन्नेतावदः पङ्को यत्र तावदशम्’ इति गजाधरः ।

चिरविरहोत्तरं प्रेयसीप्राप्नौ दुर्दमा भवति विलम्बजनिता तत्समागमोत्कण्ठेति स्वस्य सहदयतां सूचयन्नागरिकः सहचरमाह—

अवरलागअजामाउअस्स विउणेइ मोहणुकण्ठम् ।

वहुआइ घरपलोहरमज्जणपिशुणो वलअसदो ॥ ८३ ॥

[ अपराह्नागतजामातुद्विगुणयति मोहनोत्कण्ठाम् ।

वध्वा गृहपश्चाङ्गागमज्जनपिशुनो वलयशब्दः ॥ ]

जामातुद्विगुणयते ॥ पराह्नसमितस्य मोहनोत्कण्ठाम् ।

गृहपृष्ठभागमज्जनपिशुनो वध्वा वलयशब्दः ॥ ८३ ॥

अपराह्ने समितस्य समागतस्य जामातुः मोहनोत्कण्ठां सुरतोत्कण्ठाम् । गृहस्य पृष्ठभाग एव यन्मज्जनम् अङ्गसंमार्जनं शयनं वा तत्सूचकः । अपराह्नसमितेत्यनेन-दिवसे श्वश्रूपभूतिसांनिव्याद्रात्रावेव समागमसौकर्यमिति तावत्कालं प्रतीक्षणेनोत्कण्ठातिशयः पोष्यते । द्विगुणयतीत्यनेन-चिरविरहात्समागमोत्कण्ठा त्वासीदेव परं चिरकालाद्यदय-देशमधितिष्ठन्याः प्रेयस्या मज्जनकालिकविवसनाङ्गभावनया सा भृशसुजृम्भत इति व्यन्यते । गृहपृष्ठभागेत्यनेन-अतिसमीप एव सा विजनगता तिष्ठतीत्युत्कण्ठा संबद्ध्यते । पिशुनेत्यनेन शब्दशत्यनुरणनवशात्-कर्णेजपो यथा वैगुण्यसूचनया सह हृदि क्लेशमप्युत्पादयति तथा वलयशब्देपि यथाकर्थं चिदवरुद्धोत्कण्ठस्य मानसस्य वेदनां जनयतीति सूच्यते । वलयानां शब्दः सुरतसामयिकं वलयशब्दं नायकहृदि स्सारयति । अतएव मोहनस्यैत्योत्कण्ठा द्विगुणीभूतेत्याशयः । ‘काचन नायिका पितृगृहे स्थिता कचिदासक्ता । तद्भूर्तरि समागते व्याकुलचित्तं नायकं समादधती दूस्याह’ इति गजाधरवतरणम् । ‘दिनसत्त्वे जामाता श्वश्रादिसांनिष्ठेन पश्चादगृहे न गमिष्यति । सा तु दिनशेष एव तत्र स्थिति । त्वया तत्र गन्तव्यं तत्र सा सुलभेति’ तत्तात्पर्यम् । जामातुर्मोहनोत्कण्ठाद्विगुणीकरणस्य स्वारस्यं नात्र भाति । द्विगुणीकृतमोहनोत्कण्ठस्य पलुः पुरस्तादेव तावदश्वर्णेनमरमणीयं चेति मन्मतिः ।

‘त्वं भीरुरसि, यत्तस्याः पत्युवीरताडम्बरं दृष्टा भयोकुलत्वान्न तामभिसरति’ इति सभत्सेनं कञ्चिदुत्तेजयन्ती दूती अन्यापदेशविधयाह—

**जुञ्ज्ञचवेडामोडिअजर्जरकण्णस्स जुण्णमल्लस्स ।**

**कच्छाबन्धो च्चिअ भीरुमल्लहिअअं समुक्खणइ ॥ ८४ ॥**

[ युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य ।

कक्षाबन्धं एव भीरुमल्लहृदयं समुत्खनति ॥ ]

**युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य ।**

**कक्षाबन्धनमेव हि समुत्खनति भीरुमल्लहृदयानि ॥ ८४ ॥**

मल्लयुद्धकालिकचपेटाभिः आमोटितौ आमर्दितौ, अत एव नीरक्षसंचारत्वात्पिण्डी-कृतप्रायौ कर्णौ यस्य तादशस्य वृद्धमल्लस्य कक्षाबन्धनमेव मल्लकच्छबन्धनमेव अन्येषां भीरुमल्लानां हृदयानि समुत्खनति विद्रावयति । जर्जरकर्णत्वादिना वृद्धमल्लताभरुमिन्वन्तः कच्छबन्धनाटोपं दृष्टा ‘न जाने अग्रे कीदृग्बलं कौशलं च दर्शयेत्’ इति भावयन्तो भीता भवन्तील्याशयः । परिधानीयस्यावोव्वर्ष्य पृष्ठतो निहिताङ्गलं कक्षा—‘परिधाना-द्वाहिःकक्षा निबद्धा त्वासुरी भवेत्’ इति योगियाङ्गवल्क्यः । हृदयानीति बहुवचनेन—बहवोपि मल्लाभासास्तोऽतिरं बिभ्यतीति सूच्यते । तथा च जीर्णेत्यनेन—पूर्वं तत्पतिः शूरः समर्थथासीत् । संप्रति वार्धक्येन क्षीणशक्तिरत एव बाद्याडम्बरं दृष्टा ततो न भेतव्यम् । वृद्धतया तस्या एव नासौ रोचते । ततश्च तरुणे बलशालिनि च त्वयि बलां वलुच्छा साऽवश्यमनुरक्ता भवेत् । अतो भीरुतामपहाय निर्भयं तत्राभियोक्तव्यमिति नायकं प्रति दृश्याभिव्यज्यते । ‘आरभटीदर्शननैव भीरवः शुतरां पलायन्ते, अतो भीरुता न कर्तव्यति कश्चित्कंचिद्वृथयति’ इति गङ्गाधरः ।

सहजसौन्दर्यशालिनी गुणगणमणिता च काचिन्मल्लपत्री प्रियतमापमानितापि न लजिता, प्रत्युत प्रसादमेवाप । तां भेदयन्ती दूत्याह—

**आणां तेण तुमं पइणो पहएण पठहसदेण ।**

**मल्लिण लज्जसि णचसि दोहग्गे पाअडिजन्ते ॥ ८५ ॥**

[ आज्जसं तेन त्वां पत्या प्रहतेन पठहसदेन ।

मल्लि न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकटीकियमाणे ॥ ]

आज्जसं तेन त्वां पत्या प्रहतेन पठहसदेन ।

**दौर्भाग्ये प्रकटीकियमाणे नृत्यसि न लज्जसे मल्लि ॥ ८५ ॥**

पत्या भर्त्रा प्रहतेन पठहसदेन, ताडितस्य पठहस्य शब्देनेत्यर्थः । त्वां प्रति यद् दौर्भाग्यसाज्जसं तस्मिन्दौर्भाग्ये प्रकटीकियमाणेषि न लज्जसे प्रत्युत नृत्यसि । डिपिडम्-घोषपूर्वकं सर्वत्र तव दौर्भाग्यं तेन प्रसेधितं तथापि त्वं न लज्जस इत्यर्थः । तेनेत्यनेन—पूर्वमपि शतधा कृतापाराधत्वेषि येन त्वमेवाऽपमानिता, स हि प्रसिद्धस्ते पतिरिति सूच्यते । अत एव स रक्षामात्रकर्ता पतिरेव न तु प्रियतम इति पतिपदेन च्यन्यते ।

नृत्यसीखनेन—एवमवमानेपि यदितस्तो विचेष्टसे तत्ते नृत्यमिवेति गृहमाक्षेपो ध्वन्यते ।  
मल्लीलामव्रणमपि साकृतम्—एवमपमानेपि मल्लपलीति ख्यातिं वहन्ती त्वं धन्यासीति ।  
आज्ञासमिल्यनेन—दौर्भाग्यमपि तेन केवलं न सम्पादितमेव, किं तु तदपि साहेब तुभ्यं  
सगवैमाज्ञासम् । ततश्च—एवं सततव्यलीककारिणं रूपगुणानभिज्ञमपहाय अन्यत्र किं  
नानुरज्यसीति दूल्याभिव्यज्यते । ‘काचन सहजसुन्दरी श्रियतमापमानितापि न लजिता  
दौर्भाग्यस्य चिरकालानवस्थायित्वेन हर्षितैवेति तां बोधयन्ती सख्याह’ इति गङ्गाधरः ।  
एवमपराधेपि त्वं प्रसन्नेति त्वं क्षमावल्यसीति तत्तात्पर्यम् । अथवा—पत्युर्विरक्तापि प्रसन्नेति  
खसौन्दर्यगविंता सेवं सुखसाध्येति तटस्यं कामुकं प्रति दूल्याः प्रलोभनोक्तिः ।

चादुशतैर्नानप्रलोभनैश्च पूर्वं वशीकृतवर्णं ततः खल्पकाल एव विरोधवशादपवादं  
प्रचारयन्तीं दूर्तीं प्रति तिरस्कारं सूचयन्तीं काचित्सखीमाह—

**मा वच्छह वीसम्भं इमाणं बहुचाङ्कमणिउणाणम् ।**

**णिवृत्तिअकञ्जपरम्मुहाणं सुणआणं व खलाणम् ॥ ८६ ॥**

[ मा ब्रजत विस्मभमेषां बहुचाङ्कर्मनिपुणानाम् ।

निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां शुनकानामिव खलानाम् ॥ ]

**मा विस्मभममीषां ब्रजत बहुलचाङ्कर्मनिपुणानाम् ।**

**पिशुनानां हि शुनामिव निर्वर्तितकार्यविमुखानाम् ॥ ८६ ॥**

निर्वर्तिते कार्ये विमुखानाम् अभीषां खलानां विश्वासं मा ब्रजत । ‘खल्स वाङ्मा-  
शुर्यमात्रेण विश्वासो न विधेय इति कथिदाहेल्यवतरणपूर्विका ‘खलखभावोक्तिरियम्’  
इति’ गङ्गाधरटीका ।

ग्रामान्तरं गच्छन्तीमपि बहुभिः कामिभिरुस्त्रियमाणां काञ्चिदसरीमालोक्य  
कापि सपरिहासमाह—

**अणग्गामपउत्था कहून्ती मण्डलाणं रिञ्छोलिम् ।**

**अक्खण्डिअसोहग्गा वरिससअं जिअउ मे सुणिआ ॥ ८७ ॥**

[ अन्यग्रामप्रस्थिता कर्षयन्ती मण्डलानां पङ्किम् ।

अखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु मे शुनी ॥ ]

**पङ्किमिह मण्डलानां कर्षन्ती ग्राममन्यमुपयान्ती ।**

**अविखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु शुनी मे ॥ ८७ ॥**

मण्डलानां कुकुराणां पङ्किं कर्षन्ती आत्मना सह नयन्ती । एवमेवाक्षुणसौभाग्या ।  
चिरं जीवत्विति शुनीसाम्यसूचिता तिरस्कारगर्भा परिहासोक्तिः । रिञ्छोलीति पङ्कि-  
वाचको देशी ।

पूर्वमनासत्त्वापि काचिद्वेरेण चादुशतैर्नानप्रलोभनैश्च वशीकृता । ततः खल्प एव  
काले विमुखीस्त्रवन्तं तं सकोपोपालम्ममिदमाह—

सच्च साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण ।  
णिवृत्तिअकञ्जपरम्मुहत्तणं सिक्षिखअं कर्तो ॥ ८८ ॥

[ सत्यं कथय देवर तथा तथा चाढुकारकेण शुनकेन ।  
निर्वैर्तिंतकार्यपराङ्गुखत्वं शिक्षितं कसात् ॥ ]

सत्यमुदीरय देवर तथा तथा चाढुकारकेण शुना ।

निर्वैर्तिंतकार्यपराङ्गुखत्वमिह शिक्षितं कसात् ॥ ८८ ॥

तथा तथेति पूर्वकृतनानाविधचाढुप्रकारं प्रति संकेतः । कसादिव्यनेन—एवंविधः  
खार्थो मम तु ग्रन्थविषयीभूत एव, न मया इष्ट इति निन्दातिशयः सूच्यते । नीचस्य  
सारमेयस्येव ते तदिदं दुश्चेष्टिमनुचितमिति भावः । ‘तथा च त्वत् एवेदं तेन शिक्षि-  
तमिति मत्पराङ्गुखत्वं सर्वथा हेयमिति’ भावं गङ्गाधर आह ।

ग्रामोत्थप्रभूतधान्यलाभेपि धनसंग्रहार्थं शरदि जिगमिषन्तं ग्रामणीतनयं प्रवासा-  
द्वारयन्ती तत्पन्नी साकृतमाह—

णिष्पण्णसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए ।

दलिअणवसालितण्डुलधवलमिअङ्गासु राईसु ॥ ८९ ॥

[ निष्पञ्चसस्यऋद्धिः स्वच्छन्दं गायति पामरः शरदि ।

दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्गासु रात्रिषु ॥ ]

निष्पञ्चसस्यसंपदू गायति शरदीह पामरः स्वैरम् ।

दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्गासु रजनीषु ॥ ८९ ॥

निष्पञ्चा सस्यसमुद्दिर्यस्य तादृशः पामरः कृषीवलोपि, इह अस्यां शरदि कण्ठित-  
नवशालितण्डुलवद् धवलो मृगाङ्गो यासु एतादृशीषु रात्रिषु निष्प्रतिबन्धं गायति ।  
उपाञ्जितनिष्पञ्चादितेस्याद्यनुकृत्वा निष्पञ्चेत्युक्त्या—दैववशादेव सस्यनिष्पत्तिर्जितेति तस्या  
अस्थिरत्वं सूच्यते । तथा च—अस्थिरां स्वल्पामपि सस्यसंपत्तिमुपलभ्य अधमः कृषि-  
कारोपि मेदुरमृगाङ्गमरीचिमिर्मुजमनो मादयन्तीष्वासु शरद्यामिनीषु निखिलां विड-  
म्बनामवधीर्य संमोदसमुभवति । प्रभूतवैभवः परमविदरघोपि च भवांस्तु विरहवेदना-  
जनकतया संततमशान्तिकरीं क्लेशबहुलां प्रवासिचर्यामयुनैवावलम्बितुमिच्छतीत्यहो  
भाग्यवैभवमिति निगूढमभिव्यज्यते । शालीनां परिपाके प्रसन्नचेतसः पामरस्य हृदि  
तण्डुला एवाहिनशमावर्तन्त इति खामाविकृतया तत्साम्यमेवोपनिबद्धम् । ‘तस्या  
गृहेज्ञादिसमृद्धा रात्रौ च तत्पतिर्गायतीलनेन तत्पतिसानिध्येन चन्द्रिकाशोभित्वेन च  
रात्रेरय सा न सुखसाथेति काचित्कंचिद्दोधयति’ अथवा ‘शरत्काले शालीनां पाके  
झालिकः खग्गे तिष्ठति, तदपाके तदक्षार्थं खयं श्वेत्रादौ तिष्ठतीति हलिकवधूः शरत्का-  
लातिरिक्तकाले सुलभेति कथित्कंचिद्दोधयति’ इति गङ्गाधरः ।

पङ्काङ्गितपादचिह्नामुनेन क्षेत्रमिदं शालिगोप्याः संकेतस्थलमासीदिति साधनात्स्व-  
मार्मिकतां ख्यापयन्नागरिकः सहचरमाह—

अलिहिजइ पङ्कुअले हलालिचलणेण कलमगोवीए ।  
केआरसोअरुम्भणतंसद्विअ कोमलो चलणो ॥ १० ॥

[ आलिख्यते पङ्कुतले हलालिचलनेन कलमगोप्याः ।

केदारस्रोतोवरोधतिर्यक् ( व्यंश ) स्थितः कोमलश्वरणः ॥ ]

अथि केदारस्रोतोवरोधतिर्यक् स्थितः कलमगोप्याः ।

मृदुचरणः पङ्कुतले ह्यालिख्यत इह हलालिचलनेन ॥ १० ॥

अथीति सहचरं प्रति संबोधनम् । केदारस्रोतसा अवरोधनवशात् तिर्यक् स्थितः । क्षेत्रे जलसंचारार्थं निन्मानि जलस्रोतांसि क्रियन्ते । तत्रोन्नतरेखायास्तावदायाभावात् उच्चतमागे निहितः कलमगोप्याश्वरणो जलस्रोतोवरोधवशात्तिर्यक् स्थित एव भवति । ताव्याः कलमगोप्याः पङ्कु पूर्वतोङ्कितः कोमलश्वरणः पङ्कुतले हलाले हलरेखायाश्वलनेन कर्षणेन आलिख्यते कृष्यते । पूर्ववत्सरे क्षेत्रग्रतप्रावृट्पङ्कुशोषे शालिगोप्याश्वरणोऽङ्कितः । वर्षान्तरे कर्षणसमये स हि चरणप्रतिबिम्बो नागरेण दृष्टः । तं चरणं दृष्ट्वा ‘तदिदं शालिरक्षिकाया संकेतस्थानम्’ इति निजसुहृदं प्रत्युपपादयति । तथा च-ऐषमोपि क्षेत्रस्मिन् कलमोत्पत्तिमारभ्य तत्पाकपर्यन्तं शालिगोपी पान्थादीनां सुलभा स्यादिति तत्प्राप्याशा सहचरं प्रति सूच्यते । ‘वर्षाकाले पूर्ववत्सरीयकलमगोपीपदाङ्कितक्षेत्र-कर्षणं दृष्ट्वा कश्चित्पान्थं आह’ इति गङ्गाधरः । ‘तंसद्विअ’ इत्यस्य ‘व्यंशस्थितः व्यंशेन भागत्रयेण स्थितः, असंपूर्ण इति यावत्’ इत्यर्थं गङ्गाधर आह । ‘यदा पूर्ववत्सरे क्षेत्रमध्यस्थितजलस्य शोष आरब्धवस्त्रदा कलमगोप्याः शालिपाकेन संकेतस्य लाभावरोधेन दुःखोपचये संपूर्णश्वरणो न पङ्कमध्ये प्रतिबिम्बितः’ इति तत्तात्पर्यम् । परं ‘णिहालसपरिष्वमिरतंसवलन्तद्वतारथालोआ । ( २१४८ )’ इत्यादिषु ‘तंस’ पदस्य तिर्यगर्थं स्वयमेव स्त्रीकुर्वतस्तस्य ‘व्यंश’ इत्यर्थकल्पनमाकर्षणमात्रमित्यलम् ।

शालिक्षेत्ररक्षिकां वीक्ष्य सामिलापं निजसुहृदं प्रति शृणवत्यां तसां कोपि सहदयः सर्वैदरध्यपरिहासमाह—

दिअहे दिअहे सूसइ संकेअभङ्गवङ्हिआसङ्का ।

आपण्डुरोणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ११ ॥

[ दिवसे दिवसे शुष्यति संकेतकभङ्गवर्धिताशङ्का ।

आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥ ]

दिवसे दिवसे शुष्यति संकेतकभङ्गवर्द्धिताशङ्का ।

आपाण्डुरानतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥ ११ ॥

कलमः शाली परिपाकेन पाण्डुः पूर्णतागौरवादानतमुखश्च सम् यथा यथा दिवसे दिवसे शुष्यति, तथा तथा शालिक्षेत्रशोषेण संकेतस्थलप्रगमनचिन्तया आनन्दमुखी भाविसंभोगविहशङ्कया पाण्डुर्भवन्ती कलमगोपी प्रतिदिनं शुष्यति । अथवा आपाण्डुरं च आनन्दं च मुखं यस्याः सेत्यर्थः । संकेतस्थानालाभाद्रासंसामागमः स मयि मन्द-अण्यः कदाचन न भवेदित्याशङ्कया हेतुः । अथवा संकेतकभङ्गस्य वर्द्धिता आशङ्का

यथा: सेलर्थः । कलमेन सममिति सहोत्तया—यदि त्वमेनां वाज्डसि तर्हि कलमपा-  
कात्पूर्वमेव संभोगसामिलाषा सेयं सुखसाध्येति सामिलाषं खसुहृदं प्रत्यभिव्यज्यते ।  
चालिरक्षिकां प्रति तु—तव पाण्डुमुखतयाः शोषस्य च कारणमनवगतं मया । तदेतां  
चिन्तामपहाय मरुहृदमभिलषन्तमनुगृहीत्वेति सपरिहासमभिसूच्यते । ‘इजितादि-  
भिरप्यनवगम्यः प्रच्छल्योयं प्रेमप्रकारः’ इति सरखती कण्ठाभरणम् ।

भक्तहारिणीं दृष्ट्वा विचलितचेतसो हृलवाहनासक्तस्य पामरस्य चरितं प्रत्यक्षवीक्षकः  
कश्चित्सहचरमाह—

**णवकर्मिण वृथा पाउहारीओ ।**

**मोत्तवे जोत्तअपगगहम्मि अवहासिणी मुक्ता ॥ ९२ ॥**

[ नवकर्मिणा पश्य पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम् ।

मोक्षव्ये योक्तप्रग्रहेऽवहासिणी मुक्ता ॥ ]

नवकर्मिणपामरेण हि पश्य सपदि भक्तहारिकां वीक्ष्य ।

**योक्तप्रग्रहमात्रे मोक्ष्येऽप्यवहासिणी मुक्ता ॥ ९२ ॥**

नवकर्मिणा अनभ्यस्तहृलवालनकर्मणा पामरेण सुन्दरी भक्तहारिकां ( भोजनाने-  
त्रीम् ) दृष्ट्वा क्षुभितचित्ततया योक्तस्य ‘जोत’ इति ख्यातस्य वृषकण्ठावसक्तस्य चर्मपद्मस्य  
प्रग्रहमात्रे बन्धनमात्रे मोक्षव्येति अवहासिणी ‘नाथ’ इति ख्याता नासारज्ञमुक्तेति त्वं  
पश्य । मोजनार्थं विश्रमिष्यता पामरेण हृलधुरावहयोर्ध्वशयोर्योक्तबन्धनमोचनस्थाने  
भक्तहारिका प्रति जातव्यासङ्गतया बलीवर्दयोर्नासारज्ञमुक्तेति भावः । नवकर्मिणी पदेन—  
अनभ्यस्तकर्मतया हृलकर्मणि सामाविकः संप्रमस्तु पूर्वत एवासीत्, पुनर्भक्तहारि-  
णीहृतचित्ततया जायमानो मोहातिशयो न निरोहुं शक्योभवदिति सूच्यते । पाउहारी  
भक्तहारीति देशी । ‘पाणिहारीओ’ इति पाठे पानीयहारिकामित्यर्थः । ‘योक्तप्र-  
ग्रहे मोक्षव्ये अवहासिणी मुक्ता’ इति गङ्गाधरः ।

नैशतुहिनमज्जेन योयं हरितदीर्घों मार्गस्तिलक्षेत्रे वीक्ष्यते स हि सुरतरसिक्या  
कथाचिदभिसारिक्या कृत इलात्मनो मार्गिकतां प्रथयन् नागरिकः सहचरमाह—

**दृष्टुण हरिअदीहं गोसे णइज्जरए हलिओ ।**

**असईरहस्समग्गं तुसारघवले तिलच्छेते ॥ ९३ ॥**

[ दृष्टु हरितदीर्घं प्रातर्नातिख्यते हलिकः ।

असतीरहस्यमागं तुषारघवले तिलक्षेत्रे ॥ ]

**दृष्टुपि हरितदीर्घं प्रत्यूषे नातिखिद्यते हलिकः ।**

**असतीरहस्यमागं तुषारघवले तिलक्षेत्रे ॥ ९३ ॥**

नैशतुपारेण घवलीभूते तिलक्षेत्रे हरितं दीर्घं च । असत्याः रहस्यस्य चौर्यसुरतस्य  
मार्गं दृष्टुपि हलिको नातिखिद्यते । असतीरहस्यमार्गस्य हरिततया हरिततिलानाम-  
क्षतत्वमालोक्य निजहानेरभावाद्वलिकस्य नातिखेद इत्यर्थः । मसैव क्षेत्रे सुन्दरी काचि-

त्यामरेणोपभुज्यते, सापि सुष्ठुतकायांचितेऽतिप्रत्यूष एवेति खल्पः खेदस्त्वभूदेवेति अतिपदेन सूच्यते । नैशतुपारमार्जनोत्तरं पुनस्तन्मार्गे तुषारस्याऽपातात् प्रत्यूष एव सुरतसंघटनाभूदित्यनुभायते । सुनिबिडितफल-पत्र-शाखतया उपरित आच्छब्दत्वेषि तथे सुमसृणतिलप्रकाण्डमात्रसत्तया निभृतसुरतस्य पूर्णवकाश इति तिलक्षेत्रादिषु संकेतके कामिनीनां सबहुमानप्रसिद्धिरिति कण्ठाभरणादिमतमुक्तमेव पूर्वम् । ‘गइजूरए’ इत्यस्य स्थाने ‘सण्डाँ जूरए’ इति पठे ‘वृषभान्प्रति स्विद्यते’ निन्दतीत्यर्थः । हरित-दीर्घ मार्ग दृष्ट्वा-वृषभा एव क्षेत्रे प्रविष्टा इति तत्खेदाभिप्रायः । सोयं वाच्यमर्यादया । वृषभपदेन सुरतवर्षणशीलकामिजनाभिप्राये तु ‘उदिका दुष्टाः कामिन एव मत्क्षेत्रे निभृतं प्रविश्य रमन्ते’ इति ध्वनिमर्यादया तान्प्रति कोधोऽभिव्यज्यते ।

परिजून्मितपञ्चशरप्रभावार्यां प्राग्निप्राणत्रियाप्रणयपरवशाः पथिका विप्रकृष्टमपि पन्थानमपरिगणितपथिपीडाः क्षिप्रमेवापकामन्तीति प्रवीणः कथ्विजसहचरभाह—

**संकेल्पिओ व णिज्जइ खण्डं खण्डं कओ व पीओ व ।**

**वासागमम्मि मग्गो घरहुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥**

[ संकोचित इव नीयते खण्डं खण्डं कृत इव पीत इव ।

वर्षांगमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥ ]

**संकोचित इव खण्डं खण्डं कृत इव च पीत इव पन्थाः ।**

**पथिकेन नीयते किल गृहभाविसुखेन नवघनागमने ॥ ९४ ॥**

गृहे भावि भविष्यत्सुखं यस्य ईद्वशेन, भावि गृहसुखं स्मरतेत्यर्थः । पथिकेन संकोचित इव संक्षिप्तीकृत इव, खण्डशः करणेनैकदेशीकृत इव, पीत इव उत्कण्ठातिशयात्सहसैव समापित इव, मार्गो नीयते उल्लङ्घयते । भवने भाविप्रियतमासमागमसुखस्मरणात्सोत्कण्ठेन पथिकेन सुदीर्घोपि मार्गः संप्रति सत्वरं समाप्यत इति भावः । उत्प्रेक्षात्रयेणोत्तरोत्तरं त्वरातिशयो द्योत्तरे । निरवशेषो मार्गः संक्षिप्यत इति संकोचनोत्प्रेक्षणेन सूच्यते । खण्डशः करणेन मार्गस्यैकदेश एव स्थाप्यते, अवशिष्टो लोप्यत इति प्रस्ताप्यते । पीत ईवेत्यनेन तु—‘तथा सत्वरमुल्लङ्घयति यथा द्रवद्रव्यं कश्चित्सहजमेव गलादधःकरोति’ इति भूयांस्त्वरातिशयो व्यज्यते । ‘आगामिसुखमुहिष्य पथिकेन मार्गक्षेत्रमगणयित्वा त्वरया गृहं प्रति गम्यत इति नायको यथा दुःखं न प्राप्नोति तथा नायिकया विधातुमुचितमिति’ उत्क्षिप्ताक्षरमर्यादं गङ्गाधरव्याख्यानम् ।

परनिन्ददैव नन्दद्विः खलैर्दुर्वचनविशिखैर्मर्मणि ताज्जमाना काचित्सनिर्वेदं सखीमाह—

**धण्णा बहिरा अन्धा ते चित्र जीअन्ति माणुसे लोए ।**

**ण सुणंति पिशुणवअणं खलाणं ऋद्विण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥**

[ अन्धा बहिरा अन्धासु एव जीवन्ति मानुषे लोके ।

न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्विं न प्रेक्षन्ते ॥ ]

**बधिरान्धा:** किल धन्यास्त एव जीवन्ति मातुषे लोके ।

**शृण्वन्ति न पिशुनवचः:** पश्यन्ति न ये च खलसमृद्धिमपि ॥२५॥

बधिराश्च अन्धाश्च । जीवनमत्र सफलजीवनरूपेऽर्थात्तरे संक्रमितम् । तथाच—  
तेषामेवास्मिन्नाके जीवनं सफलम्, पदे पदे दुर्जनवचनर्मस्त्रभिहन्यमानाया न ममे—  
स्वात्मानं प्रति निर्वेदो धन्यते । मातुषे लोक इत्यनेन—मर्त्यलोके तेषामेव जीवनं  
प्रशस्तं नान्येषाम्, अन्येषु दिव्यलोकादिषु तु दुर्जनवचनश्रवणानवसरात्प्रिद्वै समभि—  
नन्द्यजीवनतैर्ति युक्त्या दिव्यजनसम्यं सूच्यते । गुणदर्शनेन आनन्द्यबाधिर्योदयोरपि  
साभिलाषतप्रदर्शनादनुज्ञालङ्घतिः—‘दोषस्याभ्यर्थीनात्मुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात् ।’ इति  
पीयूषवर्षः । अनया च—पिशुनजनवचनसूचिसंचयैरनवरतविद्यमानश्रवण—हृदयतया  
दुर्भरं जीवन्या मे जीवनमन्धविधिरादिविकलजनापेक्षयापि गहणीयमिति निन्दकान्  
अस्यसूयासहकृतः स्वात्मनि निर्वेदातिशयो धन्यते । ‘काचिदुत्तमा दुर्जनस्य कस्यचिदु—  
पचयं पश्यन्ती सखीसंनिधौ परितप्यते ।’ इति कुलबालदेवटीका । गङ्गाधरटीका तु  
गाथापद्मकहीनैवोपलब्धा ।

निकटनिवासिनि नायके निर्भरनिवद्धप्रणया काचिद्वेमप्रतिषेधार्थ पुनः पुनः प्रियस-  
खीभिः प्रोन्थ्यमाना ताः प्रति सासूयमाह—

**एहिं बारेऽ जणो तइआ मूङ्लाओ व गओ ।**

**जाहे विसं व जाअं सवङ्गपहोलिरं पेम्म ॥ ९६ ॥**

[इदानीं वारयति जनसदा मूलकः कुत्रापि वा गतः (आसीत) ।

यदा विषमिव जातं सर्वाङ्गवृणिं प्रेम ॥ ]

अधुना वारयति जनः कुत्र तदा मूक पषोऽगात् ।

विषमिव विषमं हि यदा जातं सर्वाङ्गवृणिं प्रेम ॥ ९६ ॥

‘मूङ्लाओ मूकः’ इति धनपालकृतः ‘पाइअलच्छी’ कोषः । इदानीं तु जनः प्रेमतो  
निवारयति, परं तदा मूकः किञ्चिदप्यनुवन् एष जनः कुत्र अगात् गतोऽभूत्? यदा हि  
दुष्ट्रीतीकार्यं विषमिव प्रेम सर्वाङ्गवृणिं सर्वाङ्गेषु व्यासे जातम् । इदानीं निवारणेन किं  
वा फलमिति भावः । रक्षसंचारेण सह सर्वैस्मिन्पुषि व्यासे विषे तत्रीतीकारो यथा  
दुःक्षकस्तथा सर्वाङ्गव्यासस्य तत्प्रयत्नस्य संप्रति निवारणमशक्यमेवत्याशयः । सर्वाङ्ग-  
वृणितमिल्यनेन—युधमत्कथाजुगमने विवरणं मे प्रयत्नसात्वतं सर्वाङ्गमिति विवशता व्यज्य-  
ते । सखीजनं प्रति ‘जनः’ इति तदस्तानादेशेनन्यः किल प्रियतमेन सह संजातां  
अणयप्रवृत्तिं पुरा प्रेक्षमाणोऽप्यतिविद्यन् संप्रति वारयति, मन्मनोवेदनामविजानन् स  
हि सखीजनोपि निःसंबन्धः सामान्यजन एवेति तं प्रत्यसूया प्रकाशयते । मूकपदेन—  
वचनोच्चारणेऽव्यन्तमध्यशक्तता सूच्यते । किंव—‘तदा मूकः कर्त्त जातः’ इत्यसौ लोकोक्ति—  
शैली । ‘मूङ्लाओ’ इत्यस्य ‘मूलकः’ इति विच्छायां छायां प्रकल्प्य अर्थसंगतौ मूकी—  
भवन् कुलबालदेवस्तूपेक्षय एव । ‘असदृश्या कथांचिदासत्तः कचिदुत्तम एव सख्या  
वार्यमाणः सासूयं तमेव वदति’ इति तदङ्गीकृतमवतरणम् ।

कस्याश्चिदनुरागातिशयं प्रतिपाद्य नायकमुत्कण्ठयन्ती द्रूती सर्वेदग्धोपालम्भमाह—  
कहँ तंपि तुइ ण णाअँ जह सा आसन्दिआणँ बहुआणम् ।  
काऊण उच्चवचिअं तुह दंसणलेहला पडिआ ॥ ९७ ॥

[ कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसन्दिकानां बहूनाम् ।  
कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता ॥ ]

किं ते तदपि न विदितं ह्यासन्दीनां यथा बहूनां सा ।  
उच्चावचिकां कृत्वा तव दर्शनलालसा पतिता ॥ ९७ ॥

तव दर्शनलालसा सा बहूनाम् आसन्दीनाम् । उच्चावचिकाम् एकस्या उपरि एकां  
विन्यस्य उन्नतामारोहणीं कृत्वा पतिता । किं त्वया तदपि न ज्ञातम् ? आस्यतेऽस्या-  
मिति वेत्रासनमासन्दीत्यमरटीका । शुद्धखद्वा ‘पीठिका’ इति मेदिनी । त्वदर्शनार्थम्-  
तुज्जे जालवातायने प्रामुखप्रभवन्ती सेयं बहुमिः पीठिकामिनिश्चेष्टणीं विद्याय तस्या  
उच्चावचत्वात्पात, एतावांस्त्वद्यस्या अनुराग इत्याशयः । उच्चावचपदेन-सापि विषमा,  
यथावच्च निर्मितेति दर्शननिर्मितेन संभ्रमेणानुरागातिशयः सूच्यते । एवं च-भवदवलो-  
कनोत्सवमत्ता निजनिपातमप्यविगणयन्ती सेयमेवं त्वद्यनुरक्ता । भवांस्तु-तद्यमोदनं  
दूरमास्तां तस्या विपत्तिमपि न परिजानाति, अहो ते प्रणयपरिपाटीति नायकं प्रत्युपालम्भो  
ध्वन्यते । ‘कस्याश्चित्सखी सख्या अनुरागातिशयं नायकविषये सूचयन्ती नायकाश्रे-  
कथयति’ इत्यप्रौढमवतरणं कुलबालदेवस्य ।

रममाणं कश्चिद्दिनं श्रावयन्सहृदयः कश्चिविजसहचरं प्रति सपरिहासमाह—

चौराणं कामुआणं आ पामरपहिआणं कुकुटो वअह ।

रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ॥ ९८ ॥

[ चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुकुटो वदति ।

रे रमत वहत वाहयत अत्र तन्वी भवति रजनी ॥ ]

चौरान्कामुकलोकान्पामरपथिकांश्च कुकुटो वदति ।

तन्वी भवति निशेयं वहताऽरमताऽत्र वाहयत ॥ ९८ ॥

तन्वी भवति, खल्पाऽवशिष्यत इत्यर्थः । आवश्यकत्वेषि मूले चौरानिलादीनां वह-  
तेलादिभिः सह यथायोगमन्वयः, इह तु यथासंख्यम् । अलंकारश्च सः । चौरित्व-  
स्तूनि नयतेति चौरान्, आ (समन्तात् बाढमिति यावत्) रमध्वमिति कामुकलो-  
कान्, बलीवर्द्धन् भारशकटं वाहयतेति मार्गगमिनः पामरान् प्रति, वदतीत्यर्थः ।  
‘रात्रिशेषे कुकुटः शब्दं करोतीति कुकुटानां स्वाभाविकं हपम् । तच्छ्रुत्वा तस्य प्रयोज-  
नमुत्त्रेक्ष्य विवृणोति कश्चित्’ इत्यप्रौढमिति कुलबालदेवः । रमहेति प्राकृतवर्तसंस्कृतेषि  
रमतेत्येव कुलश्चलकृता छाया तु च्युतसंस्कृतिरेव ।

प्रणयकोपामिनयाय परस्परमभाष्मामावपि मिथः कटाक्षविनिमय एव युगपद्विह-  
सित्तन्तौ ‘कृत्रिमकोपतया त्वमेव पूर्वमहसीः’ इति च मिथो विवदमानौ नायिकानायकी  
वीड्यु सखी सखीमाह—

अणोणिकडवलान्तरपेसिअमेलीणदिष्टिपसराणम् ।

दो चिअ मणे कअभण्डणाइँ समहं पहसिआइँ ॥ ९९ ॥

[ अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलितदृष्टिप्रसरौ ।

द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समकं प्रहसितौ ॥ ]

अन्योन्यकटाक्षान्तरसंप्रेषितमिलितदृक्प्रसरौ ।

कृतकलहौ किल मन्ये द्वावपि सहसा समं हसितौ ॥ १० ॥

अन्योन्यकटाक्षान्तरे संप्रेषितः मिलितश्च दृक्प्रसरो यथोरीदशौ कृतकलहौ द्वावपि मन्ये समं युगपत् हसितौ । कोपशमेपि ‘अयं पूर्वमनुनयेत्, इयं पूर्वमनुनयेत्’ इति केवलं प्रथमानुनयं प्रतीक्षमानयोरेनयोः कोपशान्त्युत्तरमौत्सुक्ययोदयात्परस्परकटाक्षविनिमये सति समकालमेव हासो जातो न पूर्वपश्चाद्गावेनेति भावः । कटाक्षान्तरे दृष्टिप्रेषणस्यायमाशयो यत् ‘प्रशान्तकोपतायामप्यधुना किं व्यवस्थाति, अनुनयाय कियान्विलम्बः’ इति मिथः परिज्ञानाय द्वावपि परस्परं प्रति सुहुदृष्टिं निश्चिपतः । परम् औत्सुक्यं मे न प्रकटीभवेदित्यभिसन्धिना स्पष्टमधृष्टा नेत्रग्रान्तेन निभृतं विलोक्यत इति । द्वावपि च परस्परमेवमनुसंचित्सावशान्मिथः कटाक्षेण दृष्टि निश्चिपतः । अत एव द्वयोर्दृक्प्रसरो मिलति । ततश्च परस्परं मिलितनयनौ द्वावपि परस्परस्य हृदयदशां परिज्ञातवन्ताविति सहसा द्व्ययोरेव युगपत् हासः समभवदित्याशयः । एवं च—परस्परं नयनयोग एव विहसितवतोर्युवयोः कोपदृष्टा सम्यगसाभिः परिज्ञाता ! किं मुधा गोपयथः इति नायकौ प्रति परिहासः सख्या व्यज्यते । ‘भण्डण’ शब्दः प्राङ्गते कलंहविशेषवाचकः । ‘मेलीणदिष्टिपसराणम्’ इत्यस्य ‘मिलितदृष्टिप्रसरौ’ इति छायाकरणं प्राक्तनटीकानुरोधेन । ‘मेलितदृष्टिप्रसरौः ( अनयोः मध्ये ) कृतकलहौ द्वावपि मन्ये समं प्रहसितौ’ इत्येव यद्यर्थोऽभविष्यत्त्र कान्विदर्थक्षतिरित्यलम्भम् ।

नितान्तमनुरक्तामपि नायिकां धीरमानितया यथावदनुवर्तमानं नायकं नायिकाच्छन्दानुवर्तिनं कर्तुं नायिकाससी हरनमस्कारव्यपदेशेन सवैदाच्योपालम्भमाह—

संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलम् ।

अलिअं चिअ फुरिओदुँ विअलिअमन्तं हरं णमह ॥ १०० ॥

[ संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंकन्तगोरीमुखकमलम् ।

अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमञ्चं हरं नमत ॥ ]

सन्ध्योपात्तजलाञ्जलिपिभितगौरीमुखाम्बुद्धम् ।

स्फुरिताधरं मधैव हि विगलितमञ्चं हरं नमत ॥ १०० ॥

सन्ध्योपासनार्थं गृहीते जलाञ्जलौ प्रतिविम्बितम् [ प्रतिमया प्रतिविम्बरूपेण संकान्तम् ] गौरीमुखकमलं यस्य तम् । अत एव—प्रेयसीमुखावलोकनादुज्जम्भितभावान्तरतया विगलितो मत्रो ( मत्रजपः ) यस्य, तथापि प्रसादगोपनाय मुधैव स्फुरिताधरं संचलदोषपुटं हरं प्रणमत । विस्मृतादिस्याने विगलितपदनिवेशेन—बलादुपस्थापितोपि

मत्रः प्रेयसीमुखदर्शनाज्जातभावान्तरतया ख्यं विस्वलतीति भावप्राचल्यं सूच्यते । तथाच—चराचरनायको भगवान्भूतभावनोपि प्रियोगेमानुवृत्त्या तन्मुखप्रतिबिम्बमात्र-मध्यबलोक्य प्रशमप्रथाने संध्योपासनसमयेषि तद्गतचित्तो भवति, किं वा प्रियां अमोदयितुं तादृशा इव भवति । त्वं तु रसमयेषि समये सततमनुवर्तमानामपि प्रेयसीं न यथावदनुरज्यति । अहो ते रसिकतेति नायकं प्रत्युपालमभेदिव्यज्यते । त्वत्प्रेमव-शंकवदामेनां धीरोपि त्वं सर्वसमयेषि रसिकतयैव सततमनुवर्तस्वेति चरमं व्यङ्ग्यम् । ‘समाप्तौ हरनमस्काररूपं मङ्गलमाचरति’ इति गङ्गाधरः । ‘हरस्यापि गौरीमुखकमलप्र-तिबिम्बं दृष्ट्वा सन्ध्यारूपनिलकर्माङ्गमत्रलोपो भवति किं पुनरस्मदादेलोकस्य प्रियासां-निध्ये व्याकुलचित्ततेति सर्वथा छीसङ्गः परिहरणीयः’ इति तात्पर्यार्थकल्पनं तु गङ्गाध-रस्य गाथाकारहृदयप्रतिकूलमेव । ‘अमिं पाउअकव्यम्’ इति पदेन खारव्यस्य प्राकृत-काव्यस्य कामतत्त्वनिर्भरतां प्रतिज्ञाय उपसंहारे सर्वथा तदुन्मूलनस्य सुस्पष्टं विरुद्ध-त्वात् । ‘सर्वथा छीसङ्गः परिहरणीयः’ इत्यनेन—आलम्बननिरासात् शङ्कारः सुस्पष्ट-मुन्मूलित एव । तस्मात् प्रशमानुगुणचित्तेनापि सा शिक्षा ग्रन्थान्तरतोऽवसेया, न गाथासप्तशतीतः । कान्तासंसिततयोपदेशस्तु मध्ये मध्ये ख्यं ग्रन्थकारेरैव सूचित इति ग्रन्थकारोद्देश्यविफलनमनुचितमेवलमन्ते विरसविवादेन । अनया गाथाया पूर्वोक्तव्यानि स्फुटयन् शिवस्य सायंसन्ध्योपासनवर्णनेन ग्रन्थसमाप्तिमपि सूचयति गाथाकारः । ‘पसुवइणो रोसारुणे’ ल्यादिना प्रातःसन्ध्यावर्णनादारम्भः सूचितः । अन्ते तु तेनैव क्रमेण सायंसन्ध्यावर्णनात्समाप्तिः सूचितेत्यलं मार्भिकेषु ।

उपसंहरति—

इथ सिरिहालविरहै पाउअकव्यमि सत्तमए ।

सत्तमसञ्चं समत्तं गाहाण्यं सहावरमणिज्ञम् ॥ १०१ ॥

[ इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते ।

सप्तमशतं समाप्तं गाथानां स्वभावरमणीयम् ॥ ]

नरपालहालरचिते प्राकृतकाव्येऽत्र सप्तशते ।

सप्तमशतं समाप्तं गाथानां वै स्वभावरमणीयम् ॥ १०१ ॥

सप्तशते सप्तशतीरूपे प्राकृतकाव्ये । ‘हाल इति राज्ञः शालिवाहनस्य संज्ञान्तरम्’ इति गङ्गाधरः ।

गङ्गाधरकृतदीकामनु दीका निर्मिता सेयम् ।

अथ लक्षिता त्रुटी काम्यघटीह स्तोकविस्तारः ॥ \* ॥

इति श्रीजयपुरमहाराजाधिराजसंभानिततैलङ्गभट्टान्ववायसंभूत—देवर्षिभट्टश्री-मथुरानाथशालिसाहित्याचार्यनिर्मिता संस्कृतगाथासप्तशतीदीका

व्यङ्ग्यसर्वेङ्गषा समाप्ता ।

## संस्कृतगाथानिबन्धुः परिचयः ।

तैलङ्गपुङ्गवानामाङ्गिरसायास्यगौतमेतिसत्प्रवरः ।  
 देवर्ष्यवटङ्गवहो वंशो भूपालपूजितो जयति ॥ १ ॥  
 तस्मिन्निरपिभावी वारीजीदीक्षिताचृतीयोभूत् ।  
 श्रीमान्मण्डलनामा सम्पत्स्तोभाग्यभाग्यनिधिः ॥ २ ॥  
 वान्धवदेशनरेशो शुरवे यस्मै प्रयागकृतधान्मे ।  
 आमान्देवर्षिमुखान् शतं व्यतारीत्सर्समानम् ॥ ३ ॥  
 तस्मिन् वंशे श्रीमान् श्रीकृष्णः कविकलानिधिर्जीतः ।  
 खुद्यासिंहद्वन्दभर्तुर्निंकटाद्योऽनीयताऽम्बरेशेन ॥ ४ ॥  
 'सुकवि' 'कलानिधि' विश्वदाऽलंकारकलानिधेः कृते प्रददे ।  
 जयपुरपुरनिर्मात्रा जयसिंहेनाम्बरावनीभर्त्रा ॥ ५ ॥  
 'वाणी' 'भारति' विश्वदस्तत्त्वनयो द्वारकानाथः ।  
 माधवसिंहमहीन्द्रादेष कवीन्द्राधिपो ययौ मानम् ॥ ६ ॥  
 श्रीमत्पृथ्वीसिंहात्प्रतापभूपाच्च लब्धं 'वाणी' विश्वस्य ।  
 ब्रजभाषामयकविता यस्य सुकवितानवं सूते ॥ ७ ॥  
 तत्त्वनयो ब्रजपालः प्रतापभूपालमाननीयो यः ।  
 नवसंगीतग्रन्थं विधाय समियाय भूरिसंमानम् ॥ ८ ॥  
 तत्त्वनयानां ज्येष्ठो मण्डनसिव मण्डनो बभूव विदाम् ।  
 कवितातोषिनरेन्द्रा भूरिगजेन्द्रान्ददुर्यसै ॥ ९ ॥  
 यो राजनीतिकुशलो विपुलोन्नाहेषु राजसु प्रसितः ।  
 जयसिंहभूसिभर्तुलेभे ग्रामादिसंमानम् ॥ १० ॥  
 प्रज्ञाच्छुर्लङ्घमणभट्टोभूत्तत्सुतः सुदक्षतमः ।  
 रामनरेन्द्राद्वान्दीभर्तुयोऽविन्दत ग्रामम् ॥ ११ ॥  
 जनितः श्रीमलुक्ष्मीनाथसुत-द्वारकानाथैः ।  
 मथुरानाथः सोयं दत्तकपौत्रोऽभवत्स्य ॥ १२ ॥  
 येन हि 'जयपुरवैभूत्वं'मथ किल 'साहित्यवैभूत्वं' सृजता ।  
 'कवितानिकुञ्ज'महिता नवछन्दोबन्धरीतिराकलिता ॥ १३ ॥

१ आम्बेराधीशेन श्रीजयसिंहभूपालेन । २ एतद्वामा ग्रन्थो जयसिंहाशया निर्मितः । अयं हि  
 शब्द्यप्रकाशादिवत् साहित्यस्य ब्रजभाषामय आकरणन्थः । एतत्परिचयः 'साहित्यवैभूत्वे' द्रष्टव्यः ।  
 ३ कविताभिमानिना सुकवीनां तानवं कृशताम् । ४ 'कवितानिकुञ्जस्य' भागद्वयनिर्द वस्त्रहृष्टे  
 नेण्यसागरे मुद्रितम् । प्रथमे जयपुरराजवंशवर्णनपूर्वं तद्राज्यस्य सचिन्नं वर्णनमन्ये च बहुवो  
 वेष्याः, द्वितीये कवित्त-सवैयादिहिन्दीछन्दोभिः कक्तु-नवरस-अन्योक्ति-समीक्षा-नीति-उद्दृ-  
 ष्टुतिसर्वं भाषाच्छन्दो-वर्तेमानभारत-विहारिसप्तशतीप्रभृतयो नानाविषयाः सन्ति । 'मधुर-  
 नाथशास्त्री रेसिडेन्सीरोड जयपुर' तः प्राप्यमिदं पुस्तकम् ।

जयपुरराज्यस्याखिलसंस्कृतशिक्षानिरीक्षणं दद्धता ।  
 मानमहीपच्छायामधिवसता मञ्जुनाथपरनाम्ना ॥ १४ ॥  
 गगनमुनिनन्दचन्द्रप्रसिते विक्रममहीपतेवर्षे ।  
 सप्तशतीयं कलिता संसिलिता टीकया परतः ॥ १५ ॥  
 गाथासप्तशतीयं प्राकृतलोकोपमोग्यसौभाग्या ।  
 अमरगिरा संबन्धात्संस्कृतजनतोपयोगिनी जाता ॥ १६ ॥  
 निभृतनिषेद्यममृतमयमुपवनमिदमार्यरसिकानाम् ।  
 नाथश्यकैप्रवेशाः सभ्याः क्षाम्यन्तु तत्सदयम् ॥ १७ ॥

## उपसंहारः

देवर्घुपाह्वभट्टश्रीमथुरानाथशर्मनिर्मितिषु ।  
 सेयं संस्कृतगाथासप्तशती पूर्तिमवतीर्णा ॥ १८ ॥

१ 'सुपरवाइक्षर संस्कृतपाठशालाजात जयपुरस्टेट' । २ प्राकृतभाषानुरागिमिमोऽयापि अमरभारदीसङ्गात्परस्कृतभाषिजनताद्या उष्टयोगिनी जाता । किञ्च प्राकृतलोकैः साधरणजन्मरूपमोग्यापि संस्कृतसंसर्गात्संकारसंस्कृतानां नागरिकाणामुपयोगिनी जातेत्यप्यवर्णः । संस्कृतस्य अपूर्वोत्कर्षदायकत्वं व्यज्यते । ३ ये आर्या दर्शन-प्रभृतिगमीरग्रन्थेषु सततं प्रसितात्से भनोविनोदाय तदिदं निश्चितोपवनमासेवन्ते । अत एव अरसिकहृदयतया नवीनसम्बतानुरोद्धाराचेष्टा मेत्सप्तशतीयतेष्वर्षेषु न प्रवेशोऽमवत्सामेतत्प्रवेशस्यावश्यकतापि न । यतः किल आप्यैरतिकानाममृतप्रदत्त्वेन अल्यन्तमिष्टतम् तदिदं निश्चितम् (Private) उपवनमस्ति । एव सन्ति सम्बलनुग्रहात् अप्रवेशनियम- (No admission)-बाध्याः सम्भेतिविशद्वाहि ।